

प्रवर्तंग हृदयम् नु श्री वाग्मट
with the commentary सर्वांग सुन्दर
न प्ररुणदत्त - Edited with ~~the~~
Short Notes ~~by~~ (टिप्पणी) by
प्राचार्य मोदुल्य ~~प्र~~ last
5 leaves and one leaf in middle
damaged in upper inner portion,
but the Short Notes are intact.

MLBD, Lahore, 1990 Vikram era.
(1933)

Bill No- 3 / 07-08

97.

2008-0253

* श्री *

ऋषिकल्प-श्रीवाग्भट्टप्रणीत

सटीकम्

अष्टाङ्गहृदयम्

विद्वद्भर-श्रीमदरुणदत्तकृता सर्वाङ्ग-
सुन्दराख्या टीका

श्रीमदाचार्यमौद्गल्यकृता
मौद्गल्यटिप्पणी च

तच्च

लवपुत्र्या

पञ्जाब संस्कृत पुस्तकालयाध्यक्षाभ्यां

मोतीलाल बनारसीदास,

इत्येताभ्यां स्वीये "मुम्बई संस्कृत" इत्याख्ये मुद्रणालये

सम्मुद्रय प्रकाशितम्

सम्बत् १९६० वै०

PUBLISHED BY
MOTILAL BANARSI DASS,
Proprietors,
The Punjab Sanskrit Book Depot
SAIDMITHA STREET,
LAHORE.

SANS

615.536

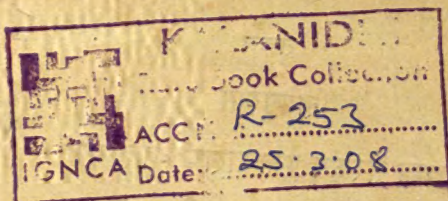
VAG

DATA ENTERED

23/06/08

(All Rights Reserved).

1933.



PRINTED BY
DURGA DASS PRABHAKAR
Manager,
The Bombay Sanskrit Press
SAIDMITHA STREET,
LAHORE.

किञ्चिद्वक्तव्यम् ।

ओं नम आयुर्वेदविद्भ्यः ।

अथैतद् 'अष्टाङ्गहृदयं' नाम ग्रन्थरत्नं यद्यप्यनृषिप्रणीतं, तथाप्याषीं श्रियमादधानं वैद्यकलोके हीरकप्रभेवात्मप्रभया प्रभूतार्थसंहिताऽभावोद्भूत-मन्धकारं निराकुर्वच्छेषार्थसंहिताद्वयीपङ्क्तौ प्रतिष्ठितमद्यापि समुपजोषं वि-विलसत्येवेति मन्ये, भिषजां भूरि भाग्यमेवैतत् ।

सेयमष्टाङ्गहृदयसंहिता कतिपयमुद्रणालयेषु मुद्रितापि, न तथा सौष्टवं भजमाना प्रतिभाति, यथास्याः सौन्दर्यं, न केवलं बाह्यमेवाकर्षकं दृष्टिपथ-मागच्छेद्, अपि तु तदाभ्यन्तरमपि दृश्यं, तत्तद्विषयसन्निवेशादि-यथावत्प्रयजातेन विदुषामपि विवेकि हृदयं यथा सहसा समावर्जयेत्, तथैवास्माभिर्विधातव्यम् ।

इदं चेदं च नः प्रत्यक्षं, यदेषा मुद्रितासु सर्वास्वेव वाग्भटसंहितासु निर्णयसागरमुद्रितैव संहिता, बाह्याकारेण निरपवादं परमशोभनापि, प्रतिक्षणं लोकैराद्रियमाणाऽपि च दृश्यते, परं तदन्तर्निविष्टविषये तु सा, व्याकरणानु-शासनावहेलनापरम्परया नितान्तं दुर्विसहा परिक्रिष्टा वा तदभ्यासशीलानां मतिमतां मनोम्लानिं भृशमाविर्भावयतीति ।

तथैषाऽस्मत्परिशोधिता क्वचित्क्वचित् टिप्पणीसनाथा च सटीकादि-हृदयसंहिता, 'श्रीमोतीलालबनारसीदासाख्यपुस्तकालय'—स्वामि श्रीसुन्दर-लालजैनमहोदयेन निजमुद्रणालये मुद्रापिता, सर्वथाभिनवरूपमादधानाऽवश्यं भिषजां मनोविनोदमाधास्यतीति नो द्बहः प्रत्ययः ।

इत्याचार्यमौद्गल्यस्य



अष्टाङ्गहृदयविषयाणां सूची ।

सूत्रस्थानम् ।

| विषयः | पृष्ठे | विषयः | पृष्ठे |
|----------------------------------|--------|----------------------------|--------|
| मङ्गलाचरणम् | १ | रोगारोग्ययोः स्वरूपम् | ११ |
| अथायुष्कामीया- | | रोगद्वैविध्यम् | ११ |
| ध्यायः प्रथमः ॥१॥ | ११ | रोगाधिष्ठानद्वैविध्यम् | १६ |
| आयुर्वेदोत्पात्तिः | ५ | मनसां द्वौ दोषौ | ११ |
| आगमशुद्धिः | ११ | रोगिपरीक्षणम् | ११ |
| पृथक्तन्त्राणि | ११ | रोगविशेषाधिगमोपायः | ११ |
| अष्टाङ्गहृदयम् | ६ | देशद्वैविध्यम् | १७ |
| अष्टाङ्गानि | ११ | भूदेशत्रैविध्यम् | ११ |
| दोषादयः | ७ | भेषजकालः | ११ |
| तेषां मारकत्वम् | ८ | द्विप्रकारकमौषधम् | ११ |
| तेषां स्थानानि | ११ | शरीरजदोषौषधम् | १८ |
| तेषां नियतकालः | ६ | मनोदोषौषधम् | ११ |
| अग्निस्वरूपम् | ११ | पादचतुष्टयस्वरूपम् | ११ |
| कोष्ठचातुर्विध्यम् | १० | भिषजश्चतुर्गुणाः | १६ |
| प्रकृतिस्वरूपम् | ११ | औषधस्य चतुर्गुणाः | ११ |
| त्रिदोषगुणाः | ११ | उपस्थातुश्चतुर्गुणाः | ११ |
| संसर्गः सन्निपातश्च | ११ | रोगिणश्चतुर्गुणाः | ११ |
| धातवः | १२ | सुखसाध्यव्याधिलक्षणम् | ११ |
| मलाः | ११ | कृच्छ्रसाध्यो व्याधिः | २१ |
| देहपरिपालनोपायः | ११ | याप्यो व्याधिः | ११ |
| रसाः | १३ | प्रत्याख्येयो व्याधिः | ११ |
| रसानां गुणाः | ११ | अनुपक्रमणीयातुरस्य लक्षणम् | २२ |
| रसाश्रयद्रव्यस्य त्रिप्रकारत्वम् | ११ | सूत्रस्थानान्तर्गताध्यायाः | २३ |
| वीर्यद्वैविध्यम् | १४ | शरीरस्थानाध्यायाः | ११ |
| द्रव्यविपाकः | ११ | निदानस्थानाध्यायाः | ११ |
| द्रव्यस्यगुणाः | ११ | चिकित्सितस्थानाध्यायाः | २४ |
| रोगकारणम् | १५ | कल्पस्थानाध्यायाः | २५ |
| | | उत्तरतन्त्राध्यायाः | ११ |



| विषयः | पृष्ठे | विषयः | पृष्ठे |
|------------------------------|--------|---------------------------------|--------|
| अथ दिनचर्याध्यायो | | वचनं हितादिरूपम् | " |
| द्वितीयः ॥ २ ॥ | २५ | वर्तनप्रकारः | " |
| ब्राह्मेमुहूर्त उत्थानम् | " | शत्रुत्वादेरप्रकाशनम् | " |
| स्वस्थवृत्तम् | " | लोकप्रकृत्यानुसारेण वर्तनम् | " |
| दन्तधावनम् | २६ | इन्द्रियाणां लालनपीडननिषेधः | ३२ |
| अजीर्णप्रभृतेर्भक्षणनिषेधः | " | त्रिवर्गशून्यकर्मानारम्भः | " |
| सौवीराञ्जनम् | " | सर्वधर्मेषु मध्यममार्गानुवर्त० | " |
| रसञ्जनम् | " | दीर्घलोमादिधारणनिषेधः | " |
| नावनादिसेवनम् | २७ | ज्ञानशीलादिः | " |
| केषाक्षित्ताम्बूतनिषेधः | " | सम्भारप्रकारः | " |
| अभ्यङ्गः | " | निशि विशेषः | " |
| शिर आदौ विशेषेण शीलनम् | " | विशिष्टदेवताधिष्ठानाद्यनतिक्रमः | ३३ |
| अभ्यङ्गापवादः | २८ | बाहुभ्यां नदीतरणनिषेधादि | " |
| व्यायामः | " | क्षुत्यादिकरणप्रकारः | " |
| व्यायामनिषेधः | " | नासाविकोषणननिषेधादि | " |
| व्यायामकालः | " | श्रमात्प्राग्देहवाक्चेष्टा | " |
| देहमर्दनम् | " | रात्र्यादौ चत्वारिंशदिवननिषेधः | ३४ |
| अतिव्यायामनिषेधः | " | उद्यदादित्यदर्शननिषेधादि | " |
| अतिव्यायामादिना व्यापदः | " | मद्यविक्रयादिनिषेधः | " |
| उद्रर्तनगुणाः | " | पुरोवातादित्यागादि | " |
| ज्ञानगुणाः | " | सर्वचेष्टासु लोकोपदेष्टृत्वम् | ३५ |
| उष्णाम्बुना परिषेकः | २९ | सद्व्रतस्वरूपम् | " |
| ज्ञानेऽयोग्याः | " | कालस्मृतिविशिष्टत्वम् | ३६ |
| जीर्णे हितभोजनम् | " | एवमाचारे कृते फलम् | " |
| धर्मप्राधान्यम् | ३० | अथ ऋतुचर्याध्याय- | |
| मित्राऽमित्राणां स्वीकारपरि० | " | स्तृतीयः ॥ ३ ॥ | ३६ |
| हिंसादित्यागः | " | षड्ऋतवः | " |
| शक्तितोऽवृत्त्याद्यनुवर्तनम् | " | बलादाने युक्तिः | ३७ |
| कीटादिध्वात्मवद्दर्शनम् | " | उत्तरायणम् | " |
| देवाद्यर्चनम् | " | दक्षिणायने बलविसर्गः | " |
| अर्थिनोऽप्रत्याख्यानम् | " | बलविसर्गे युक्तिः | " |
| उपकारस्य प्राधान्यम् | ३१ | शीतादौ नृणां बलविचारः | ३८ |
| सम्पदादौ समचित्तता | " | हेमन्तेऽनलस्य प्राबल्यम् | " |

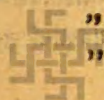


| विषयः | पृष्ठे | विषयः | पृष्ठे |
|-------------------------------|--------|-------------------------------------|--------|
| हेमन्तो हिमचर्या च | ३८ | साधारणमास्थापनादि | ११ |
| स्वाद्वम्लादिसेवनम् | ३९ | पुरुषवर्तनप्रकारः | ४९ |
| बुभुक्षितस्य प्रातरेव भोजनम् | ४० | नदीजलादिपञ्चत्यागः | ४० |
| वातघ्नतैलाभ्यङ्गादि | ४० | शरचर्या | ४० |
| जानादि | ४० | क्षुधितस्य तिकादिगुणयुतः | ४० |
| मांसादिसेवनम् | ४१ | उदकसेवनप्रकारः | ४१ |
| विलासिनीनां शीतहरत्वम् | ४१ | चन्दनादिसेवनम् | ४१ |
| शीतजनितदोषनाशः | ४१ | तुषारादेः परित्यागः | ४१ |
| शिशिरस्तचर्या च | ४१ | समासेन ऋतुचर्या | ४१ |
| शिशिरेऽपि पूर्वोक्तविधिः | ४१ | ऋतुविशेषेऽन्नपानादि | ४२ |
| वसन्तचर्या | ४२ | उपदिष्टाहारस्यापवादः | ४२ |
| श्लेष्मजयप्रकारादि | ४२ | ऋतुविषये सेवनीयप्रकारः | ४२ |
| शुण्ठीकथितजलपानादि | ४२ | सहसात्यागे रोगाः | ४२ |
| मध्याह्ने गमनादित्यागः | ४३ | अथ रोगानुत्पादनीया- | |
| गुरुशीतादित्यागः | ४३ | ध्यायश्चतुर्थः ॥ ४ ॥ | ४२ |
| प्रीष्मचर्या | ४४ | वातादिवेगधारणनिषेधः | ४३ |
| पदवादित्यागः | ४४ | वातरोधेन गुल्मादिरोगोत्पत्ति- | ४४ |
| मधुराज्जादिसेवनम् | ४४ | वातोत्थे विकारे ज्वहादिविधिः | ४४ |
| सक्तुशर्करादिलेहः | ४४ | शकृतो रोधे पिरिङ्गकोद्वेष्टादयः | ४४ |
| मद्यपानापानप्रकारः | ४४ | मूत्रस्य रोधादङ्गभङ्गादयः | ४४ |
| उक्तविध्यतिक्रमे दोषः | ४४ | वातादिरोधजानामौषधम् | ४४ |
| मांसैः सह शुक्रशालिभक्षणम् | ४४ | पुरीषरोधजेष्वौषधम् | ४४ |
| नातिघनरसादेः पानम् | ४४ | मूत्रजेष्वौषधम् | ४४ |
| सुरभीकृतजलपानम् | ४५ | उद्गारस्य रोधादङ्गभङ्गादयः | ४५ |
| रात्रौ माहिषक्षीरपानम् | ४५ | क्षुतेरोधाच्छिरोर्यादयः | ४५ |
| स्वापप्रकारः | ४५ | अप्रवर्तमानक्षुतेः प्रवृत्तौ कारणम् | ४५ |
| वेद्यवादिनिर्भितपृष्ठे स्वापः | ४५ | तृष्णानिरोधाच्छोषादयः | ४५ |
| शयनीयप्रकारः | ४५ | क्षुधो रोधादङ्गभङ्गादयः | ४५ |
| निशासु सौधपृष्ठे स्थितिः | ४५ | निद्रारोधान्मोहादयः | ४५ |
| तालवृन्तसेवनप्रकारः | ४५ | कासरोधात्तद्वृद्धिः | ४५ |
| वर्षाचर्या | ४५ | श्रमश्वासरोधाद् गुल्मादयः | ४५ |
| वर्षासु दोषाणां दुष्टत्वम् | ४५ | जृम्भाया रोधात्क्षुत्तिवद्भोगाः | ४५ |
| अन्योन्यदूषिषु वातादिपुशः | ४५ | अश्रुणो निरोधात्पीनसादयः | ४५ |

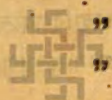


| | | | |
|-----------------------------------|--------|-------------------------------------|--------|
| विषयः | पृष्ठे | विषयः | पृष्ठे |
| वमोर्निरोधे विसर्पादयः | " | उष्णाम्बुगुणाः | ६७ |
| तत्र गरुड ॥ दयः शस्ताः | " | क्वथितशीतलोपयोगः | " |
| शुक्रोवाच्छुक्लवणम् | ५७ | व्यूषितजलनिषेधः | ६८ |
| तत्र ताम्रचूडादिकसेवनम् | " | नारिकेरोदकगुणाः | ६९ |
| वेगरोधिना न चिकित्स्याः | " | वर्षर्तुलजलं पथ्यम् | " |
| वेगेऽदीरणधारणैः सर्वेपि रोगाः | " | पयसो गुणाः | " |
| तत्र साधनम् | " | गव्यं पयो जीवनीयम् | ७० |
| लोभादिवेगधारणमैव | ५८ | माहिषक्षीरोपयोगः | " |
| वातादीनां यथाकालशोधनम् | " | आजक्षीरगुणाः | ७१ |
| दोषकोपकारणम् | ५९ | औष्ट्रक्षीरगुणाः | " |
| वैद्येन रसायनप्रयोगः कर्तव्यः | " | मानुषक्षीरगुणाः | " |
| भेषजक्षपिते आहारैर्बृहणादि | " | आविकक्षीरगुणाः | ७२ |
| एवंकृते पुरुषस्य फलम् | ६० | हस्तिनीक्षीरगुणाः | " |
| आगन्तुरोगनिर्देशः | " | वडवादीनां क्षीरगुणाः | " |
| एषां चिकित्सा | " | अक्वथितक्षीरगुणाः | " |
| मलानां शोधनकालाः | " | अतिश्रुतोष्णगुणाः | " |
| हिताहारविहारसेवनम् | ६१ | दधिगुणाः | " |
| अथ द्रवद्रव्यविज्ञानी- | | तक्रगुणाः | ७५ |
| याध्यायः ॥ ५ ॥ | " | मस्तुगुणाः | " |
| अथ जलवर्गः | ६२ | नवनीतगुणाः | " |
| गङ्गाजलगुणाः | " | क्षीरोद्भवघृतगुणाः | " |
| गङ्गाजललक्षणम् | ६३ | घृतगुणाः | " |
| सामुद्रजलपाननिषेधः | " | पुराणघृतगुणाः | ७६ |
| आन्तरिक्षमपि पानेऽयोग्यम् | " | किलाटादिगुणाः | " |
| नदीनिरूपणम् | ६५ | क्षीरघृतयोः श्रेष्ठत्वं निन्दितत्वे | ७७ |
| नद्यः पथ्यापथ्याः | " | इक्षुवर्गो गुणाः | " |
| हिमवन्मल्लयोद्भूताः पथ्यापथ्याश्च | " | यान्त्रिकरसस्य त्वन्यगुणाः | " |
| वज्र्णा नद्यः | " | पौरुडकरसस्य श्रेष्ठ्यम् | ७८ |
| कूपतडागाद्युत्तमम् | ६६ | शातपर्वकादीनां गुणाः | " |
| केशाञ्चिजलपाननिषेधः | " | फाणितगुणाः | " |
| भोजनेऽम्बुपानप्रकारः | ६७ | गुडगुणाः | " |
| शीतजलगुणाः | " | पुराणनवगुडगुणाः | ७९ |

| विषयः | पृष्ठ. | विषयः | पृष्ठ. |
|-----------------------------|--------|-------------------------------------|--------|
| मत्स्यरिडकादिगुणाः | " | धान्याम्लकाजिकुणाः | " |
| यवासशर्करागुणाः | " | गोऽजादिमूत्रगुणाः | " |
| सर्वशर्करागुणाः | " | द्रवैकदेशोदाहरणम् | " |
| शर्कराफणितयोर्वरावरत्वम् | " | अथान्नस्वरूपावेज्ञानीया- | |
| मधुवर्गः | " | ध्यायः षष्ठः ॥ ६ ॥ | |
| उष्णमधुगु० | ८१ | हितकारिधान्यानि | ८७ |
| उष्णमधुन उपयोगः | " | रक्तशालिगुणाः | " |
| तैल वर्गः | " | महाशाल्यादीनां श्रेष्ठत्वम् | " |
| तिलतैलगुणाः | ८२ | यवकादीनां पूर्वस्व पूर्वस्व निन्दि- | |
| एरण्डतैलगुणाः | " | तत्वम् | " |
| सार्धपतैलगुणाः | ८३ | षष्टिकस्य श्रेष्ठ्यम् | " |
| विभीततैलगुणाः | " | षष्टिकान्महाव्रीह्यादयो गुण० | " |
| निम्बतैलगुणाः | " | षष्टिकादिभ्योऽन्यव्रीहिस्वरू० | " |
| अतसीकुसुम्भजगुणाः | " | कङ्खादितृणधान्यानि | " |
| वसादिगुणाः | " | प्रियङ्गोर्भस्मसन्धानकरत्वम् | ८८ |
| मद्यवर्गः | ८४ | कोरदूषगुणाः | " |
| नवजीर्णमद्यगुणाः | " | यवगुणाः | " |
| उष्णोपचारेण मद्यपाननिषेधः | " | अन्ययवस्वरूपम् | " |
| सुरागुणाः | ८५ | वंशोद्भवयवस्वरूपम् | " |
| वैभीतकीगुणाः | " | गोधूमस्वरूपम् | " |
| अरिष्टगुणाः | " | नन्दीमुखी पथ्या | " |
| द्राक्षारसोद्भवगुणाः | " | शिमबीधान्यानि | " |
| स्वार्जूरमद्यगुणाः | " | मुद्गगुणाः | " |
| शार्करमद्यगुणाः | ८६ | कुलत्थानां गुणाः | " |
| गुणमद्यगुणाः | " | निष्पावगुणाः | " |
| सीधुगुणाः | " | माषगुणाः | " |
| पकरसगुणाः | " | काकाण्डोलात्मगुप्ताफलगुणाः | ८९ |
| मध्वासवगुणाः | " | तिलगुणाः | " |
| शुक्रगुणाः | " | अतसीगु० | " |
| गुडादीनां यथोत्तरं लघुत्वम् | " | कुसुम्भबीजगु० | " |
| कन्दादितदासुतगुणाः | " | माषयवकयोन्यूनत्वम् | " |
| अन्यासुतगुणाः | " | नवधान्यगुणाः | " |



| विषयः | पृष्ठे | विषयः | पृष्ठे |
|---------------------------------|--------|--------------------------|--------|
| मण्डादीनां अथापूर्व लाघवम् | ११ | शशगुणाः | ११ |
| मण्डगुणाः | ११ | तित्तिरिगुणाः | ६३ |
| पेयागुणाः | १ | शिखिगुणाः | ११ |
| विलेप्या गुणाः | ८६ | कुक्कुटगुणाः | ११ |
| ओदनलक्षणम् | ६० | ग्राम्यकुक्कुटः | ११ |
| एतं सर्वपेयादिकम् | ११ | ककरोपचक्रकाः | ११ |
| मांसूरसलक्षणम् | १ | काणकपोतः | ११ |
| मौद्वरसलक्षणम् | ११ | चटकाः | ११ |
| कौलत्थरसलक्षणम् | ११ | बिलशयादीनां यथोत्तरमधि० | ११ |
| तिलविकृत्यादिगुणाः | ११ | यहामृगगुणाः | ११ |
| रसालाया लक्षणम् | ११ | अजमांसगुणाः | ११ |
| पानकलक्षणम् | ६१ | आविकमांस गुणाः | ११ |
| लाजालक्षणम् | ११ | गोमांसगुणाः | ११ |
| पृथुकगुणाः | ११ | महिषगुणाः | ११ |
| धानालक्षणम् | ११ | वराहगुणाः | ११ |
| सक्तुलक्षणम् | ११ | मत्स्यगुणाः | ११ |
| पिण्याकलक्षणम् | ११ | चिलिचिमिमत्स्यगुणाः | ११ |
| वेसवारलक्षणम् | ११ | लावादयः | ११ |
| मुद्रादिजवेसवारलक्षणम् | ११ | सद्योहतमांसस्य शुद्धत्वं | ६४ |
| कुक्कुलादिपकानां यथोत्तरं लक्ष० | ११ | मृतमांसादित्यागः | ११ |
| हरिणादयो दशमृगाः | ६२ | पुंस्त्रियोर्मांसप्रकारः | ११ |
| लावादय एकविंशतिर्विष्किराः | ११ | शाकवर्गः | ६५ |
| जीवञ्जीवकादयो दश प्रतुदाः | ११ | पाठादिजशाकगु० | ११ |
| भेकादयश्चत्वारो बिलशयाः | ११ | सुनिपणगु० | ११ |
| गवादयः प्रसहाः | ११ | राजक्षवगु० | ११ |
| वराहादयो मह्यमृगाः | ११ | वास्तुकगु० | ११ |
| हंसादयोपचरसंज्ञाः | ११ | काकामाचीगु० | ११ |
| रेहितकादयो मत्स्याः | ११ | चांगेरीगु० | ११ |
| इत्यष्टधा मांसम् | ११ | पटोलादीनां | ६६ |
| व्यामिश्रादयः | ११ | पटोलविशेष गु० | ११ |
| जात्रलादिशब्दवाच्याः | ११ | वृहतीद्वयगु० | ११ |
| जात्रलानां लक्षणम् | ११ | वृषगु० | ११ |



| विषयः | पृष्ठे | विषयः | पृष्ठे |
|-----------------------|--------|--------------------------------|--------|
| अरवेक्षुगु० | ॥ | पियडालुगु० | ॥ |
| वार्ताकगु० | ॥ | कुठेरादिगु० | ॥ |
| करीरगु० | ॥ | सुरसगु० | ६६ |
| कोशातकावल्लुजकयोर्गु० | ॥ | सुमुखगु० | ॥ |
| तरङ्गलीयगु० | ॥ | आद्रिकागु० | ॥ |
| मुजातगु० | ॥ | लशुनगु० | ॥ |
| पालक्या गु० | ॥ | पलायडुगु० | ॥ |
| उपोदकागु० | ॥ | गृजनकगुणाः | १०० |
| चञ्चुगु० | ॥ | सूरगु० | ॥ |
| विदारीगु० | ॥ | भूकन्दगु० | ॥ |
| जीवन्तीगु० | ॥ | पत्रादीनां यथोत्तरं गुह्यत्वम् | ॥ |
| कूष्माण्डादिगु० | ६७ | शाकेषु जीवन्त्या वरत्वम् | ॥ |
| कूष्माण्डविशेषगु० | ॥ | सर्षपाणामवरत्वम् | ॥ |
| त्रपुसगु० | ॥ | फलवर्गः | ॥ |
| तुम्बफलगु० | ॥ | द्राक्षागुणाः | ॥ |
| शीर्षवृन्तगु० | ॥ | दाडिमगुणाः | ॥ |
| मृणालादिगु० | ॥ | मोचादिगुणाः | ॥ |
| कलम्बादिगु० | ॥ | तालफलादिगु० | १०१ |
| लघुपत्रागु० | ॥ | पक्कबिल्वगु० | ॥ |
| तर्कार्यादिगु० | ॥ | कपित्थगु० | ॥ |
| पुनर्नवादिगु० | ॥ | जाम्बवगु० | ॥ |
| चिरिबिल्वाङ्कुरगु० | ॥ | आम्रगु० | ॥ |
| शतावर्यङ्कुरगु० | ६८ | वृक्षाम्लगु० | ॥ |
| वंशीकरीरगुणाः | ॥ | शमीफलगु० | ॥ |
| पत्तूरगु० | ॥ | पीलुगु० | ॥ |
| कासमर्दगु० | ॥ | मातुलुङ्गगु० | ॥ |
| कुसुम्भशाकगु० | ॥ | भस्मातकमांसादिगु० | ॥ |
| सार्धपशाकगु० | ॥ | पालेवतगु० | १०२ |
| बालमूलकगु० | ॥ | पक्कपालेवतगु० | ॥ |
| महन्मूलकगु० | ॥ | द्राक्षापरुषकादेर्गु० | ॥ |
| शुष्कमूलकगु० | ॥ | करमर्दकगु० | ॥ |
| आममूलकगु० | ॥ | कोलादिगु० | ॥ |



| | |
|--------------------------|-------|
| विषयः | पृष्ठ |
| अम्लीकाफलादिगु० | ११६ |
| फलानां मध्ये लकुचमवरम् | " |
| फलशाकसम्पादनकारणम् | " |
| लवणादिवर्गस्तल्लक्षणम् | ११७ |
| लवणविशेषलक्षणम् | " |
| सौवर्चललक्षणम् | " |
| विडलक्ष० | " |
| सामुद्रलक्ष० | " |
| श्रीद्विदलक्ष० | " |
| कृष्णलवणलक्ष० | ११८ |
| रोमकलवणलक्ष० | " |
| लवणप्रयोगे सैन्धवप्रयोगः | " |
| यवक्षारलक्ष० | " |
| सर्जिकाक्षारादिगु० | " |
| हिङ्गुगु० | " |
| हरीतकीगु० | " |
| आमलकगु० | ११९ |
| अक्षुगु० | " |
| त्रिफलागु० | १२० |
| त्रिजातकगु० | " |
| कटुमरिचगु० | " |
| पिप्पलीगु० | " |
| नाशरगु० | " |
| आर्द्रकगु० | " |
| चविकागु० | १२१ |
| चित्रकगुणाः | " |
| पञ्चकोलगुणा | " |
| पञ्चमूलगुणाः | " |
| ह्रस्वपञ्चमूलगुणाः | " |
| मध्यमपञ्चमूलगुणाः | " |
| जीवनाख्यपञ्चमूलगुणाः | " |
| तृणसंज्ञकपञ्चमूलगुणाः | " |

| | |
|--------------------------------|-------|
| विषयः | पृष्ठ |
| सहप्रदश्लोकः | " |
| अथाक्षरज्ञाध्यायः सप्तमः | १२४ |
| राजनिकटे वैद्यस्थितिः | " |
| वैद्येन राजा रक्ष्यः | " |
| विषदुष्टभक्तलक्षणम् | " |
| व्यञ्जनानां परीक्षा | १२५ |
| विषदूषितरसादिवर्गः | " |
| विषदातुर्लक्षणम् | १२६ |
| सविपस्याज्ञादेः परीक्षाः | १२७ |
| पक्षिमृगैरपि परीक्षाः | " |
| सविषेऽन्ने स्पृष्टे कण्ड्वादयः | १२८ |
| वक्त्रगे विषे लालादयः | " |
| आमाशयप्राप्ते स्वेदादयः | " |
| भुक्तविषस्यौषधम् | " |
| हेमपाने विषबाधाऽभावः | १२९ |
| विरुद्धाहारस्य विषगरोपमः | " |
| विरुद्धभोजनलक्षणम् | " |
| पयसाऽम्लद्रव्यविरोधः | " |
| पयसा कुलत्पादेर्विरोधः | १३० |
| हरीतकादिभक्षणे पयस्त्यागः | " |
| सेधामासेन वराहादिमांसाऽभ- | " |
| क्षणम् | " |
| पिप्पलीविशेषस्य त्यागः | १३१ |
| शूल्यो मासो विरुद्धः | " |
| कम्पिष्ठस्तकसाधितो विरुद्धः | " |
| एकत्र पायससुगाकृशरत्यागः | " |
| तुल्यप्रमाणमध्वादेर्मिथोविरोधः | " |
| भिन्नांशे मध्वाज्ये अनुपाने | " |
| विरुद्धेः | १३२ |
| तिलकल्कसाधितोपोदक्या- | " |
| तीसारः | " |

| विषयः | पृष्ठे |
|------------------------------------|--------|
| बलाकावाक्ययादिनासहवि० | १३२ |
| तित्तिर्यादयएरएडाग्निनासिद्धा | |
| जीवितद्वारा | " |
| द्वारातमांसस्य योगविशेषेण | |
| नाशकत्वम् | " |
| तदेवसमाच्चिकं विरुद्धम् | १३३ |
| विरुद्धस्य व्यापि लक्षणम् | " |
| शरीरस्याभिसंस्कृतिर्विरुद्धाद्वारे | |
| प्रशस्ता | " |
| व्यायामादिकारिणो विरोध्यपि- | |
| भोजनम् | " |
| पथ्यपथ्यभोज्यत्यागप्रकारः | " |
| हितनिवेषणम् | १३४ |
| पथ्यगुणानां स्थिरत्वम् | " |
| अपथ्यत्यागपथ्यस्वीकाराभ्यां गुणाः | १३५ |
| अहिताद्वारत्यागः | " |
| आहारादिभिः शरीरधारणम् | " |
| शयनब्रह्मचर्ययोर्विधिः | " |
| दुष्टनिद्रानिर्देशः | " |
| जागरणादीनां गुण दोषाः | १३६ |
| दिवास्वापस्य गुणदोषकरत्वम् | " |
| पुरुषविशेषस्य प्राग्मे दिवास्वा- | |
| पनिषधः | १३७ |
| अकालशयनान्मोहादयः | " |
| तत्र चिकित्सा | " |
| निद्रानाशजन्यविकाराः | १३८ |
| यथाकालं रात्रौ निद्रा | " |
| मन्दनिद्रस्य क्षीरादिसेवनम् | " |
| मैथुने वर्जनीययोषिदादि | " |
| अतुविशेषे निधुवननियमः | १३९ |
| अन्यप्रकारेणस्त्रीगमने अमादयः | " |
| युक्तनिधुवनरतस्यस्मृत्यादयः | " |

| विषयः | पृष्ठे |
|----------------------------------|--------|
| राज्ञ वैशो निकटे स्थाप्यः | १४० |
| अथ मात्राशितीयाध्यायो- | |
| ऽष्टमः ॥८॥ | " |
| परिमितभक्षणम् | " |
| गुरूणां लघूनां च मात्राकथनम् | १४१ |
| हीनमात्रभोजननिषेधः | " |
| अतिमात्रेदोषप्रकोपः | " |
| दोषप्रकोपेविषूचिकोद्भवः | " |
| एतस्यैव विस्तारेण कथनम् | " |
| विषूचिकानिर्वचनम् | १४२ |
| वाताद्याधिक्याच्छूलार्थुद्भवः | " |
| कफाधिक्याच्छूलार्थुद्भवः | " |
| अलससंज्ञारोगः | " |
| दण्डकालसकलक्षणम् | " |
| आमविषनिर्देशः | १४३ |
| अलसकोपक्रमनिर्देशः | " |
| विषूच्याविरिक्तवदुपचारः | " |
| अजीर्णिनो वमनादि | " |
| जीर्णेऽशने शूलघ्नौषधनिषेधः | १४४ |
| औषधप्रकारः | " |
| एतस्यैव विवरणम् | " |
| अन्यव्याधिविचिकित्सा | " |
| हेतुव्याधिविपर्ययोरेवचिकित्साया- | |
| मुपयोगः | १४५ |
| अजीर्णलक्षणम् | " |
| अनिलादजीर्णम् | " |
| पित्तादजीर्णम् | " |
| अजीर्णलङ्घनादि | " |
| प्रभूताजीर्णाद्विलम्बिका | १४६ |
| आहारसाररसाजीर्णलक्षणम् | " |
| सामान्यमजीर्णलक्षणम् | " |
| अजीर्णस्यान्यकारणानि | १४७ |



| विषयः | पृष्ठे |
|---|--------|
| अभ्यशनलक्षणम् | १४४ |
| इष्टैः सहेष्टभोजनम् | १४६ |
| तृणादिजुष्टभोजनत्यागः | १४६ |
| किलाटादिशीलननिषेधः | १४७ |
| शास्त्रादिशीलनम् | १४७ |
| रोगोच्छेदकरस्यसंवनम् | १४७ |
| भक्षणव्यवस्था | १४७ |
| भोजनस्यपरिमाणम् | १४७ |
| यवगोधूमादिभक्षणेऽशीतजलादिपानं | ७३ |
| भक्तवटकादंरुक्षिग्धस्यवैपरीत्येनानुपानम् | १४७ |
| अनुपानस्यमनःप्रहर्षादिकरत्वं | १४७ |
| ऊर्ध्वजत्रुगदादीनानुपानम् | १४७ |
| प्रक्लिन्नदेहादीनांपानत्यागः | १४७ |
| पानभोजनोत्तरंपुरुषेणभाष्यादित्यागः | १४७ |
| कर्तव्यः | १४७ |
| भोजनस्यकालः | १४७ |
| अथद्रव्यादिविज्ञानीयाध्यायो- नवम्: ॥६॥ १४२ | १४७ |
| रसादीनाद्रव्यमेवश्रेष्ठम् | १४७ |
| द्रव्यादेः पंचभूतात्मकत्वम् | १४७ |
| पंचमहाभूतैर्द्रव्योत्पत्तिप्रकारः | १४४ |
| द्रव्यमेनेकरसम् | १४४ |
| ज्वरादीनामनेकदोषत्वम् | १४४ |
| द्रव्येगुर्वादयोगुणाः | १४६ |
| रसेउपचारादुगुणाः | १४७ |
| पार्थिवद्रव्यस्यगुर्वादिगुणोत्कटत्वम् | १४७ |
| अप्यस्यद्रवादिगुणोत्त्वत्वम् | १४७ |
| आग्नेयस्यरुक्षादिगुणोत्त्वत्वम् | १४७ |
| वायव्यस्यरौक्ष्यादिगुणत्वम् | १४७ |
| नाभसस्यसूक्ष्मादिगुणोत्त्वत्वम् | १४७ |
| सर्वद्रव्यभौषधम् | १४७ |

| विषयः | पृष्ठे |
|-----------------------------------|--------|
| अग्निपवनोत्कटन्द्रव्यमूर्ध्वगं | १४७ |
| भूमितोयगुणाधिकमधोगामि | १४७ |
| वायस्यवर्चाप्रस्तावः | १४७ |
| सर्वचरकमतेर्वीर्यवदेव | १४७ |
| गुर्वादिव्येवष्टसुवीर्याख्या | १४७ |
| रसादीनांवीर्यत्वाभावः | १४७ |
| द्विध्वववीर्यप्रकारः | १४६ |
| तत्रयुक्तिः | १४७ |
| उष्णभ्रमादिकर्तुं | १४७ |
| शीतमाह्लादनादिकर्तुं | १४७ |
| विपाकस्यलक्षणम् | १४७ |
| गुडादीनामधुरादिरूपेणरसः | १६० |
| द्रव्यस्वरसेनविपाकेनवा | १४७ |
| शुभाशुभकर्तृत्वम् | १४७ |
| रसादीनांकार्यकरणेकारणत्वम् | १६१ |
| विरुद्धगुणसंयोगेभूयसारूपजयः | १४७ |
| रसादीनां साम्येकार्यकारणत्वविचारः | १४७ |
| प्रभावस्यकर्मकथनम् | १६२ |
| एतस्मिन् दृष्टान्तः | १४७ |
| द्रव्यभेदेनकर्मणोभेदः | १४७ |
| उदाहरणार्थग्रंथकृद्भवः | १६३ |
| अथरसभेदीयाध्यायः ॥६॥ १६५ | १६५ |
| ६३सोद्भवः | १४७ |
| रसलक्षणम् | १४७ |
| मधुरगुणाः | १४७ |
| अम्लगुणाः | १६६ |
| लवणगुणाः | १४७ |
| तिक्तगुणाः | १४७ |
| कटुगुणाः | १४७ |
| कषायगुणाः | १४७ |
| रसस्यकर्मकथनम् | १४७ |
| अम्लरसकर्म | १६७ |



| विषयः | पृष्ठे | विषयः | पृष्ठे |
|---------------------------------|--------|---|--------|
| लवणारसकर्म | " | वृद्धरसपित्तयोःकर्म | " |
| तिक्तारसकर्म | " | वृद्धमांसस्यकर्म | " |
| कटुरसकर्म | " | वृद्धमेदसःकर्म | " |
| कषायरसस्यकर्म | " | वृद्धास्थनःकर्म | " |
| मधुरादिस्कंधः | १६६ | वृद्धमज्जाकर्म | १७७ |
| अम्लस्कंधः | " | वृद्धशुक्रस्यकर्म | " |
| लवणस्कंधः | " | वृद्धशकृतःकर्म | " |
| तिक्तस्कंधः | " | वृद्धमूत्ररस्यकर्म | " |
| कटुस्कंधः | १६६ | वृद्धस्वेदस्यकर्म | " |
| कषायस्कंधः | " | एवंदूषिकादयोमलाः | " |
| मधुरस्यश्लेष्मकरत्वापवादः | १७ | क्षीणानिलस्यकर्म | " |
| अम्लस्यपित्तकरत्वापवादः | " | क्षीणपित्तस्यकर्म | " |
| तिक्तस्यवातलत्वापवादः | " | क्षीणकफस्यकर्म | " |
| कटुन अपवादः | " | क्षीणरसस्यकर्म | १७८ |
| कट्वम्ललवणानामुत्तरोत्तरं | " | क्षीणरक्तस्यकर्म | " |
| वीर्योष्णता | " | क्षीणमांसस्यकर्म | " |
| तिक्तादीनामुत्तरोत्तरंरूक्षतादि | " | क्षीणमेदसःकर्म | " |
| पट्वादीनामुत्तरोत्तरंगुहत्वम् | " | क्षीणस्यास्थनःकर्म | " |
| पट्वादीनांजिग्धता | " | क्षीणमज्जायाःकर्म | " |
| अम्लादीनामुत्तरोत्तरंलघुत्वम् | " | क्षीणस्यशुक्रस्यकर्म | " |
| रसानांसंयोगकल्पनाविभागः | " | क्षीणपुरीषस्यकर्म | " |
| रससंयोगानांध्याख्यानम् | १७१ | क्षीणमूत्रस्यकर्म | " |
| रसभेदानांसंक्षेपेणकथनम् | १७२ | क्षीणस्वेदस्यकर्म | " |
| रसादीनामुपयोगः | १७४ | प्राणादिमलानांच्छयलितम् | " |
| अथदोषादिविज्ञानीया- | | दोषधातुमलानांसमासतोवृद्धिचयौ | १७६ |
| ध्यायः ॥ ११ ॥ | " | दोषादीनामाश्रयाश्रयिभावः | " |
| देहस्यमूलदोषादयः | १७५ | लङ्घनबृंहणैर्विकारसाधनम् | १८० |
| रसादीनांकमेणश्रेष्ठकर्माणि | " | विकारसाधनप्रकारः | " |
| मलानांकर्माणि | " | रक्तवृद्धयुत्थादीनारक्तस्रुतिविरेचनादि- | |
| वृद्धवायोःकर्म | १७६ | भिरुपक्रमः | " |
| वृद्धपित्तस्यकर्म | " | धातोवृद्धिचयकरणप्रकारः | १८१ |
| वृद्धश्लेष्मणःकर्म | " | प्रकुपितदुष्टदोषाणां धातुदोष- | |



| विषयः | पृष्ठे | विषयः | पृष्ठे |
|----------------------------------|--------|--|--------|
| करत्वादि | " | दोषोपसंहरणम् | " |
| ओजसो निरूपणम् | १८२ | चयकोपरूपवृद्धिनिदानम् | " |
| ओजसः क्षयादि | " | पित्तचयः | १८८ |
| तत्र भेषजम् | " | श्लेष्मचयः | " |
| ओजोविवृद्धौ देहस्य तुष्ट्यादिः | " | चयादीनां लक्षणानि | " |
| संचेपेण वृद्धिचयभेषजकथनम् | " | कोपस्य लिङ्गम् | " |
| इष्टनक्षणे दोषाणां वृद्धिचयजयः | १८३ | वातदेधयप्रकोपशमाः | १८६ |
| वातादीनां विपरीतसमानयोरुचि- | | अस्मिन्पर्यनुयोगः | " |
| करत्वम् | " | वातादेः कोपाभावः | " |
| दोषवृद्धयादावन्योपि लक्षणप्रकारः | " | कालादाहरादीनां प्राधान्यम् | " |
| क्षीणा अपि नोपेक्ष्याः | " | दोषाणां व्याप्तिनिवृत्तिवैचित्र्यं कोपजं | " |
| अथ दोषभेदीयाध्यायः॥१२॥ १८४ | | विकारस्य हेत्वादिकं सामान्येन | १९० |
| वातस्य स्थानम् | " | अत्रैवहेत्वन्तरम् | " |
| पित्तस्य स्थानम् | " | तेषां कोपे इन्द्रियाणां शब्दादिसंयोगादिः | |
| कफस्य स्थानम् | " | कारणम् | १९१ |
| वायोः पञ्चात्मत्वम् | " | हीनमिथ्यातियोगनिर्देशः | " |
| प्राणस्य गत्यादिप्रकारः | १८५ | कालस्य त्रैविध्यम् | १९२ |
| उदानस्य गत्यादिप्रकारः | " | कर्मणोपि त्रैविध्यम् | " |
| व्यानस्य गत्यादिप्रकारः | " | दोषाणां निदानम् | १९३ |
| समानस्य गत्यादिप्रकारः | " | बाह्यरोगाणां रक्तादीनि स्थानानि | " |
| अपानस्य गत्यादिप्रकारः | " | आन्तरो रोगमार्गः | १९३ |
| पित्तभेदाः पञ्च | " | मध्यमरोगमार्गः | " |
| पित्तस्य रजनसंज्ञा | १८६ | वायोः कर्माणि | १९४ |
| हृद्रतं पित्तं साधकमुच्यते | " | पित्तस्य कर्माणि | " |
| दृष्टिस्थं पित्तमालोचकम् | " | श्लेष्मणः कर्माणि | " |
| त्वक्स्थं ब्राजकम् | " | पुनःपुनर्व्याधितदर्शनम् | १९८ |
| श्लेष्मा पञ्चविधः | " | व्याधिश्चप्रकारकः | " |
| श्लेष्मणोऽवलम्बकत्वम् | १८७ | त्रिप्रकारव्याधिलक्षणार्थः | १९८ |
| स आमोशये क्लेदकः | " | त्रिविधव्याधेश्चकृत्सा | " |
| जिह्वास्थो बोधकः | " | व्याधीनां द्वैविध्यम् | " |
| शिरस्थस्तर्पकः | " | तेयारन्त्यस्य लक्ष० | " |
| सन्धिस्थः श्लेष्मकः | " | स्वतन्त्रस्य लक्ष० | " |



| विषयः | पृष्ठे |
|---------------------------------------|--------|
| परतन्त्रकथनम् | " |
| मलानां स्वतन्त्रपरतन्त्रता | " |
| भिषजा ते लक्ष्याः | " |
| परतन्त्राणां प्रशमोपायः | " |
| प्रकोपे परतन्त्रस्यादौ चिकित्सा | १६६ |
| अशेषरोगाणां नामतो स्थितिर्न | " |
| तत्र कारणम् | " |
| वैद्यनोपादानादिज्ञानोत्तरं चिकित्स्यः | " |
| विचारे कृते वैद्यस्य स्खलनं न | " |
| अवहितस्य यथार्थज्ञानस्य | २०० |
| अल्पज्ञभिषद्भिन्दा | " |
| अल्पज्ञवैद्यस्यायथार्थभेषजम् | २०१ |
| चिकित्साविपर्यये देहनाशः | " |
| अत आलोचनपूर्वकं भेषज्यम् | " |
| दोषवातादिकथनम् | " |
| तेषां भेदाः | " |
| सञ्जिपातस्य दोषतारम्येन भेदाः | २०३ |
| पूर्वप्रकारेण पञ्चविंशतिभेदाः | " |
| द्विषष्टिनिर्दिष्टाः | २०४ |
| त्रिषष्टः स्वास्थ्यकारणम् | " |
| दोषभेदानां रसादिभेदादानन्त्यम् | " |
| अथ दोषोपक्रमणीया- | |
| ध्यायः ॥ १३ ॥ | " |
| पूर्वं वातस्योपक्रमः | २०५ |
| पित्तस्योपक्रमः | २०६ |
| श्लेष्मणो उपक्रमः | २०६ |
| संसर्गोपक्रमः | " |
| संसर्गे भूयोप्युपक्रमः | " |
| उपक्रमस्य कालः | २०७ |
| तत्र कारणम् | " |
| दोषाणां कोष्ठादिसन्धिषु गमनप्रकारः | " |
| शास्त्रादिभ्यो दोषाणां कोष्ठ- | |

| विषयः | पृष्ठे |
|------------------------------------|--------|
| गमनप्रकारः | २०६ |
| ते विलम्बेन रोगोत्पादकाः | " |
| तेषां कालविलम्बेन रोगोत्पादकत्वम् | " |
| परस्थानगतानां दोषाणां विकल्पनचिकि- | |
| त्सोपदेशः | " |
| अन्याभिभावेषु चिकित्सा | २१० |
| आगन्तुदोषशमनम् | " |
| तिर्यग्गतदोषे कर्तव्यता | " |
| तेषामुपक्रमः कार्यः | " |
| तेषां वसनविरेचनादिना निष्कासनम् | " |
| साममललिङ्गम् | " |
| आमसम्भवः | २११ |
| अन्यमते आमसम्भवः | " |
| सामा रोगा उच्यन्ते | " |
| केषांचित्सामानामनिर्हरणम् | २१२ |
| ईदृशेदोषेकर्तव्यता | " |
| तस्य मार्गः | " |
| आमानां स्तम्भैर्धारणनका | " |
| तेषु कर्तव्यप्रकारः | " |
| तेषां शोधनकालः | २१३ |
| ग्रीष्मादौ शोधनाभावे कारणम् | " |
| अधिके व्याधौ तदनुसारेणशोधनकालः | " |
| औषधकालनिर्देशः | २१४ |
| कफोद्रेके निरञ्जमौषधम् | " |
| कम्पादिषु सामुद्रं प्रशस्तम् | " |
| ऊर्ध्वजत्रुविकारे स्वप्नकाले औषधम् | " |
| अथद्विविधोपक्रमणीया- | |
| ध्यायः ॥ १४ ॥ | २१५ |
| उपक्रमस्य द्वैविध्यम् | " |
| द्वैविध्यनिरूपणम् | " |
| चतुर्णां द्वयोरेवान्तर्भावकथनम् | २१६ |
| प्रत्येकं तयोर्भेदाः | " |



| विषयः | पृष्ठं | विषयः | पृष्ठं |
|-------------------------------|--------|-------------------------------------|--------|
| शोधनस्य लक्षणं प्रभदध | ॥ | पित्तनाशकानि | ॥ |
| तस्य पंचविधत्वम् | ॥ | श्लेष्मनाशकानि | ॥ |
| शभनाख्यस्य लक्षणं प्रभदध | ॥ | जीवनीयाख्योगणः | ॥ |
| वातेवातपित्तचबृंहणं शमनमेव | २१७ | विदार्यादिगणः | ॥ |
| बृंह्यकथनम् | ॥ | दाहादिनाशकानि | २२६ |
| बृंहणोपायाः | ॥ | स्तन्यहेतवोवातादिनाशकारच | ॥ |
| मेहादीनां लघनम् | ॥ | तृडामयादिनाशकानि | ॥ |
| शोधनविषयनिरूपणम् | २१८ | विषादिनाशकानि | ॥ |
| लंघनीयमेहादीनां बृंहणनिषेधः | ॥ | कफादिनाशकानि | ॥ |
| बृंहणलंघनयोः संश्लेषकर्तव्यता | ॥ | पित्तदिनाशकानि | २२७ |
| बृंहितस्य लक्षणम् | ॥ | छर्द्यादिनाशकानि | ॥ |
| लंघितस्य लक्षणम् | ॥ | धित्रादिनाशकानि | ॥ |
| अतिबृंहितलंघितयोर्लक्षणम् | २१९ | कफादिनाशकानि | २२८ |
| अतिस्यौल्यादिनिर्देशः | ॥ | मूत्रकृच्छ्रादिनाशकानि | ॥ |
| स्थौल्यादीनामुपक्रमः | ॥ | वातजरोगनाशकानि | ॥ |
| तेष्वौषधम् | २२० | कफयोनिदोषादिनाशकानि | ॥ |
| अतिस्यौल्यादिजितांकथनम् | ॥ | कफादिनाशकानि व्रणशोधकानि च | २२९ |
| अतिलंघनोत्थरोगादिकथनम् | ॥ | श्लेष्मादिनाशको व्रणशोधनश्च सुरसा- | |
| स्थौल्यापेक्षयाकार्यवरम् | २२१ | दिगणः | ॥ |
| तत्रकारणम् | ॥ | गुल्मादिनाशकानि | ॥ |
| द्वितीयकारणम् | ॥ | चलादिनाशकानि | ॥ |
| कृशभेषजम् | २२२ | अतीसारादिनाशनौगणौ | २३० |
| मांसभक्षणेन स्थौल्यम् | ॥ | पक्वातीसारादिनाशकौ | ॥ |
| स्थूलकृशयोः समासेनोप. | ॥ | योन्याद्यामयन्त्राः | ॥ |
| स्थूलकृशयोर्यवगोधूमहितम् | ॥ | मेदपित्तास्त्रादिनिवर्हणोन्यग्रोधा- | |
| उपक्रमातिरेकेपि द्वित्वानति. | २२३ | दिगणः | २३१ |
| अथशोधनादिसंग्रहाध्यायः १५ | ॥ | वातादि कंङ्वादि नाशकः | ॥ |
| वमनकराणि | २२४ | गुल्मादिनाशकः | ॥ |
| द्विचनकराणि | ॥ | उक्कवर्गालमेतत्तुल्ययोजनम् | २३२ |
| निरुहणसाधनानि | ॥ | एषां पानादिप्रकारेण रोगनाशकत्वम् | ॥ |
| उत्तमांगशोधकानि | ॥ | अथ स्नेहाध्यायः ॥ १६ ॥ | |
| वायुनाशकानि | २२५ | ज्वहनविरुद्धयोः स्वरूपम् | २३३ |
| | | स्नेहेषु सर्पिरादीनामुत्तमत्वम् | ॥ |

| विषयः | पृष्ठे |
|----------------------------------|--------|
| सर्पिरादीनिपित्तप्रानि | " |
| घृतापेक्षयातैलादीनामुत्तरात्तरं- | " |
| गुरुत्वम् | २३५ |
| यमकमेहादीनानिरूपणम् | " |
| मेहानिरूपणम् | " |
| मेहनायोग्याः | २३५ |
| मेहानांहितकारित्वम् | " |
| ग्रन्थ्यादिरोगेषुनैलंहितम् | " |
| वातादिषुवसामज्जनौशस्येते | " |
| वसायाविशेषान्तरम् | " |
| कालविशेषेभेदविशेषोपयोगः | २३६ |
| घर्मेपिचनिशिघृतोपयोगः | " |
| अन्यथाविपर्ययः | " |
| मेहोपयोगप्रकारः | " |
| मेहस्यचतुर्षष्टावचारणाः | २३७ |
| अच्छापेयःमेहःकेवलः | " |
| तस्यश्रेष्ठ्यम् | " |
| मेहस्यत्रिविधमात्रालक्षणम् | " |
| तस्यकालमात्रालक्षणम् | २३८ |
| जातबुभुक्षस्यमेहोपयोगः | " |
| रसादिसहभावेनमेहोपयोगः | २३९ |
| तस्यहितकारित्वम् | " |
| उपयुक्तस्यफलम् | " |
| उपयुक्तस्यमेहोत्तरमुष्णवारिपानम् | " |
| तदुत्तरंभोजयितव्यस्यान्नप्रकारः | २४० |
| मेहउपयुक्तेविरिक्तवदुपचारः | २४१ |
| पानेदिनपरिमाणम् | " |
| सम्यक्स्निग्धादीनालक्षणम् | " |
| अमात्रसर्पिरादेःशोफादिकरत्वम् | " |
| मेहविभ्रंशेक्षुत्तृणानिग्रहादि | " |
| विरुद्धाण्यस्यसम्यक्कृतातिकृत- | " |
| लक्षणम् | २४२ |

| विषयः | पृष्ठे |
|-------------------------------------|--------|
| मांसलमेहानांलक्षणम् | " |
| मेहनमलप्रेरणम् | " |
| बालवृद्धादिषुसद्यःमेहकारणम् | २४३ |
| तेषांकथनम् | " |
| मद्यःस्नेहेकारणम् | " |
| कुष्ठादिषुमेहार्थद्रव्यविशेषनिषेधः | " |
| तेषांमेहनप्रकारः | " |
| आमयक्षीणानांमेहनप्रकारः | " |
| पुनःपुन मेहफलम् | २४४ |
| अथ स्वेदविध्यध्यायः ॥ १७ ॥ | |
| स्वेदस्यचातुर्विध्यम् | " |
| तापादीनालक्षणम् | " |
| उपनाहस्वेदः | " |
| मेहोपायभूताःपद्यादयः | २४५ |
| ऊष्माख्यः स्वेदः | " |
| द्रवस्वेदः | २४६ |
| अवगाहस्वेदः | " |
| स्वेददेशः | २४७ |
| व्याध्याद्यपेक्षयास्वेदप्रकारः | " |
| कफप्रस्तस्यस्वेदाचरणम् | " |
| आमाशयगतेवातेस्वेदः | " |
| वक्ष्यादावलपमेहादियोजना | २४८ |
| शीतशूलक्षयादौस्विन्नेन भाव्यम् | " |
| अतियागलक्षणम् | " |
| गुर्वादिद्रव्येणस्वेदसंभवः | " |
| द्रव्यादिगुणयुक्तद्रव्यस्वेदनदिभवति | " |
| रसतःस्त्वन्ननिर्देशः | " |
| स्त्वन्नमितलक्षणम् | " |
| अतिस्त्वन्नमितलक्षणम् | " |
| अतिस्थूनादीनांस्वेदनिषेधः | २४९ |
| श्वासादिमत्सुस्वेदः | " |
| स्थलविशेषे अग्नाग्नेयःस्वेदः | " |



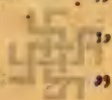
| विषयः | पृष्ठे | विषयः | पृष्ठे |
|------------------------------------|--------|--|--------|
| अनाग्नेयस्वेदलक्षणम् | " | विरेकाप्रवृत्तावुष्णाम्बुपानम् | " |
| शुद्धिभिर्दोषनिर्हरणम् | २५८ | अल्पे उत्थाने पुनर्विरेचनादि | " |
| अथ वमनविरेचनविधिर- | " | अदृढज्वरकोष्ठस्य दशाहादूर्ध्वं विरेकादि, | " |
| ध्यायः ॥ १८ ॥ | " | अयोगलक्षणम् | " |
| कफापित्तयोर्वमनविरेचने | " | तद्वैपरीत्ये योगलक्षणम् | २५७ |
| नवज्वरादीनां वमनम् | " | अतिविरक्तस्य जलादिस्त्रावः | " |
| गर्भिरयादीनां वमननिषेधः | " | सम्यग्विरिक्तस्य धूमवज्ज्येनोपपा- | " |
| विषाद्यभ्यवहारे वमनम् | " | दनम् | " |
| केचिद्धूमान्तैः कर्मभिर्वैज्याः | " | ततो रक्तशाल्यादिभोजनादि | " |
| गुल्माद्या विरेच्या वम्याश्च | " | पीतभेषजस्य लङ्घनम् | " |
| नवज्वरिणो विरेचननिषेधः | " | लङ्घितस्य गुणाः | " |
| आवणादौ वमनापेधस्य मात्रापानम् २५२ | " | अग्निमान्धात्पेयादिक्रमः | " |
| पीतस्य प्रतीक्षणम् | २५३ | क्षुतालपपित्तश्लेष्मादः पे- | " |
| ततो वमनम् | " | यानिषेधादि | २५८ |
| वमतः पार्श्वादिधारणम् | " | वमनस्य पाकप्रतीक्षायां कारणम् | " |
| कफादौ तीक्ष्णादिद्रव्यैर्वमनम् | " | कारणविशेषेण भेदनीय- | " |
| हीनवेगस्य पुनः पुनर्वमनम् | " | भौज्यैर्योजनम् | " |
| अयोगेन निष्ठीवनादयः | २५४ | दुर्बलस्य मृदुद्रव्यैर्दोषजयः | " |
| सम्यग्योगे कफादीनां प्रवृत्तिः | " | मन्दाग्न्यादेः शोधनम् | " |
| अतियोगे फेनादिवद्वमनम् | " | रूक्षादीनां भेषज्यपरिणामादि | २५६ |
| सम्यग्योगेन वमिते धूमपानम् | " | विरेकेण मलनिर्हारः | " |
| तदूर्ध्वं सायमादौ भुञ्जानस्य | " | विषाद्यार्तेषु विरेचनम् | " |
| पेयादिक्रमः | " | तेषां ज्वरविरेकैः शोधनम् | " |
| पेयादिक्रमरूपम् | " | वमनादीनां मध्ये ज्वरस्वेदप्रयोगः | " |
| पेयादिक्रमस्य फलम् | २५५ | एवंविधानकारणम् | " |
| वमने विरेके चवेगानां संख्या | " | ज्वरस्वेदानभ्यासे दोषः | " |
| पित्ताद्यन्तर्वमनादि | " | संशुद्धेः कालः | २३० |
| वेगानयनादि | " | अथ बस्तिविधिरध्यायः | " |
| वामितस्य पुनर्विरेचनम् | २५६ | ॥ १६ ॥ | २६० |
| बहुपित्तकोष्ठस्य क्षीरेणापि विरेकः | " | वातोल्बणेषु बस्तिः | " |
| प्रभूतमारुतकोष्ठस्य विरेकः | " | तस्य त्रैविध्यम् | " |
| पित्तादौ कशयादिभिर्विरेच० | " | निरुद्धेण गुल्मादीनां साधनम् | " |

| विषयः | पृष्ठे |
|--|--------|
| निरूहयोग्यकथनम् | २६१ |
| आस्थाप्याएवानुवास्याअनास्थाप्या | |
| नानुवास्याः | ॥ |
| निरूहान्वासनयोग्यत्रय लक्षणम् | २६२ |
| यंत्रस्यप्रमाणम् | ॥ |
| नेत्रप्रमाणाभिवृद्धिः | ॥ |
| बिंदुद्वारेणनेत्रस्थौल्यप्रमाणमधिकंवस्ति | |
| पुटयोजनाकर्मिकाकरणम् | २६३ |
| कर्मिकाद्वयेऽजादीनांबस्तियोजना | २६४ |
| बस्तेरभावेच्छागाद्यवयवादिविन्यासः | ॥ |
| अनुवासेनेमात्रा | २६५ |
| निरूहात्पूर्वमनुवासनम् | |
| तस्यकालश्च | ॥ |
| आतुरस्येनेत्रप्रपीडनप्रकारः | २६६ |
| तस्यस्फिजोर्हननम् | ॥ |
| तस्यांगस्यहननादि | ॥ |
| लघुमात्रयाभोजनम् | ॥ |
| ततःपरमहोरात्रमुपेक्षा | २६७ |
| ततःशुंठीधान्यांबुपानम् | ॥ |
| तृतीयादौदिनेऽन्वासनम् | ॥ |
| ततोऽनिरूहशोधनप्रयोगः | ॥ |
| ततोऽबस्तिप्रकल्पनां | ॥ |
| निरूहकल्पनाप्रकारः | २६८ |
| ततोवातादौऋहप्रकल्पनादि | ॥ |
| औषधस्यगुदेप्रणयनम् | ॥ |
| अत्रान्यमतम् | २६९ |
| निरूहाणांसंयोजनविधिः | ॥ |
| निरूहेरोगिणःस्थितिप्रकारः | ॥ |
| तत्रबस्तिपीडनादि | ॥ |
| सम्यङ्निरूढत्वपर्यंतंबस्तिः | |
| विधानम् | २७० |
| सम्यङ्विरूढलिङ्गानि | ॥ |

| विषयः | पृष्ठे |
|----------------------------------|--------|
| निरूहस्यसम्यग्योगेभोजनम् | ॥ |
| कोष्णसलिलेनस्नानम् | ॥ |
| वातादितस्यानुवासनम् | २७१ |
| अनुवासनस्यसम्यग्योगादयः | ॥ |
| अन्यदनुवासनस्यसम्यग्यो | |
| गलक्षणम् | ॥ |
| श्लेष्मविकारादौस्नेहबस्तिमानं | ॥ |
| श्लेष्मपित्तपवनेषुयूषादिभोजनम् | ॥ |
| अनिलेबस्तिप्रकारः | २७१ |
| पित्तेवस्तिः | २७२ |
| कफविषयेबस्तिप्रकारः | ॥ |
| सनिपातेवस्तित्रयम् | ॥ |
| बस्तिनियमः | ॥ |
| अन्यमतम् | ॥ |
| तत्रकर्तव्यम् | ॥ |
| दोषादिसाम्यात्सर्वस्यप्राप्तायम् | ॥ |
| पूर्वमतानुमाहिस्वमतम् | ॥ |
| कर्मकालयोगाख्यबस्तिवि० | ॥ |
| बास्तिकर्मत्रिदोषजित् | २७२ |
| मात्राबस्ति लक्षणम् | ॥ |
| मात्राबस्तिर्बालादीनांहितः | ॥ |
| उत्तरबस्तिः | ॥ |
| नेत्रस्यपरिमाणम् | २७४ |
| नेत्रस्यबस्तिर्भृद्वादि | ॥ |
| अस्यरोगिणः ऋहप्रणयनादि | ॥ |
| त्रिचत्वारोवाबस्तयः | ॥ |
| स्त्रीणामुत्तरबस्तिविधानम् | २७५ |
| नेत्रस्यप्रमाणम् | ॥ |
| स्त्रीबालानांबस्तीविशेषः | २७६ |
| स्त्रियाउत्तरबस्ताववस्थानम् | ॥ |
| त्रिदिनपर्यंतंविलब्धपुन- | |
| विधानम् | ॥ |



| विषयः | पृष्ठे | विषयः | पृष्ठे |
|--------------------------------|--------|------------------------------------|--------|
| शुद्धेवमितविरेकादि | ॥ | च्छ्वासादयः | ॥ |
| बस्तदोषस्यैवनिर्हरणेदृष्टांतः | ॥ | रूक्षेऽक्षिस्तब्धतादयः | २८४ |
| रोगाणामुत्पत्तौवायुर्हेतुः | २७७ | अतिक्लिग्धेकंङ्वादयः | ॥ |
| वायोःकारणत्वेकीरणम् | ॥ | सम्यग्विरिक्तेऽक्षिलघुतादयः | ॥ |
| तस्यशमायबस्तिरेवभेषजम् | ॥ | दुर्विरिक्तादौगदोद्रेकादयः | ॥ |
| तस्माद्वस्तिचिकित्सा | ॥ | प्रतिमर्शस्यविषयः | ॥ |
| अथनस्यविधिरध्यायः | ॥ | दुष्टपीनसादौ प्रतिमर्शनिषेधः | ॥ |
| ॥ २० ॥ | २७८ | तस्ययोजननिषेधप्रकारः | ॥ |
| ऊर्ध्वजत्रुविकारिषुनस्यम् | ॥ | प्रतिमर्शस्यप्रयोगकालः | ॥ |
| नस्येकारणम् | ॥ | पुरुषविशेषेऽजनादीनानियमः | २८५ |
| नस्यस्यत्रैविध्यम् | ॥ | प्रतिमर्शोदितकरः | ॥ |
| विरेचनास्यस्योपयोगः | २७६ | नस्यार्थेतैलंशस्तम् | ॥ |
| बृंहणस्योपयोगः | ॥ | मर्शप्रतिमर्शभेदादि | ॥ |
| शमनस्योपयोगः | ॥ | अणुतैलनिर्देशः | २८६ |
| विरेचनास्यस्योत्पत्तिः | १३५ | नस्यशीलिनःफलम् | ॥ |
| बृंहणशमनयोरुत्पत्तिः | ॥ | अथधूमपानविधिरध्यायः | ॥ |
| नस्यविशेषाः | २८० | ॥ २१ ॥ | ॥ |
| शिरोविरेचनास्यं नस्यम् | ॥ | रोगानुत्पत्तिनाशनार्थं | ॥ |
| शमनसंज्ञंविरेचनम् | ॥ | धूमपानम् | ॥ |
| तस्यनासायां ध्मापनम् | ॥ | धूमस्यत्रैविध्यम् | ॥ |
| मर्शस्नेहस्यपरिमाणादि | ॥ | रक्तपित्ताद्यादिषुधूमपाननिषेधः | २८७ |
| नस्येऽयोग्याः | २८१ | अतिधूमपानंरक्तादिकृद् | ॥ |
| नस्येकालदोषौ | ॥ | रक्तपित्तादौशीतोविधिः | ॥ |
| नस्येकालनियमः | २८२ | त्रयाणांधूमानांपृथक्कालः | ॥ |
| यस्यदेयंतस्यप्रकारः | ॥ | नेत्रस्वरूपम् | २८८ |
| नस्येदत्तेपादादीनामर्दनम् | ॥ | त्रिविधधूमनेत्रस्यैर्ध्वेणप्रमाणम् | ॥ |
| मर्दनानंतरंपार्श्वयोर्निष्ठाव० | २८३ | धूमपानकर्तुःस्थितिः | ॥ |
| भेषजज्ञेयत्वाद्विस्त्रिर्वाचनं | ॥ | नासादिगतेदोषेपानप्रकारः | ॥ |
| नस्येसंजातमूर्च्छायांप्रतीकारः | ॥ | धूमोत्सर्गः | २८९ |
| नस्यावसानेस्थितिप्रकारः | ॥ | अदानविसर्गैर्धूमपानम् | ॥ |
| ततर्द्धदुष्णकवलधारणम् | ॥ | क्लिग्धादिधूमपानम् | ॥ |
| सम्यक्क्लिग्धेशिरसिसुखो- | ॥ | मृदुधूमविषयेद्रव्याणि | ॥ |



| विषयः | पृष्ठे |
|---------------------------------|--------|
| शमनधूमेद्रव्याणि | ११ |
| तीक्ष्णधूमेद्रव्याणि | ११ |
| धूमवर्तिविधानम् | २६० |
| अपरोधूमप्रकारः | ११ |
| धूमपेकासादीनामनुत्पत्तिः | ११ |
| अथगंडूषादिविधिरध्यायः | |
| ॥ २२ ॥ | २६१ |
| गंडूषश्चतुर्विधः | ११ |
| तेषां योजना | ११ |
| तेषां लक्षणम् | ११ |
| स्निग्धगंडूषोत्पत्तिः | ११ |
| शमनगंडूषः | ११ |
| शोधनगंडूषः | ११ |
| रोपणगंडूष | ११ |
| गंडूषेषु ज्ञेयादिकः प्रयोगः | ११ |
| दंतहर्षादौ तिलकल्कोदकं | |
| हितम् | २६२ |
| गंडूषधारणे तैलादिहितम् | ११ |
| उषादाहान्वितपाकादौ गंडू- | |
| षेसपिर्मार्चित्तकगंडूषधारणगुणाः | ११ |
| धान्याम्लगंडूषधारणगुणाः | ११ |
| अलवणस्य तस्य गंडूषगुणाः | ११ |
| क्षारांबुगंडूषस्य गुणाः | ११ |
| कोष्णपानीयगण्डूषगुणाः | ११ |
| गण्डूषधारणप्रकारः | ११ |
| गण्डूषधारणकालः | ११ |
| मन्यारोगादीनां चिकित्सा | २६४ |
| प्रतिसारणस्य त्रैविध्यम् | ११ |
| तस्य कफरोगेषु योजना | ११ |
| मुखलेपस्य त्रैविध्यम् | ११ |
| वातकफादाबुणादेस्तस्य योजना | ११ |
| सन्निप्रमाणः | ११ |

| विषयः | पृष्ठे |
|-------------------------------|--------|
| मुखालेपस्य स्थित्यादि | ११ |
| मुखालेपिनो दिवास्वापादिनिषेधः | ११ |
| पीनसादौ मुखालेपो न | ११ |
| तस्या कालपलितादिना शक्यत्वम् | ११ |
| कोलमज्जादयः षण्मुखालेपा | |
| हेमन्तादिषु योज्याः | ११ |
| मुखालेपप्रयोजनम् | ११ |
| शिरसितैलस्य चातुर्विध्यम् | ११ |
| तेषूत्तरोत्तरस्य बहुगुणत्वम् | ११ |
| रौक्ष्यादिष्वभ्यंगः | ११ |
| अरुंषिकादिषु परिषेकः | ११ |
| केशशतादिषु पिचुः | ११ |
| प्रसुण्यादौ बस्तिः | ११ |
| शिरोबस्तेर्विधानम् | २६५ |
| ततः कोष्णजेहेन सेचनम् | ११ |
| जेहधारणकालपरिमाणम् | ११ |
| संख्यापरिमाणम् | ११ |
| अपनीर्ताशरे बस्तेः स्कन्धा- | |
| दिमर्दनम् | २६६ |
| कर्णपूरणधारणादि | ११ |
| मात्राप्रमाणम् | ११ |
| मूर्धतैलफलम् | ११ |
| अथाश्चोतनाञ्जनविधिर- | |
| ध्यायः ॥ २३ ॥ | ११ |
| नयनमयानां परिषेको हितः | ११ |
| मरुदादावाश्चोतनमुष्णादि | २६७ |
| आश्चोतनस्य विधिः | ११ |
| अत्युष्णाश्चोतनाद्रोगादि | ११ |
| नेत्रौषधप्रयोगे युक्तिः | ११ |
| अञ्जनप्रयोगः | ११ |
| अञ्जनस्य त्रैविध्यम् | २६८ |
| लेखनाञ्जनस्य शुक्रार्मादि- | |



| विषयः | पृष्ठे | विषयः | पृष्ठे |
|------------------------------------|--------|----------------------------------|--------|
| धुप्रयोगः | " | जेहनपुटपाकानांकल्पना | " |
| तिरुकद्रव्यैरोपणाञ्जनम् | " | लेखनपुटपाककल्पना | " |
| स्वादुशीतद्रव्यैःप्रसादनम् | " | प्रसादनपुटपाककल्पना | " |
| अञ्जनेशलाकाप्रकारः | " | पुटपाककरणाप्रकारः | " |
| अञ्जनकल्पनात्रैविध्यादि | २६८ | लेखनादिषुशतमात्रादिधारणम् | " |
| तीक्ष्णचूर्णादौशलाकाद्वैगुण्यादि | " | जेहनादौकोष्णादित्वम् | " |
| निशादावञ्जननिषेधविधिप्रकारः | " | आद्ययोरन्तेधूमपानम् | " |
| अन्याचार्यमतम् | " | तत्रतृप्तिवद्योगाः | " |
| एतन्मतस्यदूषणम् | ३०० | नस्यानर्हेतर्पणादिनिषेधः | " |
| अत्युद्रिककफादावञ्जनप्रयोगे- | | तर्पणादिपर्यन्तंहितधेवित्वम् | " |
| दृष्ट्युघातः | " | कृततर्पणादेःस्थितिप्रकारः | " |
| उपघातेयुक्तिः | " | नेत्रबलायनस्यादिभिर्यत्नः | " |
| रात्रावप्यतिशीतेनेत्रेअञ्जनवर्जनम् | " | अथ यन्त्रविधिरध्यायः॥२५॥३०६ | " |
| भीतादीनांनाञ्जनम् | " | यन्त्रप्रकारः | " |
| अतितीक्ष्णाद्यञ्जनस्वनप्रयोगः | ३०१ | यन्त्राणारूपादि | " |
| नेत्रेजितेञ्जनस्यव्यापनादिप्रकारः | " | कंकादीनांमुखैस्तुल्यानियंत्राणां | " |
| निर्वृतेनयनेच्चालनम् | " | मुखानि | ३०७ |
| शोधनेप्रकारः | " | संदंशशौषोडशांङ्गुलौ | " |
| शोधनेकारणम् | " | मुकुरण्डीसंज्ञस्योपयोगादि | " |
| करङ्गादौतीक्ष्णाञ्जनम् | " | द्वेतालयन्त्रे | ३०८ |
| ततःपूर्णमञ्जनम् | ३०२ | नाडीयन्त्राणि | " |
| अथ तर्पणपुटपाकविधिर- | | नाडीप्रमाणम् | " |
| ध्यायः ॥ २४ ॥ | " | पञ्चमुखच्छिद्राद्युपयोगः | " |
| तर्पणयोजनम् | " | शल्यदर्शनार्थमन्यानाञ्जः | " |
| नेत्रपक्वतनिक्षेपप्रकारः | " | मूर्ध्यपयुक्तनाडीप्रमाणादि | ३०९ |
| रात्र्यन्धादिषुवसावापादि | ३०२ | अशौयन्त्रनिर्देशः | " |
| अनन्तरमात्राविगणनादि | " | शर्मासंज्ञयन्त्रम् | " |
| अनन्तरतपाज्जदेशेद्वारकरणादि | " | भगन्दरयन्त्रम् | " |
| इत्थंपवनादौप्रत्यहन्तर्पणम् | " | एकच्छिद्रानाडी | " |
| तृप्तस्यलक्षणम् | " | अङ्गुलित्राणकसंज्ञम् | ३१० |
| तर्पणानन्तरपुटपाकप्रयोगः | ३०४ | योनित्रयेक्षणकंयन्त्रम् | " |
| वातादौजेहनादिर्हितः | " | द्वेषङ्गुलेयन्त्रे | " |



| विषयः | पृष्ठे | विषयः | पृष्ठे |
|-----------------------------|--------|------------------------------------|--------|
| उदकोदेरनलिकादि | " | ब्रीहिवक्त्रंशस्त्रम् | " |
| धूमादियन्त्राणि | " | कुठारीशस्त्रम् | " |
| अलाबुस्तुम्बप्रमाणादि | " | ताम्रमयीशलाका | ३१६ |
| तद्वद्वटी | ३११ | बडिशंशस्त्रम् | " |
| शलाकाख्यानियन्त्राणि | " | करपत्रंशस्त्रम् | " |
| गरुडपदमुखद्वे | " | कर्तरीशस्त्रम् | " |
| मसूरदलवक्त्रोद्वे | " | नखशम् | " |
| शंकवःषट् | " | दन्तलेखनशस्त्रम् | ३१७ |
| तेषामुभयोःपरिमाणादि | " | सूचीशस्त्रम् | " |
| शरपुंखास्यौद्वौ | " | कूर्चलक्षणम् | " |
| बडिशकृतीद्वौ | " | खत्रलक्षणम् | " |
| गर्भशंकुः | " | यूथिकानामशस्त्रम् | ३१८ |
| सर्पफणाख्यंयन्त्रम् | ३१२ | अर्धांगुलवृत्तास्या | " |
| शरपुंखमुखाख्यम् | ३१२ | सूची | " |
| षट्शलाकाः | " | जलौकःप्रभृतीन्यनुशस्त्राणि | " |
| कर्णशोधनाख्यंयन्त्रम् | " | षड्विंशतिशस्त्राणां कर्माणि | " |
| शलाकादीनामुपयोगाः | " | शस्त्रदोषाः | " |
| मेढ्रादिषूकानियन्त्राणि | ३१३ | शस्त्रप्रहणविधिः | ३१६ |
| अनुयन्त्रणान्येकोनविंशतिः | " | शस्त्रकोशस्याख्यानम् | " |
| यन्त्राणां कर्माणि | " | जलौकसांयोजनम् | " |
| अथ शस्त्रविधिरध्यायः | " | सविषजलौकसालक्षणम् | ३२० |
| ॥ २६ ॥ | " | ताभिःकड्वादयः | " |
| शस्त्राणिषडंगुलानिबाहुल्येन | ३१४ | शुद्धाजलौकवानिर्विषाः | " |
| मंडलाग्रनामशस्त्रम् | " | तासामपिरक्तमत्तानांत्यागः | " |
| वृद्धिपत्रनामकंशस्त्रम् | " | परीक्षातइतरासांलागनम् | " |
| उत्पलाध्यर्धधाराख्येद्वे | " | तासांदुष्टरक्तस्यैवप्रहणेदृष्टांतः | ३२१ |
| सर्पवक्त्रनामकम् | ३१५ | दंशस्यमोक्षणम् | " |
| एषिणीशस्त्रम् | " | वमनविधानम् | " |
| शरार्यासंशस्त्रम् | " | पुनःसप्ताहंतासांयोजनाभावः | " |
| कुशाटाशस्त्रम् | " | सम्यग्वान्तेतासांपटुतादि | " |
| अंतर्मुखंतामशस्त्रम् | " | दुर्वान्तेस्तब्धतादयः | " |
| अर्धचन्द्राननंशस्त्रम् | " | दंशास्त्रावादि | ३२२ |



| विषय : | पृष्ठे | विषयः | पृष्ठे |
|-----------------------------------|--------|---|--------|
| अनन्तरपिच्छादीनां यो जनम् | ॥ | शुक्रमेद्रामयेसिराव्यधः | ॥ |
| दुष्टरक्तापगमादोगादिशमाः | ॥ | गलगण्डयोरुगगाया व्यधः | ॥ |
| अशुद्धरक्तस्य पुनः स्नावः | ॥ | गृध्रस्यांजानुसमीपस्थितायाः | ॥ |
| रक्तेदृषितेऽलाबुघटिकायोज० | ॥ | अपचीरोगेसिराव्यधः | ॥ |
| कफादिनादुष्टयोजनम् | ॥ | सक्थ्यर्तौसिराव्यधः | ॥ |
| कफदुष्टरक्तस्य शृङ्गेर्नाकर्षणम् | ॥ | ऊर्ध्वगवातरोगेसिराव्यधः | ॥ |
| वातपित्तदुष्टस्य शृङ्गेरानिर्हारः | ॥ | पाददाहादिषुसिराव्यधः | ॥ |
| प्रच्छ्यानप्रकारः | ॥ | विश्वाच्यांसिराव्यधः | ॥ |
| पिरिडतेरक्तेजलौकसः | ३२३ | यथोक्तसिराऽदर्शनेव्यधप्रकारः | ॥ |
| अवगाढेरक्तेजलौकसः | ॥ | सिराव्यधोत्तरं कर्तव्यानि | ३२७ |
| त्ववस्थेरक्तेऽलाब्वादीनि | ॥ | सिरायन्त्रणम् | ॥ |
| सर्वशरीरव्यापंकरक्तेसिरैव | ॥ | ततस्ताडनम् | ॥ |
| वातादिस्थानस्थितरक्तस्य शृङ्गा- | ॥ | सिरामोक्षणम् | ३२८ |
| दिभिर्निर्हारः | ॥ | ब्रोहिमुखेन पुनर्युधः | ॥ |
| सुतरक्तस्य शोफेऽपिषोष्णेन सेचनम् | ॥ | उपनासिकास्थाव्यधः | ॥ |
| अथ सिराव्यधविधिर- | ॥ | उपजिह्वाधरस्थसिराव्यधः | ॥ |
| ध्यायः ॥ २७ ॥ | ३२३ | प्रीवाश्रितसिराव्यधेवाससावेष्टनम् | ॥ |
| शुद्धलोहितस्वरूपकथनम् | ३२५ | हस्तसिराव्यधः | ॥ |
| रक्तदोषः | ॥ | पार्श्वसिरावेधप्रकारः | ॥ |
| रक्तदोषेण व्याधयः | ॥ | स्तब्धमेढूसिराव्यधः | ॥ |
| रक्तस्त्रावार्थसिराव्यधः | ॥ | जंघासिराव्यधः | ३२६ |
| सिराव्यधनिषेधः | ॥ | पादसिराव्यधः | ॥ |
| रोगविशेषेषु सिराविशेषव्यधः | ३२५ | अनुक्तेष्वपिकल्पनाप्रकारः | ॥ |
| कर्णरोगेषु नासाप्रस्थितायाः | ॥ | मांसलेदेहेव्रीहिमुखशस्त्रनिक्षेपप्रकारः | ॥ |
| पीनसेनासाललाटयोः स्थितायाः | ॥ | सम्यग्विद्धादौ स्त्रावादि | ॥ |
| मुखरोगेषु जिह्वादिगानाम् | ॥ | अल्पविद्धायांसिरावहनप्रकारः | ॥ |
| उन्मादेऽउरआदिस्थानाम् | ॥ | भीमूर्द्धादयो रक्तस्यास्त्रावहेतवः | ॥ |
| अपस्मारेऽहसुसन्धिस्थायाः | ॥ | असम्यक्स्त्रावेऽसिरालेपनम् | ॥ |
| विद्रव्यादौ पार्श्वादिस्थायाः | ॥ | सम्यक्प्रवृत्तेरक्तेतैलादिलेपनम् | ३३० |
| तृतीयकेज्वरेऽसमप्यस्थायाः | ३२६ | दुष्टादुष्टरक्तात्पूर्वं पीतिकास्त्रावः | ॥ |
| चतुर्थकेज्वरेऽस्कन्धस्याधोगताया | ॥ | शुद्धस्यनस्त्रावः | ॥ |
| प्रवाहिकायांसिराव्यधः | ॥ | मूर्द्धायां यन्त्रविमोचनादि | ॥ |

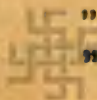
| विषयः | पृष्ठे | विषयः | पृष्ठे |
|--|--------|------------------------------|--------|
| वाताच्छ्रयावादिलक्ष्णरक्तम् | " | संधिगतशल्यस्यलक्षणम् | " |
| पित्तात्पीतादिलक्षणमध्मम् | " | कोष्ठसंश्रितशल्यस्यलक्षणम् | ३३५ |
| कफात्स्निग्धादिलक्षणम् | " | त्वगादिस्थस्यलक्षणम् | " |
| संसर्गात्संस्पृष्टलक्षणम् | " | शल्यस्यरोहादि | " |
| अशुद्धाक्षस्यस्त्रावपरिमाणम् | " | शल्यस्यभूयोबाधकत्वादि | " |
| रक्तातिश्रुतवभ्यंगादीनिभेषजम् | ३३१ | त्वगादिनष्टशल्येस्थानपरीक्षा | " |
| रक्तेक्षतेबन्धनादि | " | मांसप्रनष्टस्यलक्षणम् | " |
| अशुद्धेरक्तेपुनःस्त्रावः | " | पेश्यादिषुप्रनष्टस्यतद्वदेव | ३३६ |
| ज्वेहोपकृतदेहस्यपुनःस्त्रावादि | " | अस्थिषुनष्टस्यपरीक्षा | " |
| किञ्चिद्दुष्टरक्तशेषेनक्षतिः | " | स्नाय्वादिषुनष्टस्यलक्षणम् | " |
| शृंगादिभिःशेषस्यहरणम् | " | नष्टशल्यस्यसामान्यलक्षणम् | " |
| शीतोपचारादिनावातस्यप्रसादनम् | " | एषामाकर्षणोपायः | " |
| स्तम्भनीक्रियाचरणम् | ३३२ | शल्यविशेषस्याहरणनिषेधः | ३३७ |
| स्तम्भनविशेषः | " | करप्राप्यस्यकरेणाहरणम् | " |
| पुनस्तस्याएवसिराव्यधः | " | इतरस्ययन्त्रैराहरणम् | " |
| अथवासिरामुखस्यदाहः | " | संदंशाभ्यांत्वगादिस्थस्यहर० | " |
| स्वास्थ्यपर्यन्तंहिताहारविहरौ | " | त्वगादिस्थस्यतालाभ्यांहरणम् | ३३८ |
| रक्तेस्त्रावितेऽत्युष्णाहारादिवर्ज्यम् | " | सुषिरस्थस्यनाडीयन्त्रैः | " |
| रोगाणांस्वस्थानप्रतिपत्तौलक्षणादि | " | शेषयन्त्रैःशेषस्य | " |
| अथ शल्याहरणविधिर | " | शस्त्रेणवाविशसनादि | " |
| ध्यायः ॥ २८ ॥ | ३३३ | सिरादिस्थस्यचालनेननिर्हरणम् | " |
| शल्यानांपंचधागतिः | " | हृदयस्थस्यनिर्हरणोपायः | " |
| शल्यस्यवेदनप्रकारः | " | दुराकर्षस्यापिहरणम् | " |
| त्वगादिगतशल्यस्यलक्षणम् | " | अस्थिदृष्टस्यहरणम् | " |
| त्वग्गतशल्येशोफस्यविवर्णः | " | कण्डुमशक्यस्यकर्षणप्रकारः | " |
| मांसगतेशोपादि | ३३४ | ततोप्यशक्यस्यकर्षणप्रकारः | " |
| पेशीमध्यगतस्यलक्षणम् | " | एवंतृक्ष्णशाल्यांवाकल्पनम् | ३३६ |
| आयुगतशल्यस्यलक्षणम् | " | दुर्बलस्यहरणप्रकारः | " |
| सिराश्रितशल्यस्यलक्षणम् | " | शोफमुत्पोज्यहरणादि | " |
| स्रोतोगतशल्यस्यलक्षणम् | " | नाज्जानिनिर्घात्याहरणम् | " |
| धमनिस्थशल्यस्यलक्षणम् | " | अमागोतुसिद्धतशल्याहरणम् | " |
| अस्थिसंधिप्राप्तस्यलक्षणम् | " | भल्लादिना शल्यनिर्हरणम् | " |

| विषयः | पृष्ठे |
|--------------------------------|--------|
| अयस्कान्तेनशल्यनिर्हरणम् | ॥ |
| विरेकेणनिर्हरणम् | ॥ |
| चूपणैर्निर्हरणम् | ॥ |
| कंठगतेशल्येकंठसूत्रप्रवेशादि | ३४० |
| कंठस्रोतःप्रविष्टस्यहरणम् | ॥ |
| दाहवेणवादिमयस्यहरणम् | ॥ |
| कंठस्रोतस्थितकण्टकाक्षेपः | ॥ |
| प्रमादपीतस्यहरणम् | ॥ |
| येनकेनचिदुपायेनतस्यको- | |
| ष्ठेनयनम् | ॥ |
| प्रासशल्यप्रवेशोपायः | ॥ |
| अक्षित्रणशल्यनानिर्हरणोपायः | ३४१ |
| नद्यादिपतितप्रविष्टस्यजल- | |
| स्यनिर्हरणम् | ॥ |
| अंबुनापूणेकण्ठेतेलादिप्रक्षेपः | ॥ |
| कर्णगतेकीटेलवणांबुनापूर. | ॥ |
| जातुषादिशल्यस्यदेहजोष्म- | |
| णाप्रायोविलयः | ॥ |
| मृद्वेरवादीनानविलयः | ॥ |
| विषाणादिशल्यस्यविलयाभावादि | ॥ |
| मांसावगाढशल्यस्यहरणप्रकारः | ३४२ |
| शल्यदीनांज्ञानपूर्वकनिर्हरणम् | ॥ |
| अथ शस्त्रकर्मविधिर- | |
| ध्यायः ॥२६॥ | ॥ |
| श्वयथूपक्रमदि | ॥ |
| शोफस्मृतिस्त्रोवस्थाः | ३४३ |
| पच्यमानशोफादेर्विवर्णत्यादि | ॥ |
| पर्कल्पवेगतादिः | ॥ |
| अनिलादिकंविनाशूलाद्यलम्भवः | ३४४ |
| शोफस्यातिवृत्तेपाकेसुभिरत्वादि | ॥ |
| रक्तपाकस्यलक्षणम् | ॥ |
| श्वयथौ दारणादि | ॥ |

| विषयः | पृष्ठे |
|-------------------------------|--------|
| शोफस्यच्छेदेसिरादिव्यापदादि | ॥ |
| अन्तःस्थितपूयस्यसिरादि- | |
| दाहकत्वम् | ॥ |
| आमच्छेदकादेर्निदा | ३४५ |
| शस्त्रकर्मणःप्रगातुरस्येष्टा- | |
| भेदेयम् | ॥ |
| अन्नसंयोगान्मत्तस्यशस्त्रा. | ॥ |
| मूढगर्भादिरोगांवनष्टभोज- | |
| नमद्यपानादि | ॥ |
| शस्त्रनिक्षेपप्रकारादि | ॥ |
| पाकेपाटनादि | ३४६ |
| त्रणस्यप्रदेशः | ॥ |
| वैद्यस्यशस्त्रकर्मणिशौर्यादि | |
| शस्तम् | ॥ |
| ललाटादिदेशेषुच्छेदः | ३४७ |
| अन्यत्रच्छेदेव्यापतिः | ॥ |
| शस्त्रेन्यस्तआश्वासनादि | ॥ |
| त्रणांतरेवर्तिकाप्रवेशः | ॥ |
| घृताक्तसक्तुभिराच्छादनम् | ॥ |
| त्रणस्यबंधनादि | ॥ |
| त्रणेपट्टादिहितः | ॥ |
| त्रणेरक्षणाकरणम् | ३४८ |
| सदामूत्रौषधिधारणम् | ॥ |
| ततउष्णोदकोपचारादि | ॥ |
| दिवास्वप्नेत्रणेकंठादि | ॥ |
| स्त्रीस्मरणादिवर्ज्यं | ॥ |
| त्रणिनोत्रणापोहेभोजनादि | ३४९ |
| पथ्यस्याहितकरत्वम् | ॥ |
| दोषकरनवधान्यदित्यागः | ॥ |
| त्रणेमद्यस्यदोषगुणत्वादि | ॥ |
| त्रणेबालोशीरैर्व्यजनादि | ॥ |
| तृतीयदिवसेपुनश्चालनादि | ३५० |

| विषयः | पृष्ठे |
|-------------------------------------|--------|
| द्वितीयदिवसेप्रक्षालननिषेधः | ११ |
| व्रणसंरोहणम् | ११ |
| व्रणान्तःप्रवेशयोग्यवर्तिकादिनिषेधः | ११ |
| जेहात्केदः | ११ |
| अतिरूक्षत्वादतिव्यथादि | ११ |
| वेशिकायाव्रणेस्थापनम् | ११ |
| पक्वापक्वविज्ञानात्पाटितेव्रणउपायः | ११ |
| विस्तीर्णमुखानांसीवनम् | ३५१ |
| बन्धणादिस्थितानांनिषेधः | ११ |
| सीवनात्पूर्वकरणप्रकारः | ११ |
| आर्तसांत्वनपूर्वकपूर्ववद्धादि | ३५२ |
| पुनःसीवनप्रकारः | ११ |
| दशादीन्वीक्ष्यबंधनयोगः | ११ |
| बंधनानांस्वरूपम् | ११ |
| व्रणेताम्रादीनां लेखनार्थयोजनम् | ११ |
| बंधप्रकारनिर्देशः | ११ |
| बंधानां गणेशस्थितत्वादि | ३५३ |
| ऊर्वादिषुगाढबन्धनम् | ११ |
| शाखावदनादिषुसमबंधनम् | ११ |
| नेत्रादिषु मध्यबन्धनम् | ११ |
| वातश्लेष्मोद्भवयोर्गाढबन्धनम् | ११ |
| शीतादौमोक्षप्रकारः | ११ |
| पित्तरक्तोत्थयोःसमबन्धः | ११ |
| पूर्वोक्तयोःसायंप्रातर्मोक्षम् | ३५४ |
| अबद्धव्रणस्यदंशादिपीडा | ११ |
| बंधनगुणाः | ११ |
| व्रणस्यसमविषमत्वादि | ११ |
| स्थिरव्रणादीनामौषधादौविशेषः | ३५५ |
| कुष्ठादिव्रणानांबन्धनम् | ११ |
| सकृमीणांव्रणानांचिकित्सा | ११ |
| तत्रसुरसादिप्रयोगः | ११ |
| व्रणस्यत्वरसा नोपरोहणम् | ३५६ |

| विषयः | पृष्ठे |
|------------------------------------|--------|
| रूढेपिअजीर्णादिवर्जनम् | ११ |
| अनिर्दिष्टस्वरूपादिषुचिकि- | |
| त्साप्रकार | ११ |
| अथक्षाराग्निकर्म्मविधिर- | |
| ध्यायः ॥ ३० ॥ | ११ |
| क्षारस्यश्रेष्ठ्यम् | ११ |
| श्रेष्ठ्येकारणम् | ११ |
| क्षारस्यपेदलेपविषयविभागः | ११ |
| मषादिषुक्षारयोजना | ११ |
| पित्तादौक्षारोवर्ज्यः | ११ |
| क्षारक्रिया | ३५८ |
| मृदुक्षारेषुधानिर्वापादि | ११ |
| तीक्ष्णक्षारेप्रतिवापननिर्वा- | ११ |
| विषयनिर्देशः | ११ |
| अनिलादौतीक्ष्णः | ३५९ |
| मध्यमेषुमध्यमः | ११ |
| पित्तादिष्वर्शःसुमृदुः | ११ |
| क्षारेबलाधानार्थजलम् | ११ |
| क्षारगुणाः | ११ |
| अंतरानुभवद्वारेणक्षारगुणाः | ३५९ |
| अर्शःसुक्षारनिक्षेपादि | ११ |
| वर्त्मरोगेषुक्षारनिक्षेपादि | ११ |
| लेपदानप्रकारः | ११ |
| पश्चात्क्षारमार्जनादि | ३६० |
| तत्रभोज्यानि | ११ |
| तत्रआलेपप्रकार | ११ |
| व्रणरोपणस्तिलकल्कः | ११ |
| सम्यग्दग्धस्थानस्यवेदनम् | ११ |
| विपर्वयेताम्रादिभिर्दुर्दग्धवेदनम् | ११ |
| तस्यपुनर्दाहादि | ११ |
| अतिदग्धेरक्तसावादि | ११ |
| गुदेऽतिदग्धेविण्मूत्रयोःसंरो- | ११ |



| विषयः | पृष्ठे |
|---------------------------------|--------|
| नासायांचारदग्धायांनासावंशस्य | |
| दरणाकुंचनादि | ३६३ |
| श्रोत्रादिकेषुतद्वत् | " |
| अतिक्षारदग्धेकाञ्जिकादिभिः सेकः | " |
| काञ्जिकादिभिर्निर्वापादि | " |
| क्षारादप्यग्निः श्रेष्ठः | " |
| त्वगादिष्वग्निदाहो योज्यः | " |
| मषादिषुवर्त्यादिभिस्त्वग्दाहः | " |
| अर्शः प्रभृतिषुमांसदाहः | ३६५ |
| क्षिष्टवर्त्मादिषुसिरादाहः | " |
| क्षारवारितानां दाहो न | " |
| सुदग्धज्ञानोत्तरलेपनादि | " |
| सुदग्धस्थानस्यलिंगम् | " |
| दुर्दग्धादेर्लक्षणम् | " |
| प्रमाददग्धस्यचातुर्विध्यम् | " |
| तुल्यदग्धस्यलक्षणम् | " |
| दुर्दग्धस्यलक्षणम् | ३६५ |
| अतिदाहान्मांसलंबनादयः | " |
| चतुर्विधस्यास्यचिकित्सितम् | " |
| तुल्यस्याग्निप्रतपनादि | " |
| अग्निप्रतापनकारणम् | " |
| दुर्दग्धेऽप्यग्निशोभादि | " |
| सम्यग्दग्धेलेपः | " |
| अतिदग्धेपित्तविसर्पवत् | " |
| मेहदग्धेरुच्छस्ययोजना | " |
| अष्टाङ्गहृदयस्थानसमाप्तिः | ३६६ |
| अस्यस्थानस्यरहस्यवत्त्वे कारणम् | " |

शारीरस्थानम् ।

अथगर्भावक्रान्तिर-

ध्यायः ॥१॥

गर्भोत्पत्तिः

३६७

| विषयः | पृष्ठे |
|--------------------------------|--------|
| गर्भस्यकुक्ष्यैवृद्धिप्रकारः | ३६८ |
| गर्भप्रवेशोपलम्भाभावेपि | |
| स्थितौदृष्टान्तः | " |
| सत्त्वस्यनरादिरूपत्वेकारणम् | ३६९ |
| स्त्रीपुंनृपुंसकानांभेदेकारणम् | " |
| एकैवाऽनेकगर्भोत्पत्तौकारणम् | " |
| वियोनिविकृताकाराणामुत्पत्तौ | |
| कारणम् | " |
| रजःस्त्रावोमासिमासि | " |
| वीर्यवत्पुत्रोत्पत्तौ कारणम् | ३७१ |
| गर्भस्य रोगादियुतत्वे कारणम् | " |
| शुक्रार्तवसंयोगेपि गर्भसम्भवे | |
| कारणम् | " |
| स्वर्लिंगैर्वातादिदोषजशुक्र- | |
| ज्ञानम् | ३७२ |
| मलसंज्ञकरेतः | " |
| उपक्रमः | " |
| कुणपचिकित्सा | ३७३ |
| ग्रन्थिसंज्ञेरेतस्युपक्रमः | " |
| पूयरेतस्युपक्रमः | " |
| क्षीणाह्वरेतस्युपक्रमः | " |
| मलसदृशेरेतस्युपक्रमः | " |
| ग्रन्थिनाम्न्यार्तवे उपक्रमः | ३७४ |
| कुणपाद्याख्येरजसिजलपानम् | " |
| शुक्ललक्षणम् | " |
| शार्तवलक्षणम् | " |
| गर्भसम्भवात्पूर्वमितिकर्तव्यता | ३७५ |
| दम्पत्योः पृथगुपक्रमः | " |
| क्षीरादिभिर्नरस्योपचारः | " |
| तैलादिभिर्नार्याः समुपचारः | " |
| स्त्रीमधिकृत्य गर्भग्रहणयोग्यः | " |
| ऋतावतीते योनिस्त्र्योचादि | " |

| विषयः | पृष्ठे | विषयः | पृष्ठे |
|-----------------------------------|--------|----------------------------------|--------|
| एतद्विषये कालसहायवायोः | | अहितदाने कारणम् | " |
| कारणता | ३७६ | तृतीये मासि गात्रपञ्चकस्य | " |
| रजस्वलाया वर्तनप्रकारः | " | मात्राभ्यवहताक्षपानाभ्यां | " |
| ऋतुमत्याश्चतुर्यदिनकृत्यम् | ३७७ | गर्भवर्धनप्रकारः | ३८४ |
| ऋतुस्थितौ कालपरिमाणम् | १८२ | चतुर्थपञ्चमयोरज्ञानां चेतनायाश्च | " |
| तत्रोपाध्यायेनेष्टिकरणम् | " | क्रमेण व्यक्तिः | " |
| एवं दम्पत्योरवन्ध्यसंयोगः | ३७८ | षष्ठे स्नायवादीनां व्यक्तता | " |
| सङ्गते सत्सम्भतिः | " | सप्तमे सर्वाङ्गैः पूर्णता | " |
| दुरपत्यस्य कुलाङ्गारत्वम् | " | तदादयः कण्डूवादिकराः | ३८५ |
| दम्पत्योः पुत्रचिन्तनप्रकारः | " | तदुपशमार्थं नवनीतादिसेव० | " |
| दम्पत्योः शय्यारोहादि | " | अष्टमे मातापुत्रयोस्तेजसः | " |
| तत्र मन्त्रपाठः | ३७९ | सञ्चारादि | " |
| अन्योन्यं सान्त्वनपूर्वकं संवेशः | " | अष्टमे मासि क्षीरपेयादिसेवनम् | ३८६ |
| एवंकृते गर्भधारणम् | " | कालो गर्भदीर्घायुरादेः कारणम् | " |
| सद्योगर्भाया लक्षणम् | " | द्वादशमासादूर्ध्वं गर्भोविकार० | " |
| गर्भावस्थाः | ३८० | नवमे ज्ञिग्धौदनादेः | " |
| पुंसवनस्य सार्थकत्वम् | " | शस्तत्वम् | ३८७ |
| पुंसवनप्रयोगः | " | तदा योनौ वातविजयार्थं | " |
| पुष्ट्यै गौरदण्डादिचतुर्णाम्पानम् | " | पिचुस्थापनादि | " |
| श्वेतवृहतीमूलस्य क्षीनासापुटे- | " | गर्भप्रसवपर्यन्तं गर्भिण्याः | " |
| सेचनम् | ३८१ | मेहाङ्गत्वम् | " |
| पुत्रोत्पादनादिकारणम् | " | पुत्रायनुमापकानि | " |
| गर्भधारणे सहायभूतानि | " | षण्डप्रसवलक्षणम् | ३८८ |
| गर्भिण्या अतिव्यवायत्वागादि | " | नवमासात्प्राक्सूतिकागृहाश्रयो | " |
| वातलाद्याहारैः कुब्जादयः | ३८२ | गर्भिण्याः | " |
| मृदायौषधैर्व्याधिजयः | " | तदगृहे सृत्युदीक्षणम् | " |
| द्वितीये मासि गर्भस्य पेश्या- | " | आसन्नप्रसवाया लक्षणम् | " |
| द्याकृतिः | " | गर्भसूतेरनन्तरं सघृतपेयापा० | ३८९ |
| व्यक्तगर्भस्य लक्षणम् | " | भूशयने स्थिताया मर्दनादि | " |
| गर्भिण्या इच्छिताहितस्य | " | एवमनुष्ठिते फलम् | " |
| देयत्वे कारणम् | ३८३ | गर्भिण्याः खट्वारोपादि | ३९० |
| हितेन साकमहितमप्यह्यं देयम् | " | अभ्यङ्गादिना विकासनम् | " |

| विषयः | पृष्ठे |
|--|--------|
| तस्या हर्षोत्पादनम् | " |
| हर्षाद्युत्पादने फलम् | ३६१ |
| गर्भस्य संज्ञेकृष्णसर्पनिर्मोकेण | " |
| धूपनादि | " |
| ततोऽनुवासनम् | ३६२ |
| कुलयोषिता तस्याहरणम् | " |
| तैलेन मर्दनादि | " |
| मकज्जाख्ये रोगे यवचारपा० | " |
| बालस्योपचारः | ३६३ |
| बुभुक्षिताया मात्रापानम् | " |
| वातघ्नौषधस्य तोयस्येव पानादि | " |
| ज्मेहायोग्यायाः ज्मेहं विना पूर्वविधिः | " |
| जातायाः पेयापानम् | " |
| द्वादशाह्यात्पूर्वं पिशितस्य | " |
| नोपयोगः | ३६४ |
| सूताया यज्ञेनोपचारः | " |
| एवं सार्धमासविधिः | " |
| अथगर्भव्यापद्भिधिर- | " |
| ध्यायः ॥ २ ॥ | " |
| गर्भिरयाः पुष्पे दृष्टे कर्तव्यप्र० | " |
| शतधौतघृताकृत्त्रियाः स्ना० | ३६५ |
| शुद्धिवर्जमस्रोक्ताचरणम् | ३६६ |
| असृग्पूर्णत्रिमासाया पुष्पदर्शने | " |
| कर्तव्यम् | " |
| आमरकयोरविरुद्धस्योपदेशः | " |
| गर्भेनिपतितेतीक्ष्णमद्यपानादि | ३६७ |
| दोषादीनां क्लेदशोधार्थं विधिः | " |
| अनन्तरं स्नेहादयो हिताः | " |
| उपविष्टगर्भस्य लक्षणादि | " |
| नागोदराख्यस्य लक्षणादि | ३६८ |
| तयोर्गर्भिरया घृतादिभिस्तृ० | " |
| लीनाख्यगर्भस्यचिकित्सा | ३६९ |

| विषयः | पृष्ठे |
|-----------------------------------|--------|
| तस्या आनन्दकरणादि | " |
| अन्यथा वैपरीत्यम् | " |
| गर्भिरया उदावर्ताख्ये व्या- | " |
| धावुपायादि | " |
| उदर एव गर्भे मृते लक्षणानि | ४०० |
| अन्तर्मृतगर्भाया उपचाराः | " |
| अन्तर्मृतगर्भस्याकर्षणादि | ४०१ |
| शङ्खोपायसाध्यामूढगर्भचिकित्सा | " |
| मण्डलाकृतिशङ्खाभ्यांदारणम् | " |
| शुद्धिपत्रशस्त्रस्य निषेधः | " |
| पूर्वं कपालदारणादि | ४०२ |
| बाहुच्छेदनादि | " |
| कटिसकृत्स्य दारणादि | " |
| सामान्येन मूढगर्भचिकित्सा | " |
| तत्र भिषजा स्वमत्या यज्ञः कार्यः | " |
| जीवतो गर्भस्य च्छेदननिषेधादि | ४०३ |
| मूढगर्भस्त्रिया लक्षणादि | " |
| स्नानाद्यनन्तरं चूर्णपानादि | " |
| मूढगर्भायाः कर्तव्यप्रकारः | ४०४ |
| बलातैलनिरूपणम् | " |
| मृतगर्भिरयाजीवद्र्भनिष्का- | " |
| सनादि | ४०५ |
| गर्भे स्रवति सप्तसु मासेषु क्रमेण | " |
| सप्तयोगयोजनम् | ४०६ |
| अष्टमासादौ विशेषः | " |
| गर्भविषयेऽज्ञानां मतिविभ्र० | " |
| अथाङ्गविभागशारीरा- | " |
| ध्यायः ॥ ३ ॥ | " |
| अङ्गविभागः | ४०७ |
| पञ्चमहाभूतगुणाः | " |
| उत्तरोत्तरमेकवृद्धयन्वयः | ४०८ |
| महाभूतेभ्यो देहोत्पत्तिप्रकारः | " |

| विषयः | पृष्ठे | विषयः | पृष्ठे |
|----------------------------|--------|---------------------------------------|--------|
| देहेमातृजपितृजभागाः | ४०६ | पित्ताश्रवाहकानां लक्षणम् | " |
| सात्त्विकजनिरूपणम् | " | रोहिणीसंज्ञानां वाहकत्वम् | ४२० |
| रसजनिरूपणम् | ४१० | नाभिसम्बद्धाः सिराः | " |
| सात्त्विकादिनिरूपणम् | " | तासां देहानुप्राहकत्वम् | " |
| एवंभूतमयोदेहः | " | क्रीपुरुषाणां दृश्यस्रोतोनिरूपणम् | " |
| रक्तात्सप्तत्वगुत्पत्तिः | " | अदृश्यस्रोतोनिरूपणम् | ४२१ |
| कलानिरूपणम् | ४११ | दुष्टविशुद्धानां क्रमेण रोगसुखकरत्वम् | " |
| आधाराख्यभारनिरूपणम् | ४१२ | स्रोतसां स्वधातुसमवर्णत्वादि | " |
| विशेषेण जीवितस्थाननिरूपणम् | ४१३ | आहारादीनां स्रोतोदुष्टिकरं | ४२२ |
| शरीरे जालादीनां सं० | " | स्रोतसां दृष्टिलक्षणम् | " |
| तत्र धन्वन्तरिमतम् | ४१४ | स्रोतसां द्वाराणि | " |
| आत्रेयमतम् | " | स्रोतसां ताडने मोहादयः | " |
| आय्वादीनां सं० | " | धन्वन्तरिमते पित्तं पाचकम् | ४२३ |
| सिराणां सं० | ४१५ | आत्रेयमतेऽग्निःपाचकः | " |
| आसां संस्थानम् | ४१६ | धन्वन्तरिमते पित्तधराख्या कला | " |
| सक्थ्यादौ सिरा सं० | " | पक्वादन्नादायुरादिपोषः | ४२४ |
| श्रेण्यादौ सिरा सं० | " | अग्निग्रहणयोः परस्परमुपकार्योप- | |
| पार्श्वे सिरा सं० | " | कारकभावः | " |
| पृष्ठादौ सिरासं० | ४१७ | अन्नपाकस्याग्निर्हेतुः | " |
| जठरादौ सिरासं० | " | शरीरेऽन्नपाकप्रकारः | ४२५ |
| उरस्यादीनां सं० | " | अग्निसर्मापस्थाजस्यावस्थाः | ४२६ |
| प्रीवादौ सिरासं० | ४१८ | अन्याग्नीनां कर्माणि | ४२७ |
| हन्वादौ सिरासं० | " | भूतगुणानां भूतगुणपोषकत्वम् | " |
| जिह्वायां सिरासं० | " | अन्नस्य द्विप्रकारः परिणामः | ४२८ |
| मासायां सिरासं० | ४१९ | मूत्रायुत्पत्तिः | " |
| नयनयोः सिरासं० | " | सारस्य सप्ताग्निः पाकः | " |
| कर्णयोः सिरासं० | " | अस्य स्रोतनम् | ४३१ |
| मूर्ध्नि सिरासं० | " | रसादीनां धातूनां मलाः | " |
| सिरावर्णनोपयोगकथनम् | " | धातूनामपि द्वैविध्यम् | " |
| अवेध्यानां सं० | " | धातुभेदपरम्पराप्रकारः | " |
| सिराणां रक्तादिवहत्वम् | ४१६ | आहारस्य परिणतिकालः | ४३२ |
| वाताश्रवाहकानां लक्षणम् | " | भोज्यधातूनां परिवृत्तिः | " |



| विषयः | पृष्ठे |
|-----------------------------------|--------|
| व्रज्यादीनां सद्यःशुक्रकरत्वम् | " |
| चूर्णगुटिकादेरहोरात्रात्स्वकर्म | " |
| करत्वम् | ४३३ |
| आहारस्य जाठरीभिना प्रेर्यमाणत्वम् | " |
| दोषाणामपि एकदेशप्रकोपणम् | " |
| जठराग्नेः पालनादि कर्म | ४३४ |
| जठराग्नेश्चातुर्विध्यम् | " |
| चतुर्विधामेर्लक्षणम् | ४३५ |
| देहबलस्य त्रैविध्यम् | " |
| तस्य पृथग्लक्षणम् | " |
| देशत्रैविध्यम् | ४३६ |
| मज्जादीनां प्रमाणम् | " |
| ओज आदीनां देहगानां प्रमा० | " |
| समप्रकृतेरिदं मानम् | " |
| गर्भिणीदोषेण प्रकृतिः सप्तधा | " |
| दोषाणामनिलस्य बलत्वम् | ४३७ |
| वातप्रकृतीनां लक्ष० | " |
| पित्तप्रकृतिलक्ष० | ४३८ |
| श्लेष्मप्रकृतिलक्ष० | ४३९ |
| इन्द्रसर्वदोषप्रकृतिलक्ष० | ४४० |
| सत्त्वप्रकृतिलक्ष० | " |
| वयोविभागादि | ४४२ |
| वपुषः सुखायुषोः पात्रत्वम् | " |
| सुखायुःपात्रस्य वपुषो लक्ष० | " |
| पृष्ठादीनां प्राशस्त्यम् | ४४३ |
| वपुषः शुभत्वम् | ४४४ |
| सर्वशुणोपेतेशरीरे शरदां शतमायुः | " |
| बलप्रमाणज्ञानम् | " |
| सत्त्वादिप्रकृतीनां सुखदुःखानु- | " |
| भवप्रकारः | ४४६ |
| वपुषः प्रधानफलदायिलक्ष० | " |

| विषयः | पृष्ठे |
|----------------------------------|--------|
| अथ मर्मविभागशारी- | |
| राध्यायः ॥ ४ ॥ | ४४७ |
| मर्मणां संख्या | " |
| तेषां स्थापनानि | " |
| विशिष्टसंज्ञान्तराणि मर्माणि | " |
| गुल्फसन्ध्यादौ मर्मनामादि | ४४८ |
| जह्वोर्वादौ मर्मनामादि | " |
| सक्थ्यादौ मर्मनामादि | " |
| स्थूलान्त्रबद्धस्य नामादि | " |
| बस्त्याख्यस्य कथनम् | " |
| हृदयं नाम मर्म | " |
| स्तनयोर्मर्म | ४५० |
| उरसः पार्श्वे मर्म | " |
| पृष्ठवंशादौ मर्म | " |
| पृष्ठवंशपार्श्वदौ मर्म | " |
| कटिपार्श्वदौ मर्म | ४५१ |
| पार्श्वमध्यादौ मर्म | " |
| स्तनमूलार्जवे भागे मर्मणी | " |
| बाहुमूले मर्मणी | " |
| ग्रीवामुभयतो मर्मणी | ४५२ |
| कण्ठनाडीमुभयतो मर्माणि | " |
| शिरोग्रीवासन्धाने मर्माणि | " |
| कर्णयोरधस्तान्मर्मणी | " |
| घ्राणमार्गस्थोभयतो मर्मणी | " |
| नेत्रयोर्बाह्यतो मर्मणी | ४५३ |
| ललाटावसाने मर्मणी | " |
| जिह्वादौ मर्म | " |
| कपाले पञ्चमर्माणि | " |
| मस्तकस्याभ्यन्तरे मर्माविपं नाम | " |
| सामान्येन मर्मलक्षणम् | ४५४ |
| मांसादीनां समागमो मर्म | " |
| बाहुल्येन मर्मणां निर्देशो मर्म- | " |

| विषयः | पृष्ठे |
|---|--------|
| त्वेनप्रसिद्धानाम् | ॥ |
| मांसादीनां मर्मणां सङ्ख्यया- | |
| भिधानम् | ४५५ |
| मांसजानि दश | ॥ |
| अस्थ्यष्टौ | ॥ |
| आवमर्माणि त्रयोविंशतिः | ॥ |
| धमन्याश्रितानि नव मर्माणि | ॥ |
| सिराश्रया मर्मविशेषाः सप्तत्रिं० | ॥ |
| सन्धिमर्माणि | ४५६ |
| मांसादिजानां मर्मणां व्यध- | |
| लक्षणम् | ॥ |
| मांसजे मर्मणि विद्धेऽसृक्सावः | ४५७ |
| अस्थिमर्मणि विद्धे मज्जान्वितः | ॥ |
| आवजे मर्मणि विद्धे आयामा० | ॥ |
| धमनीस्थे विद्धेमूर्च्छितस्य | |
| रक्तसावः | ॥ |
| सिरामर्मव्यधेऽसृक्सावः | ॥ |
| सन्धिजे विद्धे विद्धदेशः शूकैरिवाकीर्णः | ॥ |
| मर्मव्यधेर्जावितनाशेकालनि | ४५८ |
| अत्र हेतुः | ॥ |
| चतुश्चत्वारिंशन्मर्माण्यङ्गवै- | |
| कल्यकराणि | ॥ |
| अष्टौ कूर्चादयो मर्मविशेषा | |
| रुजाकराः | ४५९ |
| मर्मणां प्रमाणम् | ॥ |
| मर्माभिघाते मरणप्रकारः | ४६० |
| मर्माभिघाते चिकित्सा | ॥ |
| अमर्मणि विद्धस्य जीवनादि | ॥ |
| मर्माभिघातो रक्ष्यः | ४६१ |
| अथ विकृतिविज्ञानीया- | |
| ध्यायायः ॥ ५ ॥ | |
| रिष्टं मृत्योर्लिङ्गम् | ४६१ |

| विषयः | पृष्ठे |
|-----------------------------------|--------|
| रिष्टाभावे मरणाभावकथनम् | ४६२ |
| आभासे मरणं न | ॥ |
| कुष्णात्रेयमतेरिष्टभेदनिर्देशः | ॥ |
| अस्थायिरिष्टभेदनिर्देशः | ॥ |
| रिष्टलक्षणम् | ४६३ |
| केशरोमादौरिष्टचिह्नम् | ॥ |
| नेत्रादौरिष्टचिह्नम् | ॥ |
| ओष्ठादौरिष्टचिह्नम् | ४६४ |
| शिरादौरिष्टचिह्नम् | ॥ |
| उलाटादौरिष्टचिह्नम् | ४६५ |
| सिरादौरिष्टचिह्नम् | ॥ |
| मूर्धादौरिष्टचिह्नम् | ॥ |
| उर्यादौरिष्टचिह्नम् | ४६६ |
| अकस्माद्गात्रेप्राकृतवैकृत- | |
| वर्णादिरिष्टचिह्नम् | ॥ |
| युकामाक्षिकादिकृतस्वीकार- | |
| त्यागादिरिष्टचिह्नम् | ४६७ |
| उष्णगात्रेषु शैत्यादिरिष्टचिह्नम् | ॥ |
| कफोद्भूतपिटिकाकान्तदेहा- | |
| दिरिष्टचिह्नम् | ॥ |
| आकाशस्य घनीभूतत्वादिमननं | |
| रिष्टचिह्नम् | ॥ |
| मूर्तादीनाममूर्तादिमननं | |
| रिष्टचिह्नम् | ४६८ |
| तेजस्व्यादीनां वैपरीत्येन | |
| दर्शनं रिष्टचिह्नम् | ॥ |
| जाग्रतो रज्ज् आदीनां दर्शनम् | ॥ |
| श्रोत्रेन्द्रियस्य विकृतिः | ॥ |
| असतो मेघादिशब्दस्य श्रवणम् | ४६९ |
| गन्धरसस्पर्शादीनां विपर्ययः | ॥ |
| रसानां चिन्हक० | ॥ |
| तप आदिविनाऽतीन्द्रियज्ञानम् | ॥ |

| विषयः | पृष्ठे | विषयः | पृष्ठे |
|--------------------------------|--------|-------------------------------|--------|
| स्वरविकृतिः | " | रक्तापित्तविकृतिलक्षणं रिष्टं | ४७६ |
| स्वरस्य हीनादित्वं चिन्हम् | ४७० | कासश्वासौ चिन्हं | " |
| शब्दस्य दौर्बल्यादि | " | राजयक्ष्मचिन्हं | " |
| अहं मरिष्यामीति वादित्वम् | " | छर्दिमृत्युलक्षणं | " |
| छायाभयं रिष्टम् | " | तृष्णाचिन्हं | ४७७ |
| छायाया विषमत्वं | " | मदात्ययचिन्हं | " |
| छायाया द्वैरूप्यम् | " | अर्शसां चिन्हं | " |
| प्रतिच्छायाश्चिह्नन्तत्वादि | ४७१ | अतीसारविकृतिः | " |
| छायाकन्यकाया अदर्शनम् | " | अतीसारो यकृत्पित्तादितुल्यः | " |
| खादीनां पञ्चैवच्छायाः | " | अतीसारविशेषस्य मृत्युसूचः | " |
| नाभस्यानिर्भलत्वादिलक्षणम् | " | अश्मरीचिन्हं | ४७८ |
| वातादीनां छायायां लक्षणम् | " | प्रमेहचिन्हं | " |
| छायाणां गुणनिर्देशः | ४७२ | गुल्मचिन्हं | " |
| प्रभाणां सप्तप्रकारत्वम् | " | उदरव्याधिनिमित्तं रिष्टम् | " |
| आग्नेय्या भेदाः | " | पाण्डुरोगरिष्टम् | " |
| छायाप्रभयोलक्षणम् | " | शोफरिष्टम् | ४७९ |
| छायाप्रभयोरन्यत्वे लक्षणम् | " | ज्वरादयो मृत्युहेतवः | " |
| छायाप्रभयोर्व्याप्तिः | " | पादस्थश्वयथुचिह्नम् | " |
| पादौ घर्षयन्निवचलनम् | ४७३ | मुखादौ विशेषशोषचिह्नम् | " |
| हितान्नभक्षणेऽपि बलहीनत्वादि | " | कासादिमद्विसर्पः | " |
| उत्तरोष्ठपरिलेहनादिमृत्यु- | " | कुष्ठचिह्नम् | " |
| चिन्हम् | " | वायुचिह्नम् | " |
| प्रीवादेः शीतलस्वेदयुक्तत्वादि | ४७४ | सर्वश्रामयाः | ४८० |
| स्तोकहृक्त्वादिविह्नम् | " | वातादयः | " |
| स्वभावस्य वैपरीत्यं चिह्नम् | " | बलमांसक्षयादि | " |
| भक्त्यादेर्निवर्तनं चिन्हम् | " | वाताघ्नीलाचिह्नम् | " |
| कचोत्पाटनपीडाऽज्ञानादि- | " | स्थलविशेषगतवायुः | " |
| चिन्हम् | ४७५ | पर्शुकाग्रगतवायुः | " |
| सहसाविकारोत्पत्तिनाशौ | " | भ्रूतिरिति ज्वरसन्तापादयः | ४८१ |
| चिन्हम् | " | मोसर्गे लेपज्वरोपतप्त स्वेदः | " |
| ज्वरविकृतिः | " | पिटिकाभृत्युचिन्हम् | " |
| ज्वरविशेषस्य चिन्हं | " | विस्फोटचि- | " |



| विषयः | पृष्ठे | विषयः | पृष्ठे |
|--------------------------------------|--------|--------------------------------------|--------|
| अक्ष्यादौ कामलादयः | ४८२ | मार्जारादिभिः पथरक्षेदोऽशुभः | ४८२ |
| वातज्वरादयः | ४८२ | करादीनां वाचोऽशोभनाः | ४८२ |
| भगन्दरः | ४८२ | वैद्यस्यातुरगृहे गच्छतः कृष्णधान्या- | ४८२ |
| जानुघटनादिकरणं चिन्ह० | ४८२ | दीनां दर्शनमशुभम् | ४८२ |
| आतुरस्य व्यापारविशेषः | ४८२ | पक्षिणः शुभाशुभाः | ४८२ |
| आतुरस्य तिलकव्यङ्गविष्यवादि | ४८२ | खगमृगादयः शुभाशुभाः | ४८२ |
| ऊर्ध्वश्वासादि | ४८२ | उलूकादीनां दर्शनमशुभम् | ४८२ |
| सहसा विकारादि | ४८२ | कोलादीनां कीर्तने शुभत्वम् | ४८२ |
| वैद्यस्यौषधासम्पादने आतुरस्य मृत्युः | ४८२ | ऐन्द्रं धनुरभिमुखमशुभम् | ४८२ |
| यथावत्कल्पितौषधसिद्धभावे मृत्युः | ४८२ | अभिपूर्णादीनि पात्राण्यशुभानि | ४८२ |
| औषधादेर्वर्णादेर्विपर्यये मृत्युः | ४८२ | आतुरगृहे वैद्यस्य दध्यक्षतादिदर्शन- | ४८२ |
| निवाते सेन्धनज्योतिष उपशमे मृत्युः | ४८२ | मशुभम् | ४८२ |
| सहसा रोगगणमुकृता | ४८२ | दध्यक्षतादीनां निर्देशः | ४८२ |
| पृष्ठस्यापि वैद्यस्यातुरमरणकथननिषेधः | ४८२ | एवं दूतशकुनोत्तरं स्वप्नकथनम् | ४८२ |
| चिकित्साया निष्फलत्वान्नोप० | ४८२ | स्वप्ने प्रेतैः सह मद्यपानाद्यशुभम् | ४८२ |
| मिषजो रिष्टज्ञानादरणम् | ४८२ | महिषादिभिर्याम्यदिग्गमनमशुभम् | ४८२ |
| पुरयादिक्षयान्मरणम् | ४८२ | स्वप्ने कण्ठकण्टकलतादयोऽशुभाः | ४८२ |
| अथ दूतादिविज्ञानीया- | ४८२ | स्वप्ने रक्तमाल्यादिधारणाद्यशुभम् | ४८२ |
| ध्यायः ॥६॥ | ४८२ | स्वप्ने नमत्वाद्यशुभम् | ४८२ |
| पखण्डादिदूतानां शुभाशुभ- | ४८२ | चण्डालैः सह पानमशुभम् | ४८२ |
| सूचकत्वम् | ४८२ | जलमज्जनमशुभम् | ४८२ |
| दीनाददूता निषिद्धाः | ४८२ | यस्य खरादिभिर्यानं तस्य मृत्युः | ४८२ |
| अशस्तचिन्तावचने वैद्ये दूतागमनं | ४८२ | अपूपादिभक्षणमशुभम् | ४८२ |
| मृत्युसूचकम् | ४८२ | सूर्येन्दुप्रहणदर्शनमक्षिरोगाय | ४८२ |
| देशविशेषादावागतो दूतोऽशुभः | ४८२ | सूर्याचन्द्रमसोः पातदर्शनेन | ४८२ |
| वैद्यस्य पूर्वदर्शने मरिष्यतो | ४८२ | दृग्बिनाशः | ४८२ |
| दूतानां व्यापाराः | ४८२ | वंशलतादीनां मूर्ध्नि सम्भवोऽशुभः | ४८२ |
| अर्धरात्रादावागच्छन्तोऽशुभाः | ४८२ | एतदादि सर्वं नेष्टम् | ४८२ |
| प्रतिबद्धं ब्रुवति दूते आतुरसमीपे | ४८२ | स्वप्नकृष्णादिस्त्रीणां दर्शनमशुभम् | ४८२ |
| वैद्यगमनं न | ४८२ | स्वप्नोद्भवकारणम् | ४८२ |
| अशुभप्रकाराः | ४८२ | स्वप्नानां सप्तविधत्वम् | ४८२ |
| अन्यदप्यशुभं निमित्तम् | ४८२ | स्वप्नस्य सफलाफलत्वविवेकः | ४८२ |



| विषयः | पृष्ठे |
|---------------------------------------|--------|
| पूर्वरात्रे स्वप्ने चिरात्फलम् | ४६६ |
| गोसर्गे तद्दिने एवफलम् | ,, |
| स्वप्ने दृष्टे तदुत्तरं सुप्त्यभावे | ,, |
| महत्फल्गुम् | ,, |
| अशुभस्य दानादिभिर्नाशः | ,, |
| दुःस्वप्नानन्तरं सुस्वप्नदर्शने शुभम् | ,, |
| सौम्यस्वप्ननिर्देशः | ४६७ |
| आरोग्यस्य लक्षणम् | ,, |
| अस्य स्थानस्य शारीरत्वे नि० | ४६८ |

निदानस्थानम् ।

| | |
|-----------------------------|-----|
| अथ सर्वरोगनिदाना- | |
| ध्यायः ॥ १ ॥ | ४६९ |
| आत्रेयादयः | ,, |
| रोगपर्यायाणां निर्देशः | ,, |
| रोगाणां विज्ञानं पञ्चधा | ५०० |
| निदानपर्यायाणां निर्देशः | ,, |
| प्राग्रपस्य लक्षणम् | ५०१ |
| प्राग्रपं व्याधीनां लिङ्गम् | ,, |
| रूपस्य लक्षणम् | ,, |
| रूपस्य पर्यायकथनम् | ,, |
| उपशयस्य लक्षणम् | ,, |
| उपशयो व्याधेः सात्म्यम् | ५०३ |
| अनुपशयस्य लक्षणम् | ,, |
| सम्प्राप्तेर्लक्षणम् | ,, |
| विकल्पलक्षणम् | ,, |
| व्याधेः प्राधान्यकथनम् | ५०४ |
| बलाबलविशेषणम् | ,, |
| व्याधिकालः | ,, |
| इतिनिदानार्थः समाप्तेन | ५०५ |
| तस्य व्यासेनाग्रे उपदेशः | ,, |
| रोगोत्पत्तिहेतुः | ,, |

| विषयः | पृष्ठे |
|--------------------------------|--------|
| तत्प्रकोपस्य हेतुः | ,, |
| वातादीनामहितनिर्देशः | ,, |
| तिक्तादिभिः समीरणकोपः | ,, |
| कट्वादिभिः पित्तकोपः | ,, |
| खाद्यादिभिः कफकोपः | ५०६ |
| तिक्तादीनां मिश्रीभावाद् | ,, |
| द्वन्द्वकोपः | ,, |
| मिश्रीभावात्संनिपातकोपः | ,, |
| दोषाणां देहे विकारकारित्वम् | ,, |
| अथ ज्वरनिदानाध्या- | |
| यः ॥ २ ॥ | ,, |
| ज्वरनिर्देशः | ५०७ |
| ज्वरस्यानेकविधत्वम् | ५०८ |
| ज्वरसम्प्राप्तिः | ,, |
| तस्य पूर्वरूपलक्षणम् | ५०९ |
| अनिलज्वरे आगमादीनां | |
| वैषम्यं लिङ्गम् | ५१० |
| पित्तज्वरलक्षणम् | ५११ |
| कफज्वरलक्षणम् | ,, |
| सामान्यलिङ्गम् | ५१२ |
| सामान्येनान्यदपि लिङ्गद्वयम् | ,, |
| संसर्गज्वरलक्षणम् | ,, |
| संसर्गलक्षणम् | ,, |
| कफानिलसंसर्गलक्षणम् | ५१३ |
| कफपित्तसंसर्गज्वरलक्षणम् | ,, |
| संनिपातज्वरस्य लक्षणम् | ,, |
| संनिपातस्यासाध्यत्वादि | ५१४ |
| अपरः संनिपातो ज्वरः | ,, |
| संनिपातस्य द्वैविध्यम् | ५१५ |
| दाहादिसंनिपातस्य दुःसाध्यत्वम् | ,, |
| शीतादिदाहादिज्वरयोर्विशेषः | ,, |
| आगन्तुज्वरस्य चातुर्विध्यम् | ,, |

| विषयः | पृष्ठे | विषयः | पृष्ठे |
|---------------------------------|--------|--------------------------------|--------|
| अभिघातजस्य लक्षणम् | " | एतद्विषये युक्तिः | " |
| अभिषज्जस्य लक्षणम् | ५१६ | विपर्ययाद्विषमसंज्ञः | " |
| ग्रहोत्पन्नज्वरस्य लिङ्गम् | " | विषमज्वरस्वरूपम् | ५२६ |
| श्लोषधीगन्धजे ज्वरे मूर्च्छादयः | " | रक्ताश्रयदोषस्य सततज्वरकरत्वम् | " |
| ग्रहादौ ज्वरत्रयसंनिपातादेः | " | अन्येद्युर्नामविषमज्वरलक्षणम् | " |
| कोपादि | " | दोषस्य तृतीयकजनकत्वम् | " |
| शापाभिचारजयोरसह्यतमत्वम् | " | चतुर्थकज्वरोत्पत्तिः | ५२७ |
| मन्त्रोत्पन्नज्वरस्य लक्षणम् | " | विषमज्वरस्य त्रैविध्यम् | " |
| ज्वरोऽष्टविधः | ५१७ | दोषाणां बलाबलेन ज्वरः | " |
| संक्षेपाद् द्वैविध्यम् | " | ज्वरमोक्षकाललक्षणम् | ५२६ |
| एतेषामेव व्याख्यानम् | " | विगतज्वरलक्षणम् | " |
| सौम्यतीक्ष्णयोर्व्याख्यानम् | " | अथ रक्तपित्तकासनिदा- | |
| अन्तराश्रयस्य लक्षणम् | ५१८ | नाध्यायः ॥ ३ ॥ | ५३० |
| ज्वरस्य बहिर्वेगे सुसाध्यता | " | रक्तपित्तयोर्दुष्टत्वादि | " |
| प्राकृतवैकृतयोर्लक्षणम् | " | पित्तस्य रक्तविकृतित्वम् | ५३० |
| वर्षासु ज्वरस्य कारणम् | " | अधिकरक्तप्रभवकारणम् | ५३२ |
| शराद ज्वरस्य कारणम् | " | अस्य पूर्वरूपाणि | " |
| वसन्ते ज्वरस्य कारणम् | ५१६ | रक्तपित्ते शिरोगुत्वादि | " |
| साध्यासाध्ययोर्लक्षणम् | " | रक्तपित्तस्य त्रैविध्यम् | " |
| सामनिरामयोर्लक्षणम् | " | ऊर्ध्वगरक्तपित्तप्रकारः | " |
| पच्यमानज्वरस्य लक्षणम् | ५२० | ऊर्ध्वगस्य साध्यत्वादि | " |
| निरामज्वरस्य लक्षणम् | " | अधोगस्योत्पत्त्यादि | ५३३ |
| ज्वरस्य पचविधत्वम् | ५२१ | उभयायनस्यासाध्यत्वादि | " |
| महारम्भत्वेन प्राधान्यात्सन्त- | | एवमुक्तेः कारणम् | ५३४ |
| तसम्प्राप्तिलक्षणम् | ५२२ | उभयायनार्थशोधनस्यासम्भवः | " |
| ज्वरोष्मणो मलादिक्षेपकत्वम् | " | दोषानुगमनस्य लक्षणम् | " |
| ज्वराणां स्थितिर्मर्यादायां म- | | कासस्य क्षिप्रकारित्वम् | " |
| तद्वैविध्यम् | ५२३ | कासानां पञ्चविधत्वम् | ५३५ |
| सन्तताख्यस्य दीर्घकालानुब० | ५२४ | किक्तिसां विना कासाः क्षय० | " |
| विषमज्वरप्रकारः | " | कासानां पूर्वरूपम् | " |
| दोषस्य प्रवृत्तिनिवृत्ती | " | सर्वकासानां सम्प्राप्तिदर्शनम् | " |
| सततकादिज्वरस्य रसादिषु | ५२५ | कासरुग्ध्वनीनामनेकत्वे० | " |



| विषयः | पृष्ठे | विषयः | पृष्ठे |
|-------------------------------------|--------|------------------------------------|--------|
| कारणम् | ५३६ | नाध्यायः ॥ ५ ॥ | ५४५ |
| वातकासस्य निदानादि | " | तस्य चतस्रः संज्ञाः | " |
| पित्तकासात्पीताक्षिकफतादि | " | संज्ञानां व्युत्पत्तिः | " |
| कफकासादुरोल्परुगित्यादि | " | राजयक्ष्मणो हेतवः | ५४६ |
| क्षतकासस्य निदानादिनि- | | चतुर्णामपि विशेषेण पवनः० | " |
| रूपणम् | ५३७ | राजयक्ष्मणः पूर्वरूपम् | " |
| क्षयकासलक्षणम् | " | राजयक्ष्मण एकादशरूपाणि | ५४७ |
| क्षयकासो देहनाशनः | ५३८ | पीनसादीनां सप्तोपद्रवाः | " |
| शेषकासानां साध्ययाप्यवि० | " | तत्र वाताद्याधिक्यात् शिरः- | |
| कासजये कारणम् | " | शूलादयः | " |
| अथ श्वासहिध्मानिदाना- | | यक्षिणो धातुपुष्ट्यभावे युक्तिः | ५४८ |
| ध्यायः ॥ ४ ॥ | ५३९ | अज्ञादिरसोप्यस्य न रक्तादि० | " |
| श्वासनिदानादिलक्षणम् | " | रक्तमांसाभ्यां विनास्य जीवने० | ५४९ |
| श्वासस्य पञ्चविधत्वम् | " | क्षयिणः साध्यासाध्यता | " |
| पञ्चविधस्यापि पूर्वरूपम् | " | दोषैः क्षयात्स्वरभेदः | " |
| क्षुद्रश्वासस्य लक्षणादि | " | वातात्स्वरभेदे क्षामादिमान्स्वरः | " |
| तमकलक्षणम् | ५४० | पित्तात्स्वरभेदे ताल्वादौ दाहादि | ५५० |
| प्रतमकलक्षणम् | ५४१ | कफात्स्वरभेदे कण्ठविकारः | " |
| द्विजलक्षणम् | " | सर्वैस्त्रिदोषलक्षणः | " |
| महदाख्यश्वासस्य लक्षणम् | " | क्षयात्स्वरभेदेऽस्य विध्वस्तत्वादि | " |
| ऊर्ध्वश्वासस्य लक्षणम् | " | भेदसा स्वरभेदस्य श्लेष्मलक्ष- | |
| तमकादिश्वासानां साध्या- | | णत्वादि | " |
| साध्यत्वादि | ५४२ | अन्यवर्जनम् | " |
| हिध्मास्वरूपम् | " | अरोचकोत्पत्तिः | " |
| अन्नजाया हिध्माया लक्षणम् | " | वातायुद्धवारोचकेषु मुखे | |
| क्षुद्राख्याया लक्षणम् | ५४३ | कषायत्वादि | ५५१ |
| यमलाया लक्षणम् | " | दोषैश्चर्दिः | " |
| महाहिध्माया लक्षणम् | " | वायुना दोषाणामूर्ध्वक्षेपणम् | " |
| गम्भीराया लक्षणम् | ५४४ | छर्दिषु पूर्वरूपम् | " |
| तासां साध्यासाध्यत्वम् | " | कासादिमद्वायोः कार्यम् | " |
| हिध्माश्वासयोरवश्यं चिकित्सा कार्या | " | पित्तात्क्षारोदकसदृशादिकं वमनम् | " |
| अथ राजयक्ष्मादिनिदा- | | कफात् स्निग्धादिकं वमनम् | ५५२ |

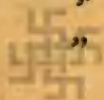
| विषयः | पृष्ठे | विषय . | पृष्ठे |
|---------------------------------------|--------|---|--------|
| सर्वलिङ्गायाश्छर्दिषां किं कित्साभावः | ॥ | पापतराऽवस्था | ॥ |
| द्विष्टार्थयोगजाया लक्षणम् | ॥ | तदाधर्माधर्माद्यज्ञानम् | ॥ |
| कुम्भ्यादिच्छर्दिषु वातादीनामेव | | मथेऽतिपीते मोहादयः | ॥ |
| विमर्शः | ॥ | मथस्य त्रिवर्गादिनाराकृत्वम् | ॥ |
| हृद्रोगस्य लक्ष० | ॥ | विपर्ययेतिमादकत्वम् | ॥ |
| वातेन हृद्रोगेऽत्यर्थं हृदयरूला० | ॥ | वातादिभ्यश्चत्वारो मदात्ययाः | ॥ |
| पित्तातृष्णादयः | ५५६ | मदात्ययानां सामान्यं लक्षणम् | ॥ |
| श्लेष्मणा हृद्रोगे हृदयस्तब्धः | ॥ | वातेन मदात्यये जागरादिकम् | ५५६ |
| त्रिभिर्दोषैः सर्वलिङ्गः | ॥ | पित्तेन मदात्यये दाहादिकम् | ॥ |
| कुमिहृद्रोगस्य चिकित्सादि | ॥ | श्लेष्ममदात्यये छर्द्यादिकम् | ॥ |
| वातादिभिः पञ्चतृष्णाः | ॥ | सर्वज्ञे मदात्यये सर्वलिङ्गम् | ॥ |
| तृष्णासु वातपित्ते कारणम् | ॥ | अतिपानकर्तुं ध्वंसकवित्तयौ व्याधी | ॥ |
| वातपित्तयोर्द्वैतुवे कारणम् | ५५४ | ध्वंसके श्लेष्मनिष्ठीवादयः | ॥ |
| तृष्णासमुत्पत्तिः | ॥ | वित्तयेऽज्ञातिरुगाद्याः | ॥ |
| तासां सामान्यलक्ष० | ॥ | मद्यासेविनः फलम् | ॥ |
| वातातृष्णायां क्षामतादेन्यादयः | ॥ | मदादीनां लक्षणम् | ५६० |
| पित्तातृष्णायां मूर्च्छादयः | ॥ | रजःप्रधानादेस्त्रयो गदाः | ॥ |
| कफातृष्णायां निद्रादयः | ॥ | मदः सप्तधा | ॥ |
| सर्वैः सन्निपातैः सर्वलिङ्गा तृष्णा | ५५५ | वातोद्भवे मदेऽवस्था | ॥ |
| आमोद्भवा तृष्णा वातपित्तजा | ॥ | पित्तेन क्रोधादि | ॥ |
| ब्रह्मतृष्णा पित्तजा | ॥ | कफात्स्वल्पासंबद्धवागादि | ॥ |
| रसक्षयोक्तेन क्षयात्मिका तृष्णा | ॥ | सन्निपातेन सर्वदोषलक्षणः | ॥ |
| शोषादितस्तृष्णा शोषसर्गात्मिका | ॥ | रक्तमदात्स्तब्धाज्ञत्वादि | ॥ |
| अथ मदात्ययनिदाना- | | मथेन मदे विकृतचेष्टत्वादि | ॥ |
| ध्यायः ॥ ६ ॥ | ॥ | त्रिषोत्थे मदकम्पादि | ॥ |
| मदात्ययस्य निदानम् | ५५५ | शोणितायुत्थेषु वातादयः | ॥ |
| मथगुणाः | ५५६ | मूर्च्छास्य लक्षणम् | ॥ |
| मथेन चेतोविकारस्य प्रकारः | ॥ | पित्तेन मूर्च्छाये रक्तादिनभोदर्शनादि | ५६१ |
| द्वितीये मूढत्वादि | ॥ | कफेन मूर्च्छाये मेघाभाकाशदर्शनादि | ॥ |
| द्वितीयवृत्तीययोः सन्धौ स्थितस्य- | | त्रिभिर्दोषैर्मूर्च्छाये पुरुषस्य निश्चेष्टत्वादि | ॥ |
| निन्द्यावस्थेत्यादि | ५५७ | संन्यासलक्षणम् | ॥ |
| तृतीयमदे स्थितस्य मरणादपि- | | संन्यासे कारणम् | ॥ |



| विषयः | पृष्ठे | विषयः | पृष्ठे |
|-------------------------------|--------|---------------------------------------|--------|
| तत्रशीघ्रचिकित्सनाज्जीवनादि | ५६२ | अत्यम्बुपानादिना तस्योत्पत्तिः | ११ |
| मद्यस्य मद्येनोपसंहारः | , | भाविनस्तस्य लक्षणं | ११ |
| एतद्विषये युक्तिः | ११ | वातेनातीसारं शुष्कमुखत्वादि | ११ |
| अथाशोनिदानाध्यायः ॥५॥ | | पित्तेन तृढादि | ११ |
| अशोनामनिवर्धनादि | ११ | श्लेष्मणा घनत्वादिगुणः | ११ |
| अर्शसां द्वैविध्यम् | ५६३ | सन्निपातेन सर्वदोषलिङ्गः | ५७२ |
| गुदवलीस्वरूपम् | ११ | भयेन चित्तं क्षोभितेऽतीसा० | ११ |
| तत्र हेतुः | ११ | अतीसारस्य संक्षेपेण द्वैविध्यम् | ११ |
| अर्शसां रुद्धादिगुणता | ५६४ | आशस्य लक्षणं | ११ |
| अन्यार्शसां षट्प्रकारत्वम् | ११ | द्वितीयस्य लक्षणम् | ११ |
| अशोजननप्रकारः | ११ | ग्रहणीरोगलक्षणम् | ११ |
| अर्शसां पूर्वलक्षणम् | ५६५ | अतिसारग्रहणीरोगयोर्विशेषः | ५७३ |
| ग्रहणीदोषादिना अशोविद्बुद्धिः | ११ | ग्रहणीदोषस्य स्वरूपम् | ११ |
| अर्शःसम्भवनप्रकारादि | ११ | ग्रहण्याश्चातुर्विधम् | ११ |
| वाताशसां लक्षणम् | ५६६ | ग्रहण्याः प्राग्रपम् | ११ |
| पित्ताशसां लक्षणम् | ११ | तस्याः सामान्यलक्षणम् | ११ |
| श्लेष्मार्शसां लक्षणम् | ११ | अतीसारे वातात्तालुशोषादि | ११ |
| संसृष्टलिङ्गानां लक्षणम् | ५६८ | पित्तेन पीताभादि | ५७४ |
| सन्निपातादोषत्रयलक्षणम् | ११ | श्लेष्मणा कृच्छ्रेणान्नपानादि | ११ |
| रक्तोत्बणानां लक्षणम् | ११ | सर्वजे सर्वलक्षणसङ्करः | ११ |
| मुद्गादिभिर्वायोः कुपितत्वादि | ११ | ग्रहण्या विषमाद्या अपि दोषाः | ११ |
| एषां साध्यासाध्यविभागः | ५६९ | समोऽग्निः स्वास्थ्यकारणम् | ११ |
| कृच्छ्रसाध्यानां लक्षणम् | ११ | वातव्याध्यादिरोगा दुस्तराः | ११ |
| सुखसाध्यानां लक्षणम् | ११ | अथ मूत्राघातनिदाना- | |
| मेढ्रादिस्थानामप्रेकथनम् | ११ | ध्यायः ॥ ६ ॥ | ११ |
| नाभिजानां लक्षणम् | ५७० | बस्त्यादय एकसम्बन्धनाः | ५७५ |
| चर्मकीललक्षणं | ११ | मूत्राघातोत्पत्तौ कारणम् | ११ |
| वात्पदिनातोदपाख्यादि | , | वातजे मूत्राघाते मुहुर्मुहुर्मूत्रादि | ११ |
| अर्शसां प्रशमकरणे हेतुः | ११ | पित्तजे मूत्रस्य पीतरक्तत्वादि | ११ |
| अथातीसारग्रहणीरोगयोर्नि- | | कफजे लक्षणम् | ११ |
| दानाध्यायः ॥७॥ | ११ | सर्वैः सर्वात्मकं मूत्रणम् | ११ |
| अतीसारः षड्विधः | ५७१ | अशमरीलक्षणं | ११ |



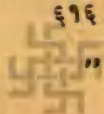
| विषयः | पृष्ठे | विषयः | पृष्ठे |
|-----------------------------------|--------|---------------------------------|--------|
| अश्रमर्याः प्राप्रपम् | ५७६ | सुरातुल्यमेहः | " |
| वाताश्रमर्या मृशाल्यादि | " | पिष्टमेहेन पिष्टसदृशशुक्रमेहः | " |
| पित्तन बस्तिदाहादि | ५७७ | शुक्रमिश्रप्रमेहः | " |
| श्लेष्मणा बस्तिनिस्तोदनादि | " | सिकतासदृशमेहः | " |
| एतासां तिसृणां बालेष्वेवोत्पत्तिः | " | शीतमेहः | " |
| महतामेव शुक्राश्रमरी | " | लालातन्तुयुतमेहः | " |
| सैव पवनभिन्ना शर्करा | ५७८ | क्षारतोयवन्मेहः | " |
| वातवस्त्यादीनां लक्ष० | " | नीलाभमेहः | " |
| वाताष्टीलाप्रकारः | " | मधीसदृशमेहः | ५८४ |
| वातकुण्डलिकाया लक्ष० | ५७९ | हरिद्रासदृशमेहः | " |
| मूत्रातीतस्य लक्ष० | " | मज्जिष्ठासलिलोपममेहः | " |
| मूत्रजठरस्य स्वरूपम् | " | रक्ताभमेहः | " |
| मूत्रोत्सङ्गस्वरूपम् | " | वसामेहः | " |
| मूत्रप्रन्थिलक्ष० | ५८० | मज्जामेहः | " |
| मूत्रशुकस्य लक्ष० | " | हस्तिमेहः | " |
| विद्विधात लक्ष० | " | मधुमेहः | " |
| उष्णवातस्य लक्ष० | " | तस्य द्वैविध्यम् | " |
| मूत्रक्षयस्वरूपम् | " | तस्य कृच्छ्रसाध्यत्वम् | " |
| मूत्रसादस्य लक्ष० | " | सर्वेषां मधुमेहसंज्ञा | ५७५ |
| अतिप्रवृत्तिजानां लक्षणमप्रे | ५८१ | कफजानामविपाकादय उपद्रवाः | " |
| अथ प्रमेहनिदाना- | " | पित्तजानां बस्तिमेहनयोस्तोदादयः | " |
| ध्यायः ॥ १० ॥ | " | वातिकानामुदावर्तादयः | " |
| विंशतिः प्रमेहाः | " | प्रमेहिणां शराविकादयो | " |
| प्रमेहाणामुत्पादकादि | " | दशपिटिकाः | " |
| कफः प्रमेहकरः | " | शराविकालक्ष० | " |
| पित्तप्रमेहसम्प्राप्तिः | ५८२ | कच्छपिकालक्ष० | " |
| वायुः प्रमेहकरः | " | जालिन्या लक्ष० | " |
| स्राध्यासाध्यविभागः | " | विनतालक्ष० | ५८६ |
| प्रमेहाणां सामान्यलक्ष० | " | अलज्या लक्ष० | " |
| उदकमेहादिलक्ष० | ७८३ | मसूरिकालक्ष० | " |
| इक्षुरससदृशमेहः | " | सर्षपिकालक्ष० | " |
| मेहस्य घनीभावः | " | पुत्रिणीलक्ष० | " |



| विषयः | पृष्ठे | विषयः | पृष्ठे |
|---------------------------------|--------|----------------------------------|--------|
| विदारिकालक्ष० | ॥ | कफाद् वृद्धेर्लक्ष० | ॥ |
| विद्रधेरग्रे कथनम् | ॥ | रक्ताद् वृद्धेर्लक्ष० | ॥ |
| तासां कासाच्चिदसाध्यत्वं का- | | मेदसा वृद्धेर्लक्ष० | ५६३ |
| साच्चित्साध्यत्वम् | ॥ | मूत्रजवृद्धेर्लक्ष० | ॥ |
| तासु मेहवशाद्दोषाद्रेकः | ॥ | वातः श्वयधुकरः | ॥ |
| प्रमेहेण विनाप्येतासामुत्पत्तिः | ५७७ | उपेक्ष्यमाणस्य वृद्धेर० | ॥ |
| तत्र रक्तपित्तम् | ॥ | गुल्मलक्ष० | ॥ |
| मेहगणस्य स्वेदादिप्राग्रूपम् | ॥ | गुल्मनिदा० | ५६४ |
| प्रमेहे द्विविधो विचारः | ॥ | वातगुल्मलक्ष० | ५६५ |
| मेदसो नातिदुष्टत्वे प्रमेहाणां | | वाताद् गुल्मे मन्याशूलाश्चः | ॥ |
| साध्यत्वम् | ॥ | पिताद् गुल्मेदाहादयः | ५६६ |
| अथ विद्रधिनिदाना- | | कफाद् गुल्म स्तैमित्यादयः | ॥ |
| ध्यायः ॥ ११ ॥ | ५८८ | तेषां रुक्करत्वम् | ॥ |
| विद्रधेः षड्विधत्वम् | ॥ | संसर्गजास्त्रयो गुल्माः | ॥ |
| पर्याणं पुनर्द्वैविध्यम् | ५८६ | त्रिदोषजोऽसाध्यः | ॥ |
| अस्योत्पत्तिदेशः | ॥ | रक्तगुल्मः स्त्रिया एव | ॥ |
| तेषु वातात्तीव्ररुगादयः | ॥ | अत्रोपपत्तिः | ॥ |
| पित्ताद्रक्ताम्रासितादिकः | ॥ | तस्य शोणितरुगादिकर० | ॥ |
| कफात्करुण्युतः | ॥ | गर्भलक्षणाद् गुल्मस्य विलक्षण- | ॥ |
| सञ्जिपातजः सङ्कीर्णः | ॥ | लक्षणम् | ॥ |
| एतस्य बाह्यविभागः | ॥ | गुल्मविद्रध्योर्लक्षणभेदः | ॥ |
| क्षतविद्रधिलक्ष० | ५६० | आनाहलक्षणम् | ५६८ |
| विद्रधिषूपद्रवविशेषः | ॥ | ग्रन्थेः संज्ञाविशेषाः | ॥ |
| तेषामामत्वादिशोफवत् | ॥ | तूनिप्रतून्योर्लक्षणम् | ॥ |
| उत्पत्तिस्थानभेदेन स्त्रावः | ॥ | आसन्नगुल्मस्य चिह्नं प्राग्रूपम् | ॥ |
| विद्रधौ व्रणवद्दोषवेदनम् | ॥ | अथोदरनिदाना- | |
| एषां साध्यसाध्यविभागः | ॥ | ध्यायः ॥ १२ ॥ | ५६६ |
| शीघ्रितः स्तनविद्रधिः | ॥ | उदरसम्प्राप्तिः | ॥ |
| वृद्धिवर्ध्मापरनाम व्याधिः | ५६२ | उदरस्याष्टौ भेदाः | ॥ |
| वृद्ध्याख्यो गदः सप्तधा | , | रोगाणां मन्दाग्निः कारणम् | ॥ |
| वाताद् वृद्धेर्लक्ष० | ॥ | उदरपीडितानां लक्षणम् | ॥ |
| पित्ताद् वृद्धेर्लक्ष० | ॥ | भविष्यतस्तस्य प्राग्रूपम् | ६०० |

| विषयः | पृष्ठे |
|--|--------|
| जठराख्येषु तन्द्रादयः | ॥ |
| अतोयसम्भवमुदरम् | ॥ |
| वातोदरे पाण्यादिषु शोफादि | ६०१ |
| पित्तोदरे ज्वरादयः | ॥ |
| श्लेष्मोदरेऽसादादयः | ॥ |
| सन्निपातोदरलक्षणम् | ॥ |
| ग्रीवादादीनां लक्षणम् | ६०२ |
| ग्रीवोदरे उदावर्तादिना वातादि- वेदनम् | ॥ |
| यकृत्लक्षणम् | ॥ |
| बद्धे दरलक्षणम् | ६०३ |
| छिद्रोदरलक्षणम् | ॥ |
| उदकोदरलक्ष० | ६०४ |
| जठरेऽवसाने जलसम्भवप्रकारः | ६०५ |
| उदराणां कृच्छ्रसाध्यासाध्य- त्ववेदनम् | ॥ |
| बद्धतोदरयोर्मारकत्वप्रकारः | ॥ |
| सर्वजातसलिलस्य मारकत्वम् | ॥ |
| जन्मनैवोदरस्य कृच्छ्रत्वम् | ६०६ |
| अथ पाण्डुशोफविसर्प- निदानाध्यायः ॥१३॥ | ॥ |
| पाण्डुरोगस्य लक्षणम् | ॥ |
| पाण्डुरोगेण रसरुधिरादीनां गौरवादि | ६०७ |
| पाण्डुरोगस्य पञ्चविधत्वम् | ॥ |
| पाण्डुरोगस्य प्राग्रूपम् | ॥ |
| वातात्पाण्डुरोगे गात्ररुगादयः | ६०८ |
| पित्ताद्धरितपीताभसिरादित्वम् | ॥ |
| कफाच्छुक्लसिरादिता | ॥ |
| सन्निपाताग्निश्रल्लिङ्गः | ॥ |
| पाण्डुरोगस्य कारणादि | ॥ |
| कामलोत्पत्तिः | ॥ |

| विषयः | पृष्ठे |
|--------------------------------------|--------|
| पाण्डुरोगं विनापि तस्या उत्पत्तिः | ६०९ |
| कुम्भकामलालक्षणम् | ॥ |
| हर्लमिकलक्ष० | ॥ |
| शोफकथनम् | ॥ |
| शोफोत्पत्तिः | ॥ |
| शोफस्य नवविधत्वम् | ६१० |
| शोफानां सामान्यहेतुः | ॥ |
| कारणविशेषण स्थानविशेष | ॥ |
| शोफोद्भवः | ॥ |
| शोफस्य पूर्वरूपम् | ६११ |
| वाताच्छोफश्चलादिलक्षणः | ॥ |
| पित्तात्पीतादिलक्षणः | ॥ |
| कफात्कण्डूयुतादिलक्षणः | ॥ |
| सङ्कराद् द्वन्द्वजाभ्यः शोफाः | ६१२ |
| निचयात्मको दोषत्रयजः | ॥ |
| शस्त्रादिभिः क्षतादौ शोफः | ॥ |
| विषजः शोफः | ॥ |
| शोफस्य साध्यासाध्यत्वम् | ६१३ |
| विसर्पनिदामम् | ॥ |
| विसर्पस्यधिष्ठानः | ॥ |
| तत्र दोषाणां विसर्पणम् | ॥ |
| अन्तराश्रयस्य वेदनप्रकारादि | ॥ |
| वातजविसर्पः | ६१४ |
| पित्तजविसर्पः | ॥ |
| कफजविसर्पः | ॥ |
| उपेक्षायां शोफस्य स्फोटयुतत्वम् | ॥ |
| द्वन्द्वजलक्ष० | ॥ |
| ग्रन्थिविसर्पलक्ष० | ॥ |
| कफपित्तात्कर्दमाख्योत्पत्त्यादि | ॥ |
| सन्निपातोद्भवविसर्पः | ६१६ |
| विसर्पस्य कारणादि | ॥ |



| विषयः | पृष्ठे |
|--------------------------------|--------|
| विसर्पाणां साध्यासाध्यभेदः | " |
| अथ कुष्ठनिदाना- ध्यायः ॥१४॥ | " |
| कुष्ठोद्भवः | ६१७ |
| रोगस्य कुष्ठसंज्ञायाः कारणम् | " |
| कुष्ठस्य सप्तविधत्वम् | " |
| त्रिदोषेष्वधिकृतो व्यपदेशः | " |
| कुष्ठानामष्टादश प्रकाराः | ६१८ |
| कुष्ठस्य प्राप्रपम् | " |
| कुष्ठानां लक्षणानि | " |
| क्षपालस्य लक्ष् | " |
| उदुम्बरस्य लक्ष् | " |
| मण्डलस्य लक्ष् | ६१९ |
| विचर्षिकाया लक्ष् | " |
| शृङ्गजिह्वस्य लक्ष् | " |
| चर्मरुक्कुष्ठस्य लक्ष् | " |
| एककुष्ठस्य लक्ष् | " |
| किटिभस्य लक्ष् | " |
| सिष्मलक्ष् | " |
| अलसकलक्षणम् | " |
| विपादिकलक्ष् | ६२० |
| दद्रुलक्ष् | " |
| शतारुलक्ष् | " |
| पुण्डरीकलक्ष् | " |
| विस्फोटलक्ष् | " |
| पामालक्ष् | " |
| चर्मदललक्ष् | " |
| काकणकलक्ष् | " |
| कुष्ठेषु दोषोत्पण्णता | ६२१ |
| कुष्ठविशेषे चिकित्सात्यागः | " |
| कुष्ठस्य साध्यत्वम् | " |
| कुष्ठविशेषस्य साध्यासाध्यत्वम् | " |

| विषयः | पृष्ठे |
|-------------------------------------|--------|
| त्वगादौ स्थिते कुष्ठे तोदादि | ६२१ |
| असृगादिषु यथापूर्वं लिखानि | " |
| शिवत्रनिदानम् | " |
| शिवत्रलक्ष् | " |
| वातजादिशिवत्रलक्ष् | " |
| कृच्छ्रसाध्यशिवत्रलक्ष् | ६२२ |
| शिवत्रस्य साध्यासाध्यत्वम् | " |
| सर्वे रोगाः प्रायः सञ्चारिणः | " |
| कुमीणां द्वैविध्यम् | " |
| नाममेदात्कुमीणां विरातिः प्रकाराः | " |
| तेषां द्वैविध्यम् आन्तराः बाह्याश्च | ६२४ |
| पुरीषोत्थाः क्रमयः | " |
| कफजाः क्रमयः | " |
| रक्तजाः क्रमयः | " |
| विद्भेदादिजनकाः क्रमयः पञ्च | " |
| अथ वातव्याधिनिदाना- ध्यायः ॥१४॥ | ६२६ |
| अर्थानर्थकरणे पवनो हेतुः | " |
| वायोर्हेतुत्वे कारणम् | " |
| दोषविज्ञाने तस्य कर्म निरूपितम् | " |
| तस्य गतिव्यापारयोः पञ्चधा | " |
| अस्मिन्नध्याये वातस्य वैकृतकर्म | ६२७ |
| वायोऽभ्युपगम्य कोपः | " |
| वायोऽध्याधिकृच्छ्रसाध्यकरत्वम् | " |
| पक्वाराये कृदस्य कर्म | " |
| आमाशये कृदस्य कर्म | " |
| भोत्रादिषु कृदस्य कर्म | " |
| त्वचि कृदस्य कर्म | " |
| रक्ते कृदस्य कर्म | " |
| मांसमेदोगतकृदस्य कर्म | " |
| अस्थनि कृदस्य कर्म | " |



| विषयः | पृष्ठे | विषयः | पृष्ठे |
|-------------------------------------|--------|-------------------------------------|--------|
| मञ्जायां कुदस्य कर्म | " | पादहर्षारुयस्य लक्ष् | " |
| शुके कुदस्य कर्म | " | पाददाहस्य लक्ष्णम् | " |
| सिरासु कुदस्य कर्म | " | अथवातशोणितनिदाना- | |
| आवस्थितकुदस्य कर्म | " | ध्यायः ॥ १६ ॥ | ६३५ |
| सन्धिगतकुदस्य कर्म | " | शुद्धादिसंज्ञस्य लक्ष् | " |
| सर्वाङ्गसंश्लिप्तकुदस्य कर्म | ६२६ | वातशोणितस्य प्राप्पम् | " |
| धमनीगतकुदस्य कर्म | " | वातशोणितस्य सर्वाङ्गवि- | |
| अपतन्त्रलक्ष्णम् | " | भावनम् | ६३६ |
| तस्य गर्भपातादनन्तरं समुत्पत्त्यादि | " | वातशोणितस्य द्वैविध्यम् | " |
| अन्तरायामसंज्ञकवातव्याधिः | " | उत्ताने वातशोणिते त्वक्कण्डूवा | " |
| तथैव बाह्यायामसंज्ञकः | ६३० | गम्भीरे वातशोणिते श्वयम्बादि | " |
| त्रयायामलक्ष्णम् | " | वाताधिके शोणिते शूलस्फु- | |
| आक्षेपकेषु गते वेगे शास्थ्यम् | " | रणतोदनादि | " |
| हनुसंसस्य लक्ष्णम् | " | रक्तेऽधिके शोफादि | ६३७ |
| जिह्वास्तम्भस्य लक्ष्णम् | ६३१ | पित्तानुविद्धे वातशोणिते वि- | |
| अर्दितस्य लक्ष्णम् | " | दाहादयः | " |
| सिराग्रस्य लक्ष्णम् | " | कफानुविद्धे सौमिल्यादयः | " |
| एकाङ्गरोगलक्ष् | ६३२ | सङ्घरे द्वन्द्वसर्वलिङ्गम् | " |
| सर्वाङ्गरोगस्य लक्ष् | " | वातशोणितस्य साध्यत्वादि | ६३८ |
| एकाङ्गरोगस्य कृच्छ्रसाध्यत्वादि | " | वायो रक्त्यार्गहननादिद्वा- | |
| दण्डवद्दण्डकारुण्यजनकस्य लक्ष् | " | राऽमुद्गारकवम् | " |
| अवबाहुकारुण्यजनकस्य लक्ष् | " | प्राणवायुः पीनसादिकरः | " |
| विश्वाचीसंज्ञाया लक्ष् | " | उदानः कण्ठरोषादिकरः | " |
| खज्जपद्मोः कारणम् | ६३३ | भ्यानः पुंस्त्वोत्साहादिकरः | " |
| कटायखज्जाख्यस्य लक्ष् | " | समानः शूलादिकरः | " |
| ऊरुस्तम्भस्य लक्ष् | " | अपानो मूत्रशुकप्रदोषादिकरः | ६३९ |
| कोष्ठकशीर्षाख्यस्य लक्ष् | ६३४ | वायोः सामादिभेदः | " |
| वातकण्टकाख्यस्य लक्ष् | " | वातावरणस्यानेके प्रकाराः | " |
| गृध्रस्या लक्ष् | " | पित्तेनावृते मरुति दाहादिकं लिङ्गम् | " |
| विश्वाचीगृध्रस्योः खज्जीसंज्ञा | " | कफावृते शैत्यादिकम् | " |
| | " | रक्तावृते पीडादि | " |
| | " | मसिनावृते शोफादि | " |



विषयः

पृष्ठे

विषयः

पृष्ठे

मेदसावृते शोफादि
 अस्थ्यावृतेऽत्युष्णस्पर्शादि
 मज्जावृते विनमनादि
 शुक्रावृतेऽतिवेगादि
 अन्नावृते कुक्षौ रुजा
 मूत्रावृते मूत्रस्याप्रवृत्त्यादि
 विट्वावृतेऽधोविबन्धस्य कृन्तन-
 कर्तृत्वादि
 सर्वधात्वावृते श्रोण्यादिरुक्
 पित्तेनावृते प्राणैर्भ्रमाद्याः
 उदाने च भ्रमादयः
 व्याने आवृते सर्वशो दाहादयः
 समाने आवृतेऽग्नेरुपधातादयः
 अपाने पुरीषादौ हारिद्रवर्णता
 श्लेष्मावृते प्राणैर्सादादयः
 उदाने गुरुगात्रत्वादयः
 व्याने पूर्वास्थिवाग्ग्रहः
 समानेऽतिशीताङ्गत्वादि
 अपाने मूत्रशकृतः सकफं
 प्रवर्तनम्
 इतिवायोर्द्वाविंशतिधा वरणम्
 प्राणादीनां परस्परमावरणादि
 आवरणस्य लिङ्गानि
 उदानेन प्राण आवृते वयौ-
 जोबलसंचयः
 अनया दिशा विभागः
 आवृतेरसद्व्ययत्वम्
 आवरणप्रकारः
 प्राणादेर्जोवितत्वादि
 आवृतानां कृच्छ्रसाध्यत्वम्
 आवृतानामुपेक्षणाद्विद्रव्या०

६४०

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

चिकित्सास्थानम्

अथ ज्वरचिकित्सा-

ध्यायः ॥ १ ॥

आगमप्रामाण्यम्

ज्वरादौ लङ्घनम्

लङ्घने कारणम्

लङ्घनफलम्

सामज्वरे वमनम्

वमनद्रव्याणि

वमने विशोषणम्

ज्वरितानामुपवासः

वातकफज्वरे उष्णाम्बुपानम्

केवलपित्तज्वरे नोष्णाम्बुपानम्

उद्विक्कपित्तादिभ्यो घनादि-

साधितं शीतं तोयम्

ज्वरे पित्तस्य विरुद्धाहारादि०

ज्वरे स्नानादित्यागः

सामज्वरे शूलघ्नौषधपानानि

उदर्दादियुतज्वरे स्वेदः शस्तः

ज्वरौक्ताचारविधेरनुपालनम्

मलानां लङ्घनादीनि पाचनानि

अस्य विशिष्टविषये अपवादः

तेषु बृंहणरूपं शमनम्

ततो ज्वरितस्य पेयाभिरुपचारः

पेयोपक्रमः

सशुण्ठीमाचिकशीतपेयापानम्

गोक्षुरसाधितपेयापानम्

पृश्निप्रण्यादिसाधितपेयापा०

हिध्मादिमतः पेयापानम्

कोष्ठे विबद्धे चविकादिसाधि-

तपेयापानम्

परिकर्तिनि कोष्ठे कोलादिसा-

६४५

॥

॥

॥

॥

६४६

॥

॥

६४७

॥

॥

६४८

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

॥

अष्टांगहृदये सूत्रस्थानम् ।

श्रीमहागणपतये नमः । श्रीआनन्दिनीमठाय नमः । दीप्त्या यस्येन्द्रनीलो-
पलशकलरजोनीलया नीलिताभां लक्ष्मीमुत्तमभास्वत्कनकरुचिमपि स्पर्शरोमाश्विना-
ङ्गीम् । कालीत्याशङ्कमानः स्फुरदधरपुटश्चक्रपाणिः किलाभूद्भर्ता लोकस्य शश्वत्स
भवतु भवतां भूतये पद्मनाभः ॥ १ ॥ को मत्सरिणि लोकेस्मिन्विद्वान्किञ्चिक्की-
र्षति । किन्तु कश्चिद्भवेत्साधुस्ततोयं मत्परिश्रमः ॥ २ ॥ श्रीमन्मृगाङ्कतनयष्टीका-
मष्टाङ्गहृदयस्य । श्रीमानरुणः कुरुते सम्यग्द्रष्टुः पदार्थबोधाय ॥ ३ ॥ इह हि
शास्त्रारम्भे शास्त्रपरिसमाप्तये सर्व एव सभाभूषणभूता निखिलजनजनितप्रमोद-
सन्दोहा रुचिरंरुचिरचितवचनचन्दनचर्चितप्रबन्धाः प्रबन्धविरचनप्रवरा इष्टदेवता-
नमस्कारं तन्त्रकारा विदधुः । तदयमपि तन्त्रकारोऽभीष्टदेवतानमस्कारपुरःसरं
तन्त्रमारिरिप्सुरिदमाह ।

रागादिरोगान् सततानुषक्तानशेषकायप्रसृतानशेषान् ।

औत्सुक्यमोहारतिदाञ् जघान योऽपूर्ववैद्याय नमोऽस्तु तस्मै ॥१॥

राग आदिर्येषां ते रागादयः । आदिशब्देन द्वेषलोभादिपरिग्रहः । रुजन्तीति
रोगा देहमनसी सन्तापयन्तीत्यर्थः । ननु मनःस्थितत्वान्मन एव ते रुजन्तीति
वक्तुं युक्तम् । मैवम् । देहमनोलक्षणयोर्वस्तुनोराधाराधेयभावेन स्थितत्वाद्वयो-
रपि सन्तापो युक्तः । यथाधेयेनायोगोलकेन संतप्तेन तदाधारस्य कटाहादेः संतापः ।
आधारेण च कटाहादिना संतप्तेनाधेयस्य घृतादेः संतापः । तदेवं रागादयो द्वयं
रुजन्तीति न्याय्यमेतत् । तथा सततानुषक्ताः सर्वकालं प्रसृताः सहजा इत्यर्थः ।
अशेषकायप्रसृताः ॥ अशेषश्चासौ कायश्चाशेषकायः । तत्र प्रसृता अनुगताः । यद्वा
अशेषाश्च ते कायाश्चाशेषकायाः । सर्वाणि शरीराणि गजतुरगोरागादिसम्बन्धीनि
तानि प्रकर्षेण सृता गताः । तथा न विद्यते शेषो येषां तेऽशेषाः सर्वे समूलाः ।
सबीजा इत्यर्थः । तथौत्सुक्यमोहारतिदाः । औत्सुक्यं विषयोत्कंठा ततोऽभिलाषः ।
मोहः कार्याकार्यानभिज्ञत्वम् । अरतिरनवस्थितिः स्थानासनादिषु । औत्सुक्यं च
मोहश्चारतिश्च ता ददति ये रागादयस्त एवम् । तानेवंविधान् यो भगवान् जघान
तस्मै तथाभूतायापूर्ववैद्याय नमोऽस्तु । तं पूजयामीत्यर्थः । अत एवासावपूर्वं आश्च-
र्यभूतो वैद्यः । अन्यो हि यो वैद्यः स ऊरादीनप्यचिरोत्थितान् रोगानेतद्विशेषणैरपरा-
मृष्टाञ्च तथा हर्तुं समर्थः, किमुत रागादीनसाध्यलक्षणलक्षितान् । तथा चासाध्य-
लक्षणम्—“अनुपक्रम एव स्यात् स्थितोत्यन्तविपर्यये । औत्सुक्यमोहारतिद्विति” ।

यदि वा न विद्यते पूर्वं यस्मादसावपूर्वः । पूर्वभ्यः प्रथम इत्यर्थः । अपूर्वश्चासौ वैद्योऽपूर्ववैद्य इत्यर्थः । एवंविधं चाभिमतनमस्कारश्चोक्तं विरचयन् ग्रन्थकृद् ग्रन्थस्य रोगोपशान्तिः प्रयोजनमिति प्रतिपादयति । तथा चाह चरकमुनिः—“धातुसाम्यं क्रिया चोक्ता तंत्रस्यास्य प्रयोजनमिति” । एवं च धातुसाम्येन प्रयोजनेन प्रयोजनवदिदं तन्त्रम् । तथा तत्पाठात्तदर्थवबोधात्तद्विध्यनुष्ठानाच्चारोग्याख्यस्योपेयस्य तथाभिमतस्यायुषः परस्य पुरुषार्थस्य मोक्षख्यस्य च परमार्थत इदमेव तन्त्रमुपायः । अस्माच्चोपायोपेयलक्षणसम्बन्धाच्च हेतुलिङ्गौषध्याख्यस्कन्धत्रयमस्याभिधेयं तेनाभिधेयेनाभिधेयवत्तन्त्रम् । एवं च ग्रंथकृतात्र प्रयोजनसंबन्धाभिधेया युक्त्यैवोक्ताः । इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्राविरचितत्वादुपजातिवृत्तम् । “अनन्तरापादितलक्ष्मशोभौ पादैर्भवेतां विविधैर्विकल्पैः । यासामिमावन्वयतिप्रपञ्चौ स्मृताः स्मृतिज्ञैरुपजातयस्ताः” । सर्वत्रैव चात्र तंत्रेऽनुष्ठुभा समानीप्रमाणीवितानादिभेदभिन्नतया विरचनं यत्पुनरवसरान्तरे वृत्तान्तरविरचनमिह तत्सलक्षणं व्यञ्जयिष्यामः ।

इदानीमिष्टदेवतां नमस्कृत्य शास्त्रकारस्तंत्रमारिरिप्सुरिदमाह—अथात इत्यादि ।

अथात आयुष्कामीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।

अथशब्दोस्मिन्मङ्गलाधिकारानन्तर्येषु द्रष्टव्यः । मङ्गलादीनां हि शास्त्राणां तदध्येतृणां निष्प्रतिबन्धा प्रवृत्तिरभिप्रेतार्थासाधनाय जायते । अथशब्दश्चायं मङ्गलार्थः । तथा चोक्तम्—“ॐकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा । करं भित्त्वा विनिर्यातौ तेनेमौ मङ्गलौ स्मृताविति” । अतोऽधिकारः । आयुष्कामीयं शास्त्रमधिक्रियते यावदत ऊर्ध्वं प्रतन्यते, आतन्त्रपरिसमाप्तेस्तत्सर्वमायुष्कामीयं वेदितव्यम् । अत आनन्तर्यं च । नमस्कारादनन्तरमायुष्कामहितं व्याख्यास्याम इति । कथं पुनरेकस्यैव तन्त्रकारस्य व्याख्यास्याम इति बहुवचनं युज्यते ? ब्रमः। “अस्मदो द्वयोश्चै”त्येकत्वेऽपि बहुवचनविधानादभिलषन्ति युक्तमेवात्रैकस्मिन्नपि बहुवचनम् । आयुः । एतीत्यायुः । संततं यातीत्यर्थः । तथा च मुनिः । शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगाधारि जीवितम् । नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते । एवंविधं गत्वरस्वभावमपि हिताहारविहारसेवादिभिरहितवर्जनेन च कथमेतत् स्थिरीभवेदित्येवं कामयन्ते ये ते आयुष्कामाः । तेभ्यो हित आयुष्कामीयः । स पुनरायुर्वेदागमादिप्रकरणसमुदायः “आयुष्कामयमानेनेत्यादिकः” । आयुष्कामीय इति “इसुसोः सामर्थ्ये” इति षादेशः । तस्मै हितमिति च्छः । आयुष्कामीयशब्दोऽध्यायविशेषणार्थो नीलोत्पलदलवत् । बहुष्वध्यायेषु सत्सु कतमध्यायं व्याख्यास्याम आयुष्कामीयमिति । अधिकृतोऽध्ययनायेत्यध्यायस्तं व्याख्यास्यामः । विविधप्रकारेण विशेषेण वा कथयिष्यामः । आयुष्कामैः पूर्वं दृष्टत्वादस्याध्यायस्यायुष्काम इति संज्ञा । अर्थगतिमधिकृतोऽध्याय इति नाम । तथा चोक्तम् । “अधिकृत्येयमध्यायनामसंज्ञा प्रतिष्ठितेति” । तत्र पदसमुदायो वाक्यं, वाक्यसमुदायः प्रकरणं, प्रकरणसमुदायो यः सोऽध्यायः, अध्यायसमुदायः स्थानं, स्थानसमुदायस्तंत्रमिति । विशब्दो नानार्थः । आङ्गमिविधौ

उत्तराख्यश्चायमलङ्कारः । तस्य हि लक्षणम् । “उत्तरवचनश्रवणादुच्यते यत्र पूर्व-
वचनानाम् । क्रियते तदुत्तरं स्यादित्यादि” । ततोऽनेन वाक्येन शिष्यवचनमीदृशमुची-
यते । संसारेऽस्मिन्नमी प्राणिनो नानारोगानीकभिभूतास्त्रातारमलभमानास्त्रिवर्गा-
द्भ्रश्यन्ते, तत्कोनु भगवन्नत्रोपायः स्यादिति कृतप्रश्नो गुरुः प्रतिजेषु । अथ शिष्य-
वचनानन्तरमतो हेतोर्यस्मादयं शिष्यः श्रुतकुलशीलादिसम्पन्नो धीमेधागुणभूषणभूतो
विविधैः प्रकारैराशिष्यबोधोत्पत्तेरायुष्कामीयमध्यायं व्याख्यास्यामो वर्णयिष्यामः ।
ननु कीदृशं तद्विविधप्रकारमाख्यानम् । ब्रमः । पदतस्तदर्थतः प्रयोजनतश्चोद्यतः
परिहारतः सम्बन्धाभिधेयतश्च । पदतो यथायुरितीदं पदम् । तदर्थतो यथैतीत्यायुः ।
प्रयोजनतो यथाऽत्रैव धर्मार्थसुखसाधनम् । चोद्यतो यथा ननु कथमेतत्केवलं धर्मार्थ-
सुखसाधनमिति वक्तुं पार्यते । यतोस्यायुषः कर्मेव केवलं धर्मसाधनमिति वक्तुं
नो पार्यते । यतोस्यायुषः परिपालनार्थं विशस्ताः काकगृध्रभासादयो राजयक्षमचि-
कित्सिते भोज्या इत्युक्तम् । अभक्ष्याश्चैते । श्रुतिस्मृत्योरभक्ष्यत्वेनोक्तत्वात् । एवमभ-
क्ष्यभक्षणादिसया च पापयोगस्तद्योगाच्चाधर्मसाधनं न धर्मसाधनमिति । परिहारतो
यथैवपरिहारो यज्ञाधिकारिशरीरनिमित्तं काकादीनां विशसनं भक्षणं विधीयमानं
नाधर्माय । इतरथा क्रीडार्थं क्रियमाणमधर्मायैव । तथा च काकादयोपि तत्साधनो-
पयोगाद्धर्मेण तत्फलेन सम्बध्यन्ते यज्ञिया इव पशवस्तदेवमायुषो धर्मसाधनत्वं स्थि-
तम् । सम्बन्धाभिधेयौ तूक्तावेव । ननु सन्त्येवान्यान्यपि महर्षिप्रणीतान्यायुर्वेदतन्त्राणि
किमनेन तन्त्रेण कृतेनेति । अत्र ब्रमः अपरतन्त्राणां सावद्यत्वादिसमुच्यते । अन्यानि
हि तन्त्राणि सदोषाणि । तथा हि । यदेतत्तावद्भगवता चरकमुनिना प्रणीतं तन्त्रं
रत्नाकर इव गाम्भीर्यातिशययोगाद्दुर्बोधं तस्यापि सदोषतां प्रकटयन्ति वाचाटाः ।
तथा ह्यादौ तत्सूत्रम् । अथातो दीर्घजीवितीयमध्यायं व्याख्यास्याम इति । अत्र
दीर्घजीवितीय इति शास्त्रादावयुक्तम् । यतो दीर्घजीवितमन्विच्छन्नित्यस्यानुकरणं
दीर्घजीवितमिति । सोऽस्मिन्नध्यायेऽस्तीति च्छः तस्याध्यायानुवाकयोरुल्लेखसति दीर्घ-
जीवितमिति प्राप्नोति । तदिदमविदितपरमार्थशब्दस्वरूपाणां वचनम् । तथाहि ।
अध्यायानुवाकयोरित्यादौ सूत्रे विकल्पेन चायं लुगिष्यत इति जगाद जयादित्यः ।
तेन लुक्ः पाक्षिकत्वादत्र लुग् न भवतीत्येवं युक्तमुक्तमिदम् । दीर्घशब्देन गुणोऽ-
भिधीयते जीवितशब्देनाऽपि गुण एव । तस्माद्द्वयोरपि गुणत्वादाधाराधेयभावो
न युक्तो यतो गुणाश्रयो गुणो नोक्त इति । तथा च वैशेषिकाः—“निर्गुणा
गुणा इति” । अथ कालशब्दं लुप्तस्वरूपं निर्दिश्य दीर्घजीवितीयशब्दो
निर्दिश्यते तदा युक्तमेवैतत् । इन्द्रियोपक्रमणीयेऽध्याये छप्रत्ययोत्पत्तिः कथमेवं
विधीयतां यतोऽस्मिन्नध्याये इन्द्रियोपक्रमणशब्दो नास्त्येव । एवमपामार्गतण्डुली-
येऽपामार्गतण्डुलशब्दस्याभावाच्छप्रत्ययोत्पत्तिर्दुर्लभा । तथा दिव्यांभसो गांगसमुद्र-
भेदः परीक्षा च नोक्ता । प्रत्युत तत्र पठ्यते । “जलमेकविधं सर्वं पतत्यैन्द्रं नभस्त-

लात् । तत्पतत्पतितं चैव देशकालावपेक्षत इति” । तथा नालिकेरोदकस्य गुणा नोक्ताः । तथाऽपक्वकथितक्षीरस्य स्वरूपविशेषो नोक्तः । तथा कषाये कियदौषधं किमवशेषं कथनीयमित्यादि च नोक्तम् । मिश्रकं लेह एवमभ्यधादसौ । “त्रिवृतां त्रिफलां दन्तीं दशमूलं पलोन्मितम् । चतुर्गुणं जलं दत्वेत्यादि” । तदेषामौषधानां कियन्मानमपि सलिलेनैतावता कीदृशं किमुत काथनिर्यासाविति । तथा कथितशीततोयमपि कियता पाकेन पथ्यं भवतीति नोक्तम् । मुद्गो ग्राहीति च नोक्तम् । तथा च तत्पाठः । “कषायमधुरो रूक्षः शीतः पाके कटुर्लघुः । विशदः श्लेष्मपित्तघ्नो मुद्रस्तूक्तोत्तमोत्तम इति” । तथा वास्तुकादीनां लघुत्वं नोक्तम् । तथा च तत्पाठः । “पाठासुषासठीशाकं वास्तुकं सुनिषण्णकम् । विद्यादग्राहि त्रिदोषघ्नं भिन्नवर्चस्तु वास्तुकमिति” । तथेक्षुवर्गे “शैत्यात्प्रसादान्माधुर्यात्पौण्ड्रकाद्वांशिको वर” इत्यसावभ्यधात् । पौण्ड्रकश्च वांशिकाद्वर इति सुप्रसिद्धमेतत् । अत्र मतिवैभवाद्गृह्यकारहरिश्चन्द्रो व्याख्याविशेषमवोचत । यथा “पौण्ड्रकाद्वांशिकोऽवर” इति । एवं चैतदुपपन्नमेव । तदेवमात्रेयस्यापि तन्त्रे यतो बहवो दोषा उद्भाष्यन्ते, ततः का गणना तन्त्रान्तराणाम् । तथा वेदोत्पत्तिरिति संज्ञा तन्त्रेऽस्मिन्सदोषत्वाच्च कृता । तथा हि । आयुषो वेद आयुर्वेदस्तस्योत्पत्तिरायुर्वेदोत्पत्तिरिति भवितव्यम् । अत्र केचिदाहुः । आयुःशब्दलोपं कृत्वेह निर्देशः कृतः । एवमपि सति लोपस्तावदमङ्गलः । सोप्यायुषः सच शास्त्रादावित्यन्याद्यैवैषा संज्ञा । किंच वेदोत्पत्तिरित्येतदपि तावद्वक्तुं न युज्यते । नित्यत्वादस्य वेदस्य । नित्यो ह्ययमायुर्वेदः । संतानादिनित्यत्वात् । तथा ह्यायुःसंतानः सर्वप्राणिसेवेद्यशरीरापरशरीरगो मनःप्रबन्धनित्यतया नित्यः । अस्या नित्यत्वादायुर्वेदोऽपि नित्यः । नित्यत्वाच्चास्योत्पत्तिमत्त्वं वक्तुमयुक्तम् । नन्ववबोधोपदेशाभ्यामुत्पत्तिरस्योपलभ्यते । अतः प्रागुपदेशाच्चासावुपलभ्यते । अत उपदेशानन्तरमुपदेशद्वारेणोपलभ्यते । तस्मादवबोधोपदेशावस्योत्पत्तिकारणत्वेन कल्पयित्वात्पत्तिमत्त्वमस्योच्यत इति कैश्चिद्भूवे । नैतद्युक्तम् । यतः सतो बोधोपदेशौ स्तो नासतः । तथा चाचष्टे लोकः । अमुना गुरुणा छात्राद्योपदिष्टं शास्त्रमिदमिति । सत एवोपदेशावबोधौ स्तः । तस्मान्नावबोधोपदेशावस्योत्पत्तिकारणमित्यतोऽपि हेतोर्वेदोत्पत्तिसंज्ञेत्ययुक्ता । इति संज्ञानां सावयत्वं निरूप्य निरवद्यायुष्कामीयसंज्ञेह तन्त्रे कृता । ययोच्चारितमात्रयैवाऽशेषस्तन्त्रार्थः प्रकाशयते । प्रतिस्थानं च योध्यायः प्रथमस्तत्संज्ञया स्थानार्थः । अन्ये च येऽध्यायास्तन्त्रेऽस्मिन्स्तत्संज्ञाभिर्थयास्वतंत्रमर्भजातं प्रकाशयन्त इति ।

इदमिदानीं पृच्छ्यते तंत्रकारः । यदस्मिन्तन्त्रे किंचिदुच्यते स्म भवद्भिस्तत्संबुद्धिपरिकल्पितमुत नेत्याह ।

इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

इतिशब्द एवमर्थे । यथा इति ह स्म तानाह । इत्यब्दोऽनुकम्पायाम् । वृधातोः

स्म उपपदे भूतानद्यतनपरोक्षे लट् स्म इति लट् आहदेशः । अत्रैरपत्यमात्रेयः । इतश्चानिज इति ढक् । आत्रेय आदिर्येषां धन्वन्तरिप्रभृतीनां त एव महान्तश्च ते ऋषयश्च महर्षयः । महत्त्वं तज्ज्ञानातिशययोगात् । तेनायमर्थोऽनेन कारणेनानुकम्पया न तु फलाकाङ्क्षया । भगवन्त आत्रेयादयो महर्षयोऽब्रुवन् नास्माभिः स्वमतिपरि-
कल्पितं किञ्चिदप्यत्रोक्तम् । केवलं दूतसंदेशवचनन्यायेन युगानुरूपः कैममात्रोऽन्यथा कृत इत्यर्थः । तथा चास्यैव संग्रहे—“न मात्रामात्रमप्यत्र किञ्चिदागमवर्जितम् । तेऽर्थाः स ग्रन्थसंदर्भः संक्षेपाय क्रमोऽन्यथेति” । तदेवमागमप्रामाण्यमस्य तंत्रस्येत्युक्तं भवति ।

आयुः कामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम् ।

आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः ॥ २ ॥

आयुर्वेदयति ज्ञापयति प्रकृतिज्ञानरसायनदूतारिष्टाद्युपदेशादित्यायुर्वेदः । तस्यो-
पदेशा आयुर्वेदोपदेशाः । उपदिश्यन्त आयुर्वेदार्था उपपत्तिभिरित्युपदेशा आयुर्वेद-
तन्त्राणि । तेषु परमादरः पाठावबोधानुष्ठानरूप उत्कृष्टो यत्नः कार्यः । आयुर्वेदोप-
देशेष्विविधे बहुवचननिर्देशादयमर्थो बोध्यते । बहुष्वायुर्वेदतंत्रेषु यत्नः कार्योऽने-
कायुर्वेदावलोकनाच्चिकित्सायां वैद्यस्य न मनागपि संदेहो जायते । किं कर्तव्यं
पुरुषेण । आयुःकामयमानेन जीवितमभिलषता । किंभूतमायुः । धर्मार्थेत्यादि ।
ध्रियते लोकोऽनेनेति धर्मः । अर्थ्यते याच्यत इत्यर्थः । सुखं द्विविधम् । तादात्विक-
कमाल्यन्तिकं च । तादात्विकं कियत्कालान्तरास्थायित्वात्सुखावभासं न परमार्थतः
सुखम् । तथाचोक्तम् । “तादात्वसुखसंज्ञेषु भावेष्वज्ञोनुरज्यत इति” । तदेतत्संज्ञामात्रेण
सुखं न त्वत्यन्तमिति प्रदर्शयितुं सुखसंज्ञेष्विविधे मुनिनोक्तम् । आत्यन्तिकं सुखं
मोक्षारूपं यत्र न दुःखानां श्लेषः । तेषां साधनमुपायो धर्मार्थसुखसाधनम् ।

अथास्यायुर्वेदस्य गौरवोत्पादनायागमशुद्धिं दर्शयति । ब्रह्मेत्यादि ।

ब्रह्मा स्मृत्वायुषो वेदं प्रजापतिमजिग्रहत् ।

सोऽश्विनौ तौ सहस्राक्षं सोऽत्रिपुत्रादिकान्मुनीन् ॥ ३ ॥

तेऽग्निवेशादिकांस्ते तु पृथक् तंत्राणि तेनिरै ।

ब्रह्माऽऽयुषो वेदं स्मृत्वा प्रजापतिं दक्षमजिग्रहद् अवाबोधयत् । स्मृत्वेत्यनेनै-
तद्गमयति ब्रह्मणः स्मृत्त्वमेवात्र न कर्तृत्वम् । नित्यत्वादायुर्वेदस्य । नित्यत्वं चास्य
प्राक् प्रत्यपादि । ग्रहेत्येतस्यात्र बुद्ध्यर्थत्वात् प्रजापतिशब्दस्य गतिबुद्धीत्यादिना
कर्मसंज्ञा । स प्रजापतिरश्विनावजिग्रहत् । तौ सहस्राक्षमिन्द्रमजिग्रहतामिति वचन-
विपरिणामेन सम्बन्धः । शकोऽत्रिपुत्रादिकान् मुनीन् बोधयामास । अत्रिपुत्र आत्रेय
आदिर्येषां धन्वन्तरिनिमिकारयपादीनां त एवं ते चात्रेयादयोऽग्निवेशादिकानजिग्रहन् ।
ते त्वग्निवेशादयः षट् पृथक् प्रत्येकं तंत्राणि शास्त्राण्यग्निवेशभेदजातूकर्णपराशर-
हारीतच्चारपाणिनामाभिधेयानि तंत्राणि तेनिरै विस्तारितवन्तश्चक्रुः । तंत्र्यन्ते धार्यत

आयुर्वेदार्था एभिरिति तंत्राणि ।

ननु यदि तैस्तंत्राणि पुनर्युगानुरूपसंदर्भैः संगृहीतानि तत्किमिदानीमनेन शास्त्रेण कृतेनेत्याह । तेभ्य इत्यादि ।

तेभ्योऽतिविप्रकीर्णैभ्यः प्रायः सारतरोच्चयः ॥ ४ ॥

क्रियतेऽष्टांगहृदयं नाऽतिसंक्षेपविस्तरम् ।

तेभ्यो ग्रंथेभ्योऽतिविप्रकीर्णैभ्यो विक्षिप्तेभ्य उच्चावचोक्तार्थतयैवेतश्चेतश्च गतेभ्योऽत एव कश्चिदेवार्थः कस्मादेव तंत्रांतराज्ज्ञायते । यथा शल्यचिकित्सा सुश्रुत-प्रणीतातंत्रादेवावगम्यते न तथाग्निवेशादिकात् । ऊर्ध्वांगचिकित्सा च जनकप्रणीता-तंत्राद्यथावगम्यते न तथा सुश्रुतप्रणीतात् । अतः प्रायो बहुल्येन सारतरोच्चयः क्रियते । उच्चीयन्ते संगृह्यन्ते विक्षिप्ताः पदार्था अनेनेत्युच्चयः । यथा वा यवादीनां बहु-क्षेत्रजातानामेकस्मिन् स्थान उच्चयो विधीयते राशीकृत्य स्थापनं तथैव सारतराणा-मुच्चयः । सारतरग्रहणेनैतद् द्योतयति संग्रहेणैव साराणामुच्चयः कृतः । अनेन तथा सारतराणां प्रदेशानामुच्चयः क्रियत इति । किं नाम । अष्टांगहृदयमेतच्च सान्वयार्थमस्य नाम । यथा शरीरस्य सर्वावयवैभ्यः प्रधानदेशो हि हृदयं तथे-दमष्टांगायुर्वेदस्य प्रधानभूतत्वादहृदयमिव हृदयम् । तथा च तंत्रान्ते वक्ष्यति । “हृदय-मिव हृदयमेतदित्यादि” । अर्था च तान्यंगान्यष्टांगानि तेषां प्रत्येकं हृदयं सारतर-संग्रहणात् । कीदृशमष्टांगहृदयम् । नातिसंक्षेपविस्तरम् । संक्षेपश्च विस्तरश्च संक्षेपविस्तरौ अतिशयेन संक्षेपविस्तरौ यत्र न तच्चातिसंक्षेपविस्तरम् । अतिशब्द-स्यात्र प्रत्येकं संबन्धः । अतिसंक्षेपं किञ्चित्तंत्रं यथा सिद्धसारादि, किञ्चिच्चातिविस्तरं यथा संग्रहादि । इदं तु तंत्रं नातिसंक्षेपविस्तरम् । अतिसंक्षेपोक्तं स्वल्पधियां नोपकृतये । तेषां हि यथोक्तागममात्रं श्रेयो न तु वाक्यार्थपर्यालोचनादधिकः परा-मर्शः । अतिविस्तीर्णं तु पाठावबोधानुष्ठानैस्तेषां दुःशक्यं स्यात् । तस्मादल्पमध्यो-त्कृष्टबुद्धिशिष्यहितार्थं तन्त्रमेतदुद्दिष्टम् ।

कानि पुनस्तान्यष्टांगानीत्याह । कायेति ।

कायबालग्रहोर्ध्वाङ्गशल्यदंष्ट्राजरावृषान् ॥ ५ ॥

अष्टावङ्गानि तस्याहुश्चिकित्सा येषु संश्रिता ।

• कायश्च बालश्च ग्रहश्चोर्ध्वाङ्गं च शल्यं च दंष्ट्रा च जरा च वृषश्चेतीतरेतरद्वन्द्वः । ननु सर्वस्याश्चिकित्सायाः कायाश्रितत्वात् कायशब्दोऽर्थादाक्षिप्त एव तत्किमर्थं कायशब्द उपादीयते । ब्रूमः । प्रकर्षो यथाभिरूपाय कन्या देयेत्यत्राभिरूपग्रहणाद-भिरूपतमायेति प्रतिपाद्यते । तथेहाऽपि प्रकृष्टो यः कायः सम्पूर्णधातुः प्रकृष्टा च यावस्था तथा युक्तस्तत्संग्रहार्थः कायशब्द उपात्तः । तथा चिन् चयन इत्यस्माद्धातो-र्व्युत्पादितः कायशब्दः । चीयते प्रशस्तदोषधातुमलैरिति कायः । तदेवं सर्वशरीरो-पतापकानामामपक्वाशयस्थानोद्भवानां ज्वररक्तपित्तान्निसारादीनां रोगाणां यत्रोप-

शमयोगो निगद्यते तत्कायचिकित्सानामाङ्गम् । बालस्य त्वसंपूर्णधातुत्वाद् यौवना-
वस्थकायस्य प्रथमनिर्देशः । बालदेहेऽसम्पूर्णबलधातुत्वादप्रकृष्टवयोवस्थाप्रभावात्
तच्चिकित्साङ्गं पृथङ्निर्दिष्टम् । तथा बालौपयिकभेषजं धात्रीदुग्धलक्षणं दुग्धोद्भव-
व्याधिप्रशमादिनिर्देशाच्च । नन्वेवं वृद्धस्य प्रकृष्टवयोवस्थाया अभावात्तदेहे काय-
चिकित्सेति कथं व्यपदेशः स्यात् । अत्र ब्रमः । भूतपूर्वगत्या वृद्धदेहेन हि
प्रकृष्टतयावस्था पूर्वमनुभूता । अतो भूतपूर्वगत्या तत्र कायचिकित्सोपदेशो युक्तः ।
एवं ग्रहचिकित्सा नाम यत्र देवादिग्रहगृहीतानां प्राणिनां शान्तिकर्म विधीयते ।
यत्रोर्ध्वजनुगतानां रोगाणां नेत्रकर्णघ्राणादिसंश्रितानामाश्चोतनशलाकादिनोप-
शमो वर्ण्यते तद्धूर्वाङ्गचिकित्सानामाङ्गम् । अत्र च जन्मनः प्रभृति विचारोपदेशा-
द्बालचिकित्सैव प्राग्वक्तुं युक्ता । किंतु कायचिकित्सा प्राधान्यात्प्रागुपन्यस्ता । ततो-
नन्तरं बालचिकित्सा । बालस्य च ग्रहसम्बन्धाद्ग्रहचिकित्सा । ततः शरीरस्य
मूलरक्षार्थमूर्ध्वाङ्गचिकित्सा शालाक्यं नाम । ततः शस्त्रसाधनसामान्येन शल्यचिकि-
त्सा । पीडाकरणसमानत्वाद् दंष्ट्राचिकित्सा । दंष्ट्राविषात्मिका । विषेणाशु च
मरणे सम्भाव्यमाने रसायनोपयोगो युक्त इति रसायनचिकित्सा । अथवा विषस्य
रसायनजेयत्वाद्रसायनकथनप्रस्तावः । ततोऽनन्तरं वाजीकरणस्य भरणेन प्रस्तावः ।
तथा चाधीते ग्रन्थकृत् । वाजीकरणमन्विच्छेत्सततं विषयी पुमानिति । रसायनस्य
पश्चादित्यर्थः । यत्राल्पदुष्टरेतसां तदाप्यायनप्रसादोपजननरूपा चिकित्सा क्रियते
तद्वाजीकरणम् । एवेमतानि कायादीनि तस्यायुर्वेदस्याष्टावंगान्याहुर्वदन्ति । ब्रह्मा-
ऽत्रेयादय इति शेषः । येषु कायादिषु चिकित्सा संश्रिता व्यवस्थिता । “चतुर्णां
भिषगादीनां शस्तानां धातुवैकृते । प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते” इति
मुनिप्रोक्तलक्षणं नेह तन्त्रकृद्बधत् । चिकित्साशब्दादेवार्थस्य लब्धत्वात् । तथा
च निर्देष्टुमाह । निदाक्षमाव्याधिप्रतीकारविचारणासु सा निष्पद्यत इति । किते-
र्धातोर्व्याधिप्रतीकार एवास्य व्युत्पादितत्वात् ।

कायस्य दोषधातुमलसमुदायत्वात्तानेव दोषादीन् निर्दिदिच्छुराह । वायुरिति ।

वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः ॥ ६ ॥

चः समुच्चये । कफो दोषमध्ये समुच्चीयते । इत्यनेन प्रकारेण समासतः
संक्षेपात् त्रयो दोषाः । ननु प्रस्तुतत्वादिह धातुसंज्ञया वातादयो निर्देष्टुं न्याय्या
न दोषसंज्ञया । अस्त्येवैतत् किंतु रसादिदूषणपूर्वकमेषां विकारकरणे सामर्थ्यमिति
प्रदर्शनार्थं दोषसंज्ञया ते निर्दिष्टा न धातुसंज्ञया । नह्येते धातुरूपा जातु विरुद्धत्वं
कुर्वते देहवारणवर्धकत्वात् । एते मुनिनापि चरकेण पूर्वं दोषसंज्ञयैव निर्दिष्टाः ।
तथा च तदग्रन्थः । “वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शरीरे दोषसंग्रह” इति । वातपित्तकफा
दोषास्त्रय एव समासत इत्येवं निर्देशे कर्तव्ये यदेषां पृथग्विभक्त्या निर्देशः कृतः
स प्रधानत्वख्यापनार्थः । बहुवचनादेव त्रित्वे लब्धे त्रिग्रहणं नियमार्थम् । त्रय एव

दोषा न चतुर्थोऽस्तीति । तंत्रान्तरीया हि चतुर्थं दोषमीहन्ते । तेषां ह्यभिप्रायः । यथा दोषाणां स्थानलक्षणकार्यविकारचिकित्साद्युपदेशस्तथा रक्तस्यापि । तत्र स्थानं सर्वदेहव्यापित्वेऽपि ग्राह्यकृती । लक्षणं च पद्मेन्द्रगोपहेमादीत्यादि । कार्यं देहस्योत्पत्तिस्थिती । विकारो विसर्पग्रीवादि । चिकित्सा शिराव्यधादिकं कर्मेति । तदेतदसारम् । वातादयो ह्यस्य दूष्यस्य सतः कथं दोषत्वं कर्तुं पारयन्ति । यतः प्राधान्यादन्वर्थनामत्वाच्च वातादीनामेव दोषत्वं न रसादीनाम् । वातादयो हि स्वातंत्र्यात्प्रधानाः । दूषयंतीति दोषा इति तेषामेव चानुगतार्था संज्ञा प्रवृत्ता । रसाद्यास्तु पारतंत्र्यादप्रधानाः । ते च वातादिभिर्दूष्यन्त इति दूष्याः । तस्माद्रक्तस्य दूष्यत्वं, न दोषत्वम् । यद्येवं वातादीनामन्योन्यदूषणाद्दूष्यत्वं स्यात् । पित्तेन हि श्लेष्मा दूष्यत इति दृश्यते । यथा पाण्डुरोगनिदाने । पित्तप्रधाना इत्यारभ्य यावत् श्लेष्मत्वप्रकृतांसानि प्रदूष्येत्यादि । तदत्र श्लेष्मा पित्तेन दूष्यते । तथा श्लेष्मवद्रक्तस्याऽपि दोषत्वप्रसंग इति यो मन्येत तं प्रति ब्रमः । विषम उपन्यासः । वातादयो हि सर्वदैव रसादीन् दूषयन्ति नतु रसादयः कदाचिदपि वातादीन् दूषयन्ति । वातादीनां तु मध्याद्यदि कश्चिद्दूष्यति स तेषामन्यतमेन । तथा च प्रकृतिलक्षणे वातप्रकृतेः पित्तप्रकृतेश्च यथा लक्षणं दृश्यते नैवं रक्तप्रकृतेः । तथा च तन्त्रकारेण ज्वरादयो वातादिविशेषणविशिष्टा एवोक्ताः । यथा वातज्वरोऽयं पित्तज्वरोऽयं श्लेष्मज्वरोऽयं न तु रक्तज्वरोऽयमिति निर्दिष्टः । येऽपि रक्तजा विकारा विसर्पादयस्तेष्वपि घृतदग्धन्यायेन व्यपदेशो बोध्यः । यथा घृतस्यातर्हि तेनाग्निना दग्धो घृतदग्ध इत्युच्यते तद्वद्रक्तस्थैर्वातादिभिर्दोषैर्जातो रक्तजोऽयमित्युच्यते । यत्र कचिद्रक्तस्य दोषसंज्ञा कुष्ठचिकित्सादौ दृश्यते सा संज्ञामात्रेणैव नासावनुगतार्था । तस्य दूष्यत्वेनैव प्रवृत्तिः । तथा चैवं पुरीषादीनामपि संज्ञामात्रेण व्यवहारो दृश्यते । यथा न घृतं बहुदोषाय देयं यन्न विरेचनं तेन दोषायेत्यादि । अत्र पुरीषस्य दोषत्वमुक्तम् । तथोदरचिकित्सिते चरकस्य ज्वरचिकित्सिते वा अस्य । दोषेण भस्मनेवाग्नी छिन्नेऽन्नं न विपच्यते । तस्मादादोषपचनाज्ज्वरितानुपवासयोदिति । तदेवं वातादयस्त्रय एव दोषा न रक्तमिति स्थितमेतत्समासतो विस्तरतस्तु संसर्गसन्निपातक्षयसमादिभेदाभिन्नास्तारतम्यपरिकल्पनया च कल्प्यमाना आनन्त्यं यांति ।

विकृताऽविकृता देहं गन्ति ते वर्तयन्ति च ।

विकृताः स्वभावप्रच्युता देहं गन्ति । देहपदमत्र जीवितोपलक्षणार्थम् । जीवितेन विना कुर्वन्तीत्यर्थः । अविकृता पुनर्देहं वर्तयन्ति प्रापयन्ति । विकृतानां दोषाणां प्रागुपन्यासस्तेषां प्रकृत्यवस्थाने नित्यं भिषजा यत्नवता भाव्यमिति सूचनार्थम् । अन्यथा महान्प्रत्यवायः स्यात् ।

इदानीमेषां व्यापिनामपि विशिष्टस्थानं विवक्षुराह ।

ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः ॥ ७ ॥



अधश्च मध्यरूचोर्ध्वं चाधोमध्योर्ध्वानि तानि संश्रय आश्रयो येषां तेऽधो-
मध्योर्ध्वसंश्रयाः । हृच्च नाभिश्च हृन्नाभी तयोर्हृन्नाभ्योस्ते वातादयो व्यापिनोऽपि
सर्वशरीरचरा अपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः । विशेषेणेति वाक्यशेषः । किमिदं
वाक्यशेषत्वं नाम । उच्यते । यस्मिन् खलु पदेऽनुच्चार्यमाणेऽर्थगतिं पश्यन्त्या-
चार्यास्तच्छेषमित्युच्चारणकाले तेन विनाऽभिधेयसिद्धेर्व्याख्याकाले तु मन्दबुद्धि-
व्युत्पत्तये व्याचक्षते । तत्र नाभेरधो वायोः स्थानम् । हृन्नाभ्योर्मध्ये पित्तस्य ।
हृदयादूर्ध्वं कफस्य । ननु हृन्नाभ्योरिति कथं निर्देशो यावता प्राणयज्ञत्वादेकवद्भावे
सनपुंसकमिति नपुंसकत्वे हृन्नाभि इति प्राप्नोति । अत्र ब्रूमः । प्राणयज्ञानां समाहार
एव द्रन्द्र इत्यस्य प्रायिकत्वाच्चैकवद्भावस्तदभावाच्च तदाश्रयं नपुंसकत्वं न भवति ।
तथा चोक्तम् । सर्वत्र द्रन्द्रो विभाषयैकवद्भवतीति । दृश्यते चाऽन्यत्रापि । यथा च
रुद्रभट्टः “ कौटिल्यं कचनिचये करचरणाधरदलेषु रागस्ते ” इत्यादि । तथाऽस्यैव
ग्रन्थकृतः शिरःपृष्ठोरसां भूमिरिति । तथा जानुजङ्घोरुक्वयंसहस्तपादाङ्गसन्धिषु । तथा
वायुः सन्ध्यस्थिमज्जस्वित्यादि । तस्माद्भृन्नाभ्योरिति प्रयोगो न्याय्य एव ।

अप्येषां सकलकालव्यापिनामपि नियतकालत्वं दर्शयन्नाह—

वयोऽहोरात्रिभुक्तानां तेऽन्तमध्यादिगाः क्रमात् ।

वयश्चाऽहश्च रात्रिश्च भुक्तं च वयोऽहोरात्रिभुक्तानि तेषां क्रमाद्यथासङ्ख्यं
ते वातादयोऽन्तमध्यादिगा भवन्ति । अन्तश्च मध्यश्चादिश्चान्तमध्यादयस्तेषु
गच्छन्तीत्यन्तमध्यादिगाः । अन्यत्रापि दृश्यत इति डः । तेनायमर्थो वयसः मनु-
ष्यायुषोऽन्तः पश्चिमो भागो वायोः कोपकालः । मध्यो भागः पित्तस्य । आद्यो
भागः कफस्यैवमहो रात्रिश्च योज्यम् । भुक्तमाहारस्तस्यान्ते जठराग्निसंयोगवशाद्-
सानां जीर्णप्रायावस्था वायोः कोपकालः । मध्यो विदाहावस्था पित्तस्य । आद्या-
वस्था तु यस्यां मधुरीभाव आहारस्य तत्र कफस्य कोपकालः । यद्यपि आहारस्य
जठराग्निसंयोगवशाद्ब्रह्मयोपि सूक्ष्मा अवस्थः सम्भाव्यन्ते तथाप्येतासामेव सुतरामु-
पयोगित्वादिह निर्देशः । तथा हि—एता एव तिस्रोऽवस्थाः स्वकर्म दर्शयन्ति ।
वक्ष्यति हि—“ आदौ षड्समप्यन्नं मधुरीभूतमीरेयेत् । फेनीभूतं कफं यातं विदा-
हादम्लतां ततः । पित्तमाशयात्कुर्याच्चयवमानं च्युतं पुनः । अग्निना शोषितं पक्वं
पिण्डितं कटुमारुतमिति ” ।

अधुनाऽग्निस्वरूपं प्रस्तौति ।

तैर्भवेद्विषमस्तीक्ष्णो मन्दश्चाग्निः समैः समः ॥ ८ ॥

तैश्च वातादिभिः पुंसो यथाक्रमेणाग्निर्विषमस्तीक्ष्णो मन्दश्च भवेत् । वाता-
दग्नश्च समुदिता एव शरीरजनने समर्था इत्यवश्यं सवैरेव भवितव्यम् । इह तु य
एकस्य व्यपदेशस्तत्रोत्कर्षो द्रष्टव्यः । वातोत्कर्षेण विषमः पित्तोत्कर्षेण तीक्ष्णः

कफोत्कर्षेण मन्द इति समैर्हान्युत्कर्षवर्जितैः समः । लक्षणमेषामङ्गविभागे शारीरे वक्ष्यति—“यः पचेत्सम्यगेवाक्षमित्यारभ्य यावच्चिरात्पचेदिति” । यत्र तु द्वयोर्दोषयोरुत्कर्षत्वं तत्र सदैवेन स्वधिया कल्यम् । यथा वातपित्तयोरुत्कर्षे वायोर्योगवाहित्वात्तीक्ष्णः । एवं वातकफयोरुत्कर्षे मन्दः । कफपित्तयोस्तूत्कर्षे आहारविशेषवशात्कदाचितीक्ष्णः कदाचिन्मन्द इति ।

अभिचातुर्विध्यमुक्त्वा तदाश्रयस्य कोष्ठस्य चातुर्विध्यं विवक्षुराह ।

कोष्ठः क्रूरो मृदुर्मध्यो मध्यः स्यात्तैः समैरपि ।

तैर्वातादिभिर्न्यायकं क्रूरमृदुमध्यलक्षणेः कोष्ठो भवति । वातात्कर्षेण क्रूरः । पित्तोत्कर्षेण मृदुः । कफोत्कर्षेण मध्यः । समैः पुनरेतैर्हान्युत्कर्षवर्जितैर्मध्य एव कोष्ठः । क्रूरादीनां तु लक्षणं वमनविरेचनविधौ वक्ष्यति । ननु समैर्वातादिभिः कथं मध्यकोष्ठता स्यादिति । ब्रूमः—समानां वातादीनां मध्ये द्वयोर्वातपित्तयोः स्वस्वं क्रूरकोष्ठत्वमृदुकोष्ठत्वलक्षणख्यं च विरुद्धं कर्म युगपत्कर्तुं न घटते । तृतीयस्तु सम एव कफः सोऽनयोर्मध्ये मध्यमां वृत्तिमाश्रित्य स्थितो नैकेनापि सह विरुद्ध्यते । अत एव तत्कार्यं मध्यकोष्ठतालक्षणं ते वातपित्ते निषेद्धुं नैव घटते । एवं च तेनावश्यमात्मीयं मध्यकोष्ठतालक्षणं कर्म कर्तव्यं यतो वातकर्मणः क्रूरकोष्ठतालक्षणस्य पित्तकर्मणो मृदुकोष्ठतालक्षणस्य च विरुद्धत्वात् । अतो मध्यकोष्ठतैव समैर्वातादिभिर्न्याय्या । इयांस्तु विशेषः—पूर्वो यो मध्यकोष्ठः सोऽवश्यं प्रमाणाधिकेन कफेन जन्यते । मध्यः स्यात्तैः समैरपीति समग्रहणालिगात् । इतरस्तु मध्यकोष्ठः समदोषमध्यस्थितेन समेनैव स्वप्रमाणस्थितेन अध्मणा भवतीत्यनया रीत्या हेतुभेदादन्यत्वम् । तथा मध्यकोष्ठयोर्लक्षणभेदोऽपि दृश्यते । यथा—“श्लेष्माधिकश्छर्दयते हि दुःखं विरिच्यते मन्दकफस्तु सम्यगिति” । तदयमत्रार्थः श्लेष्माधिके मध्यकोष्ठे न सम्यग् विरेचित्वं समकफे तु मध्यकोष्ठे सुविरेचित्वमिति ।

इदानीं प्रकृतिस्वरूपं प्रस्तौति ।

शुक्रार्तवस्थैर्जन्मादौ विषेणेव विषक्रिमेः ॥ ६ ॥

तैश्च तिस्रः प्रकृतयो ह्रीनमध्योत्तमाः पृथक् ।

समधातुः समस्तासु श्रेष्ठा निन्द्या द्विदोषजाः ॥ १० ॥

तैश्च वातादिभिस्तिस्रः प्रकृतयः पृथग्भवेयुर्ह्रीनमध्योत्तमाः प्रकृतिः शरीरस्वरूपम् । शुक्रार्तवस्थैरिति शुक्रं पितुर्द्वित्रिबिन्दुकावस्थं रेतः । ऋतौ भवमार्तवं मातुर्द्वित्रिबिन्दुकावस्थं शोणितम् । शुक्रं चार्तवं च तत्र तिष्ठतीति शुक्रार्तवस्थास्तैस्तथाविधैर्जन्मादौ गर्भाधानकाले जन्मप्रारम्भे गर्भादावित्यर्थः । ननु च यदा वातादयोऽधिकाः शुक्रार्तवे तिष्ठति तदा कुतः शरीरस्य निष्पत्तिर्भवतीति । ततश्च यो दोषाणामधिको भावः सैव विकृतिः । तत्कथं दोषा आधिक्यं प्राप्ताः प्रकृतेः कारण-

तामुत्सहन्ते । विकृतत्क्वञ हि विकृतिः कदाचित्प्रकृतेः कारणमिति वक्तुं युज्यते । कारणसदृशेन च कार्येण भवितव्यमित्याशङ्क्य सपरिहारं दृष्टान्तमाह—विषेणैव विषकिमेरिति । यथा विषेण जीवितनाशहेतुनास्य विषकिमेर्जन्म प्रकृतिसम्भवो दृश्यते । तथा एतैर्दूषणस्वभावैरपि हि प्रमाणाधिकैर्दोषैः शुकार्तवस्थैरेव जन्मादौ शरीरस्य निष्पत्तिर्भवतीति । वातोत्कर्षेण हीना । पित्तोत्कर्षेण मध्यमा । कफोत्कर्षेणोत्तमा । सर्वासु प्रकृतिषु मध्ये या समधातुः प्रकृतिः सा समा श्रेष्ठोत्तमा चतुर्थी । समा धातवो यस्याः । धातुशब्दो दोषपर्यायः । “धारणाद्धातव” इति वचनात् । या मिश्रदोषजास्तिष्ठः प्रकृतयस्ता निन्द्या गर्हणीयाः, अनारोग्यास्पदत्वात् । वात-पित्तजा वातश्लेष्मजा पित्तश्लेष्मजा इति ।

तत्र रूक्षो लघुः शीतः खरः सूक्ष्मश्चलोऽनिलः ।

तत्रेति निर्धारणे । तत्र तेषु दोषेषु मध्येऽनिलो वायू रूक्षो लघुः शीतः खरो मृदुः सूक्ष्मः स्रोतः प्रचारित्वात् । चलो गमनशीलो नैकत्र तिष्ठतीति । नन्वनुष्णाशीतो वायुः काण्ठद्वैः पठितः ? इह योगवाहानुज्ञानादनुष्णाशीत एवेष्यत इति । “योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत् । दाहकृत्तेजसा युक्तः शीतकृत्सोमसंश्रयादिति” । तथा—“पवने योगवाहित्वाच्छीतं श्लेष्मयुते भवेद् । दाहः पित्तयुत” इति । उच्यते । सत्यमेतदनुष्णाशीत एव वायुः । तस्य योगवाहित्वेऽपि तावन्मात्रादाहोदयाच्छैत्यं स्वाभाविकं न विनश्यति । शीतगुणव्यावर्णने चेदं प्रयोजनमुष्णेनायमुपशाम्यतीतिप्रतिपत्त्यर्थम् ।

पित्तं सस्नेहतीक्ष्णं लघु विस्त्रं सरं द्रवम् ॥ ११ ॥

सस्नेहमीषत्स्निग्धम् । सशब्द ईषदर्थे । यथा—“सत्तिक्ता यासशर्करा” । एवमीषत्स्नेहो यस्य तत्स्नेहम् । तीक्ष्णं शीघ्रकारि मन्दविपरीतं सूचीव भिनत्ति । उष्णं लघु । विस्त्रं दुर्गन्धि मत्स्यामगन्धि । सरं व्याप्तिशीलं सरणशीलमूर्ध्वाधः प्रवर्तते न स्थिरमास्ते शकृद्विस्त्रंसि । द्रवं च ।

स्निग्धः शीतो गुरुर्मन्दः श्लक्ष्णो मृत्स्नः स्थिरः कफः ।

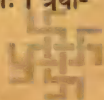
स्निग्धगुणयोगास्निग्धः शीतोऽनुष्णो गुरुर्लघुर्न भवति । मन्दश्चिरकारी तीक्ष्णविपरीतः । श्लक्ष्णोऽपरुषः । मृत्स्नो मृद्यमानोज्ज्वलिग्राही पिच्छिलगुणयुक्तः चकचकायमानः । स्थिरो व्याप्तिशीलः । एवं तद्गुणयोगाद्गुणगुणिनोरभेदोपचाराद्वातादयो गुणतो निर्दिष्टाः ।

एषां च मिश्रीभूतानां तन्त्रव्यवहारार्थं सञ्ज्ञाद्वयमाह ।

संसर्गः सन्निपातश्च तद्विचित्रयकोपतः ॥ १२ ॥

एतदुक्तं भवति । द्वयोः स्वप्रमाणाधिकयोः क्षीणयोर्वा संयोगः संसर्गः । त्रयाणां दोषाणां वृद्धानां क्षीणानां वा संयोगः सन्निपातः ।

दोषानुक्त्वा धातव उच्यन्ते—



रसासृद्धांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः ।

सप्त दूष्याः

रसादयः सप्त धातुसञ्ज्ञाः शरीरधारणाद्धातवस्ते च दूष्याः । वातादिभिर्दूष्यन्त इति दूष्याः । यस्माद्वातादीनां दूषणस्वभावत्वाद्या दोषसंज्ञा सान्वर्थसंज्ञा । दूषयन्तीति दोषाः । अतोऽवश्यं ते दूष्यमपेक्षन्ते । कर्म विना कर्तुः क्रियाया असम्भवात् । कर्तारं विना कर्मणो न कर्मत्वम् । एवं दोषैर्विना रसादीनां दूष्यनाम न पतति । तैर्विनाऽपि वातादीनां दोषनाम न । तस्मात्परस्परपेक्षत्वादनयोर्दूष्यदोषयोर्दूष्यत्वेन च संज्ञालाभः ।

मला मूत्रशकृत्स्वेदादयोऽपि च ॥ १३ ॥

मूत्रशकृदादयो मला उच्यन्ते । अपिचेतिशब्दाद्दूष्याश्चेति । न केवलं रसादय एव दूष्या यावन्मलास्तेऽपि धात्वादिभिर्दूष्यन्त इति । एवं च रसादीनां दूष्यसंज्ञा धातुसंज्ञा च । तथा विरमूत्रादीनां मलसंज्ञा दूष्यसंज्ञाचेति दोषधातुमलनिर्देशेन देहो व्याख्यातः । तथा चोत्तरग्रन्थे “दोषधातुमला मूलं सदा देहस्येति” ।

तस्य च देहस्य यथा सन्ततं केनचिदुपायेन परिपालनं निष्पद्यते तमुपायं दर्शयितुमाह ।

वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः ।

सर्वेषां दोषधातुमलादीनां शरीराश्रितानां समानैस्तुल्यसद्भावैर्वृद्धिः स्वप्रमाणाधिक्यम् । विपरीतैर्विशिष्टतयाऽव्यवस्थितैर्विपर्ययः क्षयः । अयनमयोगतिर्विपरीता गतिर्विपर्ययोऽपचयः । सामान्यविशेषैर्द्रव्यगुणकर्मभेदेन त्रिप्रकारोऽधिगच्छति । तथा चाहुः—“ सर्वेषां सर्वदा वृद्धिस्तुल्यद्रव्यगुणक्रियैः । भावैर्भवति भावानां विपरीतैर्विपर्ययः ” । द्रव्यतो यथोक्तं रक्तमापद्यते रक्तेन मांसं मांसेन पार्थिवम् । तथा । सलिलात्मकं पयस्तदात्मकमेव श्लेष्माणमभिवर्धयति । तद्वत्क्षीरजातं घृतं शुक्रं तथा जीवन्तीकाकौल्यादयः सोमात्मानो द्रव्यविशेषाः सौम्यधात्वेककारणानि स्नेहबलपुंस्त्वौजांसि मरीचपञ्चकोलभल्लातकादयो बुद्धिभ्राम्यादीन् संवर्धयन्ति । गुणतश्चोचमोचस्वर्जराणि पार्थिवानि द्रव्यतो निर्दिष्टान्यपि श्लेष्माणमुदकात्मकमभिवर्धयन्ति । स्निग्धगुरुशीतादिगुणसामान्यात् । कर्मापि द्विविधं कायवाङ्मनोव्यापारात्मकम् । तत्र । कायिकानि धावनलङ्घनप्लवनादीनि चलत्वसामान्याद्वायोर्बृद्धये । वाचिकानि भाष्याध्ययनगेयादीनि । मानसं मनोव्यापारश्चिन्ताकामशोकभयादीनि । सान्यपि मनसः क्षोभणहेतुत्वाद्वायोर्बृद्धिकराणि । तथा सन्तापकृत्वसामान्यात्क्रोधेर्ष्यादि पित्तस्य । स्वप्नालस्यशय्यासुखादीनि स्थैर्यसामान्यात्कफस्येति । विपर्ययस्तु क्षयाय । यथाह—द्रव्यतो गवेधुकाञ्चं कर्शनीयानां तत्र वातात्मिकया गवेधुकाया पार्थिवानां मांसादीनां कशिमा क्रियते । तथा तैजसेन क्षारेण श्लेष्माणः । गुणतो यथा—आरनालमौदकं श्लेष्माणं तद्विपरीतैर्लघुरुक्षोष्णतीक्ष्णविशदगुणैः

क्षययति । कर्मतो निद्राद्यस्यसौमनस्यानि निष्परिपन्दं वातमपरिस्पन्दस्वभावतया-
ऽपचिन्वन्ति । तथा परिस्पन्दरूपाश्चिन्ताव्यवायव्यायामा मन्दपरिस्पन्दवैपरी-
त्यात्कफमिति ।

वर्णितमेव वृद्धिः समानैः क्षयो विपरीतैरिति । तौ तु वृद्धिक्षयो यतो वाग्वा-
दीनां भवतस्तत्प्रत्यायनार्थमाह ।

रसाः स्वाद्वम्ललवणतिक्तोषणकषायकाः ॥ १४ ॥

षड् द्रव्यमाश्रितास्ते तु यथापूर्वं बलावहाः ।

स्वाद्वदयः षड्सा रसनेन्द्रियग्राह्यत्वादसास्ते च रसा द्रव्यं पञ्चभूतात्मकमा-
श्रिता यथापूर्वं च बलावहाः । यो यः पूर्वं यथापूर्वं बलावहा बलप्रापकाः । बल-
मावहन्तीति प्रापयन्तीति यावत् । तस्मात्सर्वेभ्यो मधुरो रसः प्रकर्षेण देहिनां
बलकरः कषायस्तु सर्वेभ्यो जघन्यबलावहः । तत्र स्वादुर्मधुरो घृतगुडादिः ।
अम्लोम्लिकामातुलुङ्गादिः । लवणः सैन्धवादिः तिक्तो भूनिम्बादिः । ऊषणः
कटुको मरीचादिः । कषायो हरीतक्यादिः । स्वादुर्मधुरपर्यायः । ऊषणः कटुक-
पर्यायः । यथा त्र्यूषणं त्रिकटुकमुच्यते । कषाय एव कषायको यथा कटुरेव कटुकः ।
षडिति षडेव न न्यूना अधिका वा । यद्यपि ते रसा गुणाः स्वाद्वदिभेदतस्तथा
संसर्गतस्तथाऽनुरसतस्तारतम्यपरिकल्पनावशतोऽपि भिद्यमानरूपा अपि षट्त्वं
नातिवर्तन्ते ।

तत्राद्या मारुतं घ्नन्ति त्रयस्तिक्तादयः कफम् ॥ १५ ॥

कषायतिक्तमधुराः पित्तमन्ये तु कुर्वते ।

तत्र तेषु रसेषु मध्य आद्यास्त्रयः स्वाद्वम्ललवणा मारुतं घ्नन्ति शमयन्ति ।
अन्ये तु तिक्तोषणकषायास्तमेव चानिलं कुर्वते कोपयन्ति । तिक्तादयस्त्रयस्तिक्तो-
षणकषायाः कफं घ्नन्ति प्रशमयन्ति । अन्ये मधुराम्ललवणास्तमेव कफं कुर्वते ।
कषायतिक्तमधुराः पित्तं घ्नन्ति । अन्ये त्वम्ललवणकटुकास्तदेव पित्तं कुर्वते । तेने-
दमुक्तं भवति । मधुरो वातपित्तघ्नः श्लेष्मकरः । अम्लो वातं हन्ति कफपित्ते जन-
यति । लवणो मारुतं हन्ति कफपित्ते तु कुरुते । तिक्तः कफपित्ते नाशयति वातं तु
जनयति । ऊषणः कफं नाशयति वातपित्ते तु जनयति । कषायः कफपित्ते हन्ति वातं
तु करोतीति ।

एषां च रसानामाश्रयो द्रव्यं तच्च त्रिप्रकारमित्याह ।

शमनं कोपनं स्वस्थहितं द्रव्यमिति त्रिधा ॥ १६ ॥

इत्यनेन प्रकारेण शमनादिभेदेन त्रिधा त्रिप्रकारं द्रव्यम् । अन्येन प्रकारेण
द्विधाऽथवाऽनेकधा । इतिशब्दः प्रकारार्थेऽभिहितः । यत्तु वातादीन् दोषान् शम-
यति तच्छमनम् । यथा तैलं घृतं माक्षिकम् । तत्र तैलं स्नेहौदार्यगौरवयोगाद्वातं
तद्विपरीतगुणं शमयति । सर्पिर्माधुर्यशैत्यमाद्यगुणयोगात्तद्विपरीतगुणं पित्तम् ।

मधु च रौक्ष्यतैक्ष्ण्यकषाययोगात्तद्विपरीतगुणं कफम् । यद्वातादीन् दोषान् रसादीन्धातून् मूत्रादीन्मलांश्च कोपयति तत्कोपनम् । यथा यवकपटलमाषमत्स्याममूलकसर्षपमंडकदधिकिलाटविरुद्धमत्स्यपयःप्रभृति । दोषादीनां मलपर्यन्तानां स्वप्रमाणस्थितानां साम्यानुवृत्तिहेतुर्यद्द्रव्यं तत्स्वस्थेभ्यो हितम् । यच्च स्वास्थ्यानुवृत्तिं करोति । ऋतुर्व्याध्याये सेव्यत्वेनोक्तम् । तथा मात्राशितीयाध्याये रक्तशालिषष्टिकयवगोधूमजाङ्गलमांसजीवन्तीशाकदिव्योदकक्षीरादि । तथा यदूर्जस्करं रसायनवाजीकरणं सर्वदा शीलनीयत्वेन निर्दिष्टम् ।

तस्य वीर्यमाह ।

उष्णशीतगुणोत्कर्षात्तत्र वीर्यं द्विधा स्मृतम् ।

तत्र तस्मिन् द्रव्ये वीर्यं द्विविधम् । विंशतेर्गुणानां मध्यादद्वावुष्णशीतौ तदुत्कर्षाद्वीर्यमिति सर्वायुर्वेदप्रसिद्धौ द्वावेव गुणौ शीतोष्णौ वीर्यकरणहेतू । वीर्यशक्तिः । उष्णगुणोत्कर्ष उष्णगुणातिशय एव कश्चिदुष्णवीर्याख्यां लभेत । तथा शीतगुणोत्कर्षः शीतगुणातिशय एव शीतवीर्याख्याम् । यद्यपि नानागुणकमपि द्रव्यं तथाप्यग्नीषोमात्मकत्वाज्जगतो द्विधैव वीर्यम् ।

द्रव्यविपाकमाह—

त्रिधा विपाको द्रव्यस्य स्वाद्वम्लकटुककात्मकः ॥ १७ ॥

विपाकस्त्रिविधः सर्वद्रव्याणां परिणामकालभावी कार्यानुमेयो जाठराग्निसंबन्धाद्रसस्य स्वरूपांतरप्रादुर्भावः । स त्रिधैव । रसषट्त्वेऽपि न षोढा । तेन किञ्चित्स्वादुपाकं किञ्चिद्वम्लविपाकं किञ्चित्कटुविपाकं द्रव्यम् । तत्र मधुरलवणयोर्मधुरो विपाकः । अम्लस्याम्लः । तिक्तकटुकषायाणां कटुकः । स च कार्यानुमेयः । तथा च वक्ष्यति । “जाठरेणाग्निना योगाद्यदुदेति रसांतरम् । रसानां परिणामांते स विपाक इति स्मृतः” । अत एव सोपसर्गः पाकशब्द उपात्तः । विशिष्टः पाको विपाको न पाकमात्रस्वरूपः । तथा च भट्टारकचरकमुनी—“रसो विपाके द्रव्याणां विपाकः कर्मनिष्ठया । वीर्यं यावदधीवासान्निपाताच्चोपलभ्यते” । एवं कर्मनिष्ठानुमत एकरूपावस्थो जाठराग्निसंयोगाद्यो रसानां रसान्तरोद्भवः स एव विपाको न यो जाठराग्निसंयोगमात्राद्रसानामनेकावस्थः प्राज्जधुरोऽनन्तरं स एव धच्यमानोऽम्लस्ततो विपच्यमानः स एव कटुविपाकः ।

द्रव्यस्य गुणानाह—

गुरुमन्दहिमस्निग्धरूक्षसान्द्रमृदुस्थिराः ।

गुणाः ससूक्ष्मविशदा विंशतिः सविपर्ययाः ॥ १८ ॥

तत्र द्रव्ये गुर्वादयो दश गुणाः सविपर्यया विंशतिर्ज्ञेयाः । एषां क्रमाद्विपरीता लघुतीक्ष्णोष्णरूक्षखरद्रवकठिनसरस्थूलपिच्छिलाः । गुरुस्तद्विपर्ययो लघुः । मन्दस्तद्विपर्ययस्तीक्ष्णः । हिमस्तद्विपर्यय उष्णः । स्निग्धस्तद्विपर्ययो रूक्षः । रूक्षस्तद्विपर्ययः खरः सान्द्रस्तद्विपर्ययो द्रवः । मृदुस्तद्विपर्ययः कठिनः । स्थिरस्तद्विपर्ययः

सरः । सूक्ष्मस्तद्विपर्ययः स्थूलः । विशदस्तद्विपर्ययः पिच्छलः ।

रोगकारणमाह—

कालार्थकर्मणां योगा हीनमिथ्यातिमात्रकाः ।

सम्यग्योगश्च विज्ञेयो रोगारोग्यैककारणम् ॥ १६ ॥

कालः शीतोष्णवर्षलक्षणास्त्रिविधः । अर्थाः शब्दस्पर्शरसरूपगन्धा महाभूत-
गुणाः । तथा चागमः । “अर्थाः शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणाः” । कर्म
क्रिया कायवाङ्मनश्चेष्टा । कालश्चार्थश्च कर्म च तानि कालार्थकर्मणि तेषां योगाः
सम्बन्धाः । कालार्थकर्मणां योगाः । किंभूताः हीनमिथ्यातिमात्रकास्तथा सम्यग्यो-
गश्चेति । ये कालादीनां योगा हीनमिथ्यातिमात्रकास्ते रोगैककारणम् । तेषामेव यः
सम्यग्योगः स आरोग्यैककारणं प्रधानकारणमिति । एकशब्दः प्रधानवचनो यथैकः
पार्थो धनुर्धरः । कालस्य हीनयोगः स्वरूपहानिः । अतियोगः स्वरूपाति-
शयः । मिथ्यायोगः स्वरूपाद्वैपर्ययम् । यथा हीनशीतता हीनोष्णता हीनवर्षता
हीनयोगे । यथाऽतिशीत्यमत्यौष्ण्यमतिवर्षणमतियोगे । यथा शीतकालावसरेऽत्यौ-
ष्ण्यमुष्णकालावसरे शीतं वर्षाकालेऽवृष्टिर्मिथ्यायोगे । एतद्योगत्रयं रोगकारणम् ।
सम्यग्योगो यथास्वरूपस्थितिरारोग्यकारणम् । अर्थानां पुनः स्वेनस्वेनार्थेनेन्द्रियस्य
हीनः संयोगो हीनयोगः । अत्यन्तसंयोगोऽतियोगः । पुरुषानभिमतदिनार्थजातेनेन्द्रि-
यस्य योगो मिथ्यायोगः । एते त्रयो रोगकारणम् । यथास्वं सम्यग्योग आरोग्य-
कारणम् । कार्यादिकर्मणो हीनप्रवृत्तिर्हीनयोगः । अतिप्रवृत्तिरतियोगः । वेगोदीर-
णादिकं सामिभुक्तभाषणादिकं रागद्वेषादिकं यथास्वमुत्तरत्र वक्ष्यमाणं मिथ्यायोगः ।
सर्वेषां समा प्रवृत्तिः समयोगः । तेन हीनादयो योगास्त्रयो रोगकारणम् । सम्यग्यो-
गस्त्वारोग्यकारणम् ।

रोगारोग्ये कैरुच्यत इत्याह ।

रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता ।

दोषाणां वातादीनां स्वप्रमाणादेकस्य द्वयोस्त्रयाणां वा वृद्धिः क्षयो वा रुजा-
करत्वाद्भोग एव वैषम्यं विषमता स्वरूपाच्छयावः ततः कार्यकारणयोरभेदेन पठितो
रोग इति । दोषाणां साम्यं स्वरूपादप्रच्युतिः समभागोऽरोगताऽऽरोग्यं स्वास्थ्य-
मिति यावत् ।

निजागन्तुविभागेन तत्र रोगा द्विधा स्मृताः ॥ २० ॥

तत्र तयो रोगारोग्ययो रोगा द्विधा निजागन्तुभेदेन । निजावातादिदोष-
जन्मानः । आगन्तवो बाह्यहेतवः । तथा चाचार्यवचनम् । निजास्त्रिदोषोत्था बाह्य-
हेतुजास्त्वागन्तवः । अनयोरियान्विशेषः । निजे रोगे वातादयः पूर्वं वैषम्यं गत्वा
पश्चाद्यथामभिनिर्वर्तयन्ति । आगन्तवः पुनः पूर्वमेवोत्पद्यन्ते अनन्तरं तत्र वातादयः
कुप्यन्तीति । अनेनोभयस्य निजागन्तुभेदभिन्नस्य व्याधेश्चेतःसंतापकत्वं बोद्धव्यम् ।

यत एवं देहमनसी रोगाधिष्ठानत्वेन स्थिते न केवलो देहो नापि केवलं मन-
स्तस्मादतोऽनन्तरमिदमाह—

तेषां कायमनोभेदादधिष्ठानमपि द्विधा ।

तेषां निजागन्तुकानां विकाराणां रोगाणां कायमनोभेदेन द्विविधमधिष्ठानं
स्थानम् । ज्वरास्त्रपित्तासादीनां कायो मदमूर्छासंन्यासग्रहभूतोन्मादापस्मारराग-
द्वेषादीनां मनः । अधितिष्ठन्त्यस्मिन्नित्यधिष्ठानम् । कायः शरीरम् । मनश्चेतः ।

ननु कायिकानां रोगाणामुत्पत्तौ हेतवो वातादयो दोषाः प्रकुपिता उक्ताः मान-
सानां च रोगाणां को हेतुस्तदर्थमाह—

रजस्तमश्च मनसो द्वौ दोषावुदाहृतौ ॥ २१ ॥

मनश्चेतस्तस्य रजस्तमसी दोषावुपपन्नवावविद्यासम्भवौ । अत्र च प्राधान्यादादौ
रजो निक्षिप्तम् । चशब्दः पवनादीनामप्युपसंग्रहार्थः । यस्मात्तेऽपि मनः
संश्रित्य विकुर्वते समये । हि षडुन्मादा भवन्ति वातपित्तकफसन्निपाताद्विविधनिमित्ता
उदाहृता इत्युदाहरणमात्रमुद्देशमात्रं वचनमात्रमत्रायुर्वेदशास्त्रे । रजस्तमसोर्न
साकल्येन व्याकरणमनिलदीनामिव । ते खल्वत्र स्वभावस्थानादिभिः प्रकारैरशेष-
मुक्ता न तु रजस्तमसी ।

रोगोपहतशरीरज्ञानोपायमाह ।

दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेताथ रोगिणम् ।

रोगोऽस्यास्तीति रोगी व्याधितः तं दर्शनादिभिः परीक्षेत । दर्शनेन दृष्ट्या कास-
मेहाद्यार्तेषु पीतशुक्लवर्णसंस्थानप्रमाणोपचयच्छायाविरगमूत्रच्छर्दितादिकम् । स्पर्शनेन
हस्तकायस्पर्शेन ज्वरगुल्मविद्रव्याद्यार्तम् । तथा शीतोष्णस्तब्धस्पन्दे श्लेष्मणस्पर्शा-
दिकं च । प्रश्नेन पृच्छ्या शूलारोचकच्छर्दिप्रददत्वं सुच्छन्ददुश्च्छन्दत्वं मृदुक्रकोष्ठतां
स्वप्नदर्शनमभिप्रायं जन्मामयप्रवृत्तिनक्षत्रद्विष्टेषुखदुःखानि चेत्यातुरमुखात्परीक्षेत ।

रोगविशेषाधिगमोपायमाह—

रोगं निदानप्राग्रूपलक्षणोपशयातिभिः ॥ २२ ॥

रोगं निदानादिभिः पञ्चभिः परीक्षेत । निदानं कारणं हेतुरित्यनर्थान्तरम् ।
तत्तासन्नविप्रकृष्टभेदेन द्विधा । आसन्नमपि द्विविधम् । आसन्नात्यासन्नभेदेन ।
आसन्नं रूक्षलघुशीतादिद्रवोपयोगः अत्यासन्नं तु यतः समनन्तरमेव रोगोत्पत्तिः ।
यथा वातादयोः दोषाः क्रद्धाः । विप्रकृष्टं यदादिकाले ज्वरादीनां तथा हविः
प्राशादि मेहकुष्ठादीनाम् तैर्नैवविधमर्थजातमेवविधस्य रोगस्य हेतुत्वेनोपदिष्टमेवं-
विधश्चात्पन्नोऽतो निदानाज्ज्ञायते रोगः । प्राग्रूपं पूर्वरूपं भविष्यतो व्याधेरप्रकाशित-
दोषविशेषाधिष्ठितस्य लक्षणमुद्वुभूषुर्व्वरादिरामयो वातादिदोषविशेषेणालिंगि-
तरूपाभासो येनावभास्यते यथायथमल्पत्वाद्यदव्यक्तमस्फुटं लिङ्गं तत् प्राग्रूपम् ।
लक्षणं पुनस्तदेव प्राग्रूपद्विलक्षणम् । येन सकलदोषविशेषालिङ्गितः स्फुटलिङ्गो

व्याधिर्दृश्यते लक्ष्यते । उपशयः सुखानुबन्धाद्व्याधौपयोगः । एवंविधेनाहारादिकेन हि तस्य पीडा नाभूदेवंविधेन चाभूदत उपशयाज्ज्ञायतेऽयं रोग इति । स व्याधिसात्म्यः स्वास्थ्यहेतुः सुखावहः । आसिनिर्वृत्तिः सम्प्राप्तिरागतिर्जातिरित्यनर्थान्तरम् । एवं दुष्टेनैवं स्थानस्थितेनैवमनुगतेनानया कल्पनयैवमार्गेण दोषेणेति परिकल्पनमत आप्त्या ज्ञायतेऽयं रोग इति ।

उपशयादिप्रसंगे च देशकालावप्युपयुज्येते । अतस्तावपि पठति ।

भूमिदेहप्रभेदेन देशमाहुरिह द्विधा ।

इहास्मिन्नायुर्वेदशास्त्रे आचार्या द्विविधं द्विप्रकारं देशमाहुः कथयन्ति । भूमिभेदेन देहभेदेन च ।

देहदेशः शिरःपाण्यादिलक्षणः प्रसिद्धः । भूमिदेश उच्यते ।

जाङ्गलं वातभूयिष्ठमनूपं तु कफोल्बणम् ।

साधारणं सममलं त्रिधा भूदेशमादिशेत् ॥ २३ ॥

भूदेशं पुनस्त्रिधा त्रिप्रकारमादिशेत् । तत्र जाङ्गलो देशोऽल्पोदकतरुपर्वतत्वेन वक्ष्यमाणलक्षणो वातभूयिष्ठो वातप्रचुरः । तत्र जातौषधिसखगपुरुषमृगादयो वातप्रधाना भवन्ति । प्रचुरोदकवृक्षो यो निर्वातो दुर्लभातपः सोऽनूप इति । स च कफप्रधानः । तज्जाश्वौषध्यादयः स्निग्धा भवन्ति । साधारणः पुनरुभयलक्षणो मध्यपतितो व्यामिश्ररूपः । स च सममलो वातादिसमदोषः । अत्र दोषा एव मलशब्देनोक्ताः । वक्ष्यति हि । देहस्य मलिनीकरणादाहारमलत्वाच्च मलाः ।

भेषजस्य सम्यग्योगहेतुं कालमाह ।

क्षणादिव्याध्यवस्था च कालो भेषजयोगकृत् ।

कालो द्विविधः क्षणादिलक्षणो व्याध्यवस्थालक्षणश्च भेषजस्यौषधस्य योगं करोति । तदर्थसम्पादनसामर्थ्यं करोतीत्यर्थः । भेषजस्य योगो भेषजयोगः तं करोति । क्षणादिः प्रसिद्धः । आदिग्रहणाल्लवतुटिमुहूर्तयामाहे रात्रपक्षमासर्तव्यनसम्बत्सराणां परिग्रहः । क्षणादिकालस्योदाहरणम् । यथा—“पूर्वाह्ने वसनं देयं मध्याह्ने तु विरेचनम् । मध्याह्ने किञ्चिदाकृते बस्ति दद्याद्विचक्षणः” । व्याध्यवस्था सामानिराममृदुमध्यतीक्ष्णत्वात्तत्तद्योग्यौषधविसृष्टिः । यथा—“लङ्घनं स्वेदनं कालो यवागूस्तिक्तको रसः । मलानां पाचनानि स्युर्यथावस्थं क्रमेण वा । यथा—“ज्वरे पेयाः कषायाश्च सर्पिः क्षीरं विरेचनम् । त्र्यहं वा षडहं युञ्ज्याद्वीक्ष्य दोषबलाबलम्”—यथा । “मृदुज्वरो लघुर्देहश्चलिताश्च मला यदा । अचिरज्वरितस्यापि भेषजं योजयेत्तदा” । अस्यामवस्थायां दत्तमौषधमारोग्याय भवति ।

तच्चौषधं द्विप्रकारमाह—

शोधनं शमनं चेति समासादौषधं द्विधा ॥ २४ ॥



यत्किञ्चिज्जगलौषधं सम्भवति तदनेकप्रकारं सम्भवदपि द्वैरूप्यानतिकमाच्छ्रो-
धनशमनलक्षणात् समासात्संक्षेपतो द्विधेत्युक्तम् । एकं शोधनरूपमपरं शमनरूप-
मिति । शोधनं यत् कुपितान् दोषान् बहिर्निःसार्य रोगोपशमनं करोति । शमनं
यत्स्वस्थानस्थित्वानामेव साम्यहेतुः ।

औषधमुक्तं तस्य विषयमाह—

शरीरजानां दोषाणां क्रमेण परमौषधम् ।

बस्तिर्विरेको वमनं तथा तैलं घृतं मधु ॥ २५ ॥

शरीरजानां वातादीनां क्रमेण यथासंख्येन परिपाख्योद्देशनिर्देशेन परमौषधं
प्रधानौषधं बस्त्रादिवमनान्तं शोधनरूपं तैलादिमध्वन्तं शमनरूपम् । तेन वातस्य
बस्तिर्गुदप्रणिधेयस्नेहकाथादि परमौषधम् । पित्तस्य विरेको मुखपीतं गुदमार्गेणान्तः-
स्थितस्य निःसारणं परमौषधम् । कफस्य वमनं मुखेन पीतं तेनैव दोषस्य निः-
सारणं परमौषधमिति शोधनरूपेण दोषणामौषधम् । तैलादि तु शमनस्वरूपेणौ-
षधम् । तथेति क्रमेणैव । वातस्य तैलं पित्तस्य घृतं कफस्य माक्षिकं परमौषधम् ।
प्रधानमौषधमिति यावत् ।

कायादिदेशमाश्रित्य सर्वत्र सममेव शरीरजातानां दोषाणां क्रमेण परमौषध-
मुक्तम् । अथ मानसयोर्दोषयोः कितत्परमौषधं स्यादिति तदर्थमाह—

धीधैर्यात्मादिविज्ञानं मनोदोषौषधं परम् ।

मनोदोषयो रजस्तमसोः रोगविघ्नकारि धैर्यादिकं परमौषधम् । धीश्च धैर्यं चात्मादि-
विज्ञानं च तत्तथाविधम् । तत्र धीर्बुद्धिर्बाह्याध्यात्मिकानां भावानां हिताहितपरि-
च्छेदविभागकारिणी । धैर्यं धृतिश्चेतसः स्थिरत्वमचापलम् । येन प्रतिषिद्धेषु न
प्रवर्तते हितेषु च न सीदति । आत्मविज्ञानं योगाभ्याससमाधिना परमात्मस्वरूप-
विज्ञानम् । आदिग्रहणाज्ज्ञानविज्ञानस्मृतिदेशकालादीनां परिग्रहः । मनोदोषसमु-
त्थकामादिजरोर्गार्थः परशब्दो विशेषणत्वेन निर्दिष्टः ।

एवं तावदनेन सकलचिकित्सितमुक्तं तच्च पादचतुष्टयमुक्तं कार्यकरं तदर्थमाह ।

भिषग् द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम् ॥ २६ ॥

चिकित्सितस्य निर्दिष्टं प्रत्येकं तच्चतुर्गुणम् ।

चिकित्सितस्य रोगोपशमलक्षणस्य पादचतुष्टयमङ्गचतुष्टयमुक्तं प्रत्येकं तच्चतुर्गु-
णमेवं षोडशगुणं चिकित्सितं भेषजं भिषजो भाषन्ते । भिषग्वैद्यः । तस्य प्राधा-
न्यादग्रे निर्देशः । तथा चागमः—“योक्ता प्रयोक्ता शास्ता च प्रधानो भिषगत्र तु” ।
तथा संग्रहेऽपि—“यद्वैद्ये विगुणे पादा गुणवन्तोऽप्यनर्थकाः । स पादहीनानाप्यार्तान्
गुणवान्यश्च यापयेत् । चिकित्सायास्तमेवातः प्रधानं कारणं विदुः” । द्रव्याण्यौष-
धानि । उपस्थाता परिचारकः । रोगी आतुरः । एतत्पादचतुष्टयं निर्दिष्टमाचार्येण ।

तेषां गुणानाह—

दक्षस्तीर्थात्तशास्त्रार्थो दृष्टकर्मा शुचिर्भिषक् ॥ २७ ॥

दक्षः कर्मणि चतुरः । तीर्थादुपाध्यायाद्विदितागमादात्तो गृहीतः शास्त्रार्थो येन स तीर्थात्तशास्त्रार्थ आगमप्राप्तशास्त्रस्वरूपः । बहुशो दृष्टं कर्म येन चिकित्सा-लक्षणं स दृष्टकर्माऽभ्यस्तकर्मा शतशश्चिकित्सितरोगः । शुचिः कायवाङ्मनोव्या-पारैर्मलीमसैरपरामृष्टोऽलिप्सावानर्थोपजीविकाहेतोर्न करोति परं धर्मोपार्ज-नेनेति शुचिः ।

औषधमपि चतुर्विधम् ।

बहुकल्पं बहुगुणं सम्पन्नं योग्यमौषधम् ।

बहवः कल्पा यस्मिन् भवन्ति स्वरसक्ताथचूर्णाद्यास्तद्बहुकल्पं व्याधीनां निवा-रणक्षमं न तु लवणवदेककल्पम् । तद्धि सुखमुपयुज्यते । नानाशक्तयो हि सत्त्वाः । बहवो गुणा यस्य गुरुमन्दादयस्तद्बहुगुणम् । अथवा यदनेकरोगविनाशनसमर्थम् । सम्पन्नं सम्पत्तियुक्तं न विपन्नं । प्रशस्तभूमिदेशजातम् । तथा च ग्रन्थः—“धन्व-साधारणे देशे समे सन्मृत्तिके शुचौ । श्मशानैचत्यायतनश्चभ्रवल्मीकवर्जित इति । प्रशस्तभूमिदेशजातादिगुणयुक्तम् । अथवा पाकपक्कारादियुक्तम् । योग्यं दातुं यद्यत्रार्हति तच्च योग्यम् । व्याधिदेशकालदोषदूष्यदेहवयोबलादीन् ज्ञात्वा युज्यते दीयत इति तद्योग्यं रोगस्य रोगिणश्च ।

उपस्थातापि चतुर्विधः ।

अनुरक्तः शुचिर्दक्षो बुद्धिमान् परिचारकः ॥ २८ ॥

अनुरक्तो दृढभक्त आतुरस्य । शुचिः कायवाङ्मनोव्यापारैर्दुष्टैरपरामृष्टः । दक्षः सर्ववेद्यासु चतुरः । बुद्धिमान् विशिष्टया बुद्ध्या युक्तः । प्रवीण इति यावत् ।

रोग्यपि चतुर्विधः—

आढ्यो रोगी भिषग्वश्यो ज्ञापकः सत्त्ववानपि ।

आढ्यो धनवान् । भिषग्वश्यो वैद्यायतस्तदुक्तकारी । ज्ञापको निदानादीना-मावेदको वैद्यम् । रोगाहारविहारादीनामन्वयव्यतिरेकं बोधयितुं समर्थः । सत्त्ववान् धैर्ययुतो मोहवर्जितः । धैर्येण प्रायश्चित्तवच्चिकित्सां करोति । अपिः सम्भावनार्थे ।

सुखसाध्यादिकस्य व्याधिचतुष्टयस्य लक्षणमुच्यते—

सर्वौषधक्षमे देहे यूनः पुंसो जितात्मनः ॥ २९ ॥

अर्ममगोऽल्पहेत्वग्रूपरूपोऽनुपद्रवः ।

अतुल्यदूष्यदेशर्तुप्रकृतिः पादसम्पदि ॥ ३० ॥

ग्रहेष्वनुगुणेष्वेकदोषमार्गो नवः सुखः ।

सर्वौषधक्षमे देह उत्पन्नो व्याधिः सुखसाध्यः सुखोपायः । तथा च ग्रन्थः—

“सुखसाध्यः सुखोपायः कालेनाल्पेन साध्यते” । सर्वाण्यौषधानि यः क्षमते सहते

तीक्ष्णमध्यमृदुरूपाणि नानादेशजानि शमनानि तथा शोधनरूपाणि तथा विष-
 चारादीनि । यूनः वयस्थस्य तरुणस्येत्यर्थः । पुंसो न स्त्रियाः । पुंमहणं स्त्री-
 निवृत्त्यर्थम् । यतस्तस्याः सर्वदा भीरुत्वमबुद्धिमत्त्वं चातो यथोक्तानुरूपगुणाभावः ।
 सा तु यस्मात्तीक्ष्णोष्णौषधानि न सहते सौकुमार्यादियोगात् । जितात्मनोऽलोलु-
 पस्य । जित आत्मा येन । विषयाभिलाषं परिहरतः । अमर्मगोऽमर्मस्थः । मर्माणि
 शिरोहृदयवस्तिप्रभृतीनि तेषु गच्छतीति मर्मगः न मर्मगोऽमर्मगो हृत्कण्ठादि-
 पीडाकरणासमर्थः । अलनेहेत्वग्रूपरूप इति । हेतुश्चाग्ररूपं च रूपं च तानि हेत्वग्र-
 रूपरूपाण्यल्पानि हेत्वग्ररूपरूपाणि यस्य स तथाविधः । हेतुर्निदानम् । अग्ररूपं
 पूर्वरूपम् । रूपं लक्षणम् । एतान्यलानि यस्य । अनुपद्रव इति । न विद्यते उप-
 द्रवो यस्योत्पन्नस्य व्याधेरनन्तरं जायते योऽन्यो व्याधिर्न तल्लक्षणभूतोऽप्रधानो न
 यथास्वलक्षणस्तदुपक्रमनिरोधकः स उपद्रवः । तथा चागमः—“व्याधेरुपरि यो
 व्याधिर्भवत्युत्तरकालजः । उपक्रमविधाती च स ह्युपद्रव उच्यते” । अतुल्यदूष्यदेशर्तु-
 प्रकृतिरिति दूष्यश्च देशश्च अतुल्यश्च प्रकृतिश्च ता दूष्यदेशर्तुप्रकृतयः । अतुल्या दूष्यदेशर्तु-
 प्रकृतयो यस्य । अतुल्या न सदृशाः । यथा दूष्ये मेदोमज्जादावनूपदेशे शीतर्तावातुरो वात-
 प्रकृतिस्तस्य कुपितं पित्तं सुखसाध्यमिति । अतुल्यदूष्यो यथा । श्लेष्मणा शीतेन रक्तमुष्णं
 दूषितम् । अतुल्यदेशो व्याधिर्यथा । अनूपदेशे पित्तसंभूतः । अतुल्यर्तुर्यथा । शरदि
 कफोद्भवः । अतुल्यप्रकृतिर्यथा । पित्तप्रकृतेः श्लेष्मोद्भवो व्याधिः । नन्वतुल्यदूष्य-
 देशर्तुप्रकृतित्वादसौ कृच्छ्रसाध्यो यथा वा याप्यो न सुखसाध्योऽनेकसुखोपक्रमसा-
 ध्यत्वात् । यतो दूष्यादीनामतुल्यत्वात्परस्परमन्य एवोपक्रमः । एकसुखोपक्रमः
 सुखसाध्यो व्याधिः । अत एव साध्ययाप्यपरित्याज्या मेहाः श्लेष्मपित्तवातोत्थाः
 समासमक्रियतया महात्ययतयापि चेत्वेवं निर्दिशति । अत्रोच्यते । तथा प्रभाव-
 त्वात्प्रमेहाख्यस्य व्याधेर्यदुत श्लेष्मप्रमेहः समक्रियत्वात्साध्यः । पित्तप्रमेहो विषम-
 क्रियत्वादाप्यः । महात्ययत्वाच्च वातप्रमेहः प्रत्याख्येयः । किंचातुल्यदूष्यदेशर्तुप्रकृ-
 तित्वान्महारम्भो निष्प्रत्यनीको व्याधिर्जायतेऽतोऽसौ न सुखसाध्यः । कुत्रचिद्याधौ
 तुल्यदूष्यादिरपि सुखसाध्यत्वेन ज्यायान् । तथा च ग्रन्थः—“ज्वरे तुल्यर्तुदोषत्वं
 प्रमेहे तुल्यदूष्यता । रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यत्वहेतवः” । पादसम्पदि भिषगा-
 दीनां चतुर्णां पादानां सम्पत्समृद्धिस्तस्यां सत्यामङ्गचतुष्टये परिपूर्णं सति । ग्रहेष्व-
 नुगुणेष्विति । ग्रहाः सूर्यादयस्तेष्वनुगुणेष्वनुकूलराशिस्थितेषु शोभनस्थानगतेषु
 सत्सु । एकदोषमार्ग इति । दोषश्च मार्गश्च दोषमार्गम् । एकं दोषमार्गं यस्य स
 तथोक्तः । दोषो वातादिः । मार्गस्त्रिविधः शाखादिर्वक्ष्यमाणो बह्याभ्यन्तरमध्यभेदेन ।
 तेनैकेन वातादीनामन्यतमेन दोषेण यो जातो न द्वाभ्यां त्रिभिर्वा तथैकेनापि मार्गेण
 बाह्येन मध्येनाभ्यन्तरेण वा जातो नवो न जरठः । अचिरोत्पन्न इत्यर्थः । यस्मा-
 द्वत्सरातीता व्याधयोऽसाध्याः । स तथाविधो व्याधिः सुखेन साध्यते । तथा च

ग्रन्थः—“सुखसाध्यः सुखोपायः कालेनाल्पेन साध्यते” ।

कृच्छ्रसाध्यं व्याधिमाह—

शस्त्रादिसाधनः कृच्छ्रः संकरे च ततो गदः ॥ ३१ ॥

यो गदो रोगः शस्त्रादिसाधनः शस्त्रादिभिः साध्यते स कृच्छ्रसाध्यः कृच्छ्र-
प्रतीकारो महद्भिरुपायैः साध्यते तथा चिरेण । तथा च ग्रन्थः—“कृच्छ्रैरुपायैः
कृच्छ्रस्तु महद्भिश्च चिरेण च” । आदिग्रहणेन चाराभिकर्मविषलेपादयो गृह्यन्ते ।
तथा संकरे च ततः पूर्वोक्तासाध्यलिङ्गात्संकीर्णत्वे सति यो गद उत्पन्नः सोऽपि
कृच्छ्रसाध्यः । चशब्दः समुच्चये । ततस्तस्मादुक्तसाध्यलक्षणाद्यः संकरे द्वित्रिविपर्यये
सति स्थितः । तथा च युवा आतुरः किन्तु न विजितात्मा विजितात्मा वा किन्तु रोगो
मर्मस्थानगः । सर्वौषधक्षमे देहे न जातः किन्तु वृद्धः । कदाचियुवा न सर्वौषध-
क्षमो देहः । एवमनया दिशा सर्वमप्यूह्यम् ।

याप्योऽत उच्यते—

शेषत्वादायुषो याप्यः पथ्याभ्यासाद्विपर्यये ।

बाहुल्येन विपर्यये साध्यलक्षणविपरीतत्वे सत्यायुषो जीवितस्य शेषत्वादक्षीण-
त्वान्मारयितुमसमर्थः पथ्यैराहारविहारैर्याप्यो यापनीयो नासौ प्रत्याख्येयः । एता-
वानेवास्य प्रत्याख्येयाव्याधेर्विशेषो यदायुःशेषत्वं याप्यस्य व्याधेरायुःशेषमात्रं वर्ज-
यित्वा यदन्यत्तत्सर्वं समानं प्रायेणास्य च प्रत्याख्येयस्य व्याधेः । कस्य विपर्यये
सति । प्रकृतत्वात्सुखसाध्यस्य । पथ्यैराहारविहारैरभ्यसनमभ्यासः पुनःपुनः करणं
तस्माद्विताहारविहारसेवनाद्याप्यः । स च चिकित्सायामल्पं सुखं दत्वा पुनः सोऽल्पे-
नैव हेतुना स प्रतायते । तथा च ग्रन्थः—“दत्वाल्पं सुखमल्पेन हेतुना स प्रता-
यते । याति नाशेषतो रोगः कर्मजो नियतायुषः । प्रपतन्निव विष्कम्भैर्धार्यस्तत्रातुरो
हितैः” ।

प्रत्याख्येय उच्यते ।

अनुपक्रम एव स्यात्स्थितोऽत्यन्तविपर्यये ॥ ३२ ॥

अत्रैत्सुक्यमोहारतिकृद्दृष्टरिष्टोऽक्षनाशनः ।

न विद्यत उपक्रमः प्रतीकारो यस्य सोऽनुपक्रमोऽचिकित्स्यः । प्रत्याख्येय इति
यावत् । कोऽसावनुपक्रमो योऽत्यन्तविपर्यये स्थितः योऽर्थाद्याप्यलक्षणादवशिष्टायुः-
शेषरूपादत्यन्तविपर्यये स्थितः सर्वक्रियापथातिक्रान्तो मज्जाशुकादिगम्भीरधातुगतो
मर्मसन्धिसमाश्रितः सोऽनुपक्रम एवाचिकित्स्यः । साधयितुमशक्यत्वात् । तस्यै-
त्सुक्यादिकृदपि । अत्रैत्सुक्यं च मोहश्चरतिश्च ताः करोतीत्यैत्सुक्यमोहारतिकृद् ।
अत्रैत्सुक्यं गर्वादिविषयोत्करणा । मोहो वैचित्र्यं चित्तनाशोऽज्ञानम् । अरतिरसुखं न
कुत्रचिदवस्थितिः स्थानासनादिष्वनिवृत्तिश्चेतसः । एतावतो यः करोति सोऽनुपक्रमः ।
तथा दृष्टिरिष्टोऽक्षनाशनः दृष्टं रिष्टं मरणख्यापकं चिह्नं यस्मिन् स दृष्टरिष्टस्तथाऽ-

क्षनाशन इति । अक्षणाग्निद्रियाण्युच्यन्ते । चक्षुरादीन्यपि नाशयति सोऽक्षनाशन इन्द्रियोपरोधी रोगोऽनुपक्रमो यः शीघ्रमिन्द्रियविघातकृत् । एनं पुरा परीक्ष्य व्याधिचिकित्सामारभेत । अन्यथाऽवरयं स्वार्थादिहानिमवाप्नुयाद्वैद्यः । तथा च ग्रन्थः—“व्याधिं पुरा परीक्ष्यैवमारभेत ततः क्रियाम् । स्वार्थविद्यायशोहानिमन्यथा ध्रुवमाप्नुयात्” ।

साध्यलक्षणयुक्तोऽप्यातुरो नोपक्रमणीय इति दर्शयति ।

त्यजेदार्तं भिषग्भूपैर्द्विष्टं तेषां द्विषं द्विषम् ॥ ३३ ॥

हीनोपकरणं व्यग्रमविधेयं गतायुषम् ।

चण्डं शोकातुरं भीरुं कृतघ्नं वैद्यमानिनम् ॥ ३४ ॥

एवंविधमार्तमातुरमुपक्रम्यमपि त्यजेत्परिहरेत् । भिषग्भूपैर्द्विष्टं भिषग्भिस्तथ भूपै राजभिर्द्विष्टम् । वैद्या राजानश्च यं द्विषन्ति । तथा तेषां द्विषं शत्रुं भिषग्भूयान्यो द्वेष्टि तमपि त्यजेत् । द्विषं शत्रुं चात्मनः । हीनोपकरणमिति । उपकरणविकलं हीनचिकित्साङ्गम् । व्यग्रं कार्यबहुलमन्यकार्यापेक्षिणं कार्यान्तरासक्तचेतसम् । अविधेयं भिषजस्तदाज्ञां यो न करोति तमपि त्यजेत् । गतायुषं परिक्षिणजीवितम् । चण्डं सहसापकारकरणबुद्धिं क्रूरकर्माणम् । शोकातुरं स्त्र्यादिविरहोत्थेन शोकेन शुचार्तम् । भीरुं सभयम् । कृतघ्नं यः कृतोपकारोऽप्यपकारं करोति । वैद्यमानिनं अवैद्योपि यो वैद्यमिवात्मानं मन्यते नैवौषधं करोति मूढस्तमपि त्यजेत् ।

एवं च प्रथमेऽध्याये सकलतन्त्रार्णवस्य तात्पर्यं व्याख्यातमनन्तरं सुखस्मरणार्थमध्यायनामसंग्रह उच्यते ।

तन्त्रस्यास्य परं चातो वक्ष्यतेऽध्यायसंग्रहः ।

तन्व्यन्ते धार्यन्तेऽनेनायुर्वेदार्था इति तन्त्रम् । अध्यायानां संग्रहः संक्षेप एकत्र राशीकरणमतोऽनन्तरं सुखस्मरणाय मया वक्ष्यते ।

आयुष्कामदिनत्वींहारोगानुत्पादनद्रवाः ॥ ३५ ॥

अन्नज्ञानान्नसंरक्षामात्राद्रव्यरसाश्रयाः ।

दोषादिज्ञानतद्भेदतच्चिकित्साद्युपक्रमः ॥ ३६ ॥

शुद्ध्यादिस्नेहनस्वेदरेकास्थापननावनम् ।

धूमगण्डूषदक्सेकतृप्तिनन्त्रकशस्त्रकम् ॥ ३७ ॥

शिराविधिः शल्यविधिः शस्त्रक्षाराग्निकर्मकाः ।

सूत्रस्थानमिमेऽध्यायास्त्रिंशत् शरीरमुच्यते ॥ ३८ ॥

इमे पूर्वोक्तास्त्रिंशदध्यायाः सूत्रस्थानमुक्तम् । आयुष्कामश्च दिनत्वीहे च रोगानुत्पादनं च द्रवरचेति द्वन्द्वः । ईहा चर्या चेष्टेत्येकोऽर्थः । तेन आयुष्कामीयो दिनचर्या ऋतुचर्या रोगानुत्पादनीयो द्रवद्रव्यविज्ञानीयोऽन्नस्वरूपविज्ञानीयोऽन्नसंरक्षा मात्राशितीयो द्रव्यादिविज्ञानीयो रसभेदीयो दोषादिविज्ञानीयो दोषभेदीयो दोषोपक्रमणीयो द्विविधो-

पक्रमणीयः शोधनादिगणसंग्रहः स्नेहविधिः स्वेदविधिर्वमनविरेचनविधिर्वस्तिविधिर्न-
स्यविधिर्धूमविधिर्गण्डूषविधिराश्चोतनाञ्जनविधिस्तर्पणपुटपाकविधिर्धन्यन्त्रविधिः शस्त्र-
विधिः शिरा व्यधविधिः शल्याहरणविधिः शस्त्रकर्मविधिः चारामिकर्मविधिः । सूचना-
त्सूत्रम् सूच्यतेऽनेन सकलस्तन्त्रार्थ इति सूत्रस्थानं सकलस्य तन्त्रस्य शिरःस्थानियम् ।
अधुना शारीरमुच्यते । शारीरं शारीरस्थानमुच्यते । किंस्थानमध्यायसंग्रहः ।

के पुनस्ते—

गर्भाघक्रान्ति तद्व्यापदङ्गमर्मविभागिकम् ।

विकृतिर्दूतजं षष्ठम्

तत्र गर्भाघक्रान्तिशारीरम् । तस्य व्यापत् तस्येति गर्भपरामर्शः । गर्भव्या-
पच्छारीरम् । अङ्गविभागं शारीरम् । मर्मविभागं शारीरम् । विकृतिविज्ञानं शारी-
रम् । दूतविज्ञानीयं शारीरम् । एवमेते षडध्यायाः शारीरस्थानम् ।

निदानमुच्यते—

निदानं सार्वरोगिकम् ॥ ३६ ॥

ज्वरासृक्श्वासयक्ष्मादिमदाद्यर्शोऽतिसारिणाम् ।

मूत्राघातप्रमेहाणां विद्रध्याद्युदरस्य च ॥ ४० ॥

पाण्डुकुष्ठानिलार्तानां वातास्रस्य च षोडश ।

सर्वरोगनिदानम् । ज्वरनिदानम् । रक्तपित्तकासनिदानम् । श्वासहिक्कानिदानम् ।
राजयक्ष्मादिनिदानम् । मदात्ययादिनिदानम् । अर्शोनिदानम् । अतिसारग्रहणीदोष-
निदानम् । मूत्राघातनिदानम् । प्रमेहनिदानम् । विद्रधिवृद्धिगुल्मनिदानम् । उदर-
निदानम् । पाण्डुशोफविसर्पनिदानम् । कुष्ठश्चित्रकृमिनिदानम् । वातव्याधिनिदानम् ।
वातशोणितनिदानम् । इत्येवं षोडशाध्याया निदानस्थानम् ।

चिकित्सितमुच्यते—

चिकित्सितं ज्वरे रक्ते कासे श्वासे च यक्ष्मणि ॥ ४१ ॥

वमौ मदात्ययेऽर्शःसु विशि द्वौ द्वौ च मूत्रिते ।

विद्रधौ गुल्मजठरपाण्डुशोफविसर्पिषु ॥ ४२ ॥

कुष्ठश्चित्रानिलव्याधिवातास्रेषु चिकित्सितम् ।

द्वाविंशतिरिमेऽध्यायाः कल्पसिद्धिरतः परम् ॥ ४३ ॥

चिकित्सितस्थानं द्वाविंशतिरध्यायाः । ज्वरचिकित्सितम् । रक्तपित्तचिकित्सि-
तम् । कासचिकित्सितम् । श्वासहिक्काचिकित्सितम् । राजयक्ष्मचिकित्सितम् । छर्दि-
हृद्रोगतृष्णाचिकित्सितम् । मदात्ययचिकित्सितम् । अर्शश्चिकित्सितम् । अतिसार-
चिकित्सितम् । ग्रहणीचिकित्सितम् । मूत्राघातचिकित्सितम् । प्रमेहचिकित्सितम् ।
विद्रधिवृद्धिचिकित्सितम् । गुल्मचिकित्सितम् । उदरचिकित्सितम् । पाण्डुरोग-
चिकित्सितम् । श्वयथुचिकित्सितम् । विसर्पचिकित्सितम् । कुष्ठचिकित्सितम् ।

श्चित्रकृमिचित्सितम् । वातव्याधिचिकित्सितम् । वातशोणितचिकित्सितम् । इमे
द्वाविंशतिरध्यायाश्चिकित्सितस्थानम् । अत ऊर्ध्वं कल्पस्थानम् ।

कल्पो वमेर्विरेकस्य तत्सिद्धिर्वस्तिकल्पना ।

सिद्धिर्वस्त्यापदां षष्ठो द्रव्यकल्पोऽत उत्तरम् ॥ ४४ ॥

अत्र कल्पे वमनकल्पः विरेचनकल्पः । वमनविरेचनव्यापत्सिद्धिः । वस्ति-
कल्पः । वस्तिव्यापत्सिद्धिः । षष्ठो भेषजकल्पः इत्येवं षडध्यायाः कल्पसिद्धिस्थानम् ।

अत उत्तरं अतोऽस्मात्कल्पसिद्धिस्थानादूर्ध्वमुत्तरतन्त्रम् ।

बालोपचारे तद्याधौ तदग्रहे द्वौ च भूतगौ ।

उन्मादेऽथ स्मृतिभ्रंशे द्वौ द्वौ वर्त्मसु सन्धिषु ॥ ४५ ॥

दृक्कमोलिङ्गनाशेषु त्रयो द्वौ द्वौ च सर्वगौ ।

कर्णनासामुखशिरोव्रणे भग्ने भगन्दरे ॥ ४६ ॥

ग्रन्थ्यादौ क्षुद्ररोगेषु गुह्यरोगे पृथग्द्वयम् ।

विषे भुजङ्गे कीटेषु मूषकेषु रसायने ॥ ४७ ॥

चत्वारिंशोऽनपत्यानामध्यायो बीजपोषणः ।

बालोपचरणीयः । बालामयप्रतिषेधः । बालग्रहप्रतिषेधः । भूतविज्ञानीयः ।

भूतप्रतिषेधः । उन्मादप्रतिषेधः । अपस्मारप्रतिषेधः । वर्त्मरोगविज्ञानीयः । वर्त्म-

रोगप्रतिषेधः । सन्धिसितासितरोगविज्ञानीयः । सन्धिसितासितप्रतिषेधः । दृष्टि-

रोगविज्ञानीयः । तिमिरप्रतिषेधः । लिङ्गनाशप्रतिषेधः । सर्वाक्षिरोगविज्ञानीयः ।

सर्वाक्षिरोगप्रतिषेधः । कर्णरोगविज्ञानीयः । कर्णरोगप्रतिषेधः । नासारोगवि० ।

नासारोगप्र० । मुखरोगवि० । मुखरोगप्र० । शिरोरोगविज्ञा० । शिरोरोगप्र० ।

व्रणविज्ञानीयप्रति० । सद्योव्रणप्रति० । भङ्गप्रति० । भगन्दरप्रति० । ग्रन्थ्यर्बुदक्षी-

पदादिवि० । ग्रन्थ्यर्बुदादिप्रति० । क्षुद्ररोगवि० । क्षुद्ररोगप्र० । गुह्यरोगवि० ।

गुह्यरोगप्रति० । विषप्रति० । सर्पविषप्र० । कीटलूतादिविषप्र० । मूषिकालकवि-

षप्र० । रसायनाध्यायः । वार्जाकरणाध्यायः । इति । एवमेते चत्वारिंशदध्याया

उत्तरतन्त्रम् । तदिति बालस्य परामर्शः । द्वौद्वाविति । वर्त्मनि द्वौ सन्धौ द्वौ यथा-

संख्येन त्रय इति । दृक्कमोलिङ्गनाशेषु प्रत्येकमेकैकः । ग्रन्थ्यादिक्षुद्ररोगगुह्यरोगेषु

पृथग्द्वयं प्रत्येकं द्वौ द्वौ । अनपत्यानामप्रजानां पुंसां चत्वारिंशोऽध्यायो बीजपोषणः

शुक्लवृद्धिहेतुरिति ।

इत्यध्यायशतं विंशं षड्भिः स्थानैरुदीरितम् ॥ ४८ ॥

इत्येवमनेन प्रकारेण सविंशमध्याशतं षड्भिः स्थानैः सूत्रशारीरनिदानचिकि-
त्साकल्पसिद्ध्युत्तरतन्त्रैरुदीरितमिति भवेत् ।

इति श्रीसृष्ट्यङ्कदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टाङ्गहृदयटीकायां सर्वाङ्ग-
मुन्दराख्यायां सूत्रस्थाने आयुष्कामीशोऽध्यायः प्रथमः ॥ १ ॥

❀ द्वितीयोऽध्यायः ।

अथातो दिनचर्याध्यायं व्याख्यास्यामः ।

अथेति सर्वेष्वध्यायेषु मङ्गलार्थः । माङ्गलिको ह्याचार्यः प्रत्यध्यायारम्भे मङ्गलार्थमथशब्दं प्रयुङ्क्ते । दिने दिने चर्या दिनचर्या । दिनस्य वा चर्या दिनचर्या । चरणं चर्या । उभयलोकहितमाहारचेष्टितं प्रतिदिने यत्कर्तव्यं तमध्यायं व्याख्यास्यामः । प्रस्तुतादायुष्कामीयादध्यायादनन्तरं कोऽस्य सम्बन्धः ? उच्यते । यस्मादायुष्कामेण पुरुषेण यत्प्रधानमायुष्यं तदासेव्यं प्रथमतस्तदन्वयानि यान्यायुष्याणि । अतःप्रथमं तावदाचारप्रधानेन भवितव्यम् । यत आचारादायुर्लभ्यत इत्याचार्याः । यद्यप्यत्र रात्रिचर्याऽपि विहिता तथाऽपि प्राधान्याद्दिनचर्याऽस्मिन्नध्याये निर्दिष्टा । अतो दिनचर्याध्यायोऽयमुच्यते ।

। अस्मिन्स्तन्त्रे आयुःपालनं प्रकृतम् । तद्विधिवम् । स्वस्थवृत्तमातुरवृत्तं च । तत्र मङ्गल्यत्वात् स्वल्पवक्त्रव्यत्वादातुरोपयोगित्वाच्च स्वस्थवृत्तमेवादावुच्यते ।

ब्राह्मे मूर्हूर्त उत्तिष्ठेत्स्वस्थो रक्षार्थमायुषः ।

रात्रेश्चतुर्दशो मुहूर्तो ब्राह्मो मुहूर्तो विषुवति समरात्रिन्दिनेकाले द्विघटिकालक्षणः । मुहूर्तस्य चेह द्विघटिकोपलक्षणार्थत्वात्सर्वस्मिन् काले रात्रेश्चतुर्घटिकालक्षणे समुत्थानं कार्यमिति स्थितम् । स्वस्थो नीरोगः कल्पः स आयुषो यथोपचरितस्य जीवितस्य रक्षार्थं ब्राह्मे मुहूर्त उत्तिष्ठेदभ्युत्थानं कुर्यात् । मुहूर्तो नाडिकाद्वयम् । ब्रह्म ज्ञानं तदर्थमध्ययनाद्यपि ब्रह्म तस्य योग्यो मुहूर्तो ब्राह्मः पश्चिमयामस्य नाडिकाद्वयं तस्मिन् ब्राह्मे मुहूर्त उत्तिष्ठेत् । किम्भूतः । स्वस्थोऽनातुरः । “समदोषः समान्निश्च समधातुमलक्रियः । प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते” इति स्वस्थलक्षणम् । किमर्थमुत्तिष्ठेत् । रक्षार्थमायुषो जीवितस्य । तदा ह्युत्तिष्ठतो व्याध्यलक्ष्म्याद्यभाव एवायुषो रक्षा भवति । आतुरेण धातुसाम्यार्थं स्वप्नव्यमेव ।

* संचिप्ता मौद्रल्य टिप्पणी ।

यदभावाद् भवं शून्यं निखिलं मन्यते जगत् ।

स्वास्थ्यरूपं वरं तस्मै कस्मैचिन्महसे नमः ॥ १ ॥

अष्टाङ्गहृदये हृदयं वाग्भटस्य महात्मनः ।

टिप्पणी व्याजयोगेन कचिद् व्यक्तं मिलिष्यति ॥ २ ॥

निगमागमपारीणश्चिकित्साधुरीणश्च श्रीमानग्रजन्मा वाग्भटाचार्यः प्रथमाध्याये प्रायः समस्तमपि चिकित्सासंहितासंज्ञिविष्टं पदार्थजातं हृद्यैः परं स्त्रलैरेव पदैस्तद्व्याजहार । इदानीं पुनरात्महृदयेश्वरान् आत्रेयाग्निवेशचरकमुनीनासौ स्मृत्वापि तन्निर्दिष्टस्य जिस्कन्धाद्युर्वेदस्य स्वस्थानुरपरायणतां स्मरन्, गौरवात् स्वास्थ्यस्य महामूलभूतं दिनचर्यादिकममुपक्रमत इति ॥

४

IGNCA RAR

ACC No. २-२५३

शरीरचिन्तां निर्वर्त्य कृतशौचविधिस्ततः ॥ १ ॥

अर्कन्यग्रोधखदिरकरञ्जककुभादिकम् ।

प्रातर्भुक्त्वा च मृद्वग्रं कषायकटुतिक्तम् ॥ २ ॥

भक्षयेदन्तधवनं दन्तमांसान्यबाधयन् ।

शरीरस्थचिन्ता शरीरचिन्ता जीर्णाजीर्णनिरूपणादिका तां निर्वर्त्य ततो मूत्र-
पुरीषादेः कृतशौचविधानस्ततोऽनन्तरं दन्तधावनमर्कादिकं भक्षयेत् । संग्रहेऽप्युक्तम् ।
“ब्राह्मे मुहूर्त उत्तिष्ठेजीर्णाजीर्णं निरूपयन्” इत्यादि । अर्कः सूर्याह्नः । न्यग्रोधो यक्षा-
वासः । खदिरो गायत्री । करञ्जाश्चरिबिल्वः । ककुभोऽर्जुनः । आदिग्रहणेन
मालतीकरवीरादिग्रहः । कथं भक्षयेत् । दन्तानां मांसान्यबाधयन्नपीडयन् । प्रातः
प्रत्युषसि भुक्त्वा दन्तधावनकाष्ठरसं भक्षयित्वा । मृद्वग्रं कूर्चिताग्रम् । तथा कषाय-
कटुतिक्तम् । रसत्रयेण ह्यनेन मुखवैशद्यारोचकश्लेष्मापनयाः सम्यक् सम्पद्यन्ते ।
अर्काद्युपादानादेव कषायादित्वे लब्धे कषायादिग्रहणं संग्रहादिगृहीतस्य संग्रहार्थं
स्पष्टार्थं च । अर्कादिग्रहणमुदाहरणार्थं ज्ञेयम् । संक्षेपविवक्षया न दन्तधावनस्य
गणसंग्रहः । द्वादशाद्यङ्गलप्रमाणत्वं श्लेष्मातकाद्यनिष्टदन्तधावननिषेधश्च तन्त्रान्तरो-
क्तमपि नेहोक्तम् । सुश्रुतेनोक्तम्—“अजग्धमनुपक्लिष्टं षडष्टद्वादशाङ्गुलम् । प्रदेशि-
नीमुखसमं मृदु स्यादन्तधावनम्” ।

नाद्यादजीर्णवमथुश्वासकासज्वरार्दिती ॥ ३ ॥

तृष्णास्यपाकहृन्नेत्रशिरःकर्णामयी च तत् ।

अजीर्णादीनां द्वन्द्वः । एतानि विद्यन्ते यस्येत्यत इनिठनाविति इनिः । एवं
तृष्णास्येत्यादौ द्वन्द्वादिनिश्च । तदन्तधावनमजीर्णां न भक्षयेत् । एवं वमश्वादीनां
मत्वर्थीयान्तानां सम्बन्धो योज्यः ।

सौवीरमञ्जनं नित्यं हितमक्ष्णोस्ततो भजेत् ॥ ४ ॥

ततो दन्तधावनभक्षणानन्तरं सौवीराख्यमञ्जनं भजेत् । कस्माद् यतो हितमक्ष्णोः ।

चक्षुस्तेजोमयं तस्य विशेषात् श्लेष्मणो भयम् ।

योजयेत्सप्तरात्रेऽस्मात्स्रावणार्थं रसाञ्जनम् ॥ ५ ॥

अस्मात्कारणात्स्रावणार्थं सप्तरात्रे सति रसाञ्जनं दावींकाथसमुद्रवाख्यं योज-
येत् । यस्माच्चक्षुस्तेजोमयमाग्नेयम् । यद्यपि पञ्चमहाभूतात्मकं सर्वमपि तथापि बाहुल्येन

मौ० टि०—(१) शरीरचिन्तां = स्वस्थशरीरविचारम् । निर्वर्त्य—निष्पाद्य ।

(२) प्रातः सूर्योदयकाले, तदानीं कफोद्रेकारम्भे कटुकादिरसविशिष्टस्य दन्तधावनस्य
चर्वणघर्षणादि सुखावहं स्यादेव । (३) भुक्त्वेति दन्तधावनस्य मृद्वग्रं = कोमल-
पुरोभागं, भुक्त्वा = पूर्वं सम्यक्त्वव्ययित्वा । ततो भक्षयेद् दन्तघर्षणमार्जनादि-
क्रियां सम्पादयेदित्यर्थः । अत्र भुक्त्वेति पदस्य विद्वदरुणकृतोऽर्थस्तु पुनः परि-
वर्तितोऽपि सर्वथाऽसमञ्जसत्वाद् हेय एव ।

व्यपदेशात्तेजोमयमुच्यते । अत एव तद्रपाग्यालोचयति । तथाच लोके कश्चिदाह नरप-
तिरेतीति । न चासौ नराणामेवंपतिः किंतिर्हि नारीणामपीति । तस्य चक्षुषो वात-
पित्ताभ्यामपि भयमस्ति विशेषेण तु कफाद्भयं ततो रसाञ्जनं योजयेत् ।

ततो नावनगरद्वषधूमताम्बूलभागभवेत् ।

नावनादीनां नस्यादिविधिषु गुणा वक्ष्यमाणा विधानं च । ताम्बूलस्य तु
वैशद्यारुचिहरत्वसौगन्ध्यादिगुणाः प्रसिद्धा एव । नावनादीनां ताम्बूलान्तानां द्वन्द्वः ।
ततोऽञ्जनादन्तरं नावनगरद्वषधूमताम्बूलानि भजते यः स एवंविधो भवेत् । भजो
शिवरिति शिवः ।

येषां तु ताम्बूलमपथ्यं तानाह ।

ताम्बूलं क्षतपित्तासूरुक्षोत्कुपितचक्षुषाम् ॥ ६ ॥

विषमूर्च्छामदार्त्तानामपथ्यं शोषिणामपि ।

क्षतं विद्यते येषां ते क्षताः । अर्शआदित्वादच् । एवं पित्तास्त्राः । उत्कुपित-
मग्निष्यन्नं चक्षुरेकं द्वे वा येषां ते । ये च क्षताश्च पित्तास्त्राश्च रुक्षाश्चोत्कुपितचक्षुषश्च
तेषामपथ्यमहितम् । तथा विषार्त्तानां मूर्च्छार्त्तानां मदार्त्तानां शोषिणां चेत्यपिशब्द-
स्यार्थः । शोषिणो राजयक्ष्मिणः ।

तदेतत्सर्वं विधाय भोजनासजे कालेऽभ्यङ्ग आचरणीय इत्याह ।

अभ्यङ्गमाचरेन्नित्यं स जराश्रमवातहा ॥ ७ ॥

दृष्टिप्रसादपुष्ट्यायुःस्वप्नसुत्वक्त्वदार्ढ्यकृत् ।

अभ्यङ्गं नित्यं सततमाचरेत् । नित्यग्रहणं चोपलक्षणार्थम् । एकद्वित्रिदि-
नान्तरमपि यथोचितमाचरेतोऽपि न दोषः । सोऽभ्यङ्ग आचर्यमाणो जरा च
श्रमश्च वातश्च तान् हन्तीति किप् । तथा दृष्टीत्यादि । दृष्टेः प्रसादो वैमल्यं दृष्टि-
प्रसादः । शोभना चासौ त्वक् तस्या भावः सुत्वक्त्वम् । दृढस्य भावो दार्ढ्यम् ।
दृढादिभ्यः ष्यञ् । दृष्टिप्रसादादीनां द्वन्द्वः । तानि करोति योऽभ्यङ्गः स एवम् ।

शिरःश्रवणपादेषु तं विशेषेण शीलयेत् ॥ ८ ॥

तमभ्यङ्गं शिरःश्रवणपादेषु विशेषेणातिशयेन शीलयेदभ्यसेदिति वचनाच्चा-
वश्यं न तथा सर्वशरीरेऽभ्यङ्गः कार्यो यथैतेषु शिरःश्रवणपादेषु । अत्र च पूर्व-
वदेकत्वाभावः ।

अथैतदपवादमाह—

वर्ज्योऽभ्यङ्गः कफग्रस्तकृतसंशुद्धयजीर्णिभिः ।

अभ्यङ्गो वर्ज्यो वर्जनीयः कफग्रस्तेन कृतसंशुद्धिनाऽजीर्णिना च ।

लाघवं कर्मसामर्थ्यं दीप्तोऽग्निर्मेदसः क्षयः ॥ ९ ॥

विभक्तघनगात्रत्वं व्यायामादुपजायते ।

शरीरायासजननं कर्म व्यायामः । तस्मात्पञ्च गुणा लाघवादयो निष्पद्यन्ते ।

विभक्तानि विभागेन स्थितानि घनानि गात्राणि यस्य सु विभक्तघनगात्रस्तस्य भावस्तत्त्वमिति ।

इदानीं येनासौ न कार्यस्तं दर्शयति ।

वातपित्तामयी बालो वृद्धोऽजीर्णी च तं त्यजेत् ॥ १० ॥

वातपित्तामयी बाल आषोडशाद्वर्षाद् वृद्धः सप्ततेरूर्ध्वमजीर्णी च तं जह्यात् ।

अर्द्धशक्त्या निषेव्यस्तु बलिभिः स्निग्धभोजिभिः ।

तुरवधारणे । बलवद्भिः पुरुषैः स्निग्धभोजिभिरर्द्धशक्त्यैव निषेव्यो व्यायामः ।

प्राक् श्रमाध्यायामवर्जनं कार्यमित्यर्थः ।

कदासौ विधातव्य इत्याह—

शीतकाले वसन्ते च मन्दमेव ततोऽन्यदा ॥ ११ ॥

हेमन्ते शिशिरे वसन्ते च सेव्यः । शीतवसन्ताभ्यामन्यदा मन्दमेव सेव्यः ।

मन्दमिति क्रियाविशेषणम् । क्रियाविशेषणानां कर्मत्वं नपुंसकलिङ्गता च वक्तव्येति ।

तं कृत्वाऽनुसुखं देहं मर्दयेच्च समन्ततः ।

तं व्यायामं कृत्वा अनुसुखं यथा शरीरे बाधा न स्यात्तथा देहं मर्दयेत् ।

समन्ततः परितः ।

तृष्णा क्षयः प्रतमको रक्तपित्तं श्रमः क्लमः ॥ १२ ॥

अतिव्यायामतः कासो ज्वरश्छर्दिश्च जायते ।

अतिव्यायामतस्तृष्णादयो भवन्ति । तृष्णेति पृथक् पदम् । तेन तृष्णादीनां पदानामकृतसमासानां निर्देशो दोषदेशाद्यनुरोधेनैकस्य द्वयोस्त्रिचतुराणां बहुतराणां सर्वेषां चातिव्यायामव्यापत्त्वद्योतनार्थः ।

अतिव्यायामप्रसङ्गेनातिजागरादीनामपि व्यापदो दर्शयति—

व्यायामजागराध्वस्त्रीहास्यभाष्यादिसाहसम् ॥ १३ ॥

गजं सिंह इवाकर्षन् भजन्नतिविनश्यति ।

व्यायामादीनां भाष्यान्तानां द्वन्द्वः । तान्यादिर्यस्य साहसस्य धनुराकर्षणा-
देस्तदेवम् । अथवाबलमारम्भः साहसं तद्भजन्सेवमानो विनश्यति । क इव । सिंह
इव गजमतिमहावर्माणमाकर्षन्नाक्रामन्यथा विनश्यति तथाऽयथाबलमारम्भेण
व्यायामादिना नरो मार्यत इति ।

उद्वर्तनं कफहरं मेदसः प्रविलापनम् ॥ १४ ॥

स्थिरीकरणमङ्गानां त्वक्प्रसादकरं परम् ।

उद्वर्तनस्य कफहरादयश्चत्वारो गुणाः ।

दीपनं वृष्यमायुष्यं स्नानमूर्जाबलप्रदम् ॥ १५ ॥

मौ० टि० (१) अर्द्धशक्त्या बलाद्धेन । बलाद्धलक्षणन्तु—“हृदयस्थो यदा
वायुर्वक्त्रं शीघ्रं प्रपद्यते । मुखं च लभते शोषं तद्वलाद्धस्य लक्षणम्” इति ।

करण्डमलश्रमस्वेदतन्द्रातृड्दाहपाप्मजित् ।

ज्ञानं दीपनं वृष्यमौषुध्यं च भवति । ऊर्जा उत्साहः । बलं प्राणनम् । एते प्रददाति करोति यत्तदेवम् । करिड्वत्यादि । करण्डवादीनां द्वन्द्वः । एतान् जयति । ज्ञानस्य प्रभावादायुष्यत्ववृष्यत्वदीपनत्वानि बोद्धव्यानि । अथवा ज्ञानेन प्रहर्षो भवति । हर्षणत्वाच्च वृष्यत्वम् । तथा च वक्ष्यति । “यकिंचिन्मधुरं क्षिग्धं वृंहणं बलवर्धनम् । मनसो हर्षणं यच्च तत्सर्वं वृष्यमुच्यते” इति । यथा ज्ञानं जाठराग्नेर्वह्निर्निर्गतानि रोमकूपाश्रितान्यर्चीषि रुद्ध्वान्तर्नयति ततश्चाग्नेः प्रबलत्वं कुर्वद् दीपनं सम्पद्यते । यथा शीतकाले शीतानिलस्पर्शसंरुद्धस्य जाठराग्नेः प्रबलत्वम् । बालादित्यस्तु व्याचक्षिष्ट । स्नानेन भ्राजकारुण्यं त्वगाश्रितं पित्तमन्तः प्रविशद्भूषाणं संवर्धयति तेन तद्दीपनम् । अत एव परिषेके जलमुष्णमिध्यते । यस्माच्छीतं निर्वापयति तेजो न देहस्यान्तः प्रवेशयति । शीतकाले यच्छीतानिलस्पर्शसंरुद्धस्याग्नेः प्रबलत्वं तत्काल एव तस्मिन् कालस्वाभाव्यादिति बोद्धव्यम् । तथा चान्यतौ शीते सति मन्दाग्नित्वमेव दृश्यते । यथा वर्षास्वप्निमान्द्यादेवान्तर्बहिर्वह्निसन्धुक्षणं भोजनं समुपदिष्टम् । तथा च मुनिः । “व्यक्तमल्लवणक्षेहं वातवर्षाकुलेऽहनि । विशेषशीतं” इत्यादि ।

उष्णाम्बुनाऽधःकायस्य परिषेको बलावहः ॥ १६ ॥

तेनैव चोत्तमाङ्गस्य बलहृत्केशचक्षुषाम् ।

उष्णाम्बुनाऽधःकायस्य परिषेको बलावहः प्राणकृत् । तेनैवोष्णोदकेनैवोत्तमाङ्गस्य शिरसः परिषेको विधीयमानः केशचक्षुषां बलहृत् । प्राणयज्ञानां समाहार एव द्वन्द्व इत्यस्य प्रायिकत्वात्केशचक्षुषामित्युपपन्नमेव ।

ज्ञानं येषामपथ्यं तान् दर्शयितुमाह—

ज्ञानमर्दितनेत्रास्यकर्णरोगातिसारिषु ॥ १७ ॥

आध्मानपीनसाजीर्णभुक्तवत्सु च गर्हितम् ।

नेत्रे चास्यं च कर्णौ च तत्र रोगाः । अर्दितं च नेत्रास्यकर्णरोगारवातिसारश्च ते विद्यन्ते येषां त एवम् । तेषु गर्हितमर्हितम् । एवं शेषेषु योज्यम् । अर्दितादीनां द्वन्द्वस्ततो मतुप् । तेनार्दितादिमत्सु गर्हितमिति योज्यम् । एवं शेषेष्वपि ।

जीर्णे हितं मितं चाद्यान्न वेगानीरयेद्वलात् ॥ १८ ॥

न वेगितोऽन्यकार्यः स्यान्नाजित्वा साध्यमामयम् ।

जीर्णे सम्यक्परिणते पूर्वं आहार अद्याद्भुज्जीत । किमद्यात् ? हितं पथ्यम् । मितं मात्रया युक्तम् । पथ्यमपि ह्यतिमात्रं वा भुक्तं दोषाय स्यादतो मितम् । न वेगादित्यादि । वातविरमूत्रादीनां सम्बन्धिनो वेगानुन्मुखीभूतानपि बलाञ्जरेयञ्च प्रवर्तयेत् । न वेगित इत्यादि । सज्जातवातविरमूत्रवेगस्तमकृत्वा नान्यकार्यः स्यात् । नान्यत्कार्यं कुर्यादित्यर्थः । नाजित्वेत्यादि । साधयितुं शक्यः साध्यस्तं रोगमजित्वा

नान्यकार्यः स्यादिति योज्यम् । स ह्युपेक्षितो दुःसाध्योऽसाध्यो वा स्यात् । साध्य-
शब्दोपादानादसाध्यामयप्रतिपन्नो न नान्यकार्यश्चिकित्सानैष्कल्यादिति द्योतयति ।

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥ १६ ॥

सुखं च न विना धर्मात्तस्माद्धर्मपरो भवेत् ।

सर्वभूतानामशेषप्राणिनां यस्मात्सुखार्थाः प्रवृत्तयः कर्माणि । मता अभि-
प्रेताः सुखं च शर्माख्यं धर्माद्विना न भवति तस्मात्कारणाद्धर्मपरो धर्मप्रधानः स्यात् ।
धर्मादिति 'पृथग्विनेति' पंचमी ।

भक्त्या कल्याणमित्राणि सेवेतेतरदूरगः ॥ २० ॥

कल्याणे शुभकर्मणि मित्राणि सहाया उपदेशादिना कल्याणमित्राणि तानि
भक्त्या अदम्भमतिः सन् भजेत् । इतराणि कल्याणमित्रापेक्ष्येतराणि पाप-
मित्राणि तेभ्यो दूरगस्तद्वर्जनपरः । तत्सङ्गो हि दृष्टादृष्टानर्थकरः । दूरग इत्यस्मा-
द्दूरे स्थितः ।

हिंसा स्तेयान्यथाकामं पैशुन्यं परुषानृते ।

सम्भिन्नालापव्यापादमभिध्याद्विपर्ययम् ॥ २१ ॥

पापं कर्मेति दशधा कायवाङ्मानसैस्त्यजेत् ।

हिंसा प्राण्युपघातः । स्तेयं चौर्यम् । अन्यथाकामो निषिद्धकामसेवा पशुस्त्री-
गमनादि । एतत्त्रिविधं कायिकं पापं कर्म । पैशुन्यं परेषां भेदकृद्वचनम् । परुष-
ममृदुवचनम् । अनृतमसत्यवचनम् । सम्भिन्नालापोऽसम्बद्धप्रलपनम् । चतुर्विध-
मेतद्वाचिकम् । व्यापादः प्राण्युपघातचिन्ता । अभिध्या परगुणायसहिष्णुता ।
द्विपर्ययं शास्त्रदृष्टिवैपरीत्यं नास्तिकत्वादि त्रिविधमेतन्मानसम् । तदेतद्विसादि
दशधा पापं कर्म कायवाङ्मानसैस्त्यजेन्न कुर्यादित्यर्थः ।

अवृत्तिव्याधिशोकाताननुवर्तेत शक्तिः ॥ २२ ॥

न विद्यते वृत्तिर्येषां तानवृत्तीन् । शक्त्या यथासामर्थ्यमनुकूलं गच्छेत् । तथा
व्याधिना शोकेन चार्ताश्च ।

आत्मवत्सततं पश्येदपि कीटपिपीलिकम् ।

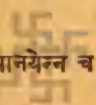
कीटान् पिपीलिकांश्चात्मवत्पश्येत् । स्वशरीरतुल्यानित्यर्थः । किमु सतोऽ-
साधून्वा । कीटपिपीलिकमप्यात्मवत्पश्येदित्यपिशब्दस्यार्थः । कीटपिपीलिकमिति
क्षुद्रजन्तव इत्येकत्वम् ।

अर्चयेद्देवगोविप्रवृद्धवैद्यनृपातिथीन् ॥ २३ ॥

देवादीनां द्वन्द्वः । देवादीनर्चयेत् । वृद्धा ज्ञानवृद्धाः शीलतपोवृद्धाश्च । नृपो
राजा । अतिथिरसमानग्रामी वैश्वदेवान्ते समुपस्थितः ।

विमुखान्नार्थिनः कुर्यान्नावमन्येत नाक्षिपेत् ।

अर्थिनो याचकान्प्रत्याख्यानेन विमुखाञ्च कुर्यात् । नावमन्येत नावमानयेन्न च



परुषवचनादिना क्षिपेत् परिभवेत् ।

उपकारप्रधानः स्यादपकारपरेऽप्यरौ ॥ २४ ॥

अरौ शत्रावपकारपरेऽपि सत्युपकारप्रधानः स्यात् । ननु रिपुरपकारक एव तत्किमपकारपर इति विशेषणेन । तथा च माघः—“उपकर्त्रारिणा संधिर्न मित्रेणापकारिणा । उपकारापकारौ हि लक्ष्यं लक्षणमेतयोः” । नहि सर्वदैवारिरपकारं कर्तुं शक्यः स्यात् किंतिहि कदाचिदेव । हेत्वर्धनत्वादपकारकारित्वस्य । वातादिदोषवत् । यथा वातादयो दोषा दूषणस्वभावा अपि सन्तः कदाचिद्विकारकत्वे समर्था भवन्ति कदाचिन्नैव । दोषत्वं सर्वदैव तेषाम् । तस्मादपकारपर इति युक्तं विशेषणम् । अपकारिण्युपकारकृत्यात् किं पुनरुपकारक इत्यपिशब्दार्थः ।

सम्पद्विपत्स्वेकमना हेतावीर्ष्येत्फले न तु ।

सम्पत्सु विपत्सु चैकमनाः समचित्तः । सम्पत्सु विपत्केन विपत्सु विषादादिना न भाव्यमित्यर्थः । हेतावित्यादि । हेतौ कारणे ईर्ष्येत् । यथा । अयमेवं श्रुतत्यागादिगुणवान् कस्मादहमप्येवं न भवेयम् । फले नतु परकीये शोभने फले वज्रालङ्कारादिके नेर्ष्येत् ।

काले हितं मितं ब्रूयादविसंवादि पेशलम् ॥ २५ ॥

काले प्रस्तावे । हितं पथ्यम् । मितं न बहु । अविसंवादि सत्यम् । पेशलं मनोज्ञं ब्रूयात् ।

पूर्वाभिभाषी सुमुखः सुशीलः करुणामृदुः ।

नैकः सुखी न सर्वत्र विथ्रब्धो न च शङ्कितः ॥ २६ ॥

पूर्वाभिभाषी पूर्वालापी स्यात् । सुमुखो गतभ्रुकुटिः । सुशीलः शोभनस्वभावः । तथा करुणया मृदुरार्द्रसन्तानो मातेव पुत्रे । एकोऽद्वितीयः सन्सुखी न स्यात् । तथा च भगवान् व्यासः—“मायाचारे मायया वर्तितव्य” मिति । तथा सर्वत्र मित्रस्वजनादिष्वपि शङ्कितोऽविश्वस्तो न स्यात्तेषां वैमुख्यदोषप्रसङ्गमयात् ।

न कञ्चिदत्मनः शत्रुं नात्मानं कस्यचिद्रिपुम् ।

प्रकाशयेन्नापमानं न च निःस्नेहतां प्रभोः ॥ २७ ॥

आत्मनः शत्रुं कञ्चिदपि न प्रकाशयेत् । तत्प्रकाशनाद्धि भेदः स्यात् । नात्मानं कस्यचिद्रिपुं प्रकाशयेत् । पूर्वोक्तादेव हेतोः । अपमानमसत्कारं कस्यचिन्न प्रकाशयेत् । प्रभोः स्वामिनः सम्बन्धिनीं निःस्नेहतां न प्रकाशयेत् । तत्प्रकाशनादसौ प्रभुर्जातावसरैर्भेदकैः सुतरां निःस्नेहीक्रियते ।

जनस्याशयमालक्ष्य यो यथा परितुष्यति ।

तं तथैवानुवर्तेत पराराधनपरिडतः ॥ २८ ॥

जनस्याशयमालक्ष्य लोकस्य अभिप्रायं बुद्ध्वा परिच्छिद्य यो जनो यथा परितुष्यति तथा तेनैव प्रकारेण दानप्रियवचनादिना तमनुवर्तेताराधयेत् । कीदृशो

भूत्वा । पराराधने परिडतस्तज्ज्ञः ।

न पीडयेदिन्द्रियाणि न चैतान्यतिलालयेत् ।

इन्द्रियाणि रसनादीनि कदन्नाशनादिना न पीडयेन्न निगृहणीयात् । न चैतान्द्रियाण्यतिलालयेदतिशयेन विलासयेत् ।

त्रिवर्गशून्यं नारम्भं भजेत्तं चाविरोधयन् ॥ २६ ॥

त्रयाणां धर्मार्थकामानां वर्गस्त्रिवर्गस्तेन शून्यं रहितमारम्भमुद्यमं न भजेन्न कुर्यात् । कथं भजेत् ? तं च त्रिवर्गमविरोधयन्परस्परमविरोधयन् ।

अनुयायात्प्रतिपदं सर्वधर्मेषु मध्यमाम् ।

सर्वधर्मेषु मध्यमां प्रतिपदं प्रतिपत्तिमनुयायात् सर्वेष्ववाचारेषु मध्यमं मार्गमनुवर्तेत । नैकत्रासक्तिं कुर्यादित्यर्थः ।

नीचरोमनखश्मश्रुर्निर्मलाङ्घ्रिमलायनः ॥ ३० ॥

नीचान्यदीर्घाणि लोमनखश्मश्रूणि यस्य स एवंभूतो भवेत् । लोमानि बाहुरुप्रमृतिषु रोमाणि केशाश्चोच्यन्ते तथा च हृषेलोमस्वित्यत्र सूत्रे विवृतम् । लोमानि मूर्धजान्यङ्गजानि चेह गृह्यन्त इति । नीचलोमादिकफलं च मुनिनोक्तम्—“पौष्टिकं धन्यमायुष्यं शुचि रूपविराजनम् । केशलोमनखादीनां कृन्तनं सम्प्रसाधनमिति” । तथाङ्घ्री पादौ । मलायनानि घ्राणकर्णादीनि । निर्मलान्यङ्घ्रिमलायनानि यस्य स एवम् । अस्य च फलम्—“मेध्यं पवित्रमायुष्यमलक्ष्मीकलिनाशनम् । पादयोर्मलमार्गाणां शौचादानमभीक्षणशः” ।

स्नानशीलः सुसुरभिः सुवेषोऽनुलवणोज्ज्वलः ।

धारयेत्सततं रत्नसिद्धमन्त्रमहौषधीः ॥ ३१ ॥

स्नानं शीलयति स्नानशीलो नित्यस्नायी स्यात् । तथा सुसुरभिः सुगन्धिः । शोभनो जीर्णमलिनवस्त्रादिविवर्जितो वेषो यस्य स सुवेषः । अनुलवणोऽनुद्धतः सचासावुज्ज्वलश्चानुलवणोज्ज्वलः । अनुद्धतवेषः स्यादुज्ज्वलश्चेत्यर्थः । धारयेदित्यादि । रत्नानि मणयो वज्रपद्मरागादयः । सिद्धमन्त्रोऽपराजितादिः । महौषधिः सहदेवादिका । रत्नादीनां द्वन्द्वः । रत्नादि बाहुभ्रीवादिषु सततं सदैव धारयेत् ।

सातपत्रपदत्राणो विचरेद्युगमात्रदृक् ।

युगमात्रदृग्बिचरेद्भमेत् । युगं हस्तचतुष्टयं तत्पश्यति यः स एवम् । एवं कुर्वन् सम्मुखमागच्छद्भिर्गवाश्वादिभिर्नौपद्रूयते । तथा सहातपत्रेण च्छत्रेण पदत्राणो पदाधारपर्यायेण यो वर्तते स एवम् । पादत्रच्छत्रयोश्च गुणा उक्ताः—“मारुतस्यानुलोम्याय खुडस्तम्भश्रमापहम् । अन्वर्थसंज्ञं पादत्रं बलदृक्शुकरक्षणम् । वर्यं नेत्रहितं छत्रं वातवर्षातपापहमिति” ।

निशि चात्ययिके कार्ये दण्डी मौली सहायवान् ॥ ३२ ॥

रात्रौ चाल्ययिके कार्ये दण्डो सन् विचरेत् । दण्डेन सर्पादीनामुत्त्रासनमपि चोक्तम्—“स्खलतः सम्प्रतिष्ठानं शत्रूणां च निषेधनम् । अवष्टम्भनमायुधं भयघ्नं दण्डधारणमिति ” । मौली शिरावेष्टनयुक्तः । अनेनोपरि पततां पतङ्गकीटादिमूत्र-पुरीषादीनां रक्षा । तथा सहायवान् । अनेनापि चित्तावष्टम्भः । दण्डशब्दादत इनिठनावितीनिः । मौलिशब्दाच्च ब्रीह्यादित्वात्तस्य ह्याकृतिगणत्वमिति केचित् । आत्ययिकमिति । अत्ययः कृच्छ्रं तस्मिन् भवमित्यध्यात्मादित्वाठञ् ।

चैत्यपूज्यध्वजाशस्तच्छाया भस्मतुपाशुचीन् ।

नाक्रामेच्छर्करालोष्टबलिस्नानभुवोऽपि च ॥ ३३ ॥

चैत्यस्तु विशिष्टदेवताधिष्ठितो लोकप्रसिद्धो वृक्षविशेषः । बुद्धालय इत्यन्ये । पूज्यो गुरुपुत्रादिः । ध्वजश्चिह्नम् । अशस्ताश्चण्डालादयः । एषां छायाः । तथा भस्म भूतैः । तुषो धान्यादित्क् । अशुचिर्विद् । यद्वा उच्छिष्टं वस्तु । तदे-तन्नाक्रामेत् । शर्कराः सूक्ष्मपाषाणाकृतिर्मृत्खण्डिका । तथा लोष्टं मृत्पिण्डादि-खण्डः । बलिर्देवताद्यर्चनम् । स्नानं प्रसिद्धम् । बलिश्च स्नानं च बलिस्नाने तयो-र्भुवौ बलिस्नानभुवौ । शर्करा लोष्टं च बलिस्नानभुवौ च ता नाक्रामेत् ।

नदीं तरेन्न बाहुभ्यां नाग्निस्कन्धमभिव्रजेत् ।

सन्दिग्धनावं वृक्षं च नारोहेद् दुष्टयानवत् ॥ ३४ ॥

नदीं तरङ्गिणीं दोर्भ्यां न तरेत् । अग्निस्कन्धमभि अग्निराशेरभिमुखं न व्रजेत् । सन्दिग्धा चासौ नौश्च तां नारोहेन्नोच्चलेत् । सन्दिग्धायाः शिथिलबन्धनत्वाज्ज-रत्वादतिभाराक्रान्तत्वात्पारगमनं प्रति सन्देहः । चेति समुच्चये । वृक्षं च नारोहेत् । कथम् । दुष्टयानवत् । यथा दुष्टयानमश्वादिकं नारोहेत् तथेति । दुष्टयानारोहणमपि चोक्त्यानया निषिद्धम् ।

नासंवृतमुखः कुर्यात्क्षुतिहास्यविजृम्भणम् ।

नासंवृतास्यः क्षुत्यादीन्कुर्यात् । हस्तादिना मुखं पिधाय कुर्यादित्यर्थः । क्षुति-शिखिका । हास्यं हसनम् । विजृम्भणं जृम्भिका । एषां समाहारद्वन्द्वः ।

नासिकां न विकुष्णीयात्ताकस्माद्विलिखेद्भुवम् ॥ ३५ ॥

नाङ्गैश्चेष्टत विगुणं नासीतोत्कटकस्थितः ।

नासां न विकर्षेत् । मलोत्सारणमात्रं तु कार्यमेवेति विशब्देन द्योतयति । अकस्मात्कारणं विना भुवं पृथ्वीं न विलिखेन्नोत्कर्षेत् । अङ्गैर्हस्तपादादिभिर्विगुण-मननुगुणं यथा भवति तथा न चेष्टत न व्याप्रियेत । उत्कटकं स्थितमवस्थानं यस्य स एवंभूतो नासीत । चिरं न तिष्ठेदित्यर्थः । अशौरोगाद्युत्पत्तेः ।

देहवाक्चेतसां चेष्टाः प्राक् श्रमाद्विनिवर्तयेत् ॥ ३६ ॥

नोर्ध्वजानुश्चिरं तिष्ठेन्नक्तं सेवेत न द्रुमम् ।



देहादीनां द्वन्द्वः । एषां सम्बन्धिनीक्षेष्टाः क्रियाः श्रममुखेदात् पूर्वं विनिवर्तयेत् । तावद्धनुराकर्षादि कुर्याद्यावन्नातीव श्रमः स्यादित्यर्थः । तथा ऊर्ध्वं जानुनी यस्य स ऊर्ध्वजानुश्चिरं नासीत् । नक्तं रात्रौ द्रुमं तरुं न सेवेत् । तदाश्रितकीटमूत्रशकृदादिपातरक्षार्थम् ।

तथा चत्वरचैत्यान्तश्चतुष्पथसुरालयान् ॥ ३७ ॥

सूनाटवीशून्यगृहश्मशानानि दिवापि न ।

चत्वरं त्रिपथम् । अन्ये त्वाहुः । यत्र प्रदेशे नगरनिवासिनो ग्राम्या वा समेत्य नानाविधाः कथाः कुर्वन्ति स चत्वर उच्यते । चैत्यान्तश्चैत्यसर्मापः । चतुष्पथं मार्गचतुष्टयसङ्गमः । सुरालयो देवगृहम् । एतांश्च नक्तं न सेवेत् । सूना वध्यस्थानम् । अटवी निर्जनो देशः । शून्यगृहमुज्जटभवनम् । श्मशानं पितृवनम् । तानि दिवाऽपि न सेवेत् । अपिशब्देन रात्रौ नितरामसेवनमाह ।

सर्वथेक्षेत नादित्यं न भारं शिरसा वहेत् ॥ ३८ ॥

नेक्षेत प्रततं सूक्ष्मदीप्तमेध्याप्रियाणि च ।

आदित्यं सर्वथोद्यन्तमस्तं यान्तं प्रतिमागतं जलादर्शादिषु प्रतिबिम्बितमुपरक्तं राहुग्रस्तं वा नेक्षेत । तथा भारं च शिरसा न वहेन्न नयेत् । प्रततमविरतं सूक्ष्मवस्तु नेक्षेत । दीप्तं चामेध्यं चाप्रियं चातिप्रततं नेक्षेत । ननु तर्हि सर्वथा नेक्षेतेत्यनेन कोऽर्थो यतो रविरपि दीप्तो दीप्तग्रहणेनैवास्य दर्शननिषेधः सिद्धः । अस्त्येवैतत् किन्तु सर्वप्रकारमादित्यं नेक्षेत । दीप्तं त्वनवरतं नेक्षेतेति ।

मद्यविक्रयसन्धानदानादानानि नाचरेत् ॥ ३९ ॥

विक्रयो विनिमयः । इत्यप्रमाणमधुनेदं दीयत इति । सन्धीयते येन तत्सन्धानमनेकद्रव्यसम्भारो येन तन्मद्यं यथावत्प्रमाणेन सन्धीयते । दानं यथाशास्त्रं स्वत्वनिवृत्तिः परस्वत्वापादनम् । आदानं च यथाशास्त्रमेव परस्मादग्रहणम् । एतेषां द्वन्द्वः । ततो मद्यशब्देन षष्ठीसमासः । मद्यविक्रयादीनि नाचरेत् । द्विजविषयं चैतद्वाक्यमिति बोध्यम् । सर्वस्य तु निषेधात् क्रयादिव्यवहारोच्छेदः स्यात् ।

पुरोवातातपरजस्तुषारपरुषानिलान् ।

अनृजुः क्षवथूद्धारकासस्वप्राज्ञमैथुनम् ॥ ४० ॥

मौ० टी०—(१) स्वास्थ्य साधिकायां दिनचर्यायां स्वास्थ्य प्रदमघस्य सर्वथा निषेधे किं तात्पर्यमाचार्यस्य ? किं द्विजाति धर्मः, अपरं वा किञ्चिदिति । नाद्यः, “ परमं धर्मसाधनम् ” । “ न त्रिवर्णाद्विहीयत इत्यादि ” स्त्रोक्ति विरोधाच्च । (अष्टा० चि० ७ अ० ७५-६० श्लो०) । ततोऽपरं किं भवितुर्महतीति ? उच्यते—सर्वमेव पथ्यं वस्तु विधिनोपयुक्तं हि हितकरं भवति, तत्रापि मद्यन्तु विशेषविधि प्रयुक्तमेव । तथा विधिश्च सः, न सर्वजनसुलभः स्यात् प्रचुरवसुसाध्यत्वात् । तस्मात्सर्वथैव तद्वर्जनं श्रेयः स्यादित्यर्थाभिप्रायः ।

कूलच्छायां नृद्विष्टव्यालदंष्ट्रविषाणिनः ।

हीनानार्यातिनिपुणसेवां विग्रहमुत्तमैः ॥ ४१ ॥

सन्ध्यास्वभ्यवहारस्त्रीस्वप्राध्ययनचिन्तनम् ।

शत्रुसत्रगणाकीर्णगणिकापणिकाशनम् ॥ ४२ ॥

गात्रवक्त्रनखैर्वाद्यं हस्तकेशावधूननम् ।

तोयाग्निपूज्यमध्येन यानं धूमं शवाश्रयम् ॥ ४३ ॥

मद्यातिसक्लिं विश्रम्भस्वातन्त्र्ये स्त्रीषु च त्यजेत् ।

त्यजेदिति क्रिया वक्ष्यमाणा । पुरःशब्दस्य वातातपाभ्यां प्रत्येकं सम्बन्धः । पुरोवातः पूर्वदिगागतो वातः । पुर आतपः पूर्वातपः । पुरोवातादीन्पञ्च त्यजेत् । अनृजुर्विषमस्थितशरीरः । क्षवध्वादीन् षट् त्यजेत् । अनृज्विति क्रियाविशेषणमिति केचिद्व्याचक्षते । अन्नमत्र शाल्यादि । कूलं वप्रस्तच्छायां त्यजेत् । तत्र हि तिष्ठतस्तत्पाताद्भयं स्यात् । नृपद्विष्टं राज्ञोऽप्रियं त्यजेत् । व्यालोदुष्टहस्त्यादिः । दंष्ट्रिणः सर्पाद्याः । विषाणिनो गवाद्यास्तांस्यजेत् । हीनाः कुलशीलवित्तादिभिर्न्यूनाः । अनार्या असाधवः । अतिनिपुणा अतिगणनापरास्तेषां सेवां त्यजेत् । उत्तमैरिति सहार्थे गम्यमाने तृतीया । उत्तमैः सह विग्रहं त्यजेत् । सन्ध्यास्वभ्यवहारादीन्पञ्च त्यजेत् । शत्रुसत्रेत्यादि । शत्रवशनं त्यजेत् सत्रं यज्ञस्तस्याशनं त्यजेत् । ऋत्विगादीन् वर्जयित्वाऽन्यस्य हि तदशनं निषेधति । तथाहि । यज्ञान्ते तदुद्भूतपापोपशमनाय प्रायश्चित्तं श्रयते । गणाः कथकचारणादयस्तैराकीर्णं व्याप्तमशनं त्यजेत् । गणिका वेश्या तस्याः सम्बन्धशशनं त्यजेत् । तदशनमद्वि तत्पापसंकमणं स्यात् । पणिकः पणोपजीवी । नौबच इति ठन् । पणिको हि पापीयान्निन्दितपण्यादि विक्रीणानः प्रशंसतीत्यादिहेतोः । गात्रेत्यादि । गात्राण्यङ्गानि तैस्तथा वक्त्रेण नखैश्च वाद्यं त्यजेत् । हस्तावधूननं केशावधूननं च त्यजेत् । अवधूननं कम्पनम् । तोयेत्यादि । मध्यशब्दः प्रत्येकं युज्यते । तोययोर्द्वयोर्मध्येन यानं त्यजेत् । न यायादित्यर्थः । एवमग्न्योर्मध्येन । तथा पूज्ययोर्मध्येन । समासकरणात्तोयाग्न्योस्तोयपूज्ययोरग्निपूज्ययोरपि मध्येन न यायादिति बोद्धव्यम् । तथा धूमं शवाश्रयं शवोद्भूतं त्यजेत् । मद्येत्यादि । मद्येऽतिसक्लिरतिसवा तां त्यजेत् । स्त्रीषु योषासु विश्रम्भं विश्वासं स्वातन्त्र्यं च त्यजेत् ।

आचार्यः सर्वचेष्टासु लोक एव हि धीमतः ॥ ४४ ॥

अनुकुर्यात्तमेवातो लौकिकेऽर्थे परीक्षकः ।

हि यस्माद्धीमतो बुद्धियुक्तस्य सर्वचेष्टासु निःशेषव्यापारेषु लोक एवाचार्य उपदेष्टाऽतोऽस्माद्धेतोस्तमेव लोकं लौकिकेऽर्थे परीक्षकः पुरुषोऽनुकुर्यात् । यथा लोको व्यवहरति तथा व्यवहियादित्यर्थः ।

आर्द्रसन्तानता त्यागः कायवाक्चेतसां दमः ॥ ४५ ॥

स्वार्थबुद्धिः परार्थेषु पर्याप्तमिति सद्गतम् ।



आर्द्रसन्तानता सर्वसत्त्वेषु कृपालुत्वम् । त्यागो दानम् । कायवाक्चेतसां
त्रयाणां दम उपशमः । परार्थेषु परप्रयोजनेषु स्वार्थबुद्धिः । यथा यः परार्थः अय-
मेव स्वार्थः इत्युभयलोकहितत्वम् इत्येवंप्रकारं सद्ब्रतं पर्याप्तम् । समाप्तमित्यर्थः ।
सत् शोभनं च तद्ब्रतं च सद्ब्रतम् ।

नक्तं दिनानि मे यान्ति कथम्भूतस्य सम्प्रति ॥ ४६ ॥

दुःखभाङ् न भवत्येवं नित्यं सन्निहितस्मृतिः ।

नक्तंदिनानि रात्रिदिनानि सम्प्रतीदानीं कथम्भूतस्य कीदृशस्य सतो मे मम
यान्ति । एवं नित्यं सन्निहितस्मृतिः सन् पुमान् दुःखभाङ् न भवति ।

इत्याचारः समासेन यं प्राप्नोति समाचरन् ॥ ४७ ॥

आयुरारोग्यमैश्वर्यं यशो लोकांश्च शाश्वतान् ।

इति समाप्तौ । समासेन सत्तेपेण तावदयमाचारः पूर्वोक्तो यं समाचरन्ननुति-
ष्ठन्नायुरादीन् प्राप्नोति । तथा लोकान् भूर्भुवः स्वःप्रभृतीन् शाश्वतान्नित्यान् । ननु
शाश्वतशब्दो न युक्तः । यतः शश्वच्छब्दस्य कालवाचित्वात् कालाट्टञिति ठञ्
प्राप्नोति । तथा अव्ययानां च सायंप्रातिकार्यमुपसंख्यानमिति टिलोपश्च प्राप्नोति ।
नैतदस्ति । नस्तद्धित इत्यत्र सूत्रे ह्युक्तम् । शाश्वत इत्यादौ तु टिलोपो नेष्यते ।
कालादिति योगविभागाच्चाणिति । तस्माच्छाश्वतशब्दो न्याय्य एवेति ।

इति श्रीमृगाङ्कदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टाङ्गहृदयटीकायां सर्वाङ्ग-
सुन्दराख्यायां सूत्रस्थाने द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः ।

दिनचर्याध्यायादनन्तरमृतुचर्याया उपोद्धातः । पूर्वाऽध्याये सामान्येन दिन-
चर्योपदिष्टा । ऋतुविशेषवशाच्चाहारविहारसेवनप्रतिपादनार्थमृतुचर्याया आरम्भ
इत्याह ।

अथात ऋतुचर्याध्यायं व्याख्यास्यामः ।

पूर्ववद्याख्येयम्—

मासैर्द्विसंख्यैर्माघाद्यैः क्रमात् षडृतवः स्मृताः ।

शिशिरोऽथ वसन्तश्च ग्रीष्मवर्षाशरद्धिमाः ॥ १ ॥

शिशिराद्यैस्त्रिभिस्तैस्तु विद्यादयनमुत्तरम् ।

आदानं च तदादत्ते नृणां प्रतिदिनं बलम् ॥ २ ॥

मासैरित्यादिना कालोपवर्णनमाह । ननु कालोपवर्णनं दिनचर्यायां कस्मान्न
कृतम् । उच्यते । ऋतुगौरवोद्भावनार्थम् । ऋतवो हि विशेषणोपयोगिनो विप्रति-
पत्तेश्च । यथैके चातुर्मासिकमृतुं कृत्वा शीतोष्णवृष्टिलक्षणां हेमन्तग्रीष्मवर्षाख्यां-

स्त्रीनृतूनिच्छन्ति । अपरे तु द्विमासिकान् शिशिरवसन्तग्रीष्मवर्षाशरद्धेमन्तलक्षणान् षडृतूनि । द्वे संख्ये येषां ते द्विसंख्यास्तैर्द्विसंख्यैः । माघ आद्यो येषां फाल्गुनादीनां त एवम् । तैर्द्विसंख्यैर्माघाद्यैर्मासैः क्रमात्परिपाठ्या षडृतवः स्मृताः । के त इत्याह । शिशिराद्याः शिशिरवसन्तग्रीष्मवर्षाशरद्धेमन्ताः । उपचारादेव षट्त्वे लब्धे षड्ग्रहणं परमतत्त्वार्थम् । तथा केचित् त्रय एव ऋतव इति मन्यन्ते । तैस्तु ऋतुभिस्त्रिभिः शिशिरादिभिरुत्तरायणं विद्याजानीयात् । अयनमुत्तरं सवितुरुत्तरमार्गप्रतिपत्तिरुत्तरायणम् आदानं तजानीयात् । आदानमिति चान्वर्थमिति प्रतिपादयति । तदा तस्मिन् काले नृणां प्रतिदिनमन्वहं बलमादत्ते सारं गृह्णाति । कोऽसौ । प्रकृतत्वादादित्यः ।

कया युक्त्या बलमादत्त इत्याह—

तस्मिन् ह्यत्यर्थतीक्ष्णोष्णरूक्षा मार्गस्वभावतः ।

आदित्यपवनाः सौम्यान् क्षपयन्ति गुणान् भुवः ॥ ३ ॥

तिक्तः कषायः कटुको बलिनोऽत्र रसाः क्रमात् ।

आदित्यश्च पवनाश्चादित्यपवनास्ते तस्मिन् काले यस्मात्सौम्यान् गुणान् भुवः सम्बन्धिनः क्षपयन्ति विनाशयन्ति । कीदृशास्ते अत्यर्थमतिशयेन तीक्ष्णाश्चोष्णाश्च रूक्षाश्चात्यर्थतीक्ष्णोष्णरूक्षाः । कस्मादेवंविधास्त इत्याह । मार्गस्वभावतो वर्त्मस्वाभाव्यात् । न च स्वभावः पर्यनुयोगमर्हति । मार्ग उष्णांशोरुत्तरदिग्गमनम् । यतश्चादित्यपवना रूक्षास्ततस्तिक्तादयो रसा बलिनो भवन्ति । क्रमादित्यनेन यथासंख्यमत्र बोधयति । तेन तिक्तः शिशिरे वसन्ते कषायो ग्रीष्मे कटुको व्यतिष्ठते न सर्वे तिक्तादय एकैकस्मिन्नृताविति । तिक्त इत्याद्यसमासकरणं ज्ञापनार्थम् । तिक्तादिरेकैको बली भवति । द्वौ तु स्वप्रमाणावस्थितौ । नैवतौ पृथग्भूय तिक्तादेर्वलवत्त्वमित्यर्थः ।

तस्मादादानमाग्नेयम्

यत एवं भूमेः सौम्यगुणहानिर्वर्धनं च रूक्षाणां रसानां तस्मात्कारणादादानमाग्नेयम् ।

ऋतवो दक्षिणायनम् ॥ ४ ॥

वर्षादयो विसर्गश्च यद्वलं विसृजत्ययम् ।

त्रयो वर्षादय ऋतवो दक्षिणायनं भगवतो दिवाकरस्य दक्षिणदिग्गमनम् । स च कालो विसर्गरूपः । यद्यस्माद्वलमयं कालो विसृजति ददाति दक्षिणायनारूपस्तस्माद्विसर्गोऽन्वर्थसंज्ञः कालः ।

सौम्यत्वाद्वा सोमो हि बलवान् हीयते रविः ॥ ५ ॥

मेघवृष्ट्यनिलैः शीतैः शान्ततापे महीतले ।

स्निग्धाश्चेहाम्ललवणमधुरा बलिनो रसाः ॥ ६ ॥

हि यस्मादत्र विसर्गरूपे काले सौम्यत्वात् सोमभूयिष्ठत्वात् सोमो बलवान् ।

तदाश्रितरात्रिवृद्धिदर्शनात् । हीयते रविस्तदाश्रितदिनहान्युपलब्धेर्हानशक्तिः संपद्यते । कदा । महीतले भूपृष्ठे शांततापे सति । कैर्मेघवृष्यनिलैः । शीतैरित्युपलक्षणा-
र्थम् । विसर्गकालत्वान्मृदुभिः स्निग्धैरपीति । अतएव स्निग्धारता अम्ललवणमधुरा
बलिनो भवन्ति । अत्रापि क्रमादित्यनुवर्तते । पूर्ववच्च व्याख्येयम् ।

शीतेऽग्र्यं वृष्टिघर्मेऽल्पं बलं मध्यं तु शेषयोः ।

शीतस्वभावकाले हेमन्तशिशिराख्ये नृणामग्र्यं बलं भवति । वृष्टिश्च घर्मश्च
तस्मिन्वृष्टिघर्मे वर्षाग्र्याख्याय कालेऽल्पम् । तुरवधारणे । शेषयोः शरद्वसन्तऋत्वो-
र्मध्यमेव बलम् । ननु वसन्त आदानकालत्वादत्यर्थतीक्ष्णोष्णरूक्षैरादित्यपवनैः शोष्य-
माणेषु बलवृद्धिहेतुषु भुवः सौम्येषु गुणेषु कथं मध्यबलत्वमिति ? व्रमः । वर्षा-
दिष्वतुषु बलमुपचितं क्रमेणैवापचीयते । यथा कृष्णपक्षे चन्द्रः । तस्माद्दीर्घकालानु-
वृत्तं बलं वसन्ते क्रमेणैवापचीयत इति मध्यबलत्वं युक्तम् । अनेनैव हेतुना शिशिरेऽग्र्य-
बलत्वम् । यतः सकलेन विसर्गेण कालेन यदुपचितमतिशयेन बलं तत् शिशिरे
क्रमाच्चादानकालेऽपचीयमानमपि बलं न हीनं लक्ष्यते । यथा कृष्णपक्षादौ चन्द्रः
क्षीयमाण इति युक्तमुक्तं शीतेऽग्र्यं बलमिति । वसन्ते च मध्यं बलमित्यवददिह
शास्त्रकृत् ।

बलिनः शीतसंरोधाद्धेमन्ते प्रबलोऽनलः ॥ ७ ॥

भवत्यल्पेन्धनो धातून् स पचेद्वायुनेरितः ।

किल विसर्गाभिनवबलत्वात्पुमान् बली भवति । तस्य बलिनः पुंसो हेमन्ते
काले शीतसंरोधाद्धेतोरनलोऽग्निर्बली भवति । यतः सर्वतः स्रोते रोधाज्जाठरोऽग्नि-
रान्तरैरेव स्वैरर्चिर्भिरभिवर्धते । वर्धितश्चासौ भुक्तमाहारं सम्यक्पचति । पक्वाच्चा-
हाराद्वलमभ्यधिकं जायते । हेमन्ते हेमन्तर्तौ । द्योतयति अस्मिन्नेव काले शीत-
संरोधात् । तथा ह्यन्यर्तुजेन शीतेनाग्निसादो भवति । यथा वर्षासु । तत्र हि
वृष्टिवाताभ्यां भवति शीतं न चाग्निदीप्तिः । तथा चाष्टाङ्गसंग्रहे । “वृष्टिवाताकुले
त्वन्निह भोजनं क्लेदवातजित् । परिशुष्कं लघु स्निग्धमुष्णाम्ललवणं भजेदिति” ।
इह पुनरनेकरूपगौरवयुक्तं भोजनं शस्यते । वक्ष्यति हि । अतो हिमेऽस्मिन्नित्या-
रभ्य यावद्रसान् स्निग्धान्वलं पुष्टमित्यादि । तथोक्तं । “ऊष्मा बहिः प्रतिहेता हिम-
शीतवातैरन्तः शरीरविवरं प्रतिपद्यमानः । स्वस्थानपिडितवर्षुभवति प्रचण्डः
शीतेऽनिलानलहरो विधिरिष्यतेऽतः” इति । तथा यद्यपि तत्र सत्वशरीरेत्यारभ्य यावत्
तथोर्जस्करयोगजमित्यादिना ग्रन्थेनाहरो युक्तिजस्यैकस्यैव बलस्य हेतुरित्युक्तो ग्रन्थ-
कृता । तथाऽपि युक्त्या निरूप्यमाणः सहजकालजयोरपि बलयोराहार एव हेतु-
त्वात्तथा ह्याहारं विना शरीरमेव न स्यात् । तदनया युक्त्या त्रिविधमपि बलं
माहारजमपि बोद्धव्यम् । ननु यदि प्रबलोऽनलो भवति ततः किमित्याह । अल्पेन्धन
इत्यादि । अल्पभिन्धनमाहाराख्यं यस्य सोऽल्पेन्धनः सन् सोऽनलो धातून्वासादी-

न्यचेत् । कीदृशः । वायुनेरितः वातोद्दीपितः ।

अतो हिमेऽस्मिन्सेवेत स्वाद्वम्ललवणाग्रसान् ॥ ८ ॥

अस्मादनन्तरोक्ताद्धेतोरल्पेन्धनत्वे सति धातुपाकः स्यात् । अतोऽस्मिन् हिमे शीते स्वाद्वम्ललवणाख्यान् रसान् सेवेत । नान्यर्तुसंभवे हिम इत्यस्यार्थस्य द्योतनाय हिम इत्युक्तम् ।

दैर्घ्याग्निशानामेतर्हि प्रातरेव बुभुक्षितः ।

अवश्यकार्यं संभाव्य यथोक्तं शीलयेदनु ॥ ९ ॥

एतर्हि एतस्मिन्काले बुभुक्षितः प्रातरेव प्रत्युषसि नान्यकाले यत्किञ्चिदिनातिक्रान्तौ सत्यामवश्यं कार्यं मूत्रोत्सर्गादिकं दिनचर्योक्तं च संभाव्य संपाद्य यथोक्तं यथानिर्दिष्टमनु पश्चाद्वातघ्नतैलाभ्यङ्गादिकं शीलयेत् । यद्यपि बुभुक्षितोऽवश्यकार्यं संभाव्य यथोक्तं शीलयेदित्युक्तं तथापि बुभुक्षितेन न तथान्यत्कार्यं यथा भोजनं । तथा चोक्तम् । “आहारकाले संप्राप्ते यो न भुङ्क्ते बुभुक्षितः । तस्य सति कायाम्निर्निरेन्धन इवानल” इति । तस्मादौचित्याद्बुभुक्षितेन हारः कार्य इति वेद्यम् । नन्वन्यस्मिन्नपि काले बुभुक्षितस्यैवाहारानुज्ञानाद्बुभुक्षितग्रहणं न कार्यम् । युक्तमाह भगवान् । किं त्वस्मिन्काले जाठराग्निरत्यग्निच्छाया अनुकारी भवति । ततोऽस्य जाठराग्नेरिवोपचारो युक्तः । यथा । “मुहुर्मुहुरजीर्णोऽपि भोज्यान्यस्योपहारयेत् । निरेन्धनोऽन्तरं लब्ध्वा यथैनं न विपादेयदिति”, अबुभुक्षितस्यैव भोजनाधिकारित्वमिति भ्रान्तिनिरासायेह बुभुक्षितग्रहणम् । निशानां दैर्घ्यादिति विशिष्टकालोपलक्षणार्थं कृतम् । यदात्र हेमन्ते शर्वर्यो दीर्घा जायन्ते तदैष विधिः सर्वोऽनुष्ठेयो न प्रारब्धमात्र एवास्मिन्निति । नन्वत्र सेवेत शीलयेद्भजेदित्येकार्थभिधायीनि बहूनि क्रियापदानि किं निर्दिष्टान्येकेनैवार्थाधिगतेः ? अत्र ब्रमः । कार्यान्तरसूचनार्थमेतत्पदत्रयम् । तथाहि । अतो हिमेऽस्मिन्सेवेतेत्यत्र यः सेवेतशब्दः स इदं द्योतयति । स्वाद्वम्ललवणरसाः पवनविजयार्थमस्मिन् काले नितरामुपयोक्तव्याः । न कादाचित्क एषामस्मिन्नुतावुपयोगो विधेय इति । अत एव वातघ्नतैलाभ्यङ्गादेः पृथगेषां रसानामुपन्यासः । यथोक्तं शीलयेदित्यत्र यः शीलयेदित्येष शब्दः स वातघ्नतैलादेः सर्वस्य तुल्यकक्षतां द्योतयति । तथा प्रावाराजिनेत्यादौ यो भजेच्छब्दः स सकलस्याहारविहारशीलनस्य शयनविधेश्च तुल्यतां प्रथयति । तथा च वक्ष्यति । “आहारशयनब्रह्मचर्यैर्युक्त्या प्रयोजितैः । शरीरं धार्यते नित्यमागाराभिव धारणैरिति ।”

वातघ्नतैलैरभ्यङ्गं मूर्ध्नि तैलं विमर्दनम् ।

नियुद्धं कुशलैः सार्धं पादाघातं च युक्तितः ॥ १० ॥

वातघ्नतैलैरभ्यङ्गं शीलयेत् । तैलस्य सर्वस्यैव वातघ्नत्वाद्वातघ्नेति विशेषणमतिशयप्रतिपादनार्थम् । तेन बलातैलादिभिरिति बोध्यम् । मूर्ध्नि तैलं शिरोऽभ्यङ्गादि । विमर्दनं शरीरसंवाहनमेतदौचित्यादभ्यङ्गः सन् शीलयेत् । कुशलैस्तद्विद्धि ।

सार्धं नियुद्धं बाहुयुद्धं शीलयेत् । पादाघातं पादेन विमर्दनम् । युक्तिरित्यनेनार्ध-
शक्त्यैव शीलनं द्योतयति । बाहुयुद्धपादाघातयोश्चानभ्यक्तस्यैव शीलनं युक्तम् ।

कषायापहतक्षेहस्ततः स्नातो यथाविधि ।

कुङ्कुमेन सदर्पेण प्रदिग्धोऽगुरुधूपितः ॥ ११ ॥

कषायेण रोध्रादिनाऽपहतोपनीतः क्षेहो यस्य स एवम् । ततोऽनन्तरं यथा-
विधि शास्त्रोदितेन विधानेन स्नातः । कुङ्कुमेन काश्मीरेण प्रदिग्धोऽनुलितः । दर्पः
कस्तूरिका तेन सह वर्तते यत्कुङ्कुमं तदेवम् । तथाऽगुरुणा जौङ्गकेन धूपितः ।

रसान् स्निग्धान् पलं पुष्टं गौडमच्छसुरां सुराम् ।

गोधूमपिष्टमाषेक्षुक्षीरोत्थविकृतीः शुभाः ॥ १२ ॥

नवमन्नं वसां तैलं शौचकार्यं सुखोदकम् ।

प्राचाराजिनकौशेयप्रवेणीकौचवास्तृतम् ॥ १३ ॥

उष्णस्वभावैर्लघुभिः प्रावृतः शयनं भजेत् ।

युक्त्यार्ककिरणान् स्वेदं पादत्राणं च सर्वदा ॥ १४ ॥

रसान्मांसरसान् स्निग्धान् भजेत् । मांसरसानां स्निग्धत्वेऽपि स्निग्धानिति
विशेषणमतिशयद्योतनार्थम् । पलं मांसं पुष्टं मेदुरं भजेत् । तथा गुडस्येदं गौडं
तन्मद्यम् । तथाऽच्छसुरां सुरामण्डं, सुरां मदिरां च भजेत् । अन्नं कषायद्रव्यैश्च
या क्रियेत सा सुरा भक्ष्यते । ननु द्विधैव सुरा सेव्यत्वेनेहाभीष्टा तत्सुराशब्द एव
निर्दिष्टुं न्याय्यः । तस्मिन्निह सामान्यपदे निर्दिष्टे द्विधैव सुरा निर्दिष्टा भवति । सत्य-
मेतत् । किंत्वच्छसुरां नितरां भजेन्न तथा सुरामिति ज्ञापनार्थं द्वयोरुपादानम् ।
अत एवाच्छसुरामिति पूर्वं निर्दिष्टम् । गोधूमेत्यादि । गोधूमश्च पिष्टं च माषश्च
इक्षुश्च क्षीरं च तान्येवम् । गोधूमपिष्टमाषेक्षुक्षीरेभ्य उत्थानं यासां
विकृतीनां ता एवम् । उत्पूर्वात्तिष्ठतेः सुपीति योगविभागाद्भावे कः । उदः
स्थास्तंभोः पूर्वस्येति सस्य तकारः । गोधूमपिष्टमाषेक्षुक्षीरोत्थाश्च ता विकृतयश्च
ताः शुभा रम्या भजेत् । तथा नवमपुराणमन्नं तथा वसां भजेत् । “शुद्धमांसस्य
यः क्षेहः सा वसा परिकीर्तिता” । तथा तैलं भजेद्भक्ष्येत् । अभ्यंगस्तु प्रागनुज्ञात
एव । शौचकार्यं शौचक्रियायां सुखोदकमुष्णोदकं भजेत् । प्राचारः कार्पासो रोम-
वान् घनः पटस्तूलपटकादिः । अजिनं सुखस्पर्शरोमचर्म । कौशेयं
पृष्ठवसनम् । प्रवेणी सूचीवाणाख्यो वस्तुविशेषः । कौचं रांकवस्त्रभेदः । तवरक
इत्यन्ये । एतैरास्तृतं दत्तप्रतिच्छदपटं शयनं भजेत् , कीटक् शयनं भजेत् ,
उष्णस्वभावै रोमाशिकारक्षिकाप्रायैः प्रावृतः प्रकर्षेणाच्छादितः । तथा अर्ककिरणा-
न्भजेत् । कथम् । युक्त्या सम्यग्योगलक्षणया । अतिसेविता हि ग्लान्यादीन्कुर्वुः ।
तथा स्वेदं भजेत् । युक्त्यैवेत्यत्रापि योज्यम् । अतिसेवितो हि स्वेदो ग्लान्या-
दीन् जनयेत् । पादत्राणं च पादुकादिकं सर्वदा भजेत् ।

पीवरोरुस्तनश्रोण्यः समदाः प्रमदाः प्रियाः ।

हरन्ति शीतमुष्णाङ्गयो धूपकुङ्कुमयौवनैः ॥ १५ ॥

ऊरु च स्तनौ च श्रोणिश्च ऊरुस्तनश्रोणि । पीवरं पीनमूरुस्तनश्रोणि ।
यासां ता एवम्भूताः प्रमदा विलासिन्यः शीतं हरन्ति नुदन्ति । पीनत्वेनातिकार्य-
मत्र निषिध्यते । तथा चाह । आम्यधर्माधिकारे त्यजेदतिदृशामिति । किंभूताः ।
सह मदेन यौवनोद्भूतेन सुरादिपानजेन कामोद्रेककारिणा वा वर्तन्ते समदाः ।
तथा प्रिया वल्लभाः शीतं हरन्ति । किम्भूता उष्णाङ्गयो धूपकुङ्कुमयौवनैरगुर्वादि-
धूपेनोष्णाङ्गयः । तथा कुङ्कुमानुलेपनेनोष्णाङ्गयः । तथा यौवनोष्मण सहजेनोष्णाङ्ग्य-
इति योज्यम् ।

अङ्गारतापसन्तप्तगर्भभूवेश्मचारिणः ।

शीतपारुष्यजनितो न दोषो जातु जायते ॥ १६ ॥

अङ्गाराणां तापोऽङ्गारतापस्तेन संतप्तं च तद्गर्भेऽभ्यन्तरे भूवेश्म च तत्तस्मि-
श्चरति नित्यं यस्तस्याङ्गारतापसंतप्तगर्भभूवेश्मचारिणः पुंसो यतः शीतपारुष्य-
जनितो दोषो दुःखं न जातु कदाचिज्जायते ततोऽङ्गारतापसंतप्तगर्भभूवेश्मचारी
स्यादिति भावः ।

अयमेव विधिः कार्यः शिशिरेऽपि विशेषतः ।

तदा हि शीतमधिकं रौक्ष्यं चादानकालजम् ॥ १७ ॥

अयमेव हैमन्तो विधिः पूर्वोक्तः शिशिरे च विशेषतोऽतिशयेन कार्यः । कुत
इत्याह । यस्मात्तस्मिन् काले शीतमधिकं भवति । कालस्वाभाव्यात् । तथा आदा-
नकालाज्जातमादानकालजं च रौक्ष्यं भवति । ततो हेतुद्वयाद्विशेषण हैमन्तिको
विधिः सेव्यः । हेमन्ते रसान् स्निग्धान् शीलयेदित्युक्तम् । शिशिरे तानतिशयेन
शीलयेत् । एवं सर्वेष्वपि हैमन्तिको विधिर्योजनीयः । आदानकालजमित्यनेनैत-
द्घोतयति । आदानकाल एव रौक्ष्यस्य कारणं नान्यत् । अत एव हैमन्ते शीतेऽपि
रौक्ष्यं नास्त्येवेति । आदानस्य च प्रारम्भमात्रत्वम् । एवं शिशिरस्य सम्भव इति
शिशिरे किञ्चिदेव रौक्ष्यं वेद्यम् । ननु यथा रौक्ष्यमादानकालजं तथौष्ण्यमपि ।
तथा चोक्तम् । तस्मिन् ह्यत्यर्थतीक्ष्णोष्णरूढा इति । एवं चौष्ण्यसद्भावाच्छीतस्य
हैमन्ततो हानिः प्राप्ता न त्वाधिक्यम् । कथं तदा हि शीतमधिकमिति । ब्रमः ।
रौक्ष्यस्य द्वौ हेतू । एकस्तावद्भगवद्वाकरकरैर्जगतः स्नेहादानम् । द्वितीयस्त्वग्नेः
कालः । तदेवं रौक्ष्येणोभयहेतुजेन शिशिरकाले वाताः शीतस्वभावा आहिताधिक-
शक्तयो जायन्ते हैमन्तेभ्यो मारुतेभ्यः । तथाविधाश्चोष्णेनादानकालप्राधान्याद-
प्राप्तत्वेन शिशिरे नाभिभूयन्ते । अनभिभूताश्च शीतस्वभावत्वाच्च शीतमेव वर्ध-
यन्ति । अतो युक्तं शीताधिक्यं शिशिर इति ।



सम्प्रति वसन्तचर्या विवक्षुरिदमाह ।

कफश्चितो हि शिशिरे वसन्तेऽर्काशुतापितः ।

हत्वाऽग्निं कुरुते रोगानतस्तं त्वरया जयेत् ॥ १८ ॥

यस्मात् शिशिरं मधुरस्निग्धादिनाऽऽहारेण कालस्वाभाव्याच्च श्लेष्मा संचितो-
तिशयेन स्थानत्वादतिकुपितो वसन्ते ऋतावर्काशुतापितः सूर्यप्रभाभिर्विलायितो
द्रवस्वरूपत्वाज्जलमिव विपरीतं जाठराग्निं हत्वा हि यस्माद्रोगान्विकारान् कुरुते
जनयति । अतोऽस्मात्कारणात् कफं त्वरया शीघ्रमेव जयेत् । दोषानिति केचि-
त्पठन्ति । अर्कतापित इत्यनेनैव सिद्धे अंशुशब्दोऽत्र रश्मीनां पटिमानं सूचयति
न तथा शीते । तत्र हि धूमधूप्ररजोमन्दा इत्यधिरोगकैर्वर्जयेत् ।

तीक्ष्णैर्वमननस्याद्यैर्लघुरूक्षैश्च भोजनैः ।

व्यायामोद्धर्तनाघातैर्जित्वा श्लेष्माणमुल्बणम् ॥ १९ ॥

स्नातोऽनुलिप्तः कर्पूरचन्दनागुरुकुङ्कुमैः ।

पुराणयवगोधूमक्षौद्रजाङ्गलशूल्यभुक् ॥ २० ॥

सहकाररसोन्मिश्रानास्वाद्य प्रिययार्पितान् ।

प्रियास्यसङ्गसुरभीन् प्रियानेत्रोत्पलाङ्कितान् ॥ २१ ॥

सौमनस्यकृतो हृद्यान्वयस्यैः सहितः पिबेत् ।

निर्गदानासवारिष्टसीधुमार्द्धीकमाधवान् ॥ २२ ॥

तीक्ष्णैर्वमननस्यविरेकादिभिरुपक्रमेत् । तथा लघूनि रुक्षाणि च यानि भोज-
नानि तैश्च । तथा व्यायामश्चोद्धर्तनं च आघातश्च तैश्च कफं जयेदिति ।
चशब्दो लुप्तनिर्दिष्टः । ततः कफमुल्बणमुद्धतं जित्वाऽनन्तरं स्नातोऽनुलिप्तः समा-
लब्धः कर्पूरचन्दनागुरुकुङ्कुमैस्तथा पुराणं च तद्यवगोधूमं च तथा क्षौद्रं
माक्षिकं तथा जाङ्गलं च तत् शूल्यं भट्टिन् च तत्तानि भुङ्क्ते पुराणयवगोधूम-
क्षौद्रजाङ्गलशूल्यभुक् । शूल्य इति शूलात्पाक इति यः । एवंविधः सन् वयस्यैर्मित्रैः
सहित आसवादीन् पिबेत् । किंभूतान् । निर्गदान् निर्दोषान् । पिबेदिति वक्ष्य-
माणेन सम्बन्धोऽत्र दीपकत्वात् । आसवो यो द्रव्याण्यसुत्य क्रियते । उक्तं च ।
“मद्याकाराधिकद्रव्यमदिराद्यैः कृतस्तु यः । सोऽरिष्टः स्यादासवस्तु द्रव्याण्यसुत्य
यः कृतः” इति । सीधुरिचुरसोद्भवः । मार्द्धीकं मृद्धीकारसोद्भवम् । माधवो मधुना
संस्कृतः । किंभूतानासवादीन् । सहकाररसोन्मिश्रान् प्रियया आस्वाद्य किञ्चित्पी-
त्वाऽर्पितान् ढौकितान् । तथा प्रियास्यसङ्गेन सुरभीन् सुगन्धीन् । तथा प्रियानेत्रा-
ण्येवोत्पलानि तैरङ्कितान् संजातशोभान् । तथा सौमनस्यकृतश्चित्तप्रसादकृतः ।
तथा हृद्यान् हृदयाय हितान् ।

शृङ्गेबेराम्बु साराम्बु मध्वम्बु जलदाम्बु वा ।

तथा शृङ्गेबेराम्बु शुण्ठीकथितजलं पिबेत् । तथा सार असनचन्दनादिजस्तेन

कथितमम्बु पिबेत् । तथा मधुना युक्तमम्बु मध्वम्बु । जलदेन मुस्तया च कथितमम्बु पिबेत् । वेति समुच्चये ।

दक्षिणानिलशीतेषु परितो जलवाहिषु ॥ २३ ॥

अदृष्टनष्टसूर्येषु मणिकुट्टिमकान्तिषु ।

परपुष्टविघुष्टेषु कामकर्मान्तभूमिषु ॥ २४ ॥

विचित्रपुष्पवृक्षेषु काननेषु सुगन्धिषु ।

गोष्ठीकथाभिश्चित्राभिर्मध्याह्नं गमयेत्सुखी ॥ २५ ॥

काननेषूपवनेषु स्थितो मध्याह्नं गमयेदतिवाहयेत् । अहो मध्यो मध्याह्नः । संख्या-
विसायेत्यादिज्ञापकात्पूर्वापरत्यादिना एकदेशिसमासः । अहोऽह एतेभ्य इत्यहोदेशः ।
कथंम् । गोष्ठ्यां क्रीडायां कथा गोष्ठीकथास्ताभिश्चित्राभिः कमनीयाभिर्यवहार-
सम्बन्धिनीभिरित्यर्थः । कीदृशः सन् । सुखी रागद्वेषादिरहितः । किंभूतेषु काननेषु ।
दक्षिणदिक्प्रवृत्तरिनैः शीतानि तेषु दक्षिणानिलशीतेषु । तथा परितः समन्ताज्जलं
नित्यं वहन्ति यानि तेषु । आभीक्ष्ये णिनिः । तथा क्वचित्प्रदेशेऽदृष्ट ईषद्दृष्टः
क्वचिदतिघनत्वान्नष्टो न दृश्यते सूर्यो येषूपवनेषु तान्येवं तेषु । तथा मणीनां वज्र-
मरकतादीनां कुट्टिमानि विशिष्टा भुवस्ताभिः कान्तिः शोभा येषां तान्येवं तेषु ।
तथा परपुष्टैः कोकिलैर्विघुष्टेषु कृतशब्देषु तथा कामस्य कर्मान्ताः कामकर्मान्ता
मदनव्यापाराः । अन्तशब्देऽत्र प्रशंसावचने । यथोद्धटस्य वचनम् । वनान्तदेवता-
वेण्य इति । कामकर्मातिनिमित्तं भूमयो येषां वनानां तान्येवं तेषु । विचित्राणि
नानारूपाणि पुष्पाणि येषां ते तथाविधा वृक्षा येषां तान्येवं तेषु । सुष्ठु गंधो येषां
तेषु । गंधस्येदितीत्समासान्तः । अस्मिन्काले कफोपचयदोषभयात् ।

गुरुशीतादिवास्वप्रस्निग्धाम्लमधुरांस्त्यजेत् ।

गुरुशीतादींस्त्यजेत् । ननु लवणमपि श्लेष्माणं करोति तत्कस्मादिह न निषि-
द्धम् । अतो ब्रमः । लवणः पूर्वं कफमम्लमधुराविव न करोति किंतर्हि निधने
चिरन्तनसंचितं स्रतिरूपं श्लेष्माणं विधत्ते विष्यन्दित्वात् । न च लवणस्य मधुरादेरिव
बहुतरस्य प्रयोगः प्रसिद्धः किंतर्ह्यल्पस्यैव । तस्मात्त्वणस्यात्रानिषेध एव न्याय्यः ।

अधुना ग्रीष्मचर्यामुपदिदिचुराह ।

तीक्ष्णांशुरतितीक्ष्णांशुर्ग्रीष्मे संक्षिपतीव यत् ॥ २६ ॥

प्रत्यहं क्षीयते श्लेष्मा तेन वायुश्च वर्धते ।

यद्यस्मात्तीक्ष्णांशुर्मास्क्रोऽतितीक्ष्णा अंशवः करा यस्य स एवंभूतः सन् ग्रीष्मे
संक्षिपतीव जगत्क्षेमिल्यत्रानुक्तमप्यर्थाल्लभ्यते । केचित्तु क्षेममर्कोऽतितीक्ष्णांशुरिति
पठन्ति । क्षेमस्तेजो बलं सारमित्येकोऽर्थः । तं क्षेममर्कः संक्षिपतीव यत्सम्बन्धः
संहरतीव पिबतीव । इवशब्देनैतत्सूचयति । हेतुप्रत्ययपरतन्त्रेषु सर्वभावेषु न कश्चि-
त्क्वचित्तद्बुद्धिपूर्वकं संहरति । परमार्थतो बलहानिकृत्वादेशाम् ।

अतोऽस्मिन् पटुकद्वम्लव्यायामार्ककरांस्यजेत् ॥ २७ ॥

अतोऽस्मात्कारणादस्मिन् ग्रीष्मकाले पट्वादींस्यजेत् ।

किमत्र सेव्यमित्याह—

भजेन्मधुरमेवात्रं लघु स्निग्धं हिमं द्रवम् ।

मधुरमेवात्रं भजेत् । बाहुल्येन मधुरमत्रं सेव्यं न तथाऽन्यरसजातमित्येव-
काराह्वयते । तथा लघु स्निग्धं हिमं द्रवं चेति चशब्दो लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्यः ।

सामान्येन भोजनमुक्त्वा विशेषणाह—

सुशीततोयसिक्काङ्गो लिह्यात्सक्तून् सशर्करान् ॥ २८ ॥

सक्तून् सशर्करान् लिह्यात् । सुष्ठु शीतं सुशीतं च ततोऽयं च तेन सिक्कमा-
प्लुतमर्जं कायो यस्य स एवम्भूतः सन् ।

मद्यं न पेयं पेयं वा स्वल्पं सुबहुवारि वा ।

अस्मिन्काले मद्यं न पेयम् । पेयं वा स्वल्पमिति । वातश्लेष्मप्रकृतिना वात-
क्षयार्थमन्यर्तुवद्बहु न पेयं किन्तिहि स्वल्पमेव पातव्यम् । सुबहुवारि वेति पित्त-
श्लेष्मप्रकृतिना मद्योचितेन श्लेष्मप्रतिक्रियार्थं पित्तप्रतीकारमपीच्छता सुबहुवारि
तन्मद्यं पेयमित्यत्रानुक्तोप्येवमर्थाद्विषयविभागो बोध्यः । अन्यथा निषेधविध्यो-
र्विरोधः स्यात् ।

उक्तविध्यतिक्रमे दोषमाह—

अन्यथा शोफशैथिल्यदाहमोहान् करोति तत् ॥ २९ ॥

तन्मद्यमन्येन प्रकारेण पीतं सत् शोफादीन् करोति । शोफः श्वयथुः । शैथि-
ल्यमङ्गानामनैष्ठुर्यम् । दाहः सर्वाङ्गीणस्तापः । मोहोऽज्ञानं जन्तोः ।

कुन्देन्दुधवलं शालिमश्रीयाज्जाङ्गलैः पलैः ।

कुन्दः पुष्पविशेषः । इन्दुश्चन्द्रः । तयोर्द्वन्द्वः । कुन्देन्दुवद्धवलं शुक्लं शालिं
जाङ्गलैः पलैर्मसैः सहाश्रीयादद्यात् । “जुरणस्मितः स्मृतः शाली रक्तो ब्रीहिरुदाहृतः” ।

पिबेद्रसं नातिघनं रसालां रागखाण्डवौ ॥ ३० ॥

पानकं पञ्चसारं वा नवमृद्भाजनस्थितम् ।

मोचचोचदलैर्युक्तं साम्लं मृन्मयशुक्तिभिः ॥ ३१ ॥

रसं नातिघनं पिबेत् । रसशब्देनादिलोपाख्यया तन्त्रयुक्त्या मांसरस उच्यते ।
तथा रसालां मार्जिकाख्यां पिबेत् । तथा रागखाण्डवौ पानकं च पञ्चसाराख्यम् ।
एतेषां च लक्षणं तन्त्रान्तर उक्तम् । यथा—“सितामध्वादिमधुरा रागास्तत्राच्छु-
कान्तयः । ते साम्लाः खाण्डवा लेह्याः पेयाश्चांशुकगालिताः । स्वाद्वम्लपटुकद्व-
वाद्याः प्रलेहास्तत्र खाण्डवाः । गुडदाडिममांसाद्या रागाश्चांशुकगालिताः । हृद्या
वृष्या रुचिकरा आहिणो रागखाण्डवा” इति । तथा । “द्राक्षामधूकखर्जूरकाश्मर्यः
सपरुषकाः । तुल्यांशैः कल्पितं पूतं शीतं कर्पूरवासितम् । पानकं पञ्चसाराख्यं

दाहतृष्णानिवर्तकम् । अन्त्र चोक्तम् । यथा—“गुडदाडिमादियुक्ता विज्ञेया राग-
खाण्डवाः । त्रिजातमरिचाद्यैस्तु संस्कृताः पानकास्तथेति” । कीदृशं पानकं पिबेदि-
त्याह । नवं च यन्मृद्भाजनं तत्र स्थितम् । तथा मोचं कदलीफलं चोचं पनसफलं
तयोर्दलानि तैर्युक्तम् । तथा साम्लम् । तिन्त्रिडीकादियोगात् खारण्डवरसानुगतम् ।
केचित्तु क्षीरं घृतपिप्पलीशशिमाक्षिकशर्करांपेतं पञ्चसारं पानकमित्याहुः । केन
पिबेदित्याह । मृन्मयशुक्तिभिः ।

पाटलावासितं चाम्भः सकर्पूरं सुशीतलम् ।

पाटलया वासितं सुरभीकृतं तथा सकर्पूरं सुशीतलं चाम्भः पिबेत् । मृन्मय-
शुक्तिभिरित्यत्रापि योज्यम् । सुश्रुते चोक्तम् । “परिपेलवया तुल्यास्तथा गुग्गुलु-
मुस्तकाः । चूर्णिताः शशिनोपेता नवभाजनधूपनम् । कुष्ठमुस्तकसंयुक्तैः पेलवोशीर-
वालकैः । मृदिता मृत्सु पिष्टैस्तैः खदिराङ्गारपाचिताः । सहकाररसाभ्यक्ताश्चम्पको-
त्पलवालकैः । पञ्चकुञ्जककुन्दैश्च यथालाभादिवासिताः । श्रेष्ठः सलिलवासोऽयं स्मृतः
सर्वर्तुको बुधैः” ।

• शशाङ्ककिरणान् भक्ष्यान् रजन्यां भक्षयन् पिबेत् ॥ ३२ ॥

ससितं माहिषं क्षीरं चन्द्रनक्षत्रशीतलम् ।

माहिषं क्षीरं ससितं सशर्करं रजन्यां रात्रौ पिबेत् । किम्भूतम् । चन्द्रण
नक्षत्रैश्च शीतलम् । रजन्यां रात्रवकाशे शैत्यार्थं स्थापितमित्यर्थः । किं कुर्वन्
पिबेत् । भक्षयन् भक्ष्यान् भुञ्जन् । कीदृशान् । शशाङ्ककिरणान् कर्पूरनाडिकारूयान् ।

अभ्रङ्कषमहाशालतालरुद्धोष्णरश्मिषु ॥ ३३ ॥

वनेषु माधवीक्षिष्टद्राक्षास्तबकशालिषु ।

अभ्रमाकाशं कषन्तुल्लिखन्त्युच्चतयाऽभ्रंकषाः महान्तश्च शालाश्च तालाश्च
महाशालतालाः । अभ्रंकषाश्च ते महाशालतालाश्च तै रुद्धः स्थगित उष्णरश्मिर्दि-
नकरो येषु वनेषु तेषु मध्यन्दिने मध्याह्नेऽर्कतापार्तः सन् स्वप्याच्छ्रयाति । वनेष्विति ।
माधव्यो लताविशेषा अतिमुक्तकारूयास्तासु क्षिष्टा माधवीक्षिष्टाः द्राक्षायाः स्तबका
गुच्छका द्राक्षास्तबकाः । माधवीक्षिष्टाश्च ते द्राक्षास्तबकाश्च तैः शालितुं श्लाघितुं
शीलं येषां वनानां तानि माधवीक्षिष्टद्राक्षास्तबकशालीनि तेषु वनेषु ।

कस्मिन् स्वप्यादित्याह—

सुगन्धिहिमपानीयसिच्यमानपटालिके ॥ ३४ ॥

कायमाने चिते चूतप्रवालफर्षलुम्बिभिः । ल

कायमाने वेणवादिनिष्पादिते गृहविशेषे । कीदृशे । सुगन्धि च तद्धिमं च
तत्पानीयं च तत्सुगन्धिहिमपानीयम् । पटानां वज्रापामालिः पङ्क्तिः पटालिः । सुग-
न्धिहिमपानीयेन सिच्यमाना पटालिर्यस्मिन्नसौ सुगन्धिहिमपानीयसिच्यमानपटा-
लिकस्तस्मिन्स्तथाविधे कायमाने । तथा । प्रवालाः किसलयानि । फलानां लुम्ब-

यस्तबकाः । प्रवालाश्च फललुम्बयश्च प्रवालफललुम्बयः । चूतानां प्रवालफल-
लुम्बयस्ताभिश्चिते परितो व्याप्ते ।

ईदृशे कायमाने स्थितो यादृशे शयने शयीत तन्निरूपयन्नाह—

कदलीदलकङ्कारमृणालकमलोत्पलैः ॥ ३५ ॥

कल्पिते कोमलैस्तल्पे हसत्कुसुमपल्लवे ।

मध्यंदिनेऽर्कतापार्तः स्वप्याद्वारागृहेऽथवा ॥ ३६ ॥

तल्पे शयने कल्पिते । कैः । कदलीदलादिभिः । कदल्या रम्भाया दलानि
पत्राणि । कलङ्कारं सौगन्धिकम् । मृणालं बिसम् । कमलं पद्मम् । उत्पलं कुमु-
दम् । एतेषां द्वन्द्वः । तैः कदलीदलादिभिः कोमलैः सुकुमारस्पर्शैः कल्पिते रचिते ।
किंभूते । कुसुमानि च पल्लवाश्च कुसुमपल्लवाः । हसन्त इव कुसुमपल्लवा यत्र तस्मिन्
धारागृहेऽथवा स्वप्यादित्यनुवर्तते । धारागृहमविरतममलजलधाराः पतन्ति यत्र ।

किम्भूते—

पुस्तस्त्रीस्तनहस्तास्यप्रवृत्तोशीरवारिणि ।

पुस्तस्त्रीस्तनहस्तास्यैः प्रवृत्तमुशीरवारि यत्र तस्मिन् । पुस्तो दार्वादिमय्याः
स्त्र्याद्याकृतेरुपादानकारणं यद्वस्तु तदुच्यते ।

निशाकरकराकीर्णे सौधपृष्ठे निशासु च ॥ ३७ ॥

आसना

निशासु च रात्रिषु सौधपृष्ठे हर्म्यतले आसना स्थितिः । कार्येत्यध्याहार्यम् ।
तत्रासीतेत्यर्थः । किम्भूते सौधपृष्ठे । निशाकरः । शीतांशुस्तस्य कराः गभस्तयस्तै-
राकीर्णे व्याप्ते ।

स्वस्थचित्तस्य चन्दनार्द्रस्य मालिनः ।

निवृत्तकामतन्त्रस्य सुसूक्ष्मतनुवाससः ॥ ३८ ॥

जलार्द्रास्तालवृन्तानि विस्तृताः पद्मिनीपुटाः ।

उत्क्षेपाश्च मृदूत्क्षेपा जलवर्षिहिमानिलाः ॥ ३९ ॥

कर्पूरमल्लिका माला हाराः सहरिचन्दनाः ।

मनोहरकलालापाः शिशवः सारिकाः शुकाः ॥ ४० ॥

मृणालवलयाः कान्ताः प्रोत्फुल्लकमलोज्ज्वलाः ।

जंगमा इव पद्मिन्यो हरन्ति दयिताः क्लमम् ॥ ४१ ॥

स्वस्थचित्तस्य रागाद्यनुपहतमनसो जलार्द्राः क्लमं हरन्ति । एवं तालवृन्तादयो
योज्याः । अन्तर्दीपकत्वादस्य । तस्य च कटिशस्य । चन्दनार्द्रस्य चन्दनेनानुलिप्तस्य ।
तथा मालिनः सन्निवणः । तथा निवृत्तं कामतन्त्रं पुष्पधन्वपरिच्छदो यस्य । तथा
सुष्ठु सूक्ष्मे तनुनी स्वच्छे वाससी यस्य स एवम् । जलार्द्राः पानीयकृतार्द्राः
शाटिकाः । तालवृन्तानि मयूरपिच्छादिद्रुतानि तालवृन्ताकृतीनि व्यजनानि । तथा

विस्तृता महान्तः पद्मिनीपुट्टा नलिनीपत्राणि बीजनार्थम् । तथोत्क्षेपाः मयूरपिच्छा-
दिकृता व्यजनविशेषाः । ते च किम्भूताः । मृदुहृत्क्षेपो येषु ते मृदुहृत्क्षेपाः । जलवर्षा
हिमोऽनिलो येषु मृदुहृत्क्षेपेषु ते जलवर्षिहिमानिलाः । शीतजलाभ्युक्षितैरेतैर्वातः
कार्य इत्यर्थः । कर्पूरेत्यादि । मालाशब्दः प्रत्येकं प्रयुज्यते । स्फटिककर्पूरप्रथिता
माला मल्लिकामालाश्चेत्यर्थः । तथा हारा मुक्तादामानि । किम्भूताः । सद् हरिचन्द-
नेन सहरिचन्दनाः । यच्छेदे लोहितमतिगुण्धं सुष्ठु शीतवीर्यं च तद्वरिचन्दन-
मुच्यते । मनोहरेत्यादि । मनोहरो रम्यः कलो मधुर आलापो येषां ते मनोहर-
कलालापाः । शिशवो बालकाः । तथा सारिकाः शरारयः । शुकाः कीराः । मृणालेत्यादि ।
मृणालान्यतिकोमलानि विसानि वलयाः कटकानि यासां ता दयिता योषितः ।
किम्भूताः । कान्ता रम्याः । तथा प्रकुलैर्विकसितैः कमलैरुज्ज्वलाः शोभिता एवम्भू-
ताश्च । उत्प्रेक्ष्यन्ते । जङ्गमाः सञ्चारिण्य इव पद्मिन्यः । क्लमं हरन्तीति योज्यम् ।
स्वस्थचित्तस्येति प्राधान्यरूपापनार्थं प्रागुपात्तम् । स्वस्थचित्तस्यैव ते जलार्द्रादयः
क्लमं हरन्ति न तथोपतप्तमनसः । चित्तायत्ता हि सर्वभावानां शुभाशुभप्रवृत्तयः ।
तथा न्व स्निग्धमधुरोऽप्याहार उपयुक्तः सुखशय्यादिरपि विहारः सेवितः शोकाविष्ट-
चेतसो न तथा शरीरस्य पुष्टिमादधाति । अत एव “शोकः^१ शोषणानामित्यग्र्य-
संग्रहे प्रोक्तम्” । तथा रुद्धोऽप्याहारस्तथाविधो विहारश्च सेवितो निर्वृत्तमनसः
पुष्टिमेवादधाति न कार्श्यम् । तथाचोक्तम् । “निर्वृत्तिः^२ पुष्टिहेतूनामिति” । सुश्रुते
च क्लमस्य लक्षणमुक्तम् । “योऽनायासश्रमो देहे प्रवृद्धः श्वासवर्जितः । क्लमः स इति
विज्ञेय इन्द्रियार्थप्रबाधक इति” ।

इदानीं वर्षाचर्या निर्दिदितुरिदमाह—

आदानग्लानवपुषामग्निः सन्नोऽपि सीदति ।

वर्षासु दोषैः

आदानमुक्तम् । तेनादानाख्येन कालेन ग्लानं सक्लमं वपुः शरीरं येषां पुरु-
षाणां त आदानग्लानवपुषस्तेषामपचितधातूनामग्निरप्यपचितः सन्नो मन्दः सन्
पुनर्वर्षासु सीदति हानिं याति । अपिशब्दः पुनरर्थे । अनेकार्थत्वाज्जिपातानाम् ।
वर्षास्विति नित्यबहुत्वाद्वहुवचनम् । केन सीदतीत्याह । कालस्वभावाद्दोषैर्वातपित्त-
श्लेष्मभिर्दुष्टैरित्यनुक्तमप्यर्थान्द्रम्यते । यतोऽग्निसादेहेतुत्वमदुष्टानां तेषां न सम्भवति ।
तस्माद्दुष्टैर्दोषैरग्निः सीदतीत्यर्थान्त्रम्यते ।

ननु कथं वर्षासु दोषाणां दुष्टत्वं स्यादित्याह—

दुष्यन्ति तेऽम्बुलम्बाऽम्बुदेऽम्बरे ॥ ४२ ॥

सतुषारेण मरुता सहसा शीतलेन च ।

भूवाष्पेणाम्लपाकेन मलिनेन च वारिणा ॥ ४२ ॥

वह्निनैव च मन्देन

मौ. टि. १, २ इमे चरकवचने द्वे एव (च. सू. २५ अ.) ।



ते दोषाः दुष्यन्ति । कदा । अम्बरे वियत्यम्बुलम्बाम्बुदेऽम्बुना लम्बा अतिनिर्भरत्वाद-
म्बुलम्बा ईदृशा अम्बुदा मेघा यस्मिन्नेवंविधे । अनेन च विशेषणेन स्य कालस्य
स्वरूपमुपलक्षयन्त्याचार्याः । यदैवंविधो वर्षाकालः सम्पद्यते तदैवैते दोषा दुष्यन्ति
स्वकर्मण्ययोग्याः सम्पद्यन्ते न वर्षाकालमात्रेऽनासादितस्वरूपे । तथा सतुषोरेण
सजलकरणेन मरुता पवनेन सहसा ग्रीष्मतापसन्तापादनन्तरमेव शीतलेनाभ्यन्तरो
वायुर्दुष्यति । तथा भुवोबाष्प ऊष्मा भूबाष्पस्तेन । तथा कालस्वाभाव्यादम्लपाकेन
वारिणा पित्तं दुष्यति । तथा मलिनेन वारिणा लूतादितन्तुविण्मूत्रेत्यादिकलुषेण
वर्षाजलेन कालस्वाभाव्याच्चातिशयेन मन्दत्वं गतेनाग्निना श्लेष्मा दुष्यति । तदैत-
देवमस्मिन्काले वातपित्तश्लेष्माणो युगपत्कालस्वाभाव्याद्दुष्यन्ति । नन्विह त्रया-
णामपि दोषाणां कोपोऽनुज्ञायते । वक्ष्यति तु । “चयप्रकोपप्रशमा वायोर्ग्रीष्मादिषु
त्रिष्विति” । तदिमे वचसी परस्परं व्याघ्राते । अत्रोच्यते । नानयोर्वाक्योर्मिथो
विरोधः सम्भाव्यते । यस्मादिह दुष्यन्तीत्युक्त्या स्वस्था एव दुष्टिं प्राप्ता विषादि-
स्पृष्टद्रव्यवत्कार्यकरणेऽसमर्था जायन्ते इत्युक्तम् । चयप्रकोपप्रशमा इत्यत्र च प्रकर्षेण कोपः
स्थानान्तरगतिलक्षणो गदितः । तदेवमस्मिन् काले वायोः कदाचिद् दुष्टत्वं स्यात्
कदाचित्कोपश्चेति वचनाभ्यामेताभ्यां प्रत्यपादि । पित्तश्लेष्मणोस्तु दुष्टत्वमात्रमेवेति
न किञ्चिदत्रासमञ्जसम् ।

तेष्वित्यन्योन्यदूषिषु ।

भजेत्साधारणं सर्वमूष्मणस्तेजनं च यत् ॥ ४४ ॥

इति प्रकारे । अन्योन्यं दूषयितुं शीलं येषां वातादीनां त एवं तेष्वनेन प्रका-
रेण परस्परं दूषणस्वभावेषु सत्सु भजेत् । साधारणं सर्वं यत्किञ्चिद्वातादीनां युग-
पत् प्रशमनं तत्सर्वं सेवेत । यच्चोष्मणो जाठराभस्तेजनमुद्दीपनं तद्भजेत् । ऊष्मण-
स्तेजनस्यात्र चशब्दयुक्तस्योपादनं प्राधान्यख्यापनार्थम् । अग्निर्हि सर्वभावानां
प्रधानम् । तथा च वक्ष्यति । “ शान्तेऽग्नौ म्रियते युक्ते चिरं जीवत्यनामयः । रोगी
स्याद्विकृते मूलमग्निस्तस्मान्निरुच्यत इति ” । तस्मादग्न्युत्तेजनार्थं यत्नः कार्य इति
भावः । भजेदिति क्रियापदं दीपकत्वाद्भोजनं त्वतिदुर्दिनं इतियावत्सर्वेषु योज्यम् ।

किं तत्साधारणमिति तदुदाहरणार्थमाह—

आस्थापनं शुद्धतनुर्जीर्णं धान्यं रसान् कृतान् ।

जाङ्गलं पिशितं यूषान् मध्वरिष्टं चिरन्तनम् ॥ ४५ ॥

मस्तु सौवर्चलाढ्यं वा पञ्चकोलावचूर्णितम् ।

दिव्यं कौपं शृतं चाम्भो भोजनं त्वतिदुर्दिने ॥ ४६ ॥

व्यक्ताम्ललवणस्नेहं संशुष्कं क्षौद्रवल्लघु ।

शुद्धा तनुर्यस्य स एवम्भूतः कृतविरेकादिः सन्नास्थापनं निरूहं भजेत् । तथा
जीर्णं धान्यं पुराणयवगोधूमादिकम् । तथा रसान् मांसरसान् । किम्भूतान् ।

कृतान् स्नेहशुण्ठ्यादियुताम् । तथा जाङ्गलं पिशितं हरिणैणादिकं मांसम् । तथा
यूषान् मुद्गदाडिमादिकृतान् । तथा मधु मार्द्वकमरिष्टं द्वयमध्येतच्चिरन्तनं पुराणं
ननु नवमग्निमान्द्यभयात् । मस्तु सौवर्चलाव्यमक्षलवणसंयुक्तम् । वेति समुच्चये ।
किम्भूतं मस्तु । पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागराः पञ्चकोलं तेनावचूर्णितम् ।
तथा दिव्यमाकाशजं तथा कौपं तथा शृतं कथितं चाग्निः पिबेत् । चः समुच्चये ।
दिवि भवं दिव्यम् । दिगादित्वाद्यत् । कूपे भवं कौपम् । प्राग्दीव्यतोऽयम् । अति-
दुर्दिने वातवर्षाकुलेऽहनि व्यक्ताः प्रधाना अम्ललवणस्नेहा यत्र तद्भोजनं भजेत् ।
तथा संशुष्कं शुष्कप्रत्यम् । तथा क्षौद्रवत्समाक्षिकम् । तथा लघु । ननु वातलं
मध्विति वक्ष्यति । पवनश्चात्र कुप्यतीत्युक्तम् । अतो माक्षिकस्यात्रोपयोगो न युक्तः ।
अत्रोच्यते । देहधातवोऽस्मिन् काले क्लेदमुपयान्ति । ततश्च क्लेदसंरक्षण एवोपक्षीण-
प्रभावत्वान्मधु मरुत्कोपं विधातुमसमर्थम् । तस्मान्मधूप्रयोगो न्याय्य एव ।

अथाऽत्र काले यादृशः पुरुषः स्यात्तं दर्शयति ।

अपादचारी सुरभिः सततं धूपिताम्बरः ॥ ४७ ॥

हर्म्यपृष्ठे वसेद्वाष्पशीतशीकरवर्जिते ।

पादाभ्यां चरति नित्यं पादचारी नैव यः सोऽपादचारी यानयायी स्यात् ।
तथा सुरभिः शोभनगन्धयोगात् । स्नानशीलः समुरभिरित्यनेनैवास्योक्तत्वात्सुरभि-
ग्रहणमतिशयार्थम् । तथा सततमविरतं धूपितेऽम्बरे यस्य स एवम् । तथा हर्म्य-
पृष्ठे धवलगृहतले वसेत् तिष्ठेत् । कीदृशे । वाष्पश्च शीतं च शीकरश्च तैर्वर्जिते ।

नदीजलोदमन्थाहःस्वप्नायासातपांस्यजेत् ॥ ४८ ॥

तथा नदीजलादीन्पञ्च त्यजेत् । उदकालोडिताः सक्कवः ससर्पिष्का
उदमन्थवाच्या जलावचारीसंज्ञाः । तदत्र काले सात्म्यत्वात्सक्कवस्तक्रादिसंयोगा-
न्नात्यन्तमनिष्टाः । पानीयसंयोगात् वातलाः प्रकृष्टवातले काले नाभीष्टा एव ।
मुनिना त्वेवमुक्तम्—“उदमन्थं दिवास्वप्नमवश्यायं नदीजलम् । व्यायाममातपं
चैव व्यवायं चात्र वर्जयेदिति” ।

अधुना शरच्चर्या विवक्षुराह ।

वर्षाशीतेऽचिताङ्गानां सहसैवार्करश्मिभिः ।

तप्तानां सञ्चितं वृष्टौ पित्तं शरदि कुप्यति ॥ ४९ ॥

तज्जयाय घृतं तिक्तं विरेको रक्तमोक्षणम् ।

वर्षासु शीतं वर्षाशीतं वर्षाशीतमुचितं सात्म्यं यस्य तदेवं विधमङ्गं वपुर्येषां
ते वर्षाशीतोचिताङ्गा नरास्तेषां सहसैव भटिल्येव शरदि जातायामर्करश्मिभिर्भानु-
भाभिस्तप्तानां सतां पित्तं कुप्यति । किम्भूतम् । वृष्टौ सञ्चितं वर्षासु वृद्धिं गतम् ।

मौ० टि०—१ शीकरः=वातक्षिप्तजलकणः ।



यतश्चैवं ततश्च तज्जयाय तिक्तं घृतं कुष्ठचिकित्सितोक्तं योज्यमिति वाक्यशेषः । यदि वा तिक्तैर्द्रव्यैः स्नाधितम् । तथा विरेको योज्यः । तथा रक्तमोक्षणं च सर्वोपक्रमेभ्यः पित्ते विरेकस्य ज्यायस्त्वादिव पूर्वमुपन्यासः । तथा ह्याह । विरेचनं पित्तहराणामिति । ततो रक्तमोक्षणं पित्ताधारत्वाद्रक्तस्य । विरेचनाङ्गत्वाच्च तज्जयाय घृतं तिक्तमिति घृतस्य पूर्वमुपन्यासः, न ह्यस्निग्धस्य विरेचनप्राप्तिरस्ति । तथा च वक्ष्यति—“क्षेहस्वेदावनभ्यस्य कुर्यात्संशोधनं तु यः । दारु शुष्कमिवानामे शरीरं तस्य दीर्यत इति” । तथा विरिक्तस्य सुतरक्तस्य च पवनप्रकोपमयम् । कालस्वाभाव्याच्च पित्तकोपसयम् । तदेतत्परिहर्तुं तथा पुष्प्यर्थमभिसन्धुक्षणां च तिक्तघृतोपयोगः कार्यः । इत्यनेन कार्यकारणत्वेन प्राधान्याच्च तिक्तघृतस्य पूर्वमुपन्यासः । असमासकरणं च ज्ञापनार्थम् । नैतानि सर्वाण्यवश्यं तिक्तघृतादीनि तदा कार्याणि । किंति हि देशाद्यनुरोधात्कदाचित्पित्तविजयाय तिक्तं घृतं कदाचिद्विरेकः कदाचिद्रक्तमोक्षः कदाचिद् द्वयं कदाचित्सकलान्येवेति । विरेकस्तु पित्तविजयार्थमवश्यं शरदि कार्यः । तथा वसन्ते श्लेष्मविजयाय वमनम् । वर्षासु च पवनविजयाय वस्तिः । अत एव प्राङ्निर्दिष्टं ‘वसन्ते च वमनं, वर्षासु चास्थापनं, शरदि विरेक इति’ ।

तिक्तं स्वादु कषायं च क्षुधितोऽन्नं भजेत्तद्यु ॥ ५० ॥

शालिमुद्गसिताधात्रीपटोलमधुजाङ्गलम् ।

क्षुधितोऽन्नं भोजनं तिक्तादिगुणयुक्तं भजेत् । क्षुधितग्रहणमतिबुद्धितप्रतिपादनार्थम् । अक्षुधितस्य भोजनाधिकाराभावात् । किं तत्तिक्तादिगुणयुक्तमित्याह । शालीत्यादि । शाक्यादीन् सप्त भजेत् ।

तप्तं तप्तांशुकिरणैः शीतं शीतांशुरग्निमभिः ॥ ५१ ॥

समन्तादप्यहोरात्रमगस्त्योदयनिर्विषम् ।

शुचि हंसोदकं नाम निर्मलं मलजिज्जलम् ॥ ५२ ॥

नाभिष्यन्दि न वा रूक्षं पानादिष्वमृतोपमम् ।

समन्तात्सर्वतः सूर्यप्रभाभिरहनि तप्तं कथितं च चन्द्रकिरणैर्निशि शीतीकृतम् । तथा अगस्त्योदयेन निर्विषीकृतम् । तथा शुचि पवित्रम् । वर्षासु ह्यशुचीत्युक्तम् । तच्च हंसोपभोग्यतया हंसवदतिनैर्माल्याद्वंसोदकं नाम तन्त्रकारैरायुर्वेदशास्त्रे संज्ञितम् । तथा निर्मलमकलुषम् । तथाऽमलत्वात् पित्तश्लेष्माणौ जयतीति मलजित् । अगस्त्योदयनिर्विषशब्देन विशेषणैर्नैतत्प्रतिपादयति । यथा यदन्तरिक्षप्रभवं सरस्तडागादिस्थं जलं तदेव प्रायेण शरद्येवगुणं वेद्यं न कूपादिप्रभवम् । तस्य सदा निर्विषत्वात् । तथा चान्तरिक्षप्रभवमेव पठ्यते—“लूतादितन्तुविगमूत्रविषसंश्लेषदूषितमिति” । तच्च नाभिष्यन्दि न सतिरूपश्लेष्मकारि न वा रूक्षं न वातप्रकोपकारि । वाशब्दश्चशब्दस्यार्थेऽत्र । यतस्तप्तांशुकिरणैस्तप्तं यतश्च शीतांशुतारकाकरैः शीतं प्रह्लादितमित्थं क्षेहरौक्ष्ययोरन्तरे वर्तमानं पानादिष्व-

मृतोपमम् । आदिशब्देन स्नानावगाहयोर्ग्रहः । कुपितशेषशमनादकुपितदोषसाम्यानुवृत्तिहेतुत्वाच्चाभृततुल्यमेतज्जलं भजेदित्यर्थः । अत्रोष्णांशुग्रहणमभितापनिवृत्तये । किरणग्रहणं साक्षात्तत्स्पर्शसम्भावनार्थम् । दवपलाशादिभिरास्तृतमपि रविस्तापयति न तु तत्तथा गुणवत् । अतः किरणग्रहणेन तद्वधवधानव्युदासं करोति । नच सर्वं दिनं सूर्यकिरणैस्तापः सम्भवति । चन्द्रकैरेस्तु सर्वा रात्रिं कथमिव स्यात् । यतः सकलचन्द्रमसः पौर्णमास्यामेव सर्वस्यां रात्र्यां सम्भवो नान्यत्र । तस्माच्छीतं चन्द्रकिरणै रात्र्यामिति नैतद्युक्तम् । अत्रोच्यते । विमले व्योमनि यथैव रविचन्द्रौ यथाकालमव्याहृतस्वरूपप्राप्तौ पथ्यतां जलस्यापादयतस्तद्वन्नक्षत्राण्यपि । तस्मान्नक्षत्रैरपि शीतं चन्द्रेणैव श्रेष्ठमेव भवत्युदकम् । एवं च तदेवमवगच्छ । अन्यथैतद्वाक्यमयुक्तमिव स्यात् । चरकमुनिनाप्यनेनैवाऽभिप्रायेण नक्षत्रग्रहणं नाकारि । यथा—“दिवा सूर्याशुसन्तप्तं निशि चन्द्रशुशीतलमिति” । अष्टाङ्गसंग्रहेऽप्युक्तम् । “दिवा दिवाकरकैर्निशाकरकैर्निशीति” । अत्र सकलस्याहोरात्रस्य रविशशियोगाय दिवानिशाग्रहणमन्यथैतदनर्थकं स्याद्यभिचाराभावात् ।

चन्दर्नोशीरकर्पूरमुक्तास्त्रग्वसनोज्ज्वलः ॥ ५३ ॥

सौधेषु सौधधवलां चन्द्रिकां रजनीमुखे ।

चन्दनं चोशीरं च कर्पूरश्च मुक्ताश्च स्रजश्च वसनानि च तैरुज्ज्वलः शोभनः सन् सौधेषु धवलगृहपृष्ठेषु चन्द्रिकां ज्योत्स्नां भजेत् । कदा । रजनीमुखे प्रदोषे । परतस्तु निदाघ इव न सेव्या अवश्यायभयात् । अवश्यायो ह्यत्र परिहार्यः । तथा चाह ।

तुषारक्षारसौहित्यदधितैलवसातपान् ॥ ५४ ॥

तीक्ष्णमद्यदिवास्वप्नपुरोवातान् परित्यजेत् ।

तुषारादीन् दश परित्यजेत् । तुषारोऽवश्यायः । क्षारो यवक्षारादिः । सौहित्यं तृप्तिः । तीक्ष्णं च तन्मद्यं च तीक्ष्णमद्यम् । पुरोवातः पूर्वदिग्गतो वातः ।

व्यासेन ऋतुचर्यामुक्त्वा समासेनाह—

शीते वर्षासु चाद्यांस्त्रीन् वसन्तेऽन्त्यान् रसान्भजेत् ॥ ५५ ॥

स्वादुं निदाघे शरदि स्वादुतिक्लकषायकान् ।

शीते हेमन्तशिशिरयोर्वर्षासु चाद्यांस्त्रीन् स्वाद्रम्ललवणाख्यान् रसान् भजेत् । वसन्ते चान्त्यांस्त्रीन् तिक्लकटुकषायान्भजेत् । स्वादुं निदाघे ग्रीष्मे मधुरं भजेत् । शरदि स्वादुतिक्लकषायान्भजेत् ।

शरद्वसन्तयो रूक्षं शीतं घर्मघनान्तयोः ॥ ५६ ॥

अन्नपानं समासेन विपरीतमतोऽन्यदा ।

शरद्वसन्तयो रूक्षमन्नपानं समासेन भजेत् । अतो विपरीतं स्निग्धमन्यदा

मौ० टि०—१ तीक्ष्णं तीक्ष्णगुणविशिष्टं वस्तु रूक्षमरिचादि ।



हेमन्तशिशिरग्रीष्मवर्षासु । शीतमन्नपानं घर्मघनान्तयोर्भजेत् । अतो विपरीत-
मुष्णमन्नपानमन्यदा हेमन्तशिशिरवर्षावसन्ताख्ये काले भजेत् ।

सम्प्रति सेव्यत्वेनोपदिष्टस्याहारस्यापवादमाह—

नित्यं सर्वरसाभ्यासः स्वस्वाधिक्यमृतावृतौ ॥ ५७ ॥

नित्यं सर्वदा सर्वेषां षण्णामपि रसानामभ्यासः शीलनं कार्यमिति वाक्यशेषः ।
सर्वरसाभ्यासो बलकारणमिति वचनात् । नन्वेवं सति यथर्तुसेव्यत्वेन रसनियमो
यः पूर्व कृतः स विरुद्धो नेत्याह । स्वस्वेत्यादि । अृतावृताविति वीप्सायां द्वित्वम् ।
स्वं च स्वं च स्वस्वं तस्याधिक्यं भूयस्त्वं कार्यमिति शेषः । यथा शीते वर्षासु
चाद्यांस्त्रीनित्युक्तम् । तदेतेषु अृतुष्वेते रसा भूयसोपयोक्तव्याः । नत्वेत एवेत्यर्थः ।
तथा समधातुं प्रति समे देशे वैषम्यनियमो वेद्यः । अन्यत्र तु जाङ्गलेऽनूपे देशे
विषमधातोश्च धातुसाम्योत्पादनार्थं देशदेहानुगुणमन्यर्तुविधानमन्यस्मिन्नप्यृताव-
नुष्ठेयमेव ।

किमन्यस्मिन्नृतौ प्राप्ते पूर्वर्तुचर्या सहसैव त्याज्याऽन्या च सेव्या । नेत्याह ।

अृत्वोरन्त्यादिसप्ताहावृतुसन्धिरिति स्मृतः ।

तत्र पूर्वो विधिस्त्याज्यः सेवनीयोऽपरः क्रमात् ॥ ५८ ॥

अृतवोः शिशिरवसन्तयोर्ग्रीष्मप्रावृषोरित्यादिकयोरन्त्यश्चादिश्च यौ सप्ताहौ
तावृतुसन्धिरिति स्मृत उच्यते । तत्र सप्ताहद्वयलक्षणे अृतुसन्धौ पूर्वः पूर्वर्तु-
सम्बन्धी विधिस्त्याज्यः । अपर एध्यदृतुसम्बन्धी सेवनीयः । कथम् । क्रमात्क्रमेण
पादेनापथ्यमभ्यस्तमित्यादिना । सप्तानामहं समाहारः सप्ताहः । सप्ताहश्च सप्ता-
हश्च सप्ताहौ । राजाहःसखिभ्यष्टजिति टच् समासान्तः । न संख्यादेः समाहार
इत्याहदेशनिषेधः ।

ननु किमेवं त्यागः सेवनं च क्रियत इत्याह—

असात्म्यजा हि रोगाः स्युः सहसा त्यागशीलनात् ।

यत्सहसा त्यागशीलनादसात्म्यादनुचिताज्जाता असात्म्यजा रोगाः स्युः । ततः
सहसा त्यागशीलनं न कार्यमिति शेषः ।

इति श्रीभृगुङ्कदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टाङ्गहृदयटीकायां सर्वाङ्ग-
सुन्दराख्यायां तृतीयोऽध्यायः सम्पूर्णः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः ।

स्वस्थवृत्तिप्रवृत्तस्य वेगाधारणशीलस्य च स्वास्थ्यसम्भवः । अतो वेगाधारण-
प्रतिषेधेन या रोगानुत्पत्तिस्तामधिकृत्याध्याय आरभ्यते ।

अथातो रोगानुत्पादनीयाध्यायं व्याख्यास्यामः ।

व्याख्याऽत्र प्रथमाध्यायबद्धोद्धव्या । रोगाणामनुत्पादोऽनुत्पादनं तस्मै हितो

रोगानुत्पादनीयः । उपदर्शनमिदं निदर्शनाख्यम् । तन्त्रयुक्त्या चोत्पन्नरोगो-
पशमप्रदर्शनाद्रोगोपशमनीयोऽपि वातादिरोधोत्थानां रोगाणामुपशमस्याप्युपदेशात् ।
तथा च वक्ष्यति—“अनुत्पत्त्यै समासेन विधिरेष प्रदर्शितः । निजागन्तुविकाराणा-
मुत्पन्नानां च शान्तय इति ।

वेगान्न धारयेद्वातविण्मूत्रक्षवत्तृक्षुधाम् ।

निद्राकासश्रमश्वासजृम्भाशुच्छर्दिरेतसाम् ॥ १ ॥

वातादीनां वेगान्न धारयेत् । सर्वत्र द्वन्द्वसमासः । क्षवश्छिक्का । श्रमेण श्वासः
श्रमश्वासः ।

वातस्य प्राधान्यात्तद्बोधजात्रोगान् पूर्वं निदर्शयन्नाह—

अधोवातस्य रोधेन गुल्मोदावर्तरूक्लमाः ।

वातमूत्रशकृत्सङ्गदृष्ट्यग्निवधहृद्रदाः ॥ २ ॥

अधोवातस्य रोधेन गुल्मादयो जायन्ते । ऊर्ध्ववातस्योद्गाररूपस्य रोधात्
सुखसाध्या अरुच्यादयः । अत एवाधोवातरोधाद्ये रोगा अतिप्रत्यपाररूपा गुल्मा-
दयोऽत्र ते पूर्वं निर्दिष्टाः । उदावर्तोऽर्शोनिदाने वक्ष्यते । रुक् पीडा । क्लमो
ग्लानिः । वातमूत्रशकृत्सङ्गो वातादीनामप्रवृत्तिः । दृष्टेर्मेश्व वधो नाशः ।
हृद्रदो हृद्रोगः ।

स्नेहस्वेदविधिस्तत्र वर्तयो भोजनानि च ।

पानानि वस्तयश्चैवं शस्तं वातानुलोमनम् ॥ ३ ॥

तत्र वातोत्थे विकारे स्नेहः कर्तव्यः । स्वेदः कर्तव्यः । फलवर्तयः कार्याः ।
वातहराणि भोजनानि कार्याणि । पानानि सुखोष्णोदकपानानि कार्याणि । वस्त-
यश्च कार्याः । यत्किञ्चिद्वातानुलोमनं तच्छस्तम् ।

शकृतः पिरिडकोद्वेष्टप्रतिश्यायशिरोरुजः ।

ऊर्ध्ववायुः परीकृतो हृदयस्योपरोधनम् ॥ ४ ॥

मुखेन विदप्रवृत्तिश्च पूर्वोक्ताश्चामयाः स्मृताः ।

शकृतो रोधेन पिरिडकोद्वेष्टादयो जायन्ते । उद्वेष्टनमिवोद्वेष्टः पिरिडकयोद्वेष्टः
पिडिकोद्वेष्टः । पिरिडका जङ्घाकारणस्य पश्चिमे भागे पिरिडाकृति कठिनं मांसम् ।
तत्रोद्वेष्टनेनेव रुग्भवतीत्यर्थः । प्रतिश्यायः पानसः । चः समुच्चये । न केवलेमेत
एव यावत्पूर्वोक्ता गुल्मादयश्च स्मृताः ।

अङ्गभङ्गाश्मरीवस्तिमेढ्रवर्द्धणवेदनाः ॥ ५ ॥

मूत्रस्य रोधात्पूर्वे च प्रायो रोगाः

मूत्रस्य रोधादङ्गभङ्गादयो जायन्ते । अङ्गानां भङ्गः स्फोटनमिवाङ्गभङ्गः ।
वस्त्यादीनां वेदनया सम्बन्धः । मेढ्रं शिरनम् । पूर्वो च प्रायो रोगा अधोवातश-



कूट्रोधजास्तेऽपि मूत्रस्य रोधाज्जायन्ते । प्रायोप्रहणाद्वातादिरोधजाः केचिद्वोत्पद्यन्ते केचिन्नेति बोधयति ।

तदौषधम् ।

वर्तप्रभ्यङ्गावगाह्याश्च स्वेदनं बस्तिकर्म च ॥ ६ ॥

तदौषधं तेषां वातादिरोधजानां रोगाणामौषधं चिकित्सितं भवति । किं तदित्याह वर्तिर्मदनफलादिकृता फलवर्तिसंज्ञा । अभ्यङ्गोऽभ्यञ्जनम् । अवगाहो वातहरद्रव्यसाधिते द्रवे द्रोण्यां निहिते पायुदेशस्यावस्थापनम् । स्वेदनं स्वेदः । बस्तिकर्म मलप्रवृत्तये बस्तिविधौ वक्ष्यमाणम् ।

पुरीषरोधोत्थेष्वन्यमप्यसाधारणमुपक्रममाह—

अन्नपानं च विड्भेदि विड्रोधोत्थेषु यक्ष्मसु ।

पुरीषवेगधारणजेषु यक्ष्मसु रोगेषु विशः पुरीषस्य भेदि भेदकमन्नपानं यावकमस्तुवास्तुकादिकमौषधम् । चशब्दात्पूर्वोक्तं कर्त्यादि च ।

मूत्रजेषु च पाने च प्राग्भक्तं शस्यते घृतम् ॥ ७ ॥

जीर्णान्तिकं चोत्तमया मात्रया योजनाद्वयम् ।

अवपीडकमेतच्च संज्ञितम्

मूत्ररोधजेषु पुनः प्राग्भक्तं भक्तभोजनात्पूर्वं घृतं पाने शस्यते । जीर्णान्तिकं घृतं च शस्यते । कथम् उत्तमया मात्रयाऽहोरात्रजरणलक्षणया । योजनाद्वयमेतच्चावपीडकमुच्यते । योजनयोर्द्वयं योजनाद्वयं प्राग्भक्तेह्योजना जीर्णान्तिकेह्योजना च । तत्र प्राग्भक्तं यत्र घृतपानसमनन्तरं भक्तं भुज्यते । जीर्णान्तिकं यत् ह्यस्तनेऽन्ने जीर्णे घृतं प्रयुज्यते । प्रदेशान्तरेष्ववपीडकशब्देन योजनाद्वयमेतदस्मिन्स्तन्त्रे वेद्यम् । तथा च वक्ष्यति—“रसैः कोष्णैश्च सर्पिर्भिरवपीडकयोजितैः” । तथाऽष्टाङ्गावतारे मूत्रोदावर्तचिकित्सायाम् । “अवपीडकसर्पिश्च विशेषान्मूत्रजे गद इति” । ननु वेगधारणेन बाहुल्येन मरुत एव कोपः । तथा च वक्ष्यति—“ततश्च नैकधा प्रायः पवनो यत्प्रकुप्यति” । पवनविजये च तैलं यथा वरं न तथा घृतमतस्तैलस्यैवावपीडकयोजनमत्रोचितं न सर्पिषः । अत्रोच्यते । तैलस्य वातजितोपि बद्धविट्काल्पमूत्रस्वभावत्वाद्वात्रायोग्यं पानम् । तथा च । तैलं स्वयोनिवदित्यारभ्य यावद्बद्धविट्कमिति । स्वयोनिवदित्युक्तेश्चाल्पमूत्रत्वम् । तथा च वक्ष्यति—“उष्णस्त्वच्यो हिमस्पर्शः केशयो बल्यस्तिलो गुरुः” । अल्पमूत्र इति । तदेवं तैलस्य बद्धविट्काल्पमूत्रस्वभावतया तदीयोऽवपीडको मूत्ररोधोत्थेषु रोगेष्वौषधत्वेन युक्तोऽपि न सर्पिष इव युक्तः ।

धारणात्पुनः ॥ ८ ॥

उद्गारस्थारुचिः कम्पो विबन्धो हृदयोरसोः ।

आध्मानकासहिध्माश्च हिध्मावत्तत्र भेषजम् ॥ ९ ॥

पुनरपि व्यतिरेके । उद्गारस्य धारणादरुच्यादयो भवन्ति । उरो वक्षस्तस्या-
धो हृदयं . तयोर्विबन्धोऽन्तस्तम्भ इव । तत्र तेषु रोगेषु हिध्मावद्वेषजम् ।
श्वासहिध्माचिकित्सिते हिध्मायाश्चिकित्सितं वक्ष्यति ।

शिरोर्तीन्द्रियदौर्बल्यमन्यास्तम्भादितं क्षुतेः ।

क्षुतेः क्षवथोर्धारणाच्छिरोर्त्यादयः स्युः । दुर्बलस्य भावो दौर्बल्यम् । गुणवचने-
त्यादिना ध्यञ् । इन्द्रियाणां दर्शनादीनां दौर्बल्यं विषयग्रहणाशक्तित्वमिन्द्रिय-
दौर्बल्यम् । ननु च पूरणगुणेत्यादिना समासप्रतिषेधेन भवितव्यम् । अत्रोच्यते ।
य एव गुणशब्दा गुणिनावच्छिन्ना गुणमात्रे वर्तन्ते कदाचिद्गुणिन्यपि त एव
प्रतिषेधस्य विषयाः । यथा पटस्य शुक्लो गुडस्य मधुर इत्यादयः । ये तु गुणमात्र
एव वर्तन्ते न गुणिनि ते समासस्य । यथा पटहशब्दः पुत्रस्पर्शः कन्यारूपं
द्राक्षारसश्चन्दनगन्ध इत्यादयः । तथेन्द्रियदौर्बल्यमित्यादावपि भावप्रत्यान्तस्य
सदा व्यतिरेककारणत्वादगुणाभिधायित्वमेव । तस्मादेवमादौ तत्स्थैश्च गुणैः
षष्ठी समस्यत इति समासः । तस्यायमर्थः । तेषु गुणेष्वेव तिष्ठन्तीति तत्स्थः ।
एतदुक्तं भवति । गुणा एव ये गुणा वर्तन्ते न द्रव्यात्मनि तैः सह षष्ठी समस्यते
शुक्लादिशब्दानां तु कदाचिद्द्रव्यवृत्तित्वात्समानाधिकरण्येनापि वृत्तिर्दृष्टा । यथा
शुक्लः पट इति । गुणवृत्तित्वात् वैयधिकरण्येनापि । यथा पटस्य शुक्ल इति ।
तदेषां प्रतिषेधविषयत्वम् । पटहशब्दादीनां तु तत्स्थत्वात्समास
विषयत्वमिति स्थितम् । नन्वेवं सति बलाकायाः शौक्यमित्यत्रापि पूर्वोक्तान्या-
यात्समासः प्राप्नुयात् । अत्रोच्यते भाष्यकारवचनात् भविष्यति । स हि गुण-
वचनग्रहणमेव कस्मान्न क्रियत इत्युक्त्वाऽभ्यधात् । बलाकायाः शौक्यमित्यत्रापि
यथा स्यादिति । समासस्यात्राभावः । गदितं वातव्याधिनिदाने ।

तीक्ष्णधूमाञ्जनाघ्राणनावनार्क विलोकनैः ॥ १० ॥

प्रवर्तयेत्क्षुतिं सक्तां स्नेहस्वेदौ च शीलयेत् ।

क्षुतिं सक्तामप्रवर्तमानां तीक्ष्णधूमादिभिः प्रवर्तयेत् । तीक्ष्णधूमो धूमपान-
विधौ वक्ष्यते । तीक्ष्णं चाञ्जनमक्षिरोगेषु । तीक्ष्णाघ्राणं यन्नासया मरीचादिग्रहणम् ।
तीक्ष्णं नावनं तस्य विधौ वक्ष्यति । स्नेहश्च स्वेदश्च तौ च शीलयेदभ्यसेत् । क्षुतिः
क्षुतम् । सुश्रुते चोक्तम्—“प्राणापानौ समौ स्यातां मूर्ध्नि स्रोतःपथे स्थितौ । नस्तः
प्रवर्तते शब्दः क्षुतं तच्च विनिर्दिशेत्” ।

शोषाङ्गसादबाधिर्यसम्मोहभ्रमहृद्गदाः ॥ ११ ॥

तृष्णाया निग्रहात्तत्र शीतः सर्वो विधिर्हितः ।

तृष्णाया निग्रहान्निरोधाच्छोषादयो भवन्ति । तत्र तृष्णाया रोधजेषु विका-
रेषु सर्वः शीतो विधिः स्नानान्नपानादिको हितः ।

अङ्गभङ्गारुचिग्लानिकार्श्यशूलभ्रमाः क्षुधः ॥ १२ ॥



तत्र योज्यं लघु स्निग्धमुष्णमल्पं च भोजनम् ।

क्षुध इति । निग्रहादित्यनुवृत्तिः । निग्रहापेक्षया षष्ठी । एवं निद्रायाः इत्यत्रापि योज्यम् । क्षुधो बुभुक्षाया निग्रहादङ्गभङ्गादयः षड् भवन्ति । सामान्येनापि शूल-शब्दनिर्देशे पक्काशयगतः शूलो गृह्यते । क्षुधेगनिग्रहेणानिवारणः प्रभञ्जनः कुप्यति । तस्यावस्थानं पक्काशये । वक्ष्यति हि—“पक्काशयकटीत्यारभ्य यावत्पक्का-धानं विशेषत इति” । तत्र क्षुधो निग्रहे भोजनं लघु स्निग्धमुष्णमल्पं च योज्यम् ।

निद्राया मोहमूर्धाक्षिगौरवालस्यजृम्भिकाः ॥ १२ ॥

अङ्गमर्दश्च तत्रेष्टः स्वप्नः संवाहनानि च ।

निद्राया निग्रहान्मोहादयो भवन्ति । तत्र निद्रावेगरोधोत्थे विकारे स्वप्न इष्टः । संवाहनानि स्वल्पानि मर्दनानि च ।

कासस्य रोधात्तद्वृद्धिः श्वासरुचिहृदामयाः ॥ १४ ॥

शोषो हिध्मा च कार्योऽत्र कासहा सुतरां विधिः ।

कासस्य कासवेगस्य रोधात्तद्वृद्धिः । तस्य कासस्य वृद्धिराधिक्यं स्यात् । तथा श्वासादयः । तत्र कासचिकित्सतोक्तः सुतरामतिशयेन विधिः कार्यः ।

गुल्महृद्रोगसम्मोहाः श्रमश्वासाद्विधारितात् ॥ १५ ॥

हितं विश्रमणं तत्र वातघ्नश्च क्रियाक्रमः ।

श्रमेणाध्वन्यायामादिना साहसेन सद्यो जातः श्वासः श्रमश्वासः । तस्माद्वि-धारिताद्वेगरोधाद्गुल्मादयः स्युः । तत्र विश्रमणं हितम् । वातघ्नश्च क्रियाक्रमो हितः ।

जृम्भायाः क्षववद्रोगाः सर्वश्चानिलजिद्विधिः ॥ १६ ॥

जृम्भाया रोधात् क्षतिवद्रोगाः । तत्र सर्वा च वातघ्नक्रिया हितेति शेषः । जृम्भा मुखविकासो गात्रविनामः ।

पीनसाक्षिशिरोहृद्रुक्छान्यास्तम्भारुचिभ्रमाः ।

सगुल्मा वाष्पतस्तत्र स्वप्नो मद्यं प्रियाः कथाः ॥ १७ ॥

वाष्पतोऽश्रुणो विधारितात् पीनसादयो भवन्ति । पीनसो नासास्त्रावः । अक्षिशिरोहृदां रुजा सम्बन्धः । सशब्दश्चार्थः । गुल्माश्चेत्यर्थः । तत्र स्वप्नादिका चिकित्सा ।

विसर्पकोठकुष्ठाक्षिकण्डूपाण्ड्वामयज्वराः ।

सकासश्वासहृत्तासव्यङ्गश्वयथवो वमेः ॥ १८ ॥

वमेश्छर्दिषो विधारिताया विसर्पादयः स्युः । कोठो लोहितं कठिनं च मण्ड-लम् । अक्षिकण्ड्वादीनामामयेन सम्बन्धः ।

गण्डूषधूमानाहारान् रुक्षं भुक्त्वा तदुद्वमः ।

व्यायामः स्नतिरस्य शस्तं चात्र विरेचनम् ॥ १९ ॥

मौ० टि०—१ विश्रमणं विश्रामः सर्वश्रमनिवृत्तिरूपः ।



सत्तारलघणं तैलमभ्यङ्गार्थं च शस्यते ।

तत्र गरुडूषादयः शस्ताः । अनाहारोऽभोजनम् । एतेषां द्वन्द्वः । तथा रूक्षं भुक्त्वा तस्य रूक्षस्योद्धमश्चर्दनम् । एवं प्राणो वायुः स्वमार्गं प्रत्येति ततो व्यायामाद्यत्र शस्तम् । तथा त्त्तारलवणाभ्यां युक्तं तैलमभ्यङ्गार्थं शस्यते हितं भवति ।

शुक्रात्तत्स्त्रवणं गुह्यवेदना श्वयथुर्ज्वरः ॥ २० ॥

हृद्यथा मूत्रसङ्गाङ्गभङ्गवृद्धयश्मषणढताः ।

शुक्राद्विधारितात्तस्य शुक्रस्य स्त्रवणम् । तथा गुह्यवेदना पायुवेदना वृषणशूलम् । तथा श्वयथुः प्रकृतत्वाद्गुह्य एवेति योज्यम् । वृद्धिर्वर्धम् । अश्मशब्देनाश्मरी कथ्यते । षणढता स्त्रीगमनाशक्तित्वम् ।

ताम्रचूडसुराशलिबस्त्यभ्यङ्गावगाहनम् ॥ १२ ॥

वस्तिशुद्धिकरैः सिद्धं भजेत्क्षीरं प्रियाः स्त्रियः ।

तत्र ताम्रचूडादिकं भजेत् । तथा वस्तिशुद्धिकरैः कूष्माण्डादिभिः सिद्धं क्षीरं भजेत् । प्रियाश्च कान्ताः प्रियत्वेन हिता इति शेषः । निरनुबन्धेन रमेसन प्रवर्तते शुक्रम् ।

वेगरोधिनो ये न चिकित्स्यास्तान्दर्शयन्नाह ।

तृद्शूलार्त्तं त्यजेत् क्षीणं विड्वमं वेगरोधिनम् ॥ २२ ॥

तृद् च शूलं च ताभ्यामार्तमतिपीडितं तथा क्षीणं क्षीणदेहं वेगरोधिनं च त्यजेन्न चिकित्सेत् । तथा विशं यो वमति तं च वेगरोधिनं त्यजेत् ।

अथ किमेत रोगा वेगोदीरणधारणाद्भवन्ति नेत्याह ।

रोगाः सर्वेऽपि जायन्ते वेगोदीरणधारणैः ।

सर्वेऽपि रोगा जायन्ते न केवलं पूर्वोक्ता एव । वेगानां पुरीषादिसम्बन्धिनां यान्युदीरणान्यनागतानां प्रवर्तनानि तैः । तथा तेषामेवागतानां यानि विधारणान्यनुत्सर्गलक्षणानि तैः । अत्रेयं युक्तिः । वेगोदीरणधारणं नाम वायोः कर्म तस्य क्रियावत्त्वात् । तेनच वेगोदीरणधारणलक्षणेन स्वकर्मणा स एव वायुः कोप्यते स कुपितः सर्वानेव विकारान् जनयति । तथा चोक्तम् । शाखागताः कोष्ठगताश्च रोगा मर्मोर्ध्वसर्वावयवाङ्गजाश्च । ये सन्ति तेषां ननु कश्चिदन्व्यो वायोः परं जन्मनि हतुरस्ति । विद्वेषमपित्तादिमलायनानां विक्षेपसंहारकरः स यस्मादिति ।

निर्दिष्टं साधनं तत्र भूयिष्ठं ये तु तान् प्रति ॥ २३ ॥

ततश्चानेकधा प्रायः पवनो यत्प्रकुप्यति ।

अन्नपानौषधं तत्र युञ्जीतातोऽनुलोमनम् ॥ २४ ॥

तत्र तेषु वेगोदीरणधारणोत्थेषु सर्वेषु मध्याद्ये तु भूयिष्ठं बाहुल्येन भवन्ति

मौ० टि०—१ ताम्रचूडः कुक्कुटः । २ वस्तिशुद्धिकरैर्गोक्षुरपाषाणभेदादिभिः ।

गुल्मोदावर्तादयस्तान् प्रति वर्त्यभ्यङ्गेत्यादिना साधनं निर्दिष्टं चिकित्सोक्ता । ततश्च वेगोदीरणधारणादनेकधा वायुर्यस्मात्कुप्यति । अतोऽस्माद्धेतोस्तस्यानुलोमनं मार्गयोजकमन्नपानौषधं युज्जीत् । यद्यपि वेगोदीरणधारणात्सर्वे रोगा जायन्त इत्युक्तम् । तथापि यथा वेगधारणाच्चिरकालभाविनः सप्रत्यया रोगा भवन्ति न तथोदीरणात् । अत एव तन्त्रकारोऽधोवातस्य रोधेनापि रोगा भवन्ति । शकृतो रोधादमी भवन्तीत्युवाच । नतु तदुदीरणादमी रोगा भवन्तीति । प्रायोग्रहणं क्वचित् कफादेरपि प्रकोप इति समापादयति । तथा च वमिनिग्रह उक्तम् । विसर्प-कोष्ठकुष्ठाक्षीत्यादि । तत्र गण्डूषधूमानाहार इत्यादिचिकित्सा । न चैवंरूपो विधिर्वायावुपदिश्यते तस्मात्प्रायोग्रहणम् ।

यदि वेगरोधाद्वेगा जायन्ते तर्हि लोभादीनामपि नरकादिहेतूनां वेगा न धार्या इति प्राप्ते सतीदमाह ।

धारयेत्तु सदा वेगान् हितैषी प्रेत्य चेह च ।

लोभेर्ष्याद्वेषमात्सर्यरागादीनां जितेन्द्रियः ॥ २५ ॥

तुशब्दोऽवधारणे । सदा सर्वकालं लोभेर्ष्यादीनां वेगान् धारयेदेव हितैषी यः पुरुषः स्वहितमिच्छन् । क । प्रेत्य चेह च परलोके तथेहलोके च । किम्भूतः सन् । जितानि दान्तानीन्द्रियाणि मनः षष्ठानि चक्षुरादीनि विषयाणामनभिलाषुकतया येन स जितेन्द्रियः । जितेन्द्रियशब्देन लोभादिवेगविधारण उपायं दर्शयति । जितेन्द्रिय एवैतान् धारयितुं शक्नो नान्य इत्यर्थः । द्वेषो वैरम् । मात्सर्यं परगुणा-सहिष्णुत्वम् । रागः प्रीतिः । आदिशब्देनाभिध्यादिपरिग्रहः । प्रेत्येह चेति कर्तव्ये द्विश्वकारकरणं रागादीनां वेगविधारणेन प्रेत्येह वास्मिन् लोके तुल्यकक्षत्व-ज्ञापनार्थम् । अन्यथा प्रेत्येत्यस्य पूर्वनिर्देशाद्भूयसैषां रागादीनां विधारणं प्रेत्य न तथेहलोके । पश्चान्निर्दिष्टत्वात् ।

अन्यच्च हितैषी किं कुर्यादित्याह ।

यतेत च यथाकालं मलानां शोधनं प्रति ।

अत्यर्थसंचितास्ते हि क्रुद्धाः स्युर्जीवितच्छिदः ॥ २६ ॥

मलानां वातचित्तश्लेष्मपुरीषादीनां यथाकालं शोधनं प्रति यतेत यत्नं कुर्यात् । यो यस्य मलस्य शोधनकालः स तस्मिन्काले शोधनीय इत्यर्थः । किमर्थं मलानां शोधनं कार्यमित्याह । अत्यर्थेत्यादि । यस्मात्ते मला अत्यर्थसंचिता अतिशयेन स्वस्थाने वृद्धिगताः कुतोप्याहारविहाररूपात् कोपहेतोः क्रुद्धाः कुपिताः सन्तः कदा-चिज्जीवितच्छिदः स्युर्भवेयुः । तस्मात्ते शोधनीयाः । अत्यर्थसंचितग्रहणेनैतद्व्यो-तयति । यदि ते मला अत्यर्थसंचिताः स्युस्तदैव तेषामन्योपक्रमेभ्यः शोधनारूप्य उपक्रमो ज्यायान् । लङ्घनपाचने तूपक्रममात्रे ।

तदेवैतच्चेतसि कृत्वा दोषा इत्यादिग्रन्थं ग्रन्थकृदुवाच-

दोषाः कदाचित्कुप्यन्ति जिता लङ्घनपाचनैः ।

ये तु संशोधनैः शुद्धा न तेषां पुनरुद्भवः ॥ २७ ॥

दोषा वातादयो लङ्घनपाचनैर्जिताः सन्तः प्रकृतिं प्रापिताः कदाचित्कस्मिन्नपि काले कुप्यन्ति । ये पुनः संशोधनैः शुद्धास्तेषां न पुनरुद्भव उत्थानं भवति ।

यथाक्रमं यथायोगमत ऊर्ध्वं प्रयोजयेत् ।

रसायनानि सिद्धानि वृष्ययोगांश्च कालवित् ॥ २८ ॥

कालविद्यो वैद्यः सोऽतः संशोधनपूर्वं रसायनानि प्रयोजयेत् । कालशब्दो देशबलशरीराहारसात्म्यसत्त्वप्रकृतीनामुपलक्षणार्थः । नहि कालमात्रविद्विरसायन-प्रयोगं सम्यग्विधापयितुं शक्तः । किंभूतानि रसायनानि । सिद्धानि बहुशो दृष्ट-प्रत्ययानि ब्राह्मवासिष्ठादीनी । कथं योजयेदित्याह । यथाक्रमं यथायोगमित्यनेन रसायनं वाजीकरणोक्तं स्मारयति । तत्रैष रसायनक्रमः । हरीतकीमामलकं सैन्धवं नागरं वचाभित्यारभ्य यावदित्यं संस्तुतकोष्ठस्य रसायनमुपाचरेत् । एतदुक्तं भवति । यद्यप्येवं वमनविरेचनास्थापनानुवासननावनैः पञ्चभिरपि कर्मभिः संस्तुतो-र्ध्वाधःसकलकायस्तथाप्येष रसायनीयो भूयः शरीरसंस्कारः करणीयस्तत्पूर्वकत्वात् तस्य । अत एव संशुद्धदेहोऽयमिति कृत्वा त्रिवृद्धन्त्यादीन्विरेचनात्मकानुपदिशति । तथा वाजीकरणेऽप्याह । “ अथ लिङ्गविशुद्धानां निरूहान्सानुवासनान् । घृततैल-रसक्षीरशर्कराक्षौद्रसंयुतान् । योगविद्योजयेत्पूर्वं क्षीरमांसरसाशिनम् । ततो वाजी-करणं योगानिति ” । तथा यथायोगं यो यस्य युज्यते दातुमित्यर्थः । यथेदं रसा-यनं वातप्रकृतेर्योग्यमिदं पित्तप्रकृतेरिदं श्लेष्मप्रकृतेरित्यादि । तथाऽमुष्मिन् देशेऽमुष्मिन् काले वाऽमुष्मिन्वयस्यमुष्मिन् देहे रसायनं योग्यमिदमिति यथायोगार्थः । एवं वृष्य-योगेऽपि योज्यम् । अत्र च रसायनानि । वातातपिकानि योजयेन्न कुटीप्रवेशकानि । स्वस्थवृत्ताधिकारत्वात्तद्विधानस्य ।

भेषजक्षपिते पथ्यमाहारैर्वृंहणं क्रमात् ।

शालिषष्टिकगोधूममुद्रमांसघृतादिभिः ॥ २९ ॥

हृद्यदीपनभैषज्यसंयोगादुचिपक्लिदैः ।

साभ्यङ्गोद्धर्तनस्नाननिरूहस्नेहवस्तिभिः ॥ ३० ॥

भेषजेन क्षपिते नरे शोधनकर्षिते सत्याहारैर्भोज्यैर्वृंहणं हितं क्रमान्न सहसैव । कैराहारैरित्याह । शाल्यादिभिः । किम्भूतैः । हृद्यानि च तानि दीपनानि भैषज्या-न्यौषधानि च शुण्ठीपिप्पल्याद्रकत्वगेलादीनि तैः संयोगो मिश्रितस्तस्माद् हृद्य-दीपनभैषज्यसंयोगादुचिपक्लीर्दत्तमिलाषपाकानुत्पादयन्ति ये शाल्यादयस्तै रुचि-पक्लिदैराहारैर्वृंहणं भेषजक्षपिते पथ्यम् । किम्भूतैराहारैः साभ्यङ्गैत्यादि । सहाभ्य-ङ्गादिभिर्वर्तन्त इति साभ्यङ्गादिभिश्चेत्यर्थः । स्नेहवस्तिरनुवासनम् ।



एवं कृते पुरुषः किं प्राप्नोतीत्याह ।

तथा स लभते शर्म सर्वपावकपाटवम् ।

धीवर्णेन्द्रियवैमल्यं वृषतां दैर्घ्यमायुषः ॥ ३१ ॥

तथा तेन प्रकारेण पूर्वं शोधनं ततो बृंहणं ततो रसायनप्रयोग इत्येवंरूपेण संशोधनादिरेव पुरुषः शर्म स्वास्थ्यं लभते । तथा सर्वेत्यादि । सर्वे च ते पावकाश्च सर्वपावकास्तेषां पाटवं शक्तिं लभते । तत्र भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः पञ्चमहाभूताग्नयो धात्वग्नयः सप्त त्रयोदशो जाठराग्निरिति । धीवर्णे-
त्यादि । धीवर्णयोश्चक्षुरादीन्द्रियाणां च वैमल्यं लभते । तथा वृषतां स्त्रीगमन-
सामर्थ्यं लभते । तथा दैर्घ्यमायुषो जीवितस्याधिक्यं लभते ।

अधुनाऽऽगन्तुरोगान्तोपक्रमान्निर्दिशति ।

ये भूतविषवाय्वग्निक्षतभङ्गादिसम्भवाः ।

कामक्रोधभयाद्याश्च ते स्युरागन्तवो गदाः ॥ ३२ ॥

भूतानि च विषं च वायुश्चाग्निश्च क्षतं च भङ्गाश्चेति द्वन्द्वः । त आदिर्येषा-
मागन्तुरोगहेतूनां त एवं तेभ्यः सम्भवो येषामागन्तुकगदानां ज्वरादीनां ते भूता-
दिसम्भवा आगन्तवो रोगाः स्युः । आगन्तुहेतुप्रभवत्वादागन्तवो गदा उच्यन्ते
इत्यर्थः । न केवलमेत एव गदा रागद्वेषभयाद्याश्चागन्तवो गदाः स्युः ।

अधुना एषां चिकित्सां निर्दिशति-

त्यागः प्रज्ञापराधानामिन्द्रियोपशमः स्मृतिः ।

देशकालात्मविज्ञानं सद्रुतस्यानुवर्तनम् ॥ ३३ ॥

अनुत्पत्त्यै समासेन विधिरेष प्रदर्शितः ।

निजागन्तुविकाराणामुत्पन्नानां च शान्तये ॥ ३४ ॥

प्रज्ञाया अपराधा असाध्वाचरणानि तेषां त्यागः । तथेन्द्रियाणां चक्षुरादीना-
मुपशमो रूपादिविषयेऽतिप्रवृत्तानां संशमनमशुभरूपे वा विषये प्रवृत्तानां संयम-
नमलोलुपेत्यर्थः । तथा स्मृतिरतीतार्थानुस्मरणम् । तथा देशेत्यादि । देशादीनां
विज्ञानम् । देशो जाङ्गलादिः । कालः शीतादिः । आत्मा च वातप्रकृत्यादिः । एषां
विज्ञानमवबोधः तथा च सतां वृत्तं चरितं सद्रुतं तस्यानुवर्तनमनुष्ठानम् । निजा-
नामागन्तूनां च विकाराणामनुत्पत्त्यै रोगाणामनुत्पादनाय समासेन संक्षेपेण विधि-
रेष त्यागः प्रज्ञापराधानामित्यादि सद्रुतस्यानुवर्तनमित्येवं प्रदर्शितः सम्यगुक्तः ।
उत्पन्नानामित्यादि । चः समुच्चये । न केवलं निजागन्तूनां रोगाणामनुत्पत्त्यै विधि-
रेष प्रोक्तः । यावदुत्पन्नानां जातानां च शान्तये विधिः प्रोक्तः ।

अथ मलानां शोधनकालानाह—

शीतोद्भवं दोषचयं वसन्ते विशोधयन् ग्रीष्मजमभ्रकाले ।

घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक् प्राप्नोति रोगानृतुजान्न जातु ॥ ३५ ॥

शीतशब्देन हेमन्तशिशिराख्यातृत्वावपि गृह्येते । तत्रोद्भवो जन्म यस्य दोषचयस्यसौ शीतोद्भवो दोषचयः । तं वसन्ते विशोधयन्निर्हरेत् । ग्रीष्मजमभ्रकाले वर्षाकाले दोषचयं विशोधयन्स्तथा वार्षिकं घनात्यये शरदि चाशु यथोक्तं कालमनुल्लङ्घयन् सम्यग्यथावत्त्रिविधमपि दोषचयं विशोधयन्नुत्तुजान् रोगान् न जातु कदाचित्प्राप्नोत्यासादयति । वसन्ते विशोधयन्नित्यत्र वसन्तप्रारम्भ एव चैत्रे मासि विशोधयन्निति बोध्यम् । प्रत्यवायभयात् । तथाहि । ऋतुद्वयसंचितस्य दोषचयस्य विशोधनमक्रियमाणं रोगानीकं कुर्यात् । घनात्यये वार्षिकमित्यत्रात्यन्तघनविनाशे शरत्पश्चिमे भागे विशोधयेदिति बोध्यम् । वार्षिको हि दोषचय एकर्तुज एव । तस्माद्विश्रब्धं कृत्वा साधारणे कार्तिके मासि स विशोधयितुं युक्तः । अपि चोग्रहेमन्तशिशिरकालजो दोषचयो वसन्ते शोधयितव्यः । तस्मादाश्वयुजे मासि वार्षिको दोषचयो यदि विशोधयेत तदानीमतितरां बहुरग्रे दोषचयः स्यात्कालस्य बहुत्वात् । ग्रीष्मजमभ्रकाल इत्यत्र कालग्रहणेन वर्षाप्रारम्भमात्र एवेति बोध्यम् । तथा च शास्त्रकारो वक्ष्यति । श्रावणे कार्तिके चैत्रे मासि साधारणे क्रमात् । ग्रीष्मवर्षाहिमचितान्वाध्वादीनाशु निर्हरेत् ।

नित्यं हिताहारविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः ।

दाता समः सत्यपरः क्षमावानाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः ॥ ३६ ॥

नित्यं सदैव हिताहारविहारौ सेवते तच्छीलौ यः स एवम्भूतो नरः । तथा समीक्ष्यकारी विमृश्यविधायी । इदं कृत्वेदं सम्पद्यत इदं च कृत्वैतत्सम्पद्यत एवं बुद्ध्वा शुभं करोत्यशुभं वर्जयति । तथा विषयेषु शब्दादिष्वसक्तोऽलोलुपः । तथा दाता त्यागी त्यागवान् । तथा समः सर्वेषु भूतेषु समचित्तः । तथा सत्यपरोऽवितथवाक् । तथा क्षमावान् । यः शक्तोऽपि कृतापराधं दण्डेनानुरूपेण न योजयति । तथाऽऽप्तानुपसेवते तच्छीलौ यः स आप्तोपसेवी चारोगो भवति । न केवलं प्राक्तनविध्यनुष्ठानेनारोगः सम्पद्यते यावदाप्तोपसेवी चेति चशब्दार्थः । येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्यहृतं सदा । आप्ताः शिष्टाश्च विबुधास्तेषां वाक्यमसंशयमित्याप्तलक्षणमिति । उपजातिवृत्तम् ।

इति श्रीमृगाङ्कदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टाङ्गहृदयटीकायां सर्वाङ्गसुन्दराख्यायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पंचमोऽध्यायः ।

अथ द्रवद्रव्यविज्ञानयस्तस्यायं सम्बन्धः । नित्यं हिताहारविहारसेवीत्युक्तम् । तौ चाहारविहारौ दिनचर्यतुर्चर्ययोर्यद्यपि नियमितौ तथापि न भवत्यलं हिताहितस्वरूपविज्ञानम् । एवं हि तत्रावादीत् । गुरुशीतदिवास्वप्नस्निग्धाम्लमधुरास्त्यजेत् ।

तथा । “व्यक्तामल्लवणैश्च संशुष्कं क्षौद्रवल्लघु” । तथाऽनन्तरातीतेऽप्यध्याये जगाद ।
अन्नपानं च विद्भेदीति । तदियता वाक्येन न तज्ज्ञायते किं पुनस्तद्गुरु शीतं
किं लघु किं स्निग्धोष्णं किं शकृद्भेदनमिति । तस्मादाहारद्रव्यस्वरूपमतः परं प्रत-
न्यते । तत्रापि पञ्चवर्गस्वभावत्वेनाल्पवक्त्रव्यत्वात्प्राग्द्रव्यविज्ञानीयस्वरूपं निर्देष्टुं
युक्तमन्नस्य द्रव्यस्वभावत्वेन भूयस्त्वादित्याह ।

अथातो द्रवद्रव्यविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥

अपामेवायं स्वाभाविको गुणो यद् द्रवत्वम् । अतो यानि कानिचिद्द्रवरूपाणि
द्रव्याणि तानि सर्वाण्यम्भयान्येव क्षीरदध्यादीनि तदर्थं द्रवद्रव्यशब्दः सामान्येन
सर्वद्रव्यव्यक्तिपरिग्रहार्थः शास्त्रकृता प्रयुक्तः । द्रवाणि च तानि द्रव्याणि च द्रव-
द्रव्याणि तेषां विज्ञानमवबोधस्तस्मै हितो द्रवद्रव्यविज्ञानीयोऽध्यायस्तं व्याख्या-
स्यामः प्रथयिष्यामः ।

प्राधान्याच्च पानीयस्य प्रागुपदेशः । तथा चाष्टाङ्गसंग्रहेऽन्नपानप्रकरणेऽध्य-
गीष्ट । अन्नपाने तु सलिलमेव श्रेष्ठम् । सर्वरसयोनित्वात्सर्वभूतसात्म्याज्जीवना-
दिगुणयोगाच्च । तथात्रैवाध्यैष्ट । पानीयं प्राणिना प्राणा विश्वमेव च तन्मय-
मित्यादि । तथा चात्रैवाग्रघसंग्रहेऽपि तदेव प्रागुपनीतं श्रेष्ठमुदकमासां श्वासतस्त-
म्भनक्लेदनानामिति बहुगुणत्वाच्चान्तरिक्षस्थजलस्य प्रागुपन्यासो युक्त इत्याह ।

अथ जलवर्गः—

जीवनं तर्पणं हृद्यं ह्लादि बुद्धिप्रबोधनम् ।

तन्व्यक्तरसं मृष्टं शीतं लघ्वमृतोपमम् ॥ १ ॥

गङ्गां नभसो भ्रष्टं स्पृष्टं त्वर्केन्दुमारुतैः ।

हिताहितत्वे तद्भूयो देशकालावपेक्षते ॥ २ ॥

जीवनमोजोविशुद्धिकरणम् । सौम्यधातुवर्धनमित्यन्ये । तर्पणं क्लमहृत् ।
हृद्यं हृदयाय हितं नतु हृदयस्य प्रियं हृद्यमिति व्याख्येयम् । एवं हि व्याख्याय-
मानेऽम्लेहृद्यानामित्यभ्याणां मध्ये तत्पाठं मुनिर्नैवाकरिष्यत् । यस्मात्किञ्चिद्द्रव्यं
कस्यचित्प्रियं भवति न सर्वं सर्वस्य । तस्माद्दृष्टयाय हितं हृद्यमिति बोध्यम् ।
तथा ह्लादि आह्लादकरम् । तथा बुद्धेः प्रबोधनम् । यावन्मात्रा यस्य शेषुषी
सा तस्य स्फुटप्रतिभासा तद्योगाद्भवतीत्यर्थः । तनु स्वच्छम् । अव्यक्तरसमनमि-
व्यक्त्वषडसमित्यर्थः । मृष्टमित्यास्वादसुखम् । सन्ति हि भूरिरसशर्कराकाथचूर्ण-
वत्कादीन्यव्यक्तरसानि नतु कात्स्न्येन तानीन्द्रियप्रसादप्रीतिकराणि । तथा ।
अनुरसबाहुल्यात्पृथगपि द्रव्याण्यभयामलकादीन्प्राग्व्यक्तरसानि नतु पुनस्तानि तथा
मनः प्रीणयन्ति । पानीयस्य चाव्यक्तरसस्याप्याश्रयवशात्कषायत्वस्वादुत्वादि भवत्येव ।
तथा चाष्टाङ्गसंग्रहेऽपठत् । “क्षेते कषायं तत्स्वादु कृष्णे तिक्तं च पाण्डुर” इत्यादि ।
मृष्टं शुद्धमिति न व्याख्येयम् । तथा च मुनिः—“शीतं शुचि शिवं मृष्टं विमलं

लघु षड्गुणम् । प्रकृत्यः दिव्यमुदकमिति” । अत्र हि मृष्टविमलयोर्द्वयोरुपादाने पौनरुक्त्यं स्यात् । तस्मान्मृष्टशब्दोत्र मनः प्रीणनार्थः । तथा शीतं वीर्येण स्पर्शेन च । तथा लघु गुणयुक्तम् । तथा । अमृतोपमम् यथा किलामृतं त्रिदोष-
घ्नत्वधातुसाम्यकृत्वविषार्तिजित्वादिगुणैरशेषैर्युक्तं तथैतज्जलमपीत्यर्थः । तथा चोक्तं संग्रहे—“सूर्यो द्रवृत्तप्रयुक्तत्वाल्लघु वातकफापहम् । शैत्यजीवनसौम्यत्वैः • पित्तरक्तवि-
षार्तिजिदिति” । तथा । नभसो अष्टमन्तरिक्षात्पतितमात्रं वज्रादिगृहीतं गाङ्गं जलमीदृग्गुणं भवति । तु पुनरर्थे । रविचन्द्रानिलैः स्पृष्टं सम्बद्धं सत्पुनः पथ्या-
पथ्यत्वे देशकालावपेक्षते । देशो विषयः पात्रमाश्रय इति पर्यायाः । तत्र किमनू-
पदेशे जाङ्गले वा तत्पतितं तथा किमसितश्वेताद्यन्यतमे वेति देशानुवर्तनम् । तथा
शीते किं बोष्णेऽथवा वर्षाख्ये पतितमिति कालानुवर्तनम् । रविचन्द्रानिलैरिति
समस्तनिर्देशो यदा समस्तैरेतैः स्पृष्टं नतु व्यस्तैस्तदा हिताहितत्वे देशाद्यपेक्षत
इति द्योतयति । सद्योवज्रादिगृहीतस्य जलस्य तु न सर्वैरेतैर्योगः सम्भवतीति
तत्प्रायेण हितमेव ।

• नन्वाकाशात्पततस्तल्लक्षणमन्तरेण गाङ्गमिदमिति न ज्ञायत इत्याह ।

येनाभिवृष्टममलं शाल्यन्नं राजतस्थितम् ।

अक्लिन्नमविवर्णं च तत्पेयं गाङ्गम्

येनाम्बुनाऽभिवृष्टमाभिमुख्यतः सिक्कं शाल्यन्नं राजतस्थितमक्लिन्नमक्लेदयुतम-
विवर्णं च भवति तद्गाङ्गं जलं पेयमित्युपलक्षणार्थम् । स्नानावगाहयोरपि तत्पथ्य-
मेव । रजतस्य रूप्यस्य विकारो राजतम् । प्राणिरजतादिभ्योऽञ् ।

अन्यथा ॥ ३ ॥

सामुद्रं तन्न पातव्यं मासादाश्वयुजाद्विना ।

अन्यथा सामुद्रमिति । एतल्लक्षणविर्ययेण येनाम्बुना सिक्कं शाल्यन्नं विवर्णं
मलिनं क्लिन्नं भवेत्तत्सामुद्रम् । तच्च न पातव्यम् । अत्रापि पाननिषेध उपलक्ष-
णार्थः । स्नानावगाहावपि ह्यनेन न कार्यौ । सामुद्रस्य चारान्वयत्वात्क्लेदनादि-
योगः । ननु सामुद्रमित्युक्तम् । यतः सामुद्रशब्दस्य धूमादिपाठाद्धूमादिभ्यश्चेति
बुद्ध्या भवितव्यमिति केचित् । नैवम् । धूमादिभ्यश्चेत्यत्रैव गणं पठ्यते सामुद्रान्ना-
वि मनुष्ये च बुद्धिः । सामुद्रिकी नौः सामुद्रिको मनुष्यः । अन्यत्र त्वणेव । सामुद्रं
जलमिति । तस्मान्न्याय्यमेवैतत् । एवं सामुद्रो मणिरित्यादयो वेद्याः । अथ
किं सदैव तन्न पातव्यं नेत्याह मासदित्यादि । आश्वयुजमन्तरेणैतन्न पातव्यम् ।
आश्वयुजे तु मासि कालस्वाभाव्यात्तत्पथ्यमेवेति भावः । सुश्रुतस्त्वधीते—“गाङ्गमा-
श्वयुषे मासि प्रायो वर्षति तोयदः । तदुपाददीतेत्यादि” ।

पेन्द्रमम्बु सुपात्रस्थमविपन्नं सदा पिबेत् ॥ ४ ॥

तदभावे च भूयिष्ठमान्तरिक्षानुकारि यत् ।



शुचिपृथ्वसितश्वेते देशेऽर्कपवनाहतम् ॥ ५ ॥

ऐन्द्रमान्तरिक्षं जलं गाङ्गं सुपात्रस्थं शोभने भाजने राजतादौ स्थितमविपन्न-
मदूषितमविनष्टं पिबेत् । न मलिनाशुचि जुगुप्सितपात्रस्थम् । तदभावे तस्यैन्द्र-
स्याभावे भूयिष्ठं बाहुल्येनान्तरिक्षमैन्द्रं जलं यदनुकरोति स्वच्छादिगुणैः सदृशं
तत्पिबेत् । ऋदेवाह । शुचीत्यादि । शुचिश्चासौ पृथ्वसितश्वेतश्च तस्मिन् देशे यज्जलं
स्थितम् । तथा । अर्कपवनाभ्यामाहतमासमन्तात् क्रान्तमीदृशमान्तरिक्षानुकारि
स्यादिति भावः ।

इदानीं यादृशं जलं न पेयं तद्दर्शयति ।

न पिबेत्पङ्कशैवालतृणपर्णाविलास्तृतम् ।

सूर्येन्दुपवनादष्टमभिवृष्टं घनं गुरु ॥ ६ ॥

फेनिलं जन्तुमत्तप्तं दन्तग्राह्यतिशैत्यतः ।

पङ्कः कर्दमः । शैवालः शैवालम् । तृणं खटः । पर्णं पत्रम् । आविलं
चास्तृतं चाविलास्तृतं पङ्कादिभिराविलास्तृतं पङ्काद्याविलास्तृतम् । यथासम्भवमत्र
सम्बन्धः । तेन पङ्केनाविलं कलुषं शैवालादिभिरास्तृतं सञ्ज्ञादितमिति बोध्यम् ।
तथा । सूर्येन्दुपवनैरदृष्टमनासेवितं न पिबेत् । तथा । अभिवृष्टं तत्कालपतितान्य-
वर्षमिष्टीभूतं कालान्तराविश्रान्तम् । खरनोदं चैवमुक्तम्—“ वार्षिकं तदहर्हृष्टं
भूमिस्थमहितं जलम् । व्युष्टं त्रिरात्रं तच्चैव प्रसन्नममृतोपमामेति ” । तथा घनम-
स्वच्छम् । तथा गुरु । तथा फेनिलं फेनवत् । तथा जन्तुमत्कीटयुक्तम् । तथा
तप्तमुष्णम् । तथा अतिशैत्यतोऽतिजाल्पादन्तग्राहि दन्तान् गृह्णाति कार्याक्षमान्
करोति, तच्छीलं न पिबेदिति प्रतिपदं योज्यम् । इत्ययं प्रायो भूमिष्ठतोयस्य निषेधः ।

अधुना आन्तरिक्षं यन्न पेयं तदाह—

अनार्तवं च यद्विव्यमार्तवं प्रथमं च यत् ॥ ७ ॥

लूतादितन्तुविरमूत्रविषसंश्लेषदूषितम् ।

यद्विव्यं जलमार्तवं न भवति तच्च न पिबेत् । ननु सर्वमेव दिव्यं जलमार्त-
वम् । कालस्य ऋतुरूपत्वात् । ऋतौ च भवमार्तवम् । एवं च न किञ्चिदनार्तवं
सम्भवति । उच्यते । अनार्तवं न पिबेत् । अर्थादार्तवं पिबेदित्युक्तं भवति । तदत्र
सामान्योक्तावपि विशिष्टो दिव्यस्य ऋतुर्बोध्यो वर्षाख्यो यस्मिन् काले दिव्यं जलं
पेयत्वेनाभ्यनुज्ञायते । यथा वर्षासु दिव्यनादेयेत्यादि । अन्यर्तुभवं त्वनार्तवत्वाच्च
पेयम् । अत्र च वर्षाख्य ऋतुश्चातुर्मासिकोऽभिप्रेतः । अत एवाश्वयुजे मासि दिव्यं जलं
पेयत्वेनानुज्ञे । अन्यथा ह्यनार्तवत्वात्तदपेयमेव स्यात् । अर्तवं प्रथमं च यत् ।
न केवलमनार्तवं न पिबेत्, यावदार्तवमपि प्रथमं पिबेत् । कुतो हेतोरित्याह । लूता-
दीत्यादि । लूता आदिर्देषां ते लूतादयः क्षुद्रजन्तवः प्राणिविशेषास्तेषां तन्तु-
विरमूत्रविषाणि । तन्तुः सूत्राकारविशेषो लालेत्यन्ये । तेषां लूतादितन्तुविरमूत्र-

विषाणां संश्लेषः सम्पर्कस्तेन दूषितं यतस्ततस्तदार्तवमपि न पेयम् । केचित्त्वेवं व्याख्यानयन्ति । आर्तवं प्रथमं च यत्तन्न पेयं लूतादिजन्वादिदूषितं च न पेयमिति । संग्रहे चाध्यर्गिष्ठ । “ घनवस्त्रपरिस्रावैः क्षुद्रजन्वभिरक्षणम् । व्यापन्नस्यास्य तपनमग्न्यर्कयसपिरण्डकैः । पर्णामूलविसग्रन्थिमुक्ताकतकशैवलैः । वस्त्रगोमेदकाभ्यां वा कारयेत्तत्प्रसादनम् । पाटलाकरवीरादिबुधुर्मैर्गन्धनाशनमिति ।

इदानीं नदीनिरूपयन्नाह—

पश्चिमोदधिगाः शीघ्रवहा याश्चामलोदकाः ॥ ८ ॥

पथ्याः समासात्ता नद्यो विपरीतास्त्वतोऽन्यथा ।

‘नद्यः समासात्संक्षेपतः पथ्या हिताः । का इत्याह । याः पश्चिममुदधिं समुद्रं गच्छन्तीति पश्चिमोदधिगाः । अन्यत्रापि दृश्यत इति डः । तथा शीघ्रवहा वेगवत्यः । तथाऽमलोदका निर्मलसलिलाः । एवं त्रिविशेषणविशिष्टाः पथ्याः । अतोऽन्यथा पुनरन्यथा विपरीतलक्षणास्ता विपरीता अपथ्याः ।

उपलास्फालनाच्चेपविच्छेदैः खेदितोदकाः ॥ ९ ॥

हिमवन्मलयोद्भूताः पथ्यास्ता एव च स्थिराः ।

कृमिश्लीपदहृत्कण्ठशिरोरोगान् प्रकुर्वते ॥ १० ॥

हिमवांश्च मलयश्च हिमवन्मलयौ ताभ्यामुद्भूताः सञ्जाताः पथ्याः । किं सर्वा एव नेत्याह । उपलेत्यादि । उपलानामास्फालनमुपलास्फालनं तेनाच्चेपः क्षोभस्तेन विच्छेदा विश्लेषा उपलास्फालनाच्चेपविच्छेदास्तैः खेदितं जातक्षोभमुदकं यासां ताः खेदितोदका या हिमवन्मलयोद्भूतास्ता एव पथ्याः । यास्त्वेवम्भूता न भवन्ति ता अपथ्याः । स्थिरा इति । ता एवाऽवहन्त्यः सत्यः कृम्यादीन् कुर्वते । हृत् कण्ठश्च शिरश्च तेषां रोगाः कृमयश्च श्लीपदं च हृत्कण्ठशिरोरोगाश्चेति द्वन्द्वः । मुनिरपि हिमवत्प्रभवानां पथ्यत्वमाह । कृष्णात्रेयसुश्रुतौ त्वपथ्यत्वमाहतुः । अत एवायं ग्रन्थकारो युक्त्या मतद्वयमपि सङ्गिरमाणो विशेषणमुपन्यस्तवानुपलास्फालनाच्चेपविच्छेदैः खेदितोदका इति । तेन या एवंविधा न भवन्ति ता न पथ्या इति ।

प्राच्याऽऽवन्त्यपरान्तोत्था दुर्नामानि महेन्द्रजाः ।

उदरश्लीपदातङ्कान् सहाविन्ध्योद्भवाः पुनः ॥ ११ ॥

कुण्ठपाण्डुशिरोरोगान् दोषघ्न्यः पारियात्रजाः ।

बलपौरुषकारिण्यः सागराम्भस्त्रिदोषकृत् ॥ १२ ॥

प्राच्यादिजा नद्यो दुर्नामान्यर्शासि कुर्वते । प्राच्या गौडाः । आवन्त्यो मालंवाः । अपरान्ताः कौङ्कणाः । महेन्द्रजा नद्य उदरादीन् कुर्वते । सहाविन्ध्यपर्वतोत्थाश्च पुनः कुष्ठादीन् कुर्वते । पारियात्रे जाता दोषघ्न्यो भवन्ति ।



विद्यात्कूपतडागादीन् जाङ्गलानूपशैलतः ।

आदिशब्देन सङ्गहोक्ता गृह्यन्ते । यथा—“कौपसारसताडागचौरञ्जप्रास्रवणौ-
द्भिदम् । वापीनदीतोयमिति तत्पुनः स्मृतमष्टधा । कौपं स्वादु त्रिदोषघ्नं लघु
पथ्यं च सर्वदा । चारं तु कफवातघ्नं दीपनं पित्तकृत्परम् । कषायबहुलं श्लेष्म-
पित्तघ्नं वात्कृच्च तत् । तृष्णाघ्नं सारसं बल्यं कषायमधुरं लघु । औद्भिदं स्वादु
पित्तघ्नं दीपनं गुरु किञ्चन । सारं च कटु वाप्यम्बु पित्तघ्नं कफवातजित् । लघ्व-
ल्पदोषं सुस्वादु नववापीष्ववार्धिकम् । अनभिष्यन्दि नादेयं कटुकं कफपित्तजित् ।
विशदं वातलं रुक्षमनवस्थितलाघवम्” । सुश्रुते (?) चैषां लक्षणमुक्तम् । तथा—“भूम्यु-
त्खातसमुद्भूतमिन्द्रनीलसमप्रभम् । विमलं मधुरास्वादं कौपं जलमुदाहृतम् । नद्याः
शैलवराद्वापि स्रुतमेकान्तसंस्थितम् । कुमुदाम्भोजसञ्छन्नं वारि सारसमुच्यते ।
प्रशस्तभूमिभागस्थं नैकसंवत्सरोषितम् । कषायमधुरास्वादं ताडागं सलिलं स्मृतम् ।
स्वयं शीर्णशिलाश्वत्रे नीलोत्पलनिभं जलम् । लतावितानसञ्छन्नं बुधैश्चोरेडय-
मुच्यते । शैलसानुसमुद्भूतं स्पृष्टं वातहिमातपैः । लघु शीटामलं स्वादु स्मृतं
प्रास्रवणं जलम् । विदार्य भूमिसुद्भूतं महत्या धारया स्रवत् । यज्जलं वेदितव्यं
तदौद्भिदं स्वादु शीतलम् । पाषाणैरिष्टकाभिर्वा बद्धा स्याद्या तु कूपवत् । वापी
सा खलु विज्ञेया कृतसोपानपङ्क्तिका । नद्यां शैलप्रसूतायां गोमेदकमणिप्रभम् ।
प्रशस्तभूमिभागस्थं जलं नादेयमुच्यते ” इति । “पौषादिद्वितयेष्विष्टं विशेषण
क्रमाज्जलम् । सरस्तडागयोः कूपचुरञ्ज्योः प्रस्रवणौद्भिदोः । कूपेन्द्रयोः कूप-
चुरञ्ज्योः सर्वपथ्यं ततः परम् ।” तदेतान् कूपादीन् जाङ्गलानूपशैलान् समाश्रित्य
जातान् विद्यात् । जाङ्गलादिदेशजान् यथायोगं लघून् गुरुंश्च जानीयादित्यर्थः ।
तत्र जाङ्गलदेशे कूपादीनां सप्तानां बहुदकसम्बन्धाभावाल्लघुत्वं वेद्यम् । आनूपे तु
बहुदकसम्बन्धाद् गुरुत्वं वेद्यम् । शैले तूदकाल्पतया लघुतरत्वं वेद्यम् । तथा च
संग्रहे—“धनवानूपमहीध्राणां सामीप्याद् गुरुलाघवमिति” ।

इदानीं केषांचिज्जलपाननिषेधमाह ।

नाम्बु पेयमशक्त्या वा स्वल्पमल्पाग्निगुलिमभिः ॥ १३ ॥

पाण्डूदरातिसाराशोऽग्रहणीदोषशोथिभिः ।

ऋते शरन्निदाघाभ्यां पिबेत्स्वस्थोऽपि चाल्पशः ॥ १४ ॥

अल्पाऽग्न्यादिभिरम्बु न पेयम् । सर्वथैषां जलपाननिषेधप्रत्यवायमाशङ्कमान
इदमाह । अशक्त्या वा पिपासामसहिष्णुभिरत्यल्पं स्वल्पं पेयम् । यावन्मात्रेण
प्रत्यवायो न भवति तावेदेव पेयमित्यर्थः । अल्पाग्नयश्च गुलिनश्चेति द्वन्द्वः ।
पाण्डूवादीनां सप्तानां द्वन्द्वः । ततो मत्वर्थीय इनिः । शरन्निदाघाभ्यामन्तरेण
स्वस्थोऽल्पशः पिबेत्, किं पुनरातुरः ? संग्रहे त्वेवमुवाच—“काममल्पमशक्तौ
तु पेयमौषधसंस्कृतम् । पाषाणरूप्यमृद्धेमजाततापार्कतापितम् । पानीयमुष्णं शीतं

वा त्रिदोषघ्नं तृडर्तिजिदिति ” ।

समस्थूलकृशा भक्तमध्यान्तप्रथमाम्बुपाः ।

समाश्च स्थूलाश्च कृशाश्च समस्थूलकृशाः । मध्यं च अन्तश्च प्रथमश्च मध्यान्तप्रथमाः । भक्तस्य मध्यान्तप्रथमा भक्तमध्यान्तप्रथमाः । तेषु कालेषु येऽम्बु पिबन्ति ते भक्तमध्यान्तप्रथमाम्बुपाः । यथाक्रमं समाः स्थूलाः कृशाश्च भवन्तीत्यर्थः । भक्तमध्येऽम्बु पीतं धातुसाम्यं समानतां करोति । भक्तान्ते तु पीतमाशये कफवृद्धिं विदधत्स्थौल्यमाधत्ते । भक्तादौ च पीतं निरिन्धनमग्निं तेजः प्रतिपन्नतयाऽवश्यमवसादयति । मन्दोऽग्निश्च सम्यग्गाहारं पक्तुमशक्नो भवति । आहारस्य च सम्यग्पाकाच्च तथा पुष्टिरिति कृशत्वे युक्तिः । तथा च संग्रहे— “भक्तस्यादौ जलं पीतमग्निसादं कृशाङ्गताम् । अन्ते करोति स्थूलत्वमूर्ध्वमाशयात्कफम् । मध्ये मध्यं गतं साम्यं धातूनां जरणं सुखम्” ।

शीतं मदात्ययग्लानिमूर्च्छाच्छर्दिश्रमभ्रमान् ॥ १५ ॥

तृष्णादहपित्तास्त्रविषाण्यम्बु नियच्छति ।

शीतमम्बु मदात्ययादीन्नियच्छति पराकरोति । मदात्ययो मद्योत्थो रोगः । ग्लानिः क्लान्तिः । मूर्च्छा मोहः । छर्दिर्वमिः । श्रमः खेदः । भ्रमोऽनवस्थितिः । तथा तृष्णादीनि नियच्छति । एवंगुणमप्यामं क्वचिन्नेष्यते । तथा चोक्तं संग्रहे— “अनवस्थितदोषाग्नेर्व्याधिर्ज्ञीणबलस्य च । नाल्पमप्याममुदकं हितं तद्धि त्रिदोषकृत्” ।

अधुनोष्णाम्बुगुणानाह—

दीपनं पाचनं कण्ठ्यं लघूष्णं वस्तिशोधनम् ॥ १६ ॥

हिध्माध्मानाऽनिलश्लेष्मसद्यःशुद्धे नवज्वरे ।

कासामपीनसश्वासपार्श्वरुक्षु च शस्यते ॥ १७ ॥

दीपनादिगुणयुक्तमुष्णमम्बु भवति । वस्तिशब्देन तात्स्थ्यान्मूत्रं गृह्यते तेन मूत्रशोधनमित्यत्राऽर्थो बोध्यः । हिध्माऽध्मानादिषु च शस्यते । कासश्च आमश्च पीनसश्च श्वासश्च पार्श्वरुक् च तासु च शस्यते । आमोऽपक्व आहार इत्यर्थः । केचित्त्वामपीनस इति पीनसविशेषणमामशब्दमाहुः । तैरजीर्णं उष्णाम्बु नोक्तं स्यात् । अजीर्णं चालसकादिरूपे जलमुष्णमिष्यत एव ।

अधुना कथितशीतलं निर्दिदित्पुराह—

अनभिष्यन्दि लघु च तोयं कथितशीतलम् ।

अनभिष्यन्दि न श्लेष्मकारि । लघुगुणयोगोऽम्भसोऽस्त्येव पुनर्लघुत्वकथनमग्निसंस्कारवशाल्लघुतरत्वप्रतिपत्त्यर्थम् । अथवा । आधारवशादकथितमम्भो लघ्वपि यद्गुरु सम्पन्नं तदपि कथितशीतलं लघु भवति । शीतलत्वादभिष्यन्दित्वं यत्तोयस्य प्राप्तं तत्कथितशीतलत्वे चाऽस्य निषिद्धम् । मदात्ययादिहन्तृत्वं तु यच्छी-

तलत्वसामान्यात्तदस्यास्येव । न केनचिन्निषेदुं सम्भाव्यते ।

पित्तयुक्ते हितं दोषे व्यूषितं तत्रिदोषकृत् ॥ १८ ॥

पित्तयुक्त इत्येकवचनमविवक्षितम् । तेन वातपित्ते पित्तश्लेष्मणि सन्निपाते च यत्र पित्तयोगः पित्ताधिकत्वं दृश्यते तत्रैव कथितशीतलं हितम् । सङ्गहोक्तं च कथनलक्षणं संच्छेपाभिप्रायेणेह नोक्तम् । यथा—“क्षीणपादत्रिभागार्धं देशर्तु-गुरुलाघवात् । कथितं फेनरहितमवेगममलं हितमिति” । अस्यार्थः शिष्यव्युत्पत्त्यै दृश्यते । धन्वसाधारणानूपेषु देशेषु कमशः क्षपितचतुर्भागत्रिभागार्धसलिल-मधिश्रपयेत् । जाङ्गलो हि देशोऽनिलानलाभ्यां भूयिष्ठमधिष्ठितस्तेनात्र तोयं लाघवादाशु विशुद्धिं प्राप्नोति । आनूपस्तु भूमिसोमगुणबहुलस्तत्र गुरुत्वादिगुण-योगाच्चिरेण विशुद्धिमश्नुते । एवं साधारणो देशश्चिन्त्यः । तथा । ऋतुष्वपि यथायोगमयमेव क्रमो बोध्यः । सुश्रुतेनोक्तम्—“यत्कथ्यमानं निर्वेगं निष्फेनं निर्मलं लघु । चतुर्भागावांशष्टं तु ततोयं कफरोगनुत् । तत्पादहीनं पित्तघ्नं हीनम-र्धेन वातनुदिति” । सङ्गहोक्तमेव ग्रन्थमिमं केचिदत्रापि पठन्ति । तथा—“पानी-यं नतु पानीयं पानीयेऽन्यप्रदेशजे । अजीर्णे कथितं चापे पके जीर्णेपि नेतरत् । शीते विधिरयं तप्ते त्वजीर्णे शिशिरं त्यजेत् । अतियोगेन सलिलं तृष्यतोऽपि प्रयोजितम् । प्रयाति श्लेष्मपित्तत्वं ज्वरितस्य विशेषत इति” । अन्यप्रदेशजे पा-नीयेऽजीर्णे पानीयं जलं न पानीयं न पेयम् । एतदुक्तं भवति । पानीये पीते तज्जरणान्तं यावद्विजातीयं जलं न पेयमिति । अन्यप्रदेशज इति कोऽर्थः ? कौपे पीते ताडागं न पेयम् । ताडागे पीते कौपं न पेयम् । एवं सर्वत्र चिन्त्यम् । तथा आम्रेऽपके जलेऽजीर्णे कथितं च जलं न पेयम् । कथिते पीते जीर्णेऽपि नेतरन्नामं जलं यावन्न भुङ्क्ते तावत्सजातीयमपि न पेयमित्यर्थः । शीते विधिरयम्, कथितशीत एतद्विधानमित्यर्थः । तुरवधारणे । तप्तेऽजीर्णे एव शिशिरं त्यजेत् । जीर्णे तु शीतं पिबेदित्यर्थः । अतियोगेनाऽतिबाहुल्येन तृष्यतस्तृष्णावतोऽपि प्रयोजितमुपयुक्तं सर्वस्यापि नरस्य श्लेष्मपित्तां याति । ज्वरितस्य विशेषतो यत् आम्रेनाग्नौ बहिष्कृते ज्वरस्योत्पत्तिः । आमस्य च पानीयं वर्द्धकमिति । संच्छेपतया-ऽल्पोपयोगित्वाच्चाऽवश्यायादिगुणा ग्रन्थकृता नोक्ताः । तांश्चाऽत्र शिष्यहिताय ब्रूमः “रूक्षस्तुरवश्यायः शीतो वातास्रकोपनः । पानतृड्दाहपित्तास्रकुष्ठोरुस्तम्भ-मेहजित् । ग्रीष्मे तु सर्वजन्तूनां स्पर्शनादिषु शस्यते । पद्मिन्यम्बु च पित्तघ्नं कफ-कृद्विरसं गुरु । हिमं तु शीतलं रूक्षं दारुणं सूक्ष्ममेव च । कफं न सन्दूषयति न पित्तं न च मारुतम् । तथाऽश्मवर्षप्रलये हिमादल्पान्तरं गुणैः । चराचराणाम-हितं तुषारं त्वग्निनाशनम् । वैकारं लघु सच्चारं श्लेष्मघ्नं वह्निदीपनम् । क्रेदारं मधुरं प्रोक्तं विपाके गुरु दोषलम् । तद्वत्पात्वलमुद्दिष्टं विपाके दोषलं तु तत् । अनेक-दोषमानूपं वार्यभिष्यन्दि गार्हितम् । एभिर्दोषैरसंयुक्तं निरवयं तु जाङ्गलम् । पाके

विदाहि तृष्णाग्रं प्रशस्तं प्रीतिवर्द्धनम् । दीपनं स्वादु शीतं च तोयं साधारणं लघु ।
चन्द्रकान्तभवं रक्षोविषपित्तज्वरापहम् । रत्नाकरसमुत्थं च सर्वदोषकरं मृतमिति” ।

नालिकेरोदकं स्निग्धं स्वादु वृष्यं हिमं लघु । नातिकेरोदकं

तृष्णापित्तानिलहरं दीपनं वस्तिशोधनम् ॥ १६ ॥

नालिकेरान्तःस्थितमुदकं स्निग्धं स्वादु वृष्यं हिमं च भवति । एवम्भूतमपि
प्रभावान्नु भवति । तथा तृष्णादिहरं दीपनं मूत्रशोधनं च भवति ।

इदानीं युक्त्याऽग्रयसङ्ग्रहं निर्दिशति ।

वर्षासु दिव्यनादैये परं तोये वराऽवरे ।

प्रावृष्यान्तरिक्षं जलं परमत्यन्तं पथ्यम् । नदीसम्भवं त्वपथ्यमिति तोयवर्गः ।

अथ दुग्धवर्गः—

परिशेषभ्यो वर्गेभ्यः प्राग्बहुजनोपयोगितयोपकारित्वेनाजन्मसात्म्येन प्राधान्यात्पयःसंज्ञासामान्यात्पयस इव जीवनादिगुणयोगाच्च तोयवर्गादनु क्षीरवर्गः प्रकम्यते । तत्रापि दध्यादीनां मूलकारणत्वात्क्षीरस्य प्रागुपादानम् । तथा जीवनीयानां रसायनानां चाग्रेसरत्वात् । तथा चाष्टाङ्गग्रहे—“क्षीरं जीवनीयानां क्षीरघृताभ्यासो रसायनानामित्यादि” ।

स्वादुपाकरसं स्निग्धमोजस्यं धातुवर्द्धनम् ॥ २० ॥

वातपित्तहरं वृष्यं श्लेष्मलं गुरु शीतलम् ।

प्रायः पयः,

पयः क्षीरं प्रायः स्वादुपाकरसादियुक्तं भवति । पाकश्च रसश्च पाकरसौ । स्वादू पाकरसौ यस्य तदेवम् । ओजोसं हितमोजस्यम् । धातून् वर्धयति धातुवर्द्धनम् । वृष्यं शुक्रकरमतिशयेनेति बोध्यम् । धातुवर्द्धनत्वादेव शुक्रकरत्वमात्रस्य सिद्धेः प्रायोग्रहणात्कदाचित्क्षीरं नैवं भवति । तथा चोष्ट्रीक्षीरमीध्रक्षीरलवणं पठ्यते । अजाक्षीरं च लघु । आविकमुष्णमैकशफुष्णं साम्ललवणं चेति । तस्मात्प्रायोग्रहणं कृतम् । स्वादुपाकरसत्वादेव क्षीरस्य स्निग्धवृष्यादयो गुणा लब्धा एव किं पुनरैरुद्दिष्टैरिति केचित्, तान् ब्रूमहे । मधुररसादिकेभ्योऽपरे स्निग्धवृष्यादयो गुणा बहुतराः क्षीरस्य विद्यन्ते इति ज्ञापनायैते स्निग्धादयो गुणाः पुनरुद्दिष्टाः । महाभूतानां हि संयोगादिविशेषात्कदाचिद्रससहचरिता एव गुणा द्रव्यमभिनिविशन्ते, ये रसे समाधाय वार्यन्ते । यथा मधुर आयुष्यादिगुणाः । अम्लेऽग्निदीप्ति-कुदादयः । केचिच्च रसमनपेक्ष्यैव द्रव्ये निविशन्ते । यथा मधुररसद्रव्ये मकुष्ठतण्डुलीयादौ रूक्षादयो गुणाः । तथाहि स्निग्धादीनां तत्रोपलम्भः प्राप्तो मधुररसाश्लिष्टत्वात् । तस्मान्मकुष्ठादिद्रव्यं मधुररससदृशोक्तेन गुणौघेन संयुक्तं वक्तुं युक्तम् । अन्यथा तु कृतं षड्रसगुणस्वरूपवर्णनमनर्थमेव स्यात् । तस्मादयमत्र विषयविभागो ज्ञेयः । केचिद् गुणा रससहचरिता द्रव्ये निवसन्ति । यद्रशात्तद्द्रव्यं

रसगुणाननुवर्तते । ईदृशं च विशेषमुद्दिश्य तन्त्रकृद्भिर्मधुरादिरसानां स्निग्धादिगुणा वर्णिता वेद्याः । केचित्तु रसनिरपेक्षा एव द्रव्ये निवसन्ति । अत एव तद्द्रव्यं रस-
गुणाननुवर्तते । अस्मिन्स्तु विषये रसगुणवर्णनं नोक्तमेव वेद्यम् । तस्मात्क्षीरस्य स्निग्धा-
दियोगात्स्वादुपाकरसत्वे सत्यपि स्निग्धादिगुणवर्णनम् । एवं चोभयथा क्षीरस्य स्निग्धा-
दिगुणयोगादधिकाः स्निग्धादयो ये गुणास्तेऽस्य संतीत्यवगच्छ । अथमेव च व्यवहारो-
ऽन्यत्राप्येवं विधे शाल्यादौ द्रव्ये विज्ञेयः । ननु “स्वादुः पटुश्च मधुरमम्लोऽम्लं पच्यते
रस” इति वक्ष्यते । ततश्च स्वादुरसत्वादेव स्वादुपाकत्वं लब्धं तत्किं पाकग्रहणेन ?
भणामः । शालिपिष्टमयं सर्वं गुरुभावाद्विदह्यत इत्युक्तं, तदेव क्षीरं गुरुगुणयुक्तमपि
विदाहावस्थायां चिरं न तिष्ठति । प्रागेव स्वादुपाकतां यातीतीममर्थं ज्ञापयितुं
पाकग्रहणम् । स्त्रीणां चाहाररस एवापत्यस्नेहात्क्षीराय सम्पद्यते । तथाच दारुवाहिः ।
“स्त्रीणामपत्यजाद्वर्षाद्रसः स्नेहाय कल्पते । स्नेहाद्रसः क्षरत्येवं हृदयात्क्षीरमेत्यत
इति” । गव्यस्य च पूर्वतरमुपादानं सर्वक्षीरेभ्यो ज्यायस्त्वात्तथा माहिषमपि तक्रादि-
गोरसशब्देन प्रथितमिति ।

अत्र गव्यं तु जीवनीयं रसायनम् ॥ २१ ॥

क्षतक्षीणहितं मेध्यं बल्यं स्तन्यकरं सरम् ।

श्रमश्रममदालक्ष्मीश्वासकासार्तितृदक्षुधः ॥ २२ ॥

जीर्णज्वरं मूत्रकृच्छ्रं रक्तपित्तं च नाशयेत् ।

एषु क्षीरेषु मध्ये गव्यं पुनः क्षीरं जीवनीयमतिशयेनेति बोद्धव्यम् । जीव-
नीयमात्रस्यैजस्यमित्यनेनैव क्षीरसामान्यलक्षणेनोक्तत्वात् । ओजस्यं हि जीव-
नीयमुच्यते । तथा ह्योजःक्षये जीवनीयानामौषधानामुपयोगो निर्दिष्टः । यथा ।
“ओजः क्षीयत कोपादिभिरित्युक्त्वाऽनन्तरमुवाच । जीवनीयौषधक्षीररसाद्यास्तत्र
भेषजमिति” । अत्र च क्षीरं जीवनीयत्वेन गृहीतमपि पुनरुक्तं प्राधान्यरूपान्वयार्थम् ।
तथा च मुनिः—“प्रवरं जीवनीयानां क्षीरमुक्तं रसायनमिति” । रसवीर्यविपाकानां
श्रेष्ठानां लाभोपायो रसायनम् । तथा चोक्तम्—“लाभोपायो हि शस्तानां रसा-
दीनां रसायनमिति” । तथा क्षतक्षीणहितम् । क्षीणाय हितम् । क्षीणः क्षीणधातुः ।
तथा मेधा धारणाशक्तिस्तस्यै हितं मेध्यम् । उगवादिभ्यो यदिति यत् । एवं
बल्यम् । तथा स्तन्यकरम् । कृषो हेतुताच्छील्येति हेतौ टः । स्त्रीणां स्तन्यकरणे
हेतुरित्यर्थः । तथा सरम् । श्रमादींश्चैकादश नाशयेत् ।

हितमत्यग्न्यनिद्रेभ्यो गरीयो माहिषं हिमम् ॥ २३ ॥

माहिष्या इदं माहिषं क्षीरमत्यग्निभ्योऽनिद्रेभ्यश्च हितम् । तथा गरीयो गुरु-
तरम् । तथा हिमं शीतवीर्यम् । मुनिरप्याह—“माहिषीणां गुरुतरं गव्याच्छीततरं
पयः । स्नेहादूनमनिद्राय हितमत्यग्नये च तदिति” । खरनादे चोक्तम्—“गव्यं स्नेहो-
त्तमं क्षीरं गव्याच्च पयसः पयः । यथोत्तरं स्नेहदीनमौरभ्रच्छागमाहिषम् । जाङ्गला-

नूपशैलेषु चरन्तीनां यथोत्तरम् । पयो गुरुतरं वसो यथा तासां प्रवर्तनमिति” ।
 “गुरु शीततरं गव्यान्माहिषं स्वप्रलं पयः । चतुर्थभागमेहोनं पित्तघ्नं च विशेषतः”
 इति । यच्च रविगुप्तः सिद्धसारे व्यध्यगीष्ट—“गव्यात् क्षिग्धं गुरुतरं माहिषं स्वप्र-
 कृत्पय इति” । तद्वुधैश्चिन्त्यम् । सर्वमतविरुद्धत्वात् ।

अल्पाभ्युपानव्यायामकटुतिक्ताशनैर्लघु ।

आजं शोषज्वरश्वासरक्तपित्तातिसारजित् ॥ २४ ॥

आजं छागलं क्षीरं लघु भवत्यल्पाभ्युपानादिभिर्हेतुभूतैः । स्वल्पाभ्युपाना-
 दित्वं चाजानां स्वभावोऽन्यासां तु देशसात्म्यापेक्षया । यथेवं स्वभावादेवाल्पाभ्यु-
 पानादर्गम्यमानत्वादेतदुपन्यासो व्यर्थ एव । अत्रोच्यते । ज्ञापनार्थमिदम् । ज्ञाप-
 यति । यदा अजा अप्यव्यायामा गुर्वशनादि कुर्युस्तदा तासामप्यन्यथा क्षीरं
 भवेत् । एवं च गवादीनामप्याहारादिवशाद्गुरुलघुत्वं चिन्त्यमिति । तेन प्रदोषे-
 ऽपराहणे यद्गृहीतं पयस्तदपेक्षयौषसं प्रभाते यद्गृहीतं तद्गुरु । चेष्टारहितत्वात् ।
 रात्रौ हि प्राणिनां न कदाचिच्छेष्टा भवति । अत औषसं गुरु, दिवा च धावन-
 प्लवनादिकया चेष्टया प्रादोषं लघु । अनया च दिशा सर्वमपि चिन्त्यम् । अत एव
 सङ्गहे यदुक्तम्—“पिण्याकाम्लाशिनीनां तु गुर्वभिष्यन्दि तद्भृशमिति” । तदेतेनै-
 वोक्तप्रायत्वात्नेहोक्तम् । शोषेत्यादि । शोषादीनां द्वन्द्वः । तान् जयतीति क्विप् ।
 शोषजित् एवं ज्वरजित्यादि ।

ईषद्रक्षोष्णलवणमौष्ट्रकं दीपनं लघु ।

शस्तं वातकफानाहकृमिशोफोदराशंसाम् ॥ २५ ॥

औष्ट्रकमुष्णं क्षीरं लघु । तथा ईषन्मनाग्रक्षोष्णं तथा दीपनं भवति । तथा
 वातादीनां शस्तम् । वातादिषु पथ्यमित्यर्थः । औष्ट्रकमित्युष्णद्वयजिति बुब् । प्राति-
 पदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणमित्युष्ट्रीशब्दादपि ।

मानुषं वातपित्तासृग्भिघाताक्षिरोगजित् ।

मानुषीणां क्षीरं वातपित्तासृग्भिघाताक्षिरोगजिद्ववति वातश्च पित्तं चासृक्
 चाभिघातश्चेति द्वन्द्वः । तैरक्षिरोगस्तं जयति यत्तदेवम् ।

केन प्रयोगेणेत्याह ।

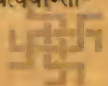
तर्पणाऽऽश्रोतनैर्नस्यैः

नत्वभ्यवहारादिना । तर्पणादीनि स्वे स्वेऽध्याये वक्ष्यमाणानि ।

अह्वयं तूष्णमाविकम् ॥ २६ ॥

वातव्याधिहरं हिक्माश्वासपित्तकफप्रदम् ।

आविकं क्षीरमुष्णवीर्यं भवति । तथा अह्वयं हृदयायाहितं भवति तथा वात-
 व्याधिहरम् । तथा हिक्मादिप्रदम् । आविकमित्यविशब्दात्स्वार्थे कप्रत्ययान्ता-
 तस्येदमित्यण् ।



हस्तिन्याः स्थैर्यकृत्

हस्तिन्याः क्षीरं स्थैर्यकृद्भवति ।

बाढमुष्णं त्वैकशफं लघु ॥ २७ ॥

शाखावातहरं साम्ललवणं जडताकरम् ।

एकः शफो नखो यासां वडवादीनां ता एकशफास्तासामिदमैकशफं क्षीरं बाढमतिशयेनोष्णं भवति । तथा शाखासु बाहूरुप्रभृतिषु यो वातस्तं हरतीति शाखावातहरम्, हरतेरनुद्यमनेजित्यच् । तथा साम्ललवणमांषदम्लमीषलवणं च । तथा जडताकरमङ्गजाव्यकरणहेतुः । कृषो हेत्वित्यादिना हेतौ टः ।

पयोऽभिष्यन्दि गुर्वामं युक्त्या शृतमतोऽन्यथा ॥ २८ ॥

आममकथितं पयाऽभिष्यन्दि श्लेष्मप्रकोपि तथा गुरु भवति । अत आमा-
दन्यथा विपरीतं युक्त्या शृतं भवति । अनभिष्यन्दि लघु च । पूर्वावस्थामपेक्ष्यो-
च्यते । युक्तियोग उपायः । खरनादे च क्षीरस्य श्रपणे युक्तिः स्पष्टं कृत्वा निद-
शिता । “विना तु वनितास्तन्यमाममेववाऽहितं पयः । अर्धोदकं क्षीरशिष्टमामल्लघु-
तरं शृतमिति” ।

भवेद्गरीयोऽतिशृतं, धारोष्णममृतोपमम् ।

अतिशयन कथितं कवलभोज्यमिव संजातं गरीयो गुरुतरं भवेत् । खरनादे
चोक्तम्—“स्यान्निर्जलं शृतं द्वित्रिचतुरर्थांशशेषितम् । तथा शृततमं सारं गुरु
बल्यतमं पयः” । सुश्रुते चोक्तम्—“शृतशीतं तु पित्तघ्नं शृतोष्णं कफवातजित् ।
त्यजेद्विवर्णं ग्रथितं विगन्धं विरसं पटु । रक्तपित्तप्रशमनी वृष्या सन्तानिका गुरु-
रिति” । खरनादे चोक्तम्—“धारोष्णात् सर्वशः क्षीरात् शृतं गुरुतरं भवेदिति” ।
धारोष्णममृतोपमं निर्दोषत्वात् ।

अथ दधिवर्गः—

अधुना दधिगुणान्निरूपयति—

अम्लपाकरसं ग्राहि गुरुष्णं दधि वातजित् ॥ २९ ॥

मेदःशुक्रबलश्लेष्मपित्तरक्ताऽग्निशोकृत् ।

रोचिष्णु शस्तमरुचौ शीतके विषमज्वरे ॥ ३० ॥

पीनसे मूत्रकृच्छ्रे च रुद्धं तु ग्रहणीगदे ।

नैवाद्यान्निशि नैवोष्णं वसन्तोष्णशरत्सु न ॥ ३१ ॥

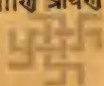
नाऽमुद्गसूपं नाऽक्षौद्रं तन्नाऽघृतसितोपलम् ।

न चाऽनामलकं नापि नित्यं नाऽमन्दमन्यथा ॥ ३२ ॥

ज्वरासृक्पित्तवीसर्पकुष्ठपाण्डुभ्रमप्रदम् ।

अम्लौ पाकरसौ यस्य तदेवम्भूतं दधि भवति । तथा ग्राहि स्तम्भनम् । तथा
चोक्तम्—“मेदि यत्पिण्डितान् भावान् शकृदादीन् भिनत्ति तत् । विपरीतमतो

ग्राहि तच्च स्तम्भनमुच्यते इति । तथा गुरुष्णं वातजिच्च । भेदआदीनां द्वन्द्वः । तान् करोति यत्तदेवम् । रोचत इति रोचिष्णु । न रोचत एव केवलम् । अरोच-
कमपि व्यावर्तयतीति शस्तमरुचौ । रोचेते हि घृतपूरादि न त्वरुचिं जयति ।
अरुचिघ्नं पटोलपत्रं तन्न रोचेते । तथा ह्यत्रैव पठिष्यति । “तिक्तः स्वयमरोचिष्णु-
ररुचिमित्यादि” । रोचिष्णुत्वोदवोच्चावचव्यञ्जनपरिवृत्तैर्मांसमण्डकादिभिरपि सुहि-
तस्यापि दधन्यभिलाष उत्पद्यते एव । अत एव चैतदाहारान्तेऽभ्यवहरन्ति । शी-
तक इति विषमज्वरविशेषणम् । शीतकारित्वं तु वाते श्लेष्मणि तत्संसर्गे च यद्यपि
त्रितये सम्भवति तथाऽपि वातजिद्धातज एव विषमज्वरे दधि प्रयोज्यम् । न संसर्गे
वा वातोल्वणे । तथा हि शीतज्वर एवोक्तम् । “अग्न्यनभिक्कृतान्स्वेदान्स्वेदि
भेषजंभोजनमिति” । पीनसे शस्तमिति कथमविशेषणोक्तम् । यतरचत्वारः पीनसा
वातपित्तकफसन्निपातजा इति । वक्ष्यते । तत्र दध्ने वाताधिक एव युक्तत्वं न शेषेषु ।
अत्र संवक्ष्यमहे । परिपाकात्पीनसस्योपशान्तिः, परिपाककरं च दध्युष्णत्वात् । अथ-
वा पूर्ववत्सामान्योक्तावपि यत्र योग्यताऽस्य वातिके तेनैतदुपकल्प्यताम् । अनुक्त-
वपि हि सामान्योपक्रमो वस्तुवशाद्विशेषेष्वेव विपरिणमति । तथा ह्यत्रैवोपरिष्ठाद्-
दुग्धकर्मसु व्यतीतम् । “श्रमश्रममदालक्ष्मीश्वासकासातिवृद्धुधः । जीर्णज्वरं मूत्र-
कृच्छ्रं रक्तपित्तं च नाशयेत्” । तदेतन्न च सर्वेष्वेव कासरवासकृच्छ्रासपित्तेषु पयः
कार्मुकमिति । तथा ग्रहणीरोगे तद्रूक्षं शस्तम् । अनेन च हेतुना दध्नः प्रकृतिस्थ-
स्य स्निग्धत्वं युक्त्यैवोक्तम् । यतो ग्रहरयां रूक्षमुद्धृतसारमुद्दिष्टम् । निशि नैव
कदाचिदद्यात् । नैवाद्यानिशि नैवोष्णमित्येवकाराच्चात्यन्तिकनिषेधाद्वा भुञ्जीते-
त्यर्थादवगम्यते । नैवोष्णमग्न्यादितापात्तप्तं तथा वसन्तग्रीष्मशरत्सु न भोज्यम् ।
अन्यतमेऽप्यन्यर्तावपि मुद्रसूपादीनामन्यतमेन रहितं न भोज्यम् । तत्र घृतसितो-
पलयोः समासेनैतयोरेव योगेन पथ्यत्वमिच्छन्ति । मुद्रसूपादीनां तु मिश्रीभावो
दध्ना जन्यमानस्य दोषस्य प्रतिबन्धार्थं कल्प्यते । रक्तपित्तवत् । यथा समीरणो-
ल्वणेऽस्रपित्ते तित्तिर्यादीनामौष्ण्यमुदुम्बरादि रसेन प्रतिबध्यते । नित्यमिति ।
यद्युपशेते शरीरस्थं तथाप्युदक् रोगावहत्वाच्च शीलनीयम् । अत एवान्नपानविधा-
वतिदोषशीलत्वादस्य निषेधं करोति । तथा च वक्ष्यति । किलाटदधिकूर्चिकेत्यादि ।
नाऽमन्दमिति । दुग्धावस्थां व्यतीत्य दध्यवस्थामसम्प्राप्तमन्तरावर्ति मन्दकमित्यु-
च्यते । तस्मिन् सत्यपि स्नेहे परिणतिविशेषेण कालात्मना स्रोतसामत्यन्तोपले-
पकृतो दोषत्रयकोपोऽपि भवतीत्यतीव वर्जनीयमेव । मन्दकनिषेधश्चोपलक्षणार्थः ।
तेन मद्यादीनप्यप्राप्तरसान्नोपयुज्जीतेत्यवगन्तव्यम् । अन्यथेत्यादि । प्रशब्द एवं द्योत-
यति । विधिभ्रष्टं दधि निषेव्यमाणं प्रकर्षेण ज्वरासृक्पित्तादीन् प्रददाति । ननु
शुककृत्वबलवर्धनत्वादीपनत्वमनुपपन्नम् । शुककृद्बलवर्धनानि हि द्रव्याणि प्रायेण



गुरुणि भवन्ति । अतो दध्येवं गुणं सत्कथमग्निकृत्स्यात् । अत्राचक्ष्महे । अम्ल-
त्वादुष्णवीर्यत्वाच्च युक्तमेव । यतो रसविपाकाभ्यामम्लं वीर्येणोष्णं च दध्यतो-
ऽग्निकृत्वमस्मिन्नुपपन्नमिति । ननु शुकरत्वं दध्नो न युक्तम् । यतोऽम्लपाकरसं
दधीत्यधीतमाचार्येण । अम्लश्च शुकराशनस्तस्माच्छुकरकृत्वमयुक्तम् । अत्राचक्ष्महे ।
स्निग्धत्ववृंहणस्ववातघ्नत्वबल्यत्वैः शुकरकृत्वमुपपन्नमेव । तथा च वक्ष्यति—“किंचि-
द्रसेन कुरुते कर्म पाकेन चापरम् । गुणान्तरेण वीर्येण प्रभावेणैव किंचनेति” ।
वातजिदित्यनेन नार्थः । यानि खलु द्रव्याणि बल्यस्निग्धगुरुष्णयुक्तानि तानि वात-
घ्नान्येव दृष्टानि । तस्माद्वातजिदिति न वाच्यम् । नैवं, सक्तुमद्यसूर्यतापमन्दका-
दिषु व्यभिचारात् । तथा—हि सक्तवो वातला वृथ्या रूक्षा बलकराश्च । मार्द्वीका-
दिमद्यं हर्षणत्वाद्वृथ्यं वातलं च । तथा च वक्ष्यति । “मनसो हर्षणं यच्च तत्सर्वं
वृथ्यमुच्यते इति” । मद्यं च मात्रापीतं हर्षणं भवति । तथा च मुनिः—“हर्षमूर्जप्रदं
पुष्टिमारोग्यं पौरुषं परम् । युक्त्या पीतं करोत्याशु मद्यमिति” । सूर्यतापश्चोष्णोऽपि
सन्मारुतस्य वृद्धये । तथा च मुनिः । “कटुतिक्तातिरूक्षशीतलघूनीत्यारभ्य यावद्वा-
तातपौ भयं शोको हेतुर्वातार्शसामिति” । मन्दकं च स्निग्धाम्लगुरुगुणयुक्तमपि त्रिदो-
षकरम् । तथा च मुनिः—“त्रिदोषं मन्दकमिति” । त्रिषु च दोषेष्वन्तर्भूतः पवनइति
चैवं व्यभिचारदर्शनाद्वातजिदित्ययुक्तम् । क्षीरस्य च दध्यात्मना परिणमतोऽनभिव्यक्ता-
ऽम्लाऽभिव्यक्ताऽम्लाऽत्यम्ललक्षणास्तिस्रोऽवस्थाः सम्भवन्ते । तत्र मन्दजातमनभि-
व्यक्ताम्लम् । सम्यग्जातमभिव्यक्ताम्लम् । अतिजातमत्यम्लम् । तत्र मन्दजातं
त्रिदोषकृत्वाजिषेद्धम् । सम्यग्जातस्यैते पूर्वोक्ता गुणाः । किंचिद्धीनाश्चात्यम्लस्य ।
तथा सुजातेऽत्यम्ले च दध्नि सरमण्डौ स्तः । तत्र दध्न उपरिभागः सरः । अधो
मण्डः । एतद्गुणाश्च लाघविकत्वाज्जहोक्ताः । मुनिना च दर्शिताः । “त्रिदोषं
मन्दकं जातं वातघ्नं दधि शुक्लम् । सरः श्लेष्मानिलघ्नस्तु मण्डः स्रोतोविशोधनः” ।
श्लेष्मपित्तरक्तकृत्वं चाम्लपाकरसोष्णवीर्यत्वादेवावगम्यते । यत्तु साक्षादेतेषामु-
पादानं तत्प्रकर्षार्थम् । अन्येभ्योऽम्लद्रव्येभ्यो दध्येतान्यतिशयेन करोतीति । नैवा-
द्याजिशीत्यादौ ग्रन्थे चैकस्मिन्नकारे कर्तव्ये यदेनकनकारकरणं तच्छास्त्रनिषिद्धदधि-
भक्षणादतिप्रत्यवायज्ञापनार्थम् । चरकोक्तमङ्गल्यगुणो नेहोक्तश्चिकित्सायामनुप-
योगित्वात् । अत एव सर्पिरादीनां मङ्गल्यानामपि चरकेऽपि मङ्गलत्वं नावादीदिति ।
सुश्रुते तु दध्नो विशेषगुणा उक्ताः । यथा—“दध्याजं कफपित्तघ्नं लघु पाके विषा-
प्रहम् । दुर्नामश्वासकासेषु हितमग्नेश्च दीपनम् । विपाके मधुरं वृष्यं रक्तपित्तप्रणा-
शनम् । बलासवर्द्धनं स्निग्धं विशेषादधि माहिषम् । विपाके कटुकं क्षारमम्लं भेद्यौ-
ष्ट्रकं दधि । वातार्शसि च कुष्ठानि कृमीन् हन्त्युदराणि च । वातघ्नं कफकृत्स्निग्धं
विशेषाच्च च पित्तकृत् । कुर्याद्भक्ताभिलाषं च दधि यत्सुपरिस्त्रुतम् । शृतक्षीराच्च
यज्जातं गुणवदधि तत्स्मृतम् । वातपित्तहरं रुच्यं धात्वाग्निबलवर्द्धनम् । दधि त्वसारं

रूक्षं तु ग्राहि विष्टम्भि वातलम् । दीपनीयं विशेषेण सकषायं रुचिप्रदामिति” ।
केवलमपि स्वल्पं कदाचिदधि भुज्जीतेत्यर्थादवगम्यते । अन्यथा केवलस्य गुणकथनं
निष्फलमेव स्यादिति केचिदाहुः ।

तक्रगुणाः—

तक्रं लघु कषायाम्लं दीपनं कफवातजित् ॥ ३३ ॥

शोफोदराशौग्रहणीदोषमूत्रग्रहारुचीः ।

लीहगुल्मघृतव्यापद्गरपाण्ड्वामयान् जयेत् ॥ ३४ ॥

तक्रं लघु कषायाम्लं दीपनं कफवातजिच्च भवति । तथा शोफादीनेकादश
जयेत् । घृतस्यातिपानाद्व्यापद्गो घृतव्यापत् । गरः कृत्रिमो विषविशेषः । सुश्रुते
चोक्तम्—“नैव तक्रं क्षते दद्यान्नोष्णकाले न दुर्बले । न मूर्च्छाभ्रमदाहेषु न रोगे
रक्तपैत्तिके । शीतकालेऽग्निमान्ये च कफोत्थेष्वामयेषु च । मार्गा रोधे दुष्टे च
वायौ तक्रं प्रशस्यते” । तथोक्तम्—“तक्रमामं कफं कोष्ठे हन्ति करटे करोति च । पीनस-
श्वासकासादौ सिद्धमेवोपयोजयेदिति” । “मन्दजातं मरुत्कोपि रुक्षाभिष्यंदि दुर्जरम् ।
अतिजातं भृशाम्लौघ्यतैक्षण्यात् पित्तकरं परम् । दोषघ्नमुद्धृतज्ञेहं सन्नेहमपि
शोफजित्” । “वातेऽम्लं सैधवोपेतं स्वादु पित्ते सशर्करम् । हितं पथ्यं कफे साम्लं
व्योषसौवर्चलन्वितम् । तक्राल्लघुतरो मण्डो दुर्जरा तक्रकूचिकेति” ।

तद्वन्मस्तु सरं स्रोतःशोधि विष्टम्भजिल्लघु ।

मस्तु तद्वत्तक्रवद्रुणैर्वैद्यम् । तथा सरं तथः स्रोतःशोधि तथा विष्टम्भजित्
सुश्रुते चोक्तम्—“तृष्णाक्लमहरं मस्तु लघु स्रोतोविशोधनम् । अम्लं कषायानुरसम-
वृष्यं कफवातजित् । आह्लादनं प्रीणनं च भिनत्त्याशु मलं च तत् । बलमावहति
क्षिप्रं तथा भक्तस्य रोचनम्” ।

नवनीतगुणाः—

नवनीतं नवं वृष्यं शीतं वर्णबलाग्निकृत् ॥ ३५ ॥

संग्राहि वातपित्तासृक्क्षयाशौऽर्दितकासजित् ।

नवनीतं नवं नवोद्धतं लघु वृष्यं च तथा शीतं शीतवीर्यं बलवर्णाग्निकरं तथा
संग्राहि वातादिजिच्च । संग्रहे चोक्तम्—“शीतं स्वादु कषायाम्लं नवनीतं नवो-
द्धतमित्यादि” ।

क्षीरोद्भवं तु संग्राहि रक्तपित्ताक्षिरोगजित् ॥ ३६ ॥

क्षीरोद्भवं तु क्षीरदिव जातं मथित्वा तन्नवनीतं संग्राहि रक्तपित्ताक्षिरोग-
जिच्च भवति ।

घृतगुणाः—

शस्तं धीस्मृतिमेधाग्निबलायुःशुक्रचक्षुषाम् ।

बालवृद्धप्रजाकान्तिसौकुमार्यस्वरार्थिनाम् ॥ ३७ ॥



क्षतक्षीणपरीसर्पशस्त्राग्निग्लपितात्मनाम् ।

वातपित्तविषोन्मादशोषाऽलक्ष्मज्विरापहम् ॥ ३८ ॥

स्नेहानामुत्तमं शीतं वयसः स्थापनं परम् ।

सहस्रवीर्यं विधिभिर्धृतं कर्मसहस्रकृत् ॥ ३९ ॥

धृतं धीः प्रभृतीनामग्निग्लपितात्मानानां शस्तम् । धीर्वस्तुग्रहणशक्तिः । स्मृति-
रतीतविचारशक्तिः । प्रजार्थिनां शस्तम् । प्रजाऽपत्यं तदर्थिनाम् । शुक्रस्य सफलता-
करमित्यर्थः । तथा वातादिघ्नम् । तथा स्नेहानां तैलादीनामुत्तमं श्रेष्ठम् । तथा शी-
तम् । वयसः स्थापनं जरया विना वयसः स्थापनमित्यर्थः । सहस्रवीर्यमिति ।
सहस्रशब्दोऽनेकार्थः । अनेकशक्तीत्यर्थः । कथं विधिभिर्योगसंस्कारादिभिर्धृतमने-
कशक्तिं संपद्यते ? येन द्रव्येण प्रयुज्यते संस्क्रियते वा तच्छक्तिमेवाऽनुबध्यते ।
अथवा तत्संयोगाच्छक्यन्तरमन्यदारोहति । अत एव हेतोः सहस्रशब्दोऽनेकार्थः ।
अन्यथा द्रव्याणामानन्त्यात्कथं दशशतवाची सहस्रशब्द उपपद्यते । अन्ये त्वेवं
व्याचक्षते । सहस्रशब्दो दशशतसंख्यावाच्येव । सहस्रपाक्यं हि सर्पिर्भक्तं, न
सहस्रपाक्यात्परेण । तत्र चेदं सहस्रपाक्यत्वे प्रयोजनम् । पाकसहस्रं यावदस्य
संस्कारोऽनुवर्तते नातः परम् । अन्यथा सहस्रपाकात्परेण किमिति पाको नोक्तः ?
तस्मादासहस्रं पाकानां शक्यन्तराण्यारोहन्ति पाकाः, न ततः परेणेति । तथा कर्म-
सहस्रकृदनेककार्यकृत् ।

पुराणधृतगुणाः—

मदपस्मारमूर्च्छायशिरःकर्णाक्षियोनिजान् ।

पुराणं जयति व्याधीन् व्रणशोधनरोपणम् ॥ ४० ॥

पुराणमिति च बहुकालं पञ्चदशादिवर्षस्थितं धृतं मदादीन् व्याधीन् जयति ।
व्रणानां शैथिल्यादीन् शोधयति । तथा व्रणान् रोपयति । सङ्गहे चैवमध्यैष्ठ—“व्रण-
शोधनरोपणम् । पूर्वोक्तांश्चाधिकान्कुर्याद्गुणांस्तदमृतोपमम् । तद्वच्च धृतमण्डोऽपि
रुद्धतीक्ष्णस्तनुस्तु स इति” ।

किलाटादिगुणाः—

बल्याः किलाटपीयूषकूर्चिकामोरणादयः ।

शुक्रनिद्राकफकरा विष्टम्भिगुरुदोषलाः ॥ ४१ ॥

किलाटादयो बल्यास्तथा शुक्रादिकरास्तथा विष्टम्भिनो गुरवो दोषलाश्च स्युः ।
आदिग्रहणात्तक्रपिरण्डकक्षीरशक्योर्ग्रहणम् । वह्निनाशकत्वं चैषां बल्यत्वेन शुक्र-
कृत्त्वेन विष्टम्भिदोषलत्वेनाऽवगतमेवेति वह्निनाशना इति ग्रन्थकृता नेह कृतम् ।
सङ्गहे तु स्पष्टार्थं कृतमेव । तत्र किलाटोऽल्पक्षीरो बहुना तत्रेण कृतः । पीयूषः
सद्यःप्रसूतायाः क्षीरकृतः । कूर्चिका दधितक्रकृता किलाटिका । मोरणाः क्षीरसदृशः
किलाटिकापीडन उत्तरापथे प्रसिद्धः ।

गव्ये क्षीरघृते श्रेष्ठे, निन्दिते चाऽऽविसम्भवे ।

गोसम्भवे क्षीरघृते श्रेष्ठे । आविके च निन्दिते गर्हिते । घृतस्य च क्षीर-
विकारोपलक्षणार्थत्वादधितकमस्त्वादीनामपि गव्यानां श्रेष्ठत्वेनैव वेद्यम् । अत
एवाऽऽविसम्भवानां दधितकादीनामधमत्वमेव वेद्यं न क्षीरघृतयोरेव । अत एव सङ्गहे
सुस्पष्टं कृत्वोक्तम्—“विद्यादधिघृतादीनां गुणदोषान्यथा पयः” । अस्य० ह्ययमर्थः—
घृतादीनां पयोवद्गुणान्विद्यात् । यथाशब्दस्य पदार्थानतिवृत्त्यर्थेऽस्याव्ययीभावः ।
तेनैतदुक्तं भवति—यथा स्वादुपाकरसमित्यादिना सामान्येन क्षीरगुणा उक्तास्तद्वद्-
ध्यादीनामपि सामान्येनैव गुणा उक्ताः । विशेषाभिलाषे तु दध्यादीनां सत्स्वपि
सामान्यगुणेषु प्रकृतिभूतं यत्क्षीरं तद्गुणोच्योऽपि ग्राह्य इति । खरनादे तूक्तम्—
“दध्यादीनां तु तज्जानां सामान्ये गुणकर्मणी । तथा स्वात्स्वादपि क्षीरादध्यादीनां
विशेषणम्” । गव्यमिति गोपयसौर्यदिति यत् । बाहुल्येन क्षीरनिर्देशात्क्षीरवर्गोऽयम् ।
दधिनवनीतादीनां तु तद्विकारभूतत्वादिति क्षीरवर्गः ।

क्षीरवर्गादनन्तस्मिन्नुर्वर्ग आरभ्यते । गुणक्रियातुल्यत्वात् तथाहीक्षुरपि
क्षीरवत्सरगुरुस्निग्धबृंहणादिगुणकर्मा ।

इक्षुवर्गः—

इक्षो रसो गुरुः स्निग्धो बृंहणः कफमूत्रकृत् ॥ ४२ ॥

वृष्यः शीतोऽक्षपित्तघ्नः स्वादुपाकरसः सरः ।

इक्षो रसः सरत्वादिगुणयुक्तः । तथा कफमूत्रकृत् । सरः शक्तेर्देदी कथ्यते ।
तथा गुर्वी सरा च पालंकेत्युक्तवानन्तरमुक्तवान्—“पालंकेयावत्स्मृतश्चञ्चुः स
तु सङ्गहणात्मक इति” । चञ्चुशाकस्य सङ्गहणेन गुणेन सरत्वं बाधितमिति । अत्र
स्निग्धबृंहणावृष्यमधुरादिगुणेन युक्तं च द्रव्यं प्रायः पवनहन्तृ दृष्टम् । अतोऽस्या-
पीक्षुरसस्य मारुतजित्त्वं वेद्यम् । ग्रन्थकृता तु स्पष्टं कृत्वा नोक्तम् । भुक्ते हि
समीरणकृत्वमस्य दृष्टम् । तथा सङ्गहे—“वृष्यः शीतः पवनजिदुभुक्ते वातप्रकोपन
इति” । खरनादेऽप्युक्तम्—“मारुताऽऽध्मानजननश्चक्षुष्यो बृंहणो रस” इति ।

सोऽग्रे सलवणो दन्तपीडितः शर्करासमः ॥ ४३ ॥

स च रसोऽग्र इक्षुप्रान्ते जातः सलवणः । सुश्रुते चोक्तम्—“अतीव मधुरो
मूले मध्ये मधुर एव च । अग्रे त्वक्षिषु विज्ञेय इक्षूणां लवणो रस” इति । पाषाणा-
दिसंक्षुरणस्येक्षोः सद्य एव यो रस उत्पद्यते तस्यैते यथोक्ता गुणा वेद्या नान्यथा
पीडितस्येक्षुरसस्य । यन्त्रदन्तादिपीडितस्याऽन्यथा शास्त्रकृता गुणो निर्दिश्यते ।
दन्तपीडितः शर्करासम इति ।

यान्त्रिकस्त्वन्यगुण एवेत्याह ।

मूलाग्रजन्तुजग्धादिपीडनान्मलसङ्करात् ।

किञ्चित्कालं विधृत्या च विकृतिं याति यान्त्रिकः ॥ ४४ ॥

विदाही गुरुविष्टम्भी तेनासौ

मूलं चाग्रं च जन्तुजग्धादयश्च मूलाप्रजन्तुजग्धादयस्तेषां तथाविधनाभिचूणां पीडनं तस्मान्मूलाप्रजन्तुजग्धादिपीडनात्तथा मलसङ्करान्मलमिश्रणात्तथा किञ्चित्कालं विष्टृत्या च यान्त्रिके रसे स्वल्पकालं विष्टृतिर्विलम्बश्च दृष्टः । तदेतैः कार-
णैर्यान्त्रिको रसो विकृतिं याति स्वभावान्यथात्वं प्राप्नोति । तथा गुरुरधिकं गुरुः सम्पद्यते । अविदाही विदाही । अविष्टम्भी विष्टम्भीत्येवंविधाऽस्य विकृतिः । यान्त्रिकस्य च रसस्य बाहुल्येन लोके मूलादिसहितस्य पीडनात्कालविलम्बोप-
लब्धेश्च ग्रन्थकृदेवं समवोचत् । अत एव हेतुनिर्देशोऽत्र कृतो हेत्वभावात्कार्याभाव-
प्रतिपत्तिज्ञापनार्थमिति । तेन यदि निपुणधीभिर्मूलादिरहितः पीड्यते तदा विकृतिं न यात्येवेत्यर्थः । विदाहीत्यादि । यतो विकृतिं याति तेन हेतुनाऽसौ यान्त्रिको विदाह्यादिगुणः सम्पद्येत । विदाही जठराग्निसंयोगाद्यः पाकं गच्छन्मध्यमायामे-
वावस्थायां विदह्यमानः पित्तं कुर्वन्श्चिरकालमवतिष्ठते न द्रागेव जरां याति गुरुत्वा इथवा वस्तुस्वभावात्स विदाहगुणयुक्तोक्त्या वितन्यते । तस्माद्गुरुस्वभाव्याद्विदाही कथितः । तथा चोक्तं धान्वन्तरे—“शालिपिष्टमयं सर्वं गुरुभावाद्विदह्यत” इति ।

तत्र पौरुङ्कः ।

शैत्यप्रसादमाधुर्यैर्वरस्तमनुवांशिकः ॥ ४५ ॥

तत्र तेषु रसेषु मध्ये पौरुङ्को रसो वरः, सर्वेक्षुरसेभ्यः श्रेष्ठः । कथं ? शैत्यादि-
भिर्हेतुभूतैः । शीतस्य भावः शैत्यम् । गुणवचनेत्यादिना ष्यञ् । प्रसादः प्रसज-
त्वम् । माधुर्यं स्वादुता । तमनु वांशिकः । हीनार्थेऽनुशब्दस्य कर्मप्रवचनीययुक्त
इति द्वितीया । शैत्यादिभिः पौरुङ्काद्धीनो वांशिक इत्यर्थः ।

शातपर्वककान्तारनैपालाद्यास्ततः क्रमात् ।

सत्ताराः सकषायाश्च सोष्णाः किञ्चिद्विदाहिनः ॥ ४६ ॥

शातपर्वकादयस्ततो वांशिकात्क्रमादुत्तरोत्तरं शैत्यादिभिर्हीनाः । ते च शात-
पर्वकादय ईषत्क्षारत्वेन युक्ता ईषत्कषायरसा ईषदुष्णाः किञ्चिद्विदाहिनश्च ।

फाणितगुणाः—

फाणितं गुर्वभिष्यन्दि चयकृन्मूत्रशोधनम् ।

फाणितं क्षुद्रगुडीभूत इक्षुरसो गुरु । अतिशयेनेत्यर्थाद्वेद्यम् । गुरुत्वमात्रस्येक्षु-
रसेऽप्युक्तत्वात् । अभिष्यन्दि तथा चयकृत् त्रिदोषकरं मूत्रशोधनं मूत्रमतिवाहयति ।
तन्त्रान्तरे चोक्तम्—“रूक्षं मधूकपुष्पोत्थं फाणितं वातपित्तकृत् । कफघ्नं मधुरं पाके
कषायं बस्तिदूषणम् ।

गुडगुणाः—

नातिश्लेष्मकरो धौतः सृष्टमूत्रशुद्धिः ॥ ४७ ॥

प्रभूतकृमिमज्जासृङ्घेदोमांसकफोऽपरः ।



गुडो धौतः संस्कारवशान्निर्मलो नातिश्लेष्मकरः । किञ्चित्कफकर इत्यर्थः । मूत्रं च शकृच्च मूत्रशकृत् । स्रष्टं बहिः क्षिप्तं मूत्रशकृद्येन स एवं गुडः । अपर इति धौताद्विशुद्धादन्यः, समल इति यावत् । प्रभूताः कृमिमज्जासृज्जोदोमांसकफा यस्य स एवम् । कारणे कार्योपचाराद् गुडोऽप्येवमुक्तः । यथाऽनूदकं पादरोग इति । प्रभूतकृम्यादीन्करोतीत्यर्थः ।

हृद्यः पुराणः पथ्यश्च, नवः श्लेष्माणिसादकृत् ॥ ४८ ॥

गुड इत्यनुवर्तते । पुराणो गुडो हृदयाय हितः । तथा पथ्यः । अन्तर्मध्य-
बहिर्मार्गाय हितः । नवो गुडः श्लेष्माणमग्निसादं करोति ।

मत्स्यरिडका-खण्ड-सिता-गुणाः—

वृष्याः क्षतक्षीणहिता रक्तापित्तानिलापहाः ।

मत्स्यरिडकाखण्डसिताः क्रमेण गुणवत्तमाः ॥ ४९ ॥

मत्स्यरिडकादयस्त्रयो वृष्यास्तथा क्षीणक्षतहिता रक्तापित्तानिलापहाश्च तथा क्रमेण गुणवत्तमाः । धौतगुडादपि मत्स्यरिडका गुणकरी निर्मलतरत्वात् । ततोऽपि खण्डो गुणवत्तरः । खण्डादपि शर्करा गुणवत्तमा निर्मलतमत्वात् । गुणवत्तमेति गुणवतीशब्दस्य तमप्रत्यये पुंवद्भावोऽत्र पक्षे च वक्तव्य इति पुंवद्भावः ।

यासशर्करागुणाः—

तद्रुणा तिक्तमधुरा कषाया यासशर्करा ।

तद्रुणेति । शर्करासमा यासशर्करा यवासशर्करेति या लोके प्रसिद्धा तिक्त-
मधुरकषायरसा च । केचित्त्वाचक्षते । दुरालभारसेन या क्रियते ।

सर्वशर्करागुणाः—

दाहतृदृष्टिर्मूर्च्छासृक्पित्तघ्न्यः सर्वशर्कराः ॥ ५० ॥

इत्येताश्चान्याश्च दाहादिनाशनाः । ग्रन्थान्तरे चोक्तम् । “यथा यथासां वैमल्यं मधुरत्वं यथा यथा । स्नेहलाघवशैत्यादिसरत्वं च तथा तथेति” ।

अधुना वराऽवरत्वं निर्धारयति—

शर्करेक्षुविकाराणां फाणितं च वराऽवरे ।

इक्षुविकाराणां मध्ये शर्करा फाणितं च क्रमेण वराऽवरे भवतः । शर्करा श्रेष्ठा फाणितमवरम् ।

शर्करायानिप्रसङ्गेन मधुनोऽपि गुणानाह—

मधुवर्गः—

चक्षुष्यं छेदि तृदृष्ट्यविषहिध्मास्रपित्तनुत् ॥ ५१ ॥

मेहकुष्ठकृमिच्छर्दिश्वासकासातिसारनुत् ।

व्रणशोधनसंधानरोपणं वातलं मधु ॥ ५२ ॥

रूतं कषायमधुरं तत्तुल्या मधुशर्करा ।



मधु चक्षुषे हितम् । तथा छेदि । उभयथाऽश्वोतनव्रणलेपादावुपयुक्तम् । तथाऽभ्यवहारविषयेऽपि । तैक्षण्याद्यौ देहे पिण्डितान् भावान् छिनत्ति विभजति स छेदीति कथ्यते । तथा तृडादिनुत् मेहादिजिदिति च । प्रायेणाऽभ्यवहारविषयएव । व्रणानां शोधनं सन्धानं रोपणं च । शोधनं यत्पूयपैच्छिल्यादिप्रेरकम् । सन्धानं यद् द्वौ व्रणौ चैकीकरोति । रोपणं सुप्रसिद्धम् । एतच्च कार्यं बाह्यविषयमेवाऽस्य वेद्यम् । तथा वातलभेतचास्य बाह्योपयोगेनाभ्यन्तरोपयोगेन च । अन्ते व्यस्तश्रुतत्वात् । चक्षुष्यं छेदीत्यादिनाऽस्य मधुनः कर्मनिर्देशः । रूक्षं कषायमधुरमित्यनेनास्य स्वरूपनिर्देशः । लाघवाच्चाऽत्र ग्रन्थकारेणैतद्वेदादि नोक्तम् । तथा ह्ययमेव तन्त्रकारः संग्रहे मधुना भेदानाख्यत् । तथा—“भ्रामरं पैत्तिकं क्षौद्रं माक्षिकं तद्यथोत्तरम् । तत्र स्यान्भ्रामरं शुक्लं घृतवर्णं तु पैत्तिकम् । क्षौद्रं तु कपिलं विद्यात्तैलाभं माक्षिकं मतम् । भ्रामरं तर्पणं स्वादु त्रिदोषं पैत्तिकं विदुः । वरं च गुर्वभिष्यन्दि क्षौद्रं रूक्षं मनागुरु । माक्षिकं लघ्वपवनं मधुरं शस्यते व्रणे । गरीयः स्वाद्वभिष्यन्दि नवं जीर्णमतोऽन्यथा । मण्डः पुराणान्मधुनस्तीक्ष्णो रूक्षो लघुस्तनुरिति” । तथा संग्रहे कटुपाकित्वगुरुत्वशैत्यविषान्वयत्वविरुद्धोपक्रमत्वयोगवाहित्वादीन् गुणानवोचत् । योगवाहित्वं च विवदन्ते बहुविदः । तत्र केचिदेवं समगिरन्त । यद्द्रव्यं द्रव्यान्तरेण संयुज्यात्मीयं स्वभावं हित्वा संयुक्तद्रव्यस्वभावमेवानुवर्तते तद्योगवाहीति । नचैतद्युक्तम् । यतो यद्येवं योगवाहिता निश्चीयते तदानीं योगवाहिद्रव्योपयोगो निरर्थकः स्यात् । तथाहि । योगवाहिद्रव्यमन्तरेणाऽपि यत्स्वभावं द्रव्यं प्रागासीत् तत्स्वभावमेव योगवाहिद्रव्ये युक्तमपि । तस्मादसदद्योगवाहिलक्षणमिति । केचित्त्वेवं प्रतिजानते । यद्द्रव्यं द्रव्यान्तरेण युक्तमन्यस्य द्रव्यस्य शक्त्युत्कर्षमुत्पादयति तद्योगवाहीति । तदप्यसम्यक् । यस्मादेवमभ्युपगम्यमाने बहूनि द्रव्याणि योगवाहीनि स्युः । तथा च मध्वादेरपि द्रव्यस्य किञ्चिद्द्रव्यं समानगुणस्य शक्त्युत्कर्षं कुर्वदेव दृष्टम् । तत्कथं मध्वादेरेव योगवाहित्वमुच्यते नापरस्येति । तदेतदपि लक्षणमसच्छ्रुतत्वादलक्षणम् । अपरे त्वेवमाहुः । यद्द्रव्यं द्रव्यान्तरेण तुल्यगुणेनाऽपि युक्तं सत्तद्गुणाननुवर्तते स्वं च कार्यं तदविरुद्धं किञ्चित्करोति तद्योगवाहि द्रव्यम् । भृत्यवत् । यथा भृत्यः स्वामिकार्यमत्यजन् स्वकार्यमपि शरीरयात्रादिकं स्वाम्यविरुद्धं करोति, तथैव मधु मदनफलसंयुक्तं वमनकार्यं करोति नतु वमननिवारणं मधुकार्यम् । एवं मधु हरीतकीसंयोगाद्विरेचनकार्यमेव करोति न मधुकार्यं स्तम्भनरूपमिति । ये तत्रैवं प्रतिपन्ना मदनफलादेः शक्त्युत्कर्षस्तथाविधोऽस्ति येन मधुसम्बन्धिकार्यमवधूय स्वं कार्यं करोति ते चैवं चोदयन्तो भवन्तीति वञ्चनीयाः । यतः स्तम्भनद्रव्येणान्येन येन केनचित्संयुक्तस्य सुधाक्षीरस्यापि शक्तिः किञ्चिदपहीयमाना दृष्टा मधुनापि स्तम्भनस्वभावेनाऽप्यस्य नापनागपि । अतो मध्वादेरेव योगवाहित्वं नान्यस्य । अपि चान्यदा योग-

वाहि द्रव्यं त्रिवृतादि मदनफलेन युक्तं सद्विरेचनं वमनं चोभयकार्यं कुर्वद् दृष्टं, न केवलं वमनमेव न विरेचनमेव; तस्मान्मध्वादेरेव योगवाहित्वमिति स्थितमेतत् । तत्तुल्येति । मधुसमा गुणैर्मधुशर्करा ।

उष्णमुष्णार्तमुष्णे च युक्तं चोष्णैर्निहन्ति तत् ॥ ५३ ॥

तन्मधु उष्णमुपयुक्तं सन्निहन्ति मारयति तथोष्णार्तं प्रतप्तं पुरुषं निहन्ति । उष्णं च काले देशे चोपयुक्तमुष्णैराहारादिभिश्च युक्तं सन्निहन्ति ।

प्रच्छर्दने निरुहे च मधूष्णं न निवार्यते ।

अलब्धपाकमाश्वेव तयोर्यस्मान्निवर्तते ॥ ५४ ॥

तच्च मधु प्रच्छर्दने वमने तथा निरुहे च उष्णं न निवार्यते न निषिध्यते । यस्मात्कारणात्तयोर्यमिनिरुहयोरलब्धपाकमपक्वमेवाशु निवर्तते बहिरागच्छति । इतीक्षुवर्गः ।

सर्पिषोऽनन्तरं स्नेहसामान्यातैलवर्गे वक्तव्ये गुडस्य समानरसवीर्यविपाक-कर्मत्वात् प्रायेण चाहारद्रव्येषु भक्ष्यभोज्येष्वस्यैव तैलेभ्यः सारभोजनादिक्षुवर्गो-न्तरा निर्दिष्टः । भूरिभोजनोपयोगितया च मद्यात्प्राक् तैलवर्गो वक्तव्य इत्याह ।

अथ तैलवर्गः—

तैलं स्वयोनिवत्तत्र मुख्यं तीक्ष्णं व्यवायि च ।

त्वग्दोषकृदचक्षुष्यं सूक्ष्मोष्णं कफकृन्न च ॥ ५५ ॥

सर्वं तैलं स्वकारणसमगुणं भवति । यतो यदभिनिर्वृतं तत्स्वरूपमेवेत्यर्थः । तत्र तैलेषु मध्ये मुख्यं तिलोद्भवं यतैलं, तत्तीक्ष्णं मन्दविपरीतम् । तथा व्यवायि व्याप्तिशीलम् । तथा त्वग्दोषकृत्यानाभ्यासेन त्वचं दूषयति । अचक्षुष्यं चक्षुषे हितं न भवति । सूक्ष्मं सूक्ष्मस्रोतो गामि । उष्णमुष्णवीर्यम् । स्वयोनिवदित्य-तिदेशात्कफकृत्वं प्राप्तमित्याह । कफकृन्न च कफं न करोति । संप्रहेऽप्युक्तम्—“मेध्यस्तिलः स्पर्शशीतो मेध्यं तैलं खलो हिमः । तस्यैव श्लेष्मकर्तृत्वं न तैलस्य खलस्य चेति ” । पानकस्त्वयुर्वेदावतारेऽधिजगे—“विपाके कटुकं तैलं वातघ्नं कफपित्तकृदिति ” । ननु च तैलमिति कथमस्य मुख्यं नाम ? यतो यथा तिलस्य विकारः स्नेहस्तैलमित्युच्यते । तथैरण्डादीनामपि यो विकारः स्नेहः सोऽपि तैल-मित्युच्यते । मुनिरप्याह—“अतैलमपि तैलमेव कृत्वोपदेक्ष्यते तैलप्राधान्यास्नेह-प्राधान्यादिति यावत् । सामानाधिकरण्यप्रयोग एवोपपन्नः । यथा कौसुम्भं तैल-मैरण्डं तैलमिति, अत्रोच्यते । तिलस्येदं वस्तु तैलमित्यन्वर्थता तिलोद्भवस्यैव तैलस्य सम्भवति, न कौसुम्भादीनाम् । अपि च—कौसुम्भं तैलमित्यादौ तैल-शब्दः काण्डादिव्यवच्छेदपरः सम्भाव्यते । यथा कौसुम्भं तैलं न पत्रं काण्डं चेति । इदं तैलं तैलमित्यत्र तु सामानाधिकरण्येन यदि तैलशब्दो निर्दिश्यते, ततः

पूर्वस्मात्तैलशब्दात्स्नेहाभिधायिनोऽधिकमर्थान्तरं न वक्ति । नन्वत्राऽपि तैलशब्दः कस्मात्कारणडादिव्यवच्छेदपरो न भवतीति चेत् ? वयं ब्रमः । रूढिरूपत्वात्तैलशब्दस्य । स्नेहविषय एव तैलशब्दो रूढो न कारणपत्रादिविषये । तिलस्य हि कारणं पत्रं वा न तैलमित्युच्यते, किं तर्हि तिलपत्रं तिलकारणमिति । अत एव तैलशब्दोच्चारणस्य समनन्तरं स्नेहविषयैव धीर्जायते, न पत्रकारणडादिविषया । तस्मादस्यैवैतन्मुख्यं नाम युक्तम् । संस्कारानुवर्तित्वेन सर्वरोगजित्वाच्चास्य मुख्यत्वम् । तथा चोक्तम्—“संस्कारात्सर्वरोगजिदिति” । कुसुम्भादीनां तिलशब्दस्य च स्नेहनार्थवाच्ये विकारे स्नेहे, तैलचप्रत्यये सति कुसुम्भतैलमेरण्डतैलं तिलतैलमिति रूपं भवति ।

तिलतैल-गुणाः—

कृशानां बृंहणायाऽलं स्थूलानां कर्शनाय च ।

बद्धविदकं कृमिघ्नं च संस्कारात्सर्वदोषजित् ॥ ५६ ॥

कृशानां पुंसां बृंहणाया बृहत्त्वायाऽलं पर्याप्तं, स्थूलानां च कर्शनायाऽलम् । ननु कथमेकस्माद्वस्तुनो विरुद्धकार्यद्वयं कृशत्वबृंहणत्वरूपं स्यादिति ? ब्रमः । कृशानां तावत्स्रोतांसि सङ्कोचमायान्ति संकुचितस्रोतसां च नराणां तैलमन्तरेणाऽन्यानि द्रव्याणि बृंहणगुणयुक्तान्यपि न तथा प्रवेष्टुं समर्थानि भवन्ति । तैलं पुनः संकुचितानि स्रोतांसि तीक्ष्णादिभिर्गुणैर्भटित्येव प्रविश्य शोधयति । स्रोतःशुद्ध्या च शरीरपुष्टिः । तथा च वक्ष्यति—“स्रोतःसु तत्र शुद्धेषु रसो धातूनुपैति यः । तेन तुष्टिर्बलं वर्णः परं पुष्टिश्च जायत” इति । तस्मात्कृशानां बृंहणायाऽलमित्युपपन्नम् । तथा स्थूलानां सूक्ष्मस्रोतोऽगमित्वात्सर्वस्रोतःसु तैलं प्रविश्य तीक्ष्णोष्णादिगुणयोगान्नेदः क्षपयति, तत्क्षपणाच्च कर्शनं सम्पद्यत इति स्थूलानां कर्शनाय चेत्युपपन्नम् । स्नेहादिगुणयोगात्तैलस्य बृंहणत्वचामत्वे सिद्धे सति, कृशानां बृंहणायाऽलं स्थूलानां कर्शनाय चेत्युक्तं ज्ञापनार्थम् । यदित्यम्भूतं तीक्ष्णादिगुणयुक्तमन्यदपि तत्कृशानां बृंहणायालं स्थूलानां कर्शनाय चेति । बद्धेत्यादि—बद्धा विड् येन तद्बद्धविदकम् । कप्समासान्तः । ग्रंथितपुरीषमित्यर्थः । तथा कृमिघ्नम् । संस्कारादित्यादि । विशिष्टद्रव्यकृतसंस्कारमाश्रित्याशेषरोगजित् ।

एरण्डतैलम्—

सतिक्रोषणमैरण्डं तैलं स्वादु सरं गुरु ।

वर्ध्मगुल्मानिलकफानुदरं विषमज्वरम् ॥ ५७ ॥

रुक्शोफौ च कटीगुह्यकोष्ठपृष्ठाश्रयौ जयेत् ।

एरण्डतैलमीषत्तिकं कटु भवति तथा स्वादु मधुरं तथा सरं गुरु च । वर्ध्मेत्यादि । वर्ध्मादीन् जयेत् । कटीगुह्यकोष्ठपृष्ठस्थितौ रुक्शोफौ जयेत् ।

तीक्ष्णोष्णं पिच्छिलं विस्त्रं रक्तरण्डोद्भवं त्वति ॥ ५८ ॥

तच्च तीक्ष्णोष्णपिच्छिलं विस्त्रं च भवति । लोहितैरण्डतैलं त्वतिशयेन तीक्ष्णादियुक्तम् ।

सार्षपम्—

कटूष्णं सार्षपं तीक्ष्णं कफशुकानिलापहम् ।

लघु पित्तास्रकृत् कोठकुष्ठार्शोव्रणजन्तुजित् ॥ ५६ ॥

सार्षपाणामिदं सार्षपं तैलं कटूष्णं च भवति । तथा तीक्ष्णं कफशुकानिलापहं च । अपपूर्वाद्धन्तेरन्येष्वपि दृश्यत इति डः । तथा च लघु पित्तास्रं च करोति तथा कोठादीन् जयति ।

विभीततैलम् ।

आक्षिप्तं स्वादु हिमं केश्यं गुरु पित्तानिलापहम् ।

अक्ष्णाणां विभीतकानामिदमाक्षिप्तं तैलं मधुरादिगुणयुक्तं पित्तानिलहृत् ।

निम्बजम्—

नात्युष्णं निम्बजं तिक्तं कृमिकुष्ठकफप्रणुत् ॥ ६० ॥

निम्बोद्भवं तैलमतिशयेनोष्णं न भवति तथा तिक्तं तथा कृमिकुष्ठकफनाशनमतिशयेन ।

अतसी-कुसुम्भ-तैलम्—

उमाकुसुम्भजं चोष्णं त्वग्दोषकफपित्तकृत् ।

अतसीजं कुसुम्भजं च तैलमुष्णवीर्यं भवति तथा त्वग्दोषकफपित्तानि करोति । ज्वरप्रसङ्गादिदमप्याह ।

वसा-मज्जा-मेदो गुणाः—

वसा मज्जा च वाताग्नौ बलपित्तकफप्रदौ ॥ ६१ ॥

मांसानुगस्वरूपौ च विद्यान्मेदोऽपि ताविव ।

वसा तु रूपेण शुद्धमांसस्य ज्वहः । मज्जा धातुः । तौ वातनाशनौ तथा मांसानुगस्वरूपौ यस्य प्राणिनः सम्बन्धि मांसं तत्सदृशरूपौ । मेदोऽपि ताविव वसामज्जासदृशस्वरूपं विद्यात् । संचिपतया चायं तैलवर्ग इहोक्तः । तथा च सङ्गहे-
ऽधिकमप्युक्तम्—“दन्तोमूलकरक्षोभं करजारिष्टशिग्रुजम् । सुवर्चलेङ्गुदीपीलुशङ्खिनी-
नीपसम्भवम् । सरलागुदेवाहर्शिंशपासारजन्म च । तुवरारुष्करोत्थं च तीक्ष्णं
कट्वम्लपित्तकृत् । अर्शःकुष्ठकृमिश्लेष्मशुकमेदोनिलापहम् । करजनिम्बजे तिक्ते
नात्युष्णे तत्र निर्दिशेत् । कषायतिक्तकटुकं सारलं व्रणशोधनम् । मृशोष्णतीक्ष्ण-
कटुके तुवरारुष्करोद्भवे । विशेषात्कृमिकुष्ठे तथोर्ध्वाधोविरेचने । अक्ष्णातिमुक्त-
काक्षोटनालिकेरमधूकजम् । त्रपुसेर्वारुकूष्माण्डश्लेष्मातकपियालजम् । वातपित्तहरं
वृष्यं श्लेष्मलं गुरु शीतलम् । पित्तश्लेष्मप्रशमनं श्रीपर्णाकिंशुकोद्भवम् । तिलतैलं
वरं तेषु कौसुम्भं न वरं परम् । वसा मज्जा च वाताग्नौ बलपित्तकफप्रदौ । मांसानुगस्व-
रूपौ च विद्यान्मेदोऽपि ताविव । शालूकी शौकरी पाकहंसजा कुक्कुटोद्भवा । वसा

श्रेष्ठा स्ववर्गेषु कुम्भीरमहिषोद्भवा । काकमद्गुवसा तद्वत्कारणडोल्या च निन्दिता
शाखादेमेदसां छागं हस्तिनं च दराऽवरमिति” । इति तैलवर्गः ।

तीक्ष्णोष्णसूक्ष्मादिगुणसामान्यातैलवर्गादनन्तरं मद्यवर्ग आरभ्यते ।

अथ मद्यवर्गः—

दीपनं रोचनं मद्यं तीक्ष्णोष्णं तुष्टिपुष्टिदम् ॥ ६२ ॥

सस्वादुतिक्ककटुकमम्लपाकरसं सरम् ।

सकषायं स्वरारोग्यप्रतिभावर्यकृल्लघु ॥ ६३ ॥

नष्टनिद्राऽतिनिद्रेभ्यो हितं पित्तास्रदूषणम् ।

कृशस्थूलहितं रूक्षं सूक्ष्मं स्रोतोविशोधनम् ॥ ६४ ॥

वातश्लेष्महरं युक्त्या पीतं विषवदन्यथा ।

सर्वं मद्यं दीपनादिगुणयुक्तम् । तुष्टिश्चित्परितोषः, पुष्टिः शरीरपोषः, ते ददाति
जनयति यत्तुष्टिपुष्टिदम् । आतोऽनुपसर्गे कः । तथा ईषन्मधुरतिक्ककटुकम् ।
तथाऽम्लौ पाकरसौ यस्य तदेवम् । तथा सरम् । तथा सकषायम् । तथा स्वरश्चारोग्यं च
प्रतिभा च वर्णश्च तान् करोति । ननु सर्वाण्येव द्रव्याण्यारोग्यार्थमुपदिश्यन्ते
तस्मादारोग्यकृत्त्वं सर्वेषामेव द्रव्याणां प्राप्तमिति सर्वस्यैवाऽरोग्यकृत्वम् ? उच्यते ।
युक्तमाह भवान्, किन्वतिशयख्यापनार्थम् । एतन्मद्यमतिशयेनारोग्यकृदित्यर्थः ।
तथा लघु । तथा नष्टनिद्रेभ्यो नरेभ्योऽतिनिद्रेभ्यश्च हितम्, सर्वमेव मद्यं प्रभावा-
दिति केचित् । अन्ये त्वेवं मन्यन्ते । यथा सुरादि यन्मद्यं श्लेष्मादिवर्धनं, तन्नष्ट-
निद्रेभ्यो हितम् । यच्च माधवादिमद्यं श्लेष्मादिहन्तु, तच्चाऽतिनिद्रेभ्यो हितमिति ।
तथा पित्तास्रदूषणम् । कृशेभ्यः स्थूलेभ्यश्च हितम् । सामान्येनाऽपि निर्देशेऽत्रा-
यं विशेषो बोध्यः—किञ्चिन्मद्यं कृशाय हितं किञ्चित्स्थूलायेति । अथवा तैलौक-
न्यायेन कृशस्थूलहितत्वं बोध्यम् । तथा रूक्षं, सूक्ष्मं स्रोतोनामि । तथा स्रोतो
विशोधयति । तथा वातश्लेष्महरम् । युक्त्या पीतं सदेवंगुणं मद्यं भवति । युक्तिस्तु
मदात्ययनिदाने चिकित्सिते च वक्ष्यमाणा । अन्यथाऽयुक्त्या पीतं सद्विषतुल्यं
भवति ।

गुरु त्रिदोषजननं नवं, जीर्णमतोऽन्यथा ॥ ६५ ॥

नवं किञ्चित्कालातिक्रान्तं तन्मद्यं गुरु त्रिदोषकरं च भवति । नवमनतीत-
संवत्सरमित्येके । जीर्णं पुराणं बहुकालातिक्रान्तमतो नवादन्यथा लघु दोषहरं
चेत्यर्थः ।

पेयं नोष्णोपचारेण न विरिक्कलुधातुरैः ।

नात्यर्थतीक्ष्णमृद्वल्पसम्भारं कलुषं न च ॥ ६६ ॥

तच्च मद्यमुष्णोपचारेण न पेयम् । उष्णो विहाराहारादिक उपचारो यस्य सः,
एवं तेन । न विरिक्तेत्यादि । कृतविरेचनेन न पेयं दोषासाम्यादिति भावः । लुधा-

सैन न पेयम् । तथाऽतितीक्ष्णमतिमृदु च मद्यं न पेयम् । अल्पसम्भारमिति । यद्या-
वता सम्भारेण लोकप्रसिद्धेन सन्धीयते सुरादि, तत्र तदपेक्षया चाल्पसम्भारं न
पेयम् । तथा कलुषमस्वच्छं च न पेयम् ।

अधुना मद्यविशेषानाह--

गुल्मोदरार्शोग्रहणीशोषहृत् स्नेहनी गुरुः ।

सुराऽनिलग्री भेदोऽसृक्स्तन्यमूत्रकफावहा ॥ ६७ ॥

सुरा गुल्मादिहृद्भवति । तथा स्नेहयतीति स्नेहनी । तथा गुरुर्वातनाशनी च ।
तथा भेदश्चासृक् च स्तन्यं च मूत्रं च कफश्च तानावाहति ।

तद्रूणा वारुणी हृद्या लघुतीक्ष्णा निहन्ति च ।

शूलकासवमिश्वासविबन्धाऽऽध्मानपीनसान् ॥ ६८ ॥

एवं वारुणी प्रसज्जा । त एव सुरोक्ता गुणा यस्याः सा तद्रूणा । सुरासम-
गुणेत्यर्थः । तथा हृदयाय हिता हृद्या । तथा लघुतीक्ष्णा च, शूलादीन्निहन्ति च ।
विबन्धः स्त्रोतसामुपलेपेन दोषादीनामवहनम् । जगलभेदकबक्कसानां सुतरामनुपयो-
गित्वाद्गुणा नेहोक्ताः । संप्रहे तूक्ता एव । यथा--“जगलः पाचनो ग्राही रुक्ष-
स्तद्वच्च भेदकः । बक्कसो हृतसारत्वाद्विष्टम्भी दोषकोपनः” । वारुण्या अधोभागो
घनो जगलः । जगलस्याधो भागो भेदकः । पानीयेन मद्यकल्कपीडनोत्पन्नो बक्कसः ।

नातितीव्रमदा लघ्वी पथ्या वैभीतकी सुरा ।

व्रणे पाण्डुवामये कुष्ठे न चात्यर्थं विरुध्यते ॥ ६९ ॥

विभीतकानामियं वैभीतकी । नातितीव्रो मदो यस्याः सैवम् । तीव्रमदं न
जनयतीत्यर्थः । लघ्वी तथा पथ्या । व्रणादिषु चात्यर्थमन्यमद्यवन्न विरुध्यते ।

यथा द्रव्यगुणोऽरिष्टः सर्वमद्यगुणाधिकः ।

ग्रहणीपाण्डुकुष्ठार्शोःशोफशोषोदरज्वरान् ॥ ७० ॥

हन्ति गुल्मकृमिलीहान् कषायकटुवातलः ।

अरिष्टोऽपि यैर्द्रव्यैः सिद्धः स तद्रूणाननुगच्छति । सर्वैश्च दीपनत्वादिभि-
र्मद्यगुणैरधिकः । तन्त्रान्तरे चोक्तम्--“मद्याकराधिकद्रव्यं मदिराद्यात्मकं ततः । यथा
द्रव्यगुणोऽरिष्टः सर्वमद्यगुणाधिक” इति । ग्रहण्यादिकांश्च रोगान् हन्ति । तथा
कषायः कटुश्चासौ वातलश्च स एवम् । लक्षणं चास्य प्रागुक्तम् ।

मार्द्वीकं लेखनं हृद्यं नात्युष्णं मधुरं सरम् ॥ ७१ ॥

अल्पपित्तानिलं पाण्डुमेहार्शःकृमिनाशनम् ।

मार्द्वीकं शङ्खारसोद्भवं, लेखनत्वादियुक्तम् । तथाऽल्पौ पित्तानिलौ यस्य, तदे-
वम् । अन्यमद्यापेक्षयाऽल्पतरौ करोतीत्यर्थः । तथा पाण्डुवादिनाशनम् । विलि-

खत्यतितैक्ष्ण्याद्यद्वातुस्तल्लेखनं मतम् ।

अस्मादल्पान्तरगुणं खार्जूरं वातलं गुरु ॥ ७२ ॥



खार्जूरं मद्यमस्मान्मार्द्धीकादल्पान्तरगुणम् । अल्पाभ्रतराः किञ्चिद्विशेषा गुणा यस्य तदेवम् । तथा वातलं गुरु च । द्राक्षाभ्रं चान्यत्रोक्तम् । यथा—“शुष्कद्राक्षा-
म्बुसम्भूतो विशदो रोचनो हिमः । द्राक्षास्रो मधुसमो बृंहणो भृशदीपन इति” ।

शार्करः सुरभिः स्वादुहृद्यो नातिमदो लघुः ।

शार्करः शर्करासम्बन्धी मद्यविशेषः, सुरभिः सुगन्धिर्भवति । तथा स्वादुश्च हृद्यश्च स्वादुहृद्यः । तथा नातिमदो लघुश्च भवति ।

सृष्टमूत्रशकृद्वातो गौडस्तर्पणदीपनः ॥ ७३ ॥

गुडसम्बन्धी गौडः, सृष्टमूत्रत्वादिभिर्गुणैर्युक्तः । तथा तर्पणश्चासौ दीपनश्च तर्पणदीपनः ।

वातपित्तकरः सीधुः स्नेहश्लेष्मविकारहा ।

सीधुः—वातपित्तकरस्तथा स्नेहविकारान् तथा श्लेष्मविकारांश्च हन्ति । ब्रह्मधूण-
वृत्रेष्वित्यत्र चतुर्विधस्य नियमस्य प्रायिकत्वात् किप् । सीधुरपकेनुरसकृतः पक्वे-
नुरसकृतश्च ।

मेदःशोफोदरार्शोग्नस्तत्र पकरसो वरः ॥ ७४ ॥

तत्र सीध्वोर्मध्ये पकरसो मेदःशोफोदरार्शांसि हन्ति । मेदःशोफोदरार्शोग्न-
इत्यमनुष्यकर्तृके चेति ठक् ।

छेदी मध्वासवस्तीक्ष्णो मेहपीनसकासजित् ।

मध्वासवो मात्तिकेण सन्धीयते माधवाख्यो मद्यविशेषः, छेदी तीक्ष्णो मेहादि-
नाशनश्च । अष्टाङ्गसंग्रहे तु सुरासवादयो गदिताः । तथा चापठत्—“सुरासवस्तीव्र-
मदः स्वादुतीक्ष्णोऽनिलापहः । मैरेयो मधुरो वृष्यः सरः सन्तर्पणो गुरुः” । तत्र मधु-
नैव सुरासंधानेन या क्रियते तां सुरासवमाहुः ।

रक्तपित्तकफोत्क्लेदि शुक्रं वातानुलोमनम् ॥ ७५ ॥

भृशोष्णतीक्ष्णरूक्षाम्लहृद्यं रुचिकरं सरम् ।

दीपनं शिशिरस्पर्शं पाण्डुदृक्कृमिनाशनम् ॥ ७६ ॥

शुक्रं रक्तपित्तकफान् क्लेदयति । तथा वातानुलोमनं वातमनुलोमयति मार्गा-
न्तरेभ्यस्तमानीय स्वमार्गप्रतिपन्नं करोति तद्वातानुलोमनम् । अतिशयेनोष्णतीक्ष्ण-
रूक्षाम्लं तथा हृद्यं तथाऽतिशयेन रुचिकरं तथा दीपनं तथा शिशिरः स्पर्शो यस्य
तदेवं तथा पाण्डुवादिघ्नम् ।

गुडेक्षुमद्यमार्द्धीकशुक्रं लघु यथोत्तरम् ।

गुडादिभवं शुक्रं यथोत्तरं लघु । यद्युत्तरं तत्तल्लघु । गुडकृताच्छुक्तादिक्षुशुक्रं
लघु । इक्षुशुक्तान्मद्यशुक्रं लघु । मद्यशुक्तान्मार्द्धीकं शुक्रं लघु भवति ।

कन्दमूलफलाद्यं च तद्वद्विद्यात्तदाऽऽसुतम् ॥ ७७ ॥

कन्दादि तदाऽऽसुतं गुडशुक्तादिसुतं तद्वद्विद्यात् । तच्छुक्तसमानगुणं जानी-

यात् । शुक्तेनात्युत्कृष्टशक्तिना परित्यज्य निजं स्वभावं वशीकृत्याऽत्मरूपतां नीयत इत्यर्थः । आद्यग्रहणात्कारणत्वकपत्रादिपरिग्रहः । तेन कारणाद्यपि तथैव वेद्यम् ।

अम्लत्वरोचनादिगुणतुल्यत्वादपि शारङाक्यादिकमाह ।

शारङाकी चासुतं चान्यत्कालाम्लं रोचनं लघु ।

मूलकसर्षपशाकानि कथितासुतानि कालजीरकराजिकासु भावितान्यम्लतीक्ष्णानि शारङाकीशब्देनोच्यन्ते । सा दध्वविषयेप्रसिद्धा । सा चान्यच्चानुकुम्भप्यासुतं कालेनाम्लमम्लीभूतं नतु स्वयमाम्ल्यमापाद्यम् । अनेनैव हेतुना सुतरां तत्संस्कारतामधिकरोतीति । तच्च रोचनं लघु भवति ।

धान्याम्लं भेदि तीक्ष्णोष्णं पित्तकृत्स्पर्शशीतलम् ॥ ७८ ॥

श्रमक्लमहरं रुच्यं दीपनं बस्तिशूलनुत् ।

शस्तमास्थापने हृद्यं लघु वातकफापहम् ॥ ७९ ॥

धान्याम्लं काजिकं भेदि तीक्ष्णं तथोष्णवीर्यं तथा पित्तकृत् स्वभावाच्च स्पर्शशीतलम् । व्यायामादिना श्रान्तत्वं श्रमः । निर्व्यायामादेवोपश्रान्तत्वं क्लमः । तौ हरति । तथा रुच्यं दीपनं च । बस्तिशूलं च जयति । तथा आस्थापने निरूहे शस्तम् । तथा लघु वातकफापहं च । हन्तेरन्येष्वपि दृश्यत इति डः । धान्याम्लं तरङ्गुलकण्डनादिकृतं सौवीरकतुषोदकैर्वितुषैः सतुषैश्च यवैः क्रमात्कृतं तद्वद्विद्यात् ।

अथ मूत्रवर्गः—

मद्यवत्तीक्ष्णोष्णादियुक्तत्वाद्गोमूत्रादिगुणानप्याह—

मूत्रं गोऽजाविमहिपीगजाश्वोष्ट्रखरोद्भवम् ।

पित्तलं रुक्षतीक्ष्णोष्णं लवणानुरसं कटु ॥ ८० ॥

कृमिशोफोदरानाहशूलपाण्डुकफानिलान् ।

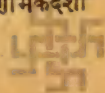
गुल्माऽरुचिविषश्वित्रकुष्ठार्शोसि जयेज्जघु ॥ ८१ ॥

मूत्रं गोऽजादिभवं पित्तलादिगुणयुक्तं तथा लवणोऽनुरसः स्वल्पो यस्य तेदेवम् । तथा कृम्यादीन् जयेत् । लघु च । गोमूत्रस्य च पूर्वमुपन्यासात्प्राधान्यं ज्ञेयम् । सङ्गहे तु विशेषान्तरमप्युक्तम्—“श्वासकासहरं छागं पूरणात्कर्षशूलजित् । दद्यात्क्षये किलासे च गजवाजिसमुद्भवम् । हन्त्युन्मादमपस्मारकृमीन्मेहं तु रासभम् । कषायतिक्लमेतेषां हिध्मश्वासहरं शकृत् । पित्तं तिक्तं कृमिहरं रोचना कफवातजित् । तिक्तं पामाहरं मूत्रं मानुषं तु विषापहमिति” ।

तोयक्षीरेक्षुतैलानां वर्गैर्मद्यस्य च क्रमात् ।

इति द्रवैकदेशोऽयं यथास्थूलमुदाहृतः ॥ ८२ ॥

इत्यनन्तरोक्तेन प्रकारेण तोयादीनां वर्गैः क्रमानतिक्रमेण द्रवाणामेकदेशो यथास्थूलमयमुदाहृत उक्तः ।



इति श्रीभृगाङ्कदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टाङ्गहृदयटीकायां सर्वाङ्गसुन्द-
राख्यायां पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

—:०:—

पष्ठोऽध्यायः ।

अन्नविधौ प्रकृतेऽल्पवक्तव्यत्वात्पूर्वं द्रवद्रव्यमभिधायान्नं वक्ति ।

अथातोऽन्नस्वरूपविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।

अन्नस्य स्वरूपं स्वभावो रसवीर्यविपाकप्रभावगुणकर्मादि, तस्य विज्ञानमवगम-
स्तस्मै हितोऽध्यायोऽन्नस्वरूपविज्ञानीयस्तं व्याख्यास्यामः । शेषं पूर्वव्याख्येयम् । द्रव्य-
शब्दश्चाप्रयुक्तोऽप्यर्थस्य गमक इत्यन्नद्रव्यस्वरूपविज्ञानीय इति द्रष्टव्यम् । तथाहि
पूर्वस्मिन्नध्याये मन्दमतिप्रबोधनाय प्रयुक्तो द्रष्टव्यः । आचार्या हि वैचित्र्येण ग्रन्थ-
रचनां विदधति । तत्र प्राक् स्वरूपशब्दो न निर्दिष्टः, इह च द्रव्यशब्दः । अथ
चोभयमप्रयुक्तमपि गम्यते मध्यलोपाख्याया च । अद्यते यत्तदन्नं धान्यमांसाद्वि ।
धान्यं च द्विधा शूकशिम्बीभेदेन । तत्र प्राधान्याच्छूकधान्यस्य पूर्वमुपन्यासः ।
प्राधान्यं चास्य भूयस्त्वोपयोगित्वात् । शिम्बीधान्यस्य तु तद्व्यञ्जनत्वेन स्वलोपयो-
गित्वात्प्रायेणापथ्यत्वाच्चाऽप्राधान्यम् ।

अथ शूकधान्यवर्गः—

तत्र शालयः—

रक्को महान् सकलमस्तूर्णकः शकुनाहतः ।

सारामुखो दीर्घशूको रोध्रशूकः सुगन्धकः ॥ १ ॥

पतङ्गास्तपनीयाश्च ये चान्ये शालयः शुभाः ।

स्वादुपाकरसाः स्निग्धा वृष्या बद्धाल्पवर्चसः ॥ २ ॥

कषायानुरसाः पथ्या लघवो मूत्रला हिमाः ।

शूकजेषु,

तत्र रक्कशालिमहाशाली सुप्रथितौवेव । कलमो मगधादिषु प्रसिद्धः । स एव
महातरङ्गल इति काश्मीरेषु । तूर्णकश्च तत्रैव आजव इति प्रसिद्धः । शकुनाहतो
यो मगधेषु बुद्धोत्पादकाल उत्तरकुरुभ्यो हंसैरानीतो मृगारिमात्रा विशाखाख्याया
वापितो विस्तरं गतः । अत एव शकुनाहत इत्यन्वर्थाऽस्य संज्ञा । सारामुखः
कृष्णशूकः । शूकाकारो दीर्घशूकः । रोध्रशूको रोध्रपुष्पाकारशूकः । सुगन्धको गन्ध-
शालिसंज्ञया जालन्धरमगधादिषु ख्यातो देवशालिरित्यपरनामा । एवं पतङ्गादयो
नानादेशेषु कर्षकादिभ्योऽवधार्याः । शूके जाताः शूकजास्तेषु मध्ये रक्ताद्यास्तपनी-
यान्ता अन्ये च ये शालयः शुभा रक्तादिसदृशास्ते सर्वे स्वादुपाकरसत्वादियुक्ताः ।
बद्धं ग्रन्थितमल्पं च वर्चः पुरीषं कुर्वन्तीति बद्धाल्पवर्चसस्त एवम् । कारणे कार्योप-

चारादुक्ताः । कषायोऽन्नरसी येषां त एवम् । पथ्याः स्वभावैर्नैव हिताः । तथा लघवा मूत्रकारिणः शीतवीर्याश्च ।

वरस्तत्र रक्तस्तृष्णात्रिदोषहा ॥ ३ ॥

तत्र तेषु महाशालिकलमादिषु मध्ये रक्तो रक्तशालिसंज्ञो वरस्तृष्णादींश्च दोषा-
भिहन्ति । अस्य च प्रागुपादानेनैव वरत्वे लब्धे वरग्रहणं युक्त्याऽभ्यादिसङ्गहार्थम् ।
तथा च—“वर्षासु दिव्यनादेधे परं तोये वराऽवरे” इति । तथा “गव्ये क्षीरघृते श्रेष्ठे” ।
तथा—“शर्करेक्षु विकाराणां फाणितं च वराऽवरे” । “वरोऽत्र मुद्रोऽल्पचलः” ।
“माषोऽत्र सर्वेष्ववरो यवकः शूकजेषु चेत्यादीनि” वाक्यानि प्रदेशान्तरेष्वय-
मवोचदाचार्यः ।

महांस्तस्यानुकलमस्तं चाप्यनु,

तस्यानु रक्तशालेः पश्चान्महान् शालिवरः । तं च महान्तमनु कलमः मह-
त्संज्ञात्कलमः किञ्चिद्बून इत्यर्थः ।

ततः परे ।

ततोऽनन्तरं परेऽन्ये शालयो वरा ज्ञेयाः ।

यवका हायनाः पांसुवाष्पनैषधकादयः ॥ ४ ॥

स्वादूष्णा गुरवः स्निग्धाः पाकेऽम्लाः श्लेष्मपित्तलाः ।

सृष्टमूत्रपुरीषाश्च पूर्वं पूर्वं च निन्दिताः ॥ ५ ॥

यवकादयः शालिविशेषाः स्वादवः । तथोष्णादिगुणयुक्ताः । तथा सृष्टे मूत्र-
पुरीषे यैस्ते सृष्टमूत्रपुरीषाः । पूर्वं पूर्वं च निन्दितास्तेन यवकाः सर्वेभ्योऽपि गर्हि-
ताः । तदन्वये किञ्चित्किञ्चित्कमेण गर्हिता इति विज्ञेयम् । नैषधकादय इत्यत्राऽ-
दिशब्देन च यवकपत्रिकादयः शालिविशेषा गृह्यन्ते ।

अथ ब्रीहयः—

स्निग्धो ग्राही गुरुः स्वादुस्त्रिदोषघ्नः स्थिरो हिमः ।

षष्टिको ब्रीहिषु श्रेष्ठो गौरश्चाऽसितगौरतः ॥ ६ ॥

ब्रीहिषु मध्ये षष्टिकः श्रेष्ठो रक्तशालिरिव शालिषु । तथा स्निग्धादिगुणयुक्तः
स्थिरो हिम इति । शरीरस्थैर्यं करोति । ज्वरभ्रमग्लानिहरोऽत एव रसायनप्रयोगे
ज्वरादौ च तत्रतत्र क्षामवपुषामुपदिष्टः । यवस्तु स्थैर्यकरोऽपि नास्मातो गुरुवात-
लत्वादिति । षष्टिकश्च द्विविधो गौरः कृष्णगौरश्च । अत्राऽसितगौरतो गौरः
षष्टिकः श्रेष्ठः ।

ततः क्रमान्महाब्रीहि-कृष्णब्रीहि-जतूमुखाः ।

कुक्कुटाण्डकपालाख्य-पारावतक-शूकराः ॥ ७ ॥

वरकोदालकोज्वाल-चीन-शारद-दुर्दराः ।



गन्धनाः कुरुविन्दाश्च गुणैरल्पान्तराः स्मृताः ॥ ८ ॥

ततः षष्टिकान्महाव्रीह्यादयः क्रमाद् गुणैरल्पान्तरा गुणैर्हीनाः ।

स्वादुरस्लविपाकोऽन्यो व्रीहिः पित्तकरो गुरुः ।

बहुमूत्रपुरीषोष्मा त्रिदोषस्त्वेव पाटलः ॥ ९ ॥

एभ्यः षष्टिकादिभ्योऽन्योऽनुक्तो व्रीहिः स्वादुर्मधुरसोऽम्लविपाकः । पित्त-
करो गुरुर्बहुमूत्रपुरीषोष्मा च । पाटलः पाटलाकुसुमाकारः । त्रिदोषस्त्रिदोषकोपनः ।
त्रिदोषस्त्वेवैत्यत्रैवशब्दोऽतिशयख्यापनाय । अतिशयेन त्रिदोषल एवेत्यर्थः । अति-
त्रिदोषलत्वेनास्याऽभ्यवहारनिषेधं करोति । अत एव च रसादिमत्त्वं न व्यधादस्य
शास्त्रकारः ।

अथ तृणधान्यवर्गः—

कङ्गु-कोद्रव-नीवार-श्यामाकादि हिमं लघु ।

तृणधान्यं पवनकृल्लेखनं कफपित्तहृत् ॥ १० ॥

कङ्गुवादि तृणधान्यं हिमं लघु च । तथा मारुतकृल्लेखनं-च । लेखनं विकर्ष-
णम् । विलिखत्यतितैक्ष्णाद्यद् धातूंस्तल्लेखनं मतमिति । तथा कफपित्तहृत् । कषाय-
मधुरत्वं पित्तश्लेष्महृत्त्वेनैतेषामवगतं तद्वद्बद्धविरामूत्रत्वं वातकृत्त्वात् । तथा चोक्तम्—
“ततश्चाऽनेकधा प्रायः पवनो यत्प्रकुप्यति । अन्नपानौषधं तस्य युज्जीतातोऽनुलो-
मनमिति” । सङ्ग्रहे तु स्पष्टं कृत्वैते गुणा एषामुक्ताः । यथा—“कफपित्तहरा रुक्षाः
कषाया मधुरा हिमाः । वातला बद्धविरामूत्रा लघवो लेखनात्मका” इति । श्यामा-
कादीत्यत्राऽदिशब्देन तोयश्यामाकशिम्बिरप्रशान्तिकामधूलिकागवेधुकाण्डलोहि-
त्यानां ग्रहणम् ।

भग्नसन्धानकृत्तत्र प्रियङ्गुर्बृहणी गुरुः ।

तत्र तेषु तृणधान्येषु मध्ये प्रियङ्गुः कङ्गुर्भग्नस्याङ्गस्य सन्धानं करोति । तथा
गुरुः । सुश्रुतेनोक्तम्—“रक्ताः पीताश्च कृष्णाश्च श्वेताश्चैव प्रियङ्गवः । यथोत्तरं
प्रधानाः स्यू रुक्षाः कफहराः स्मृताः” ।

कोरदूषः परं ग्राही स्पर्शशीतो विषापहः ॥ ११ ॥

कोरदूषः कोद्रवोऽत्यर्थं सङ्ग्राही तथा स्पर्शशीतो विषापहश्च ।

यवादि वर्गः—

रुक्षः शीतो गुरुः स्वादुः सरो विड्वातकृद्यवः ।

वृष्यः स्थैर्यकरो मूत्रमेदःपित्तकफान् जयेत् ॥ १२ ॥

पीनसश्वासकासोरुस्तम्भकण्डत्वगामयान् ।

यवो रुक्षादिगुणैर्युक्तो विड्वातकरो वृष्यः स्थैर्यकृच्च । तथा मूत्रादीन् जयेत् ।

न्यूनो यवादन्ययवः,

अन्ययवो नाम शूकधान्यविशेषो लोकप्रसिद्धः, स यवान्न्यूनः स्वल्पगुणैर्युक्तः

• रूक्षोष्णो वंशजो यवः ॥ १३ ॥

वंशोद्भवो वेणुयवो रूक्षोष्णो भवति ।

वृष्यः शीतो गुरुः स्निग्धो जीवन्तो वातपित्तहा ।

सन्धानकारी मधुरो गोधूमः स्थैर्यकृत्सरः ॥ १४ ॥

गोधूमो वृष्यादिगुणयुक्तः । जीवन ओजोऽभिवर्धनः । तथा वातपित्तहरः सन्धानकारी ऊरुप्रभृतेर्भग्नस्य सन्धानं करोति । तथा स्थैर्यकृत्सरश्च । चरके त्वन्यथैव गुणयुक्त उक्तः । यथा—“स्थैर्यकृत्सकषायश्च बल्यः श्लेष्मविकारहा । सन्धानकृद्वातहरो गोधूमः स्वादुशीतल” इति ।

पथ्या नन्दीमुखी शीता कषायमधुरा लघुः ।

• नन्दीमुखी पथ्या शरीराय हिता कषायमधुरा लघुश्च । इति शूकधान्यवर्गः ।
शिम्बीधान्यवर्गः—

मुद्गाढकीमसूरादि शिम्बीधान्यं विबन्धकृत् ॥ १५ ॥

कषायं स्वादु सङ्गाहि कटुपाकं हिमं लघु ।

मेदःश्लेष्मान्नपित्तेषु हितं लेपोपसेकयोः ॥ १६ ॥

अस्मादनन्तरं शिम्बीधान्यवर्गस्य सम्बन्धप्रयोजनं प्रागुक्तमेव ।

शिब्याः कोश्या धान्यं मुद्गादिकं यत्, शिम्बीधान्यं तद्विबन्धकृत् । केषां विबन्धं करोति । सामर्थ्यात् स्रोतसां नतु पुरीषादीनाम् । तथा च सङ्गाहीत्यत्रैव पठति शास्त्रकृत् । सङ्गाहिलक्षणं च तन्त्रान्तरे । यथा—“मेदि तत्पिण्डितान् भावान् शकृदाद्यान्मिनत्ति यत् । विपरीतमतो ग्राहीति” । तस्माद्विबन्धं स्रोतसामेवेत्याह । तथा कषायं स्वादु कटुपाकं शीतवीर्यं लघु च । मसूरादीत्यत्राऽदिशब्देन मकुष्ठचणकादीनां ग्रहणम् । तथा मेदश्चादिषु हितं प्रकृतत्वादभ्यवहारे तथा लेपोपसेके चेति । चशब्दोऽत्र लुप्त-निर्दिष्टो बोध्यः । लेपः प्रदेहः । उपसेकः परिषेकः । कषायशीत-रूक्षत्वेन कटुपाकित्वेन च वातकृत्त्वं शिम्बीधान्यस्य शास्त्रकृतोक्तम् । अत एवेदमुपपन्नम् । मुद्गोऽल्पचल इति । यदि हि शिम्बीधान्यस्य मारुतकृत्त्वं समेयात् तदैतद्वक्तुं युज्यते । तस्माद्वातकृत्त्वमस्यास्तीति स्थितम् । तस्मिंश्च सत्याध्मानकारित्वमप्युपपन्नमेव । अत एव सङ्ग्रहेऽस्याध्मानकारित्वमुक्तम् । मुद्गादीनां च विशेषास्तत्रैवोक्ताः । यथा—“हरितास्तेष्वपि वरा मकुष्ठाः कृमिकारिणः । वर्याः परं प्रलेपाद्यैर्मसूरा ग्राहिणो भृशमिति” ।

वरोऽत्र मुद्गोऽल्पचलः, कलायस्त्वतिवातलः ।

राजमाषोऽनिलकरो रूक्षो बहुशकृद् गुरुः ॥ १७ ॥

अत्र एषु च शिम्बीधान्येषु मध्ये मुद्ग उत्तमः । तथा अल्पं चलं पवनं करोतीत्यल्पचलः । तुर्व्यतिरेके । कलायः पुनरतिशयेन वातलो भवति । राजमाषो रूक्षो बहुशकृत्करोतीति बहुशकृत् । तथा गुरुस्तथाऽनिलकरः । ताच्छ्रूल्ये टः ।

मौ.टि. १-नान्दीमुखीयविकेति चक्रपाणिः । दीर्घसूक्ष्मो गोधूमो नन्दीमुखीति कौषान्तरं ।

अन्यशिम्बीधान्याचातिवातलोऽयमिति वेद्यमनिलकरग्रहणात् । अन्यथा शिम्बी-
धान्यसामान्यलक्षणेन वातमात्रकरणस्य लब्धत्वादनिलकरग्रहणं न कुर्यात् ।

उष्णाःकुलत्थाःपाकेऽम्लाःशुक्राश्मश्वासपीनसान् ।

कासार्षःकफवातांश्च घ्नन्ति पित्तास्रदाः परम् ॥ १८ ॥

कुलत्था उष्णवीर्याः पाकेऽम्लाः । तथा शुक्रादीन् घ्नन्ति । अश्माऽश्मरी
वक्ष्यमाणलक्षणा । तथा पित्तास्रदाः परमतिशयेन रक्तपित्तकराः कषायस्वादुसङ्ग्राहित्वं
शिम्बीधान्यसामान्यलक्षणेनैषां वेद्यम् । दृष्टिनाशनत्वं चोष्णवीर्यत्वेन रक्तपित्तकर-
त्वेन च । सङ्ग्रहे तु स्पष्टं कृत्वोक्तम्—“कषायस्वादुरुक्षोष्णाः कुलत्था रक्तपित्तलाः ।
पीनसश्वासकासार्षोदिकाऽऽनाहकफानिलान् । घ्नन्ति शुक्राश्मरीं शुक्रं दृष्टिं शोफं
तथोदरम् । ग्राहिणो लघवस्तीक्ष्णा विपाकेऽम्ला विदाहिनः ” इति ।

निष्पावो वातपित्तास्रस्तन्यमूत्रकरो गुरुः ।

सरो विदाही दृक्शुक्रकफशोफविषापहः ॥ १९ ॥

निष्पावो राजशिम्बीसंज्ञो वातादिकरस्तथा गुरुः सरो विदाही च । तथा
दृगादीश्च हन्ति । सङ्ग्रहोक्तं चाम्लपाकत्वं कषायमधुरत्वं चेह नोक्तम् । यतोऽम्ल-
विपाकित्वं विदाहित्वादेवास्योक्तम् । कषायस्वादुत्वं च शिम्बीधान्यसामान्यगुण-
कथनेनैव । कृष्णात्रेयस्त्वाह—“निष्पावा मधुरा रूक्षाः सकषाया विदाहिनः । उदा-
वर्ते प्रशस्यन्ते गुरवो वातपित्तलाः ” इति ।

माषः स्निग्धो बलश्लेष्ममलपित्तकरः सरः ।

गुरुष्णोऽनिलहा स्वादुः शुक्रवृद्धिविरेककृत् ॥ २० ॥

माषः स्निग्धो बलादिकरः । तथा सरो गुरुष्णश्च । तथा वातहा स्वादुश्च ।
तथा शुक्रस्य वृद्धिं, शुक्रस्यैव विरेकं=बहिःप्रेरणं करोति ।

फलानि माषवद्विद्यात्काकाण्डोलात्मगुप्तयोः ।

काकण्डोला चात्मगुप्ता च तयोः फलानि माषवद्विद्यान्माषसमगुणानि विजा-
नीयात् । काकाण्डोला कटभी (काङ्गोणी) अत्मगुप्ता कपिकच्छुः ।

उष्णस्त्वच्यो हिमः स्पर्शं केश्यो बल्यस्तिलो गुरुः ॥ २१ ॥

अल्पमूत्रः कटुः पाके मेधाऽग्निकफपित्तकृत् ।

तिल उष्णवीर्यः । तथा त्वच्यः । तथा स्पर्शं शीतः । केश्यो बल्यो गुरुश्च ।
तथाऽल्पमूत्रोऽल्पमूत्रकरः । पाके कटुः । तथा मेधादीन् करोति । त्वच्यकेश्यबल्याः=
हितार्थं यत्प्रत्ययान्ताः । स्निग्धत्वमनिलघ्नत्वं कषायकटुतिक्तरसत्वं नानाजातित्वं
चेहास्य ग्रन्थकृता लाघवाच्चोक्तम् । सङ्ग्रहे तुक्तमेव । यथा—“स्निग्धोष्णतिक्त-
कटुकः कषायमधुरस्तिलः । त्वच्यः केश्यो गुरुर्वृष्यः स्पर्शशीतोऽनिलापहः । अल्प-
मूत्रः कटुः पाके मेधाऽग्निकफपित्तकृत् । कृष्णः प्रशस्तस्तमनु शुक्रस्तमनु चारुणः—”
इति । अन्ये त्वनया युक्त्या सङ्ग्रहोक्तमर्थं संगृह्णते । स्निग्धत्वं तावत्तिलस्य तैलेषु

मुख्यस्य ज्ञेहस्य योनिभूतत्वात्सिद्धम् । कफपित्तकृदिति वचनाच्च सामर्थ्यलब्धं वात-
घ्नत्वम् । कषायस्वाद्विति-शिम्बीधान्यसामान्यगुणकथनेन कषायस्वादुत्वं लब्धमिति ।
एतदेवोररीकृत्य सद्योत्रणप्रतिषेधे वक्ष्यति-“कल्कं संरोहणं कुर्यात्तिलानां मधुका-
न्वितम् । स्निग्धोष्णतिक्तमधुरकषायत्वैः स सर्वजिदिति” ।

स्निग्धोमा स्वादुतिक्लोष्णा कफपित्तकरी गुरुः ॥ २२ ॥

दृक्शुक्रहृत्कटुः पाके,

उमाऽतसी स्निग्धा स्वाद्वादिगुणयुक्तोष्णवीर्या च । तथा दृष्टिं शुक्रं च हरति कटुपाका च ।

तद्वद्वीजं कुसुम्भजम् ।

तयोमया तुल्यं वर्तते तद्वदुमासमानगुणं कुसुम्भवीजमित्यर्थः ।

माषोऽत्र सर्वेष्ववरो यवकः शूकजेषु च ॥ २३ ॥

अत्र शिम्बीधान्येषु माषोऽश्रेष्ठः । शूकजेषु शूकधान्येषु यवकोऽश्रेष्ठः ।

नवं धान्यमभिष्यन्दि, लघु संवत्सरोषितम्,

शीघ्रजन्म तथा सूप्यं निस्तुपं युक्तिर्भर्जितम् ॥ २४ ॥

नवं प्रत्यग्रं धान्यमभिष्यन्द्याभिमुख्येन स्यन्दयति--ताच्छील्ये णिनिः ।
मालिन्यात्स्रोतसां सतिरूपश्लेष्माणं करोतीत्यर्थः । अर्थात्पुराणमनभिष्यन्दि ।
संवत्सरोषितं वर्षातीतं लघु भवति । नवं चार्थाद् गुर्वित्यनुक्रमशुक्तं भवति । तन्त्रा-
श्रेतरेऽप्युक्तम्—“वर्षातीतं सर्वमन्नं परित्यजति गौरवम् । ननु त्यजति तद्वीर्यं वीर्यं
मुञ्चत्यतः क्रमादिति” । शीघ्रेत्यादि । लघ्वित्यनुवर्तते । सूप्यं मुद्गादि यच्छीघ्र-
जन्म तल्लघु भवति । तथा विगततुषं युक्त्या भर्जितं मृशं लघु भवति । सङ्ग्रहे
त्वेवमुक्तम्—“नवं धान्यमभिष्यन्दि सेक्यं केदारजं च यत् । लघु वर्षोषितं
दग्धभूमिजं स्थलसम्भवमिति” इति शिम्बीधान्यवर्गः ।

अथ कृतान्नवर्गः—

निर्दिष्टे शूकशिम्बीधान्ये तयोश्च संस्कृतयोरुपयोग इति कृतान्नवर्गश्चारभ्यते ।

मण्डपेयाविलेपीनामोदनस्य च लाघवम् ।

यथापूर्वं शिवस्तत्र मण्डो वातानुलोमनः ॥ २५ ॥

तृङ्गलानिदोषशेषघ्नः पाचनो धातुसाम्यकृत् ।

स्रोतोमार्दवकृत्स्वेदी सन्धुक्षयति चानलम् ॥ २६ ॥

मण्डादीनां यथापूर्वं लाघवम् । तेनौदनमपेक्ष्य लघ्वीं विलेपी, ततोऽपि पेया,
पेयातो मण्डो लघुतर इत्यर्थोऽवतिष्ठते । मण्डपेयाविलेप्योदनानां यथापूर्वं लाघव-
मित्येवं वक्तव्ये यदत्रौदनस्य पृथक्पाठः स इदं ज्ञापयति । मण्डादयो लाजोपादाना
वेद्या न तु तण्डुलोपादानाः । तथा च मुनिः—“शृतः पिप्पलिशुरग्रीभ्यां युक्तो
लाजाम्बुदाडिमैः । मण्डः सन्दीपयत्यग्निं वातं चाप्यनुलोमयेदिति” । तदुक्तम्—
“द्रव्यस्यार्धपलं दत्त्वा तोयस्य प्रस्थमावपेत् । अर्धशेषं गृहीत्वा तत्कर्षौ द्वौ दाडिमस्य
च । युक्तं सैन्धवविश्वाहृधान्यकैः शाणमात्रकैः । द्विकर्षमात्रैर्लाजैश्च भूयः संक्षितं

च तत् । पिप्पलीजीरकाभ्यां च शाणैकेनावचूर्णितम् । पेयास्वेष विधिः कल्प्यो दाडिमादिकृतास्वपीति । तथा—“सिक्थैर्विरहितो मण्डः पेया सिक्थसमन्विता । घनसिक्था विलेपी स्याद्यवागूर्विरलद्रवेति” । अन्ये तु मण्डलक्षणं पेयालक्षणं चान्यथैवेच्छन्ति । तथा तल्लक्षणम्—“लाजाम्बुसैन्धवकणाधान्यनागरदाडिमैः । युक्तो विमृदितः पूतो मण्डः संस्कृत उच्यते । निर्द्रव्या प्राकृता पेया तक्रदाडिमतरण्डुलैरिति” । सामान्यपेयायाश्च तक्रदाडिमलाजादिसाधिताया गुणनिर्देशोऽयं न तु विशिष्टाया ज्वरचिकित्सादिविहिताया इति द्रष्टव्यम् । विशेषग्रहणात्कर्मन्तरनिर्देशाच्च । तत्र तेषु मण्डादिषु मध्ये मण्डः शिवः । तथा वातानुलोमनः । तथा तृङ्गलानिदोषशेषं हन्तीति तृङ्गलानिदोषशेषघ्नः । अमनुष्यकर्तृके चेत्यत्र ठक् । विहितवमनस्य विहितविरेचनस्य वा किञ्चिच्छेषो यो दोषस्तस्य भावो दोषशेषता वचनज्ञापकत्वं कृतवमनविरेचनस्य दोषशेषकरणं तेन च वमनकर्मणि विरेचनकर्मणि वा कर्तव्येऽति-योगभयात्तदोषशेषः कार्य इत्ययमर्थो युक्त्या प्रतिपादितः । तथा मण्डः पाचनो धातुसाम्यकरश्च । तथा स्रोतसां मार्दवं करोति । तथा स्वेदयतीति स्वेदी । वह्निं च दीपयति ।

क्षुत्तृष्णाग्लानिदौर्बल्यकुक्षिरोगज्वरापहा ।

मलाऽनुलोमनी पथ्या पेया दीपनपाचनी ॥ २७ ॥

क्षुत्तृष्णा च ताभ्यां ग्लानिः सा च दौर्बल्यं च कुक्षिरोगश्च ज्वरश्च तानपहन्ति या सैवम्भूता पेया । दौर्बल्यं कार्श्यम् । तथा मलान्वातादीननुलोमयति स्वमार्गस्थान् करोति । पथ्या शरीरस्य हिता । तथा दीपनी पाचनी चेति । पुंवत्कर्मधारयेति पुंवाद्भावः ।

विलेपी ग्राहिणी हृद्या तृष्णाघ्नी दीपनी हिता ।

व्रणाऽक्षिरोगसंशुद्धदुर्बलस्नेहपायिनम् ॥ २८ ॥

विलेपी ग्राहिणी हृद्या तृष्णाघ्नी दीपनी हिता च । व्रणाश्चाक्षिरोगश्च संशुद्धश्च दुर्बलश्च स्नेहपायी च तेषां हिता । व्रणाक्षिरोगशब्दौ मत्वर्थायाकारान्तौ ।

सुधौतः प्रसृतः स्विन्नोऽत्यक्तोष्मा चौदनो लघुः ।

यश्चाग्नेयौषधकाथसाधितो भृष्टतरण्डुलः ॥ २९ ॥

विपरीतो गुरुः क्षीरमांसाद्यैर्यश्च साधितः ।

ओदनः सुष्ठु धौतस्तथा प्रसृतो निश्चोतितः स्विन्नोऽत्यक्तवाष्पश्च लघुर्भवति । यश्चौदन आग्नेयौषधानां चित्रकादीनां काथेन साधितः सोऽतिलघुः । तथा भृष्टा-स्तरण्डुला यस्मिन्नोदने सोऽतिलघुतमः । यथोक्तलक्षणादोदनाद्विपरीतो योऽसुधौतादिः स गुरुः । क्षीरमांसादिभिर्भक्षुरैर्यश्च साधितः सोऽतिगुरुः ।

इति द्रव्यक्रियायोगमानाद्यैः सर्वमादिशेत् ॥ ३० ॥

इत्यनया दिशा सर्वं पेयादिकं पूर्वोक्तं वक्ष्यमाणं च भक्ष्यादिकं द्रव्येण क्रियया

संयोगेन मानेन चादिशेत् । तत्र द्रव्यतो यथा । ओदनस्य रक्तशाल्यादिजस्य लाघ-
वम् । यावकादिजस्य तु गौरदम् । क्रियातो यथा । पाकादिसंस्काराच्छूल्यमांसस्य
लघ्वादिगुणयोगः । अपरस्य त्वन्यथात्वं दृश्यते । तथा चोक्तं तन्त्रान्तरे—“वृथ्यं
वातहरं बल्यं पथ्यं शूल्यामिषं लघु । अपथ्यं गुरु विष्टम्भि मांसं यच्च रसोद्धृत-
मिति” । तन्त्रान्तरे चोक्तम्—“स्विन्नं मांसं गुरु स्तम्भि शूलपक्वं त्रिदोषजिदिति” ।
क्रिया संस्कार इत्यर्थः । योगः संयोगस्तेन । यथा—आग्नेयचित्रकाद्यौषधकायैः साधि-
तस्य लाघवम् । मानतो यथा—बहुभिर्लघुभिरत्यल्पैश्च गुरुभिर्गुरुलघुरेव । विपरी-
तैस्तु विपरीत एव । आदिग्रहणेन देशादिपरिग्रहः । जाङ्गलदेशप्रभवतरण्डुलकृतो
लघुः । आनूपदेशतरण्डुलकृतो गुरुरित्यादि बोध्यम् ।

• बृंहणः प्रीणनो वृष्यश्चलुष्यो व्रणहा रसः ।

रस इति मांसरसः, आदिशब्दलोपात् । स बृंहणादिगुणयुक्तः । कृताकृतस्य च
रसस्यायं गुणनिर्देशो बोध्यः । रसो हि स्नेहशुण्ठ्यादियुतः कृत इत्युच्यते, विपरीत-
स्त्वकृतः । तेन कृतस्य तन्त्रान्तरे विधानमप्युक्तम्, गुणाश्च । यथा—“छागलं
सक्थिजं मांसं निरस्थि तैत्तिरं तथा । चतुष्पलान्वितं सूक्ष्मं कल्पितं क्षालितं जले ।
पिप्पलीपिप्पलीमूलशुरठीचित्रकधान्यकैः । द्विशणैः संयुते तोये काथं सार्धाढको-
न्मते । मांसेऽस्मिन् द्विपलं तत्र दाडिमान्कुट्टितान्छिपेत् । तं रसं मर्दितं पूतं हिङ्गु-
सैन्धवजीरकैः । युक्तं प्रधूपितं पथ्यं शुद्धानां शुद्धिकाक्षिणाम् । शुष्यतां व्याधि-
युक्तानां व्रणिनां वातरोगिणाम् । भग्नविच्छिष्टसन्धीनां क्षीणधात्विन्द्रियौजसामिति” ।
तन्त्रान्तरे चोक्तम्—“रसस्तत्र वरोऽनम्लः शाकुनो बृंहणः सरः । तक्रसिद्धस्तु
विष्टम्भी लघुर्वातकफापहः । फलाम्लगोरसोदारं सविश्वाजाजिधान्यकम् । स्निग्धं
मांसं हितं बल्यं बृंहणं रोचनं गुरु । कासमर्दकधान्याम्लदाडिमादिरजःकृताः ।
लेहास्तकादिजाश्चान्ये योनिवद् गुरुरोचनाः । मालुधानीयवासादिपुष्पैर्योऽतिगुणः
खलः । फलमूलैर्धनादानं व्यञ्जनं पाकतो धनम्” । लेहवत्खलः इत्यन्ये । दोषलाः
स्वस्वयोनिवत् । “तद्वच्च तिलकल्काम्लप्रायः काम्बलिको मतः । कट्वरः कफजिद-
ग्राही पित्तलो रोचको लघुः । मांसादजातिशुण्ठ्यादिगलितः सोदको लघुः” ।

मौद्गस्तु पथ्यः संशुद्धव्रणकण्ठाक्षिरोगिणाम् ॥ ३१ ॥

मौद्गो रसो यूषो व्रणिनां कण्ठरोगिणां च पथ्यः । अस्य च संस्कृतस्य विधा-
नमुक्तम्—“मुद्गानां द्विपलं तोये शृतमर्धाढकोन्मते । पादस्थं मर्दितं पूतं दाडि-
मस्य पलेन तु । युक्तं सैन्धवविश्वाह्वधान्यकैः पादकार्षिकैः । कणाजीरकयोश्चूर्णा-
च्छाणैकेनावचूर्णितम् । संकृतो मुद्गयूषोऽयं पित्तश्लेष्महरो मतः ” । तथा—
“पटोलपत्राच्छाणार्थं मुद्गानां द्विपलं, जले । द्रव्याद् द्वात्रिंशद्गुणिते, ततश्च दाडि-
मात्पलम् । कर्षमामलकानां च क्षिप्वा पुनरधिश्रेयेत् । पूतं तत्सैन्धवाद्यैश्च युक्त-
माज्येन योजितम् । पटोलपत्राख्योऽयं यूषः पित्तोत्थरोगजित् । निम्बपत्रैर्निम्ब-

यूषमेवमेव प्रकल्पयेत् । मूलकाच्छुरिठका सिन्धवा घृतभृष्टा सधान्यका । हिङ्गुजीरक-
संयुक्ता ततो मथितदाडिमे । ससैन्धवे विनिक्षिप्य पुनरन्नावधि श्रेयेत् । तावद्याव-
न्मृदूभूतं ततस्त्र्यूषणसंयुतम् । सुधूपितं हिङ्गुघृतैश्चातुर्जातावचूर्णितम् । शुरठी-
रसं दीपनीयं वातश्लेष्मामयापहम् । अकृताकृतयूषाच्च रसाच्च जलसाधितात् । लेहा-
म्लपटुयुक्ताच्च पूर्वः पूर्वो लघुर्मतः । विद्यायूषे रसे सूपे शाके चैवोत्तरोत्तरम् ।
गौरवं तनुसान्द्राम्लस्वादुष्वेषु पृथक्कया ” । तथोक्तम्—“ खलकाम्बलिकौ हृद्यौ
साधितौ स्वौषधानुगौ । पिशितेन रसस्तत्र यूषो धान्यैः खलः फलैः । मूलैश्च
तिलकल्काम्लप्रायः काम्बलिकः स्मृतः । ज्ञेया कृताकृतास्ते तु लेहादियुतवर्जिताः ।
अल्पमांसादयः स्वच्छा दकलावणिकाः स्मृताः ” । स्वलेपेन मांसेन शुरग्यादिभिः
स्वल्पैः स्वच्छा ये क्रियन्ते ते दकलावणिका बोध्याः । एवं यूषे यत्र धान्यमल्पं
खलादौ वा मूलादीन्यल्पानि तस्याऽपि दकलावणिकत्वं बोध्यम् । तन्त्रान्तरे
चोक्तम्—“ अथ गोरसधान्याम्लफलाम्लैरम्लितं च यत् । यथोत्तरं लघु हितं
संस्कृतासंस्कृतं तथा । प्रभूतास्तमलो यूषः सूपास्तघुतरः स्मृतः । सूपस्तु रसयूषाभ्यां
स्थैर्याद् गुरुतरो मतः । तं सरोगो न चाश्नीयाच्च चाल्पः शी कथञ्चनेति । ”

वातानुलोमी कौलत्थो गुल्मतूनीप्रतूनिजित् ।

कौलत्थो यूषो वातमनुलोमयति गुल्मादीन् जयति । तूनिप्रतूनी रोगौ गुल्म-
निदाने वक्ष्यमाणलक्षणौ ।

तिलपिण्याकविकृतिः शुष्कशाकं विरूढकम् ॥ ३२ ॥

शाण्डाकीवटकं दृग्ध्रं दोषलं ग्लपनं गुरु ।

तिलस्य विकृतिः पिण्याकस्य च । तथा शुष्कशाकादि दृष्टिग्रं त्रिदोषकरं
ग्लानिकरं गुरु च । अङ्कुरितं सस्यं विरूढकम् । शाण्डाक्यपि तन्त्रादिका (?) शाण्डा-
कीवटकम् ।

रसाला बृंहणी वृष्या स्निग्धा वल्या रुचिप्रदा ॥ ३३ ॥

रसाला करमथितेन मरीचशर्करादियुक्तेन दध्ना कृता उल्लेखिकासंज्ञा बृंहणी
देहस्य बृहत्त्वकरी वृष्यादिगुणयुक्ता च ।

श्रमत्तृदृक्कमहरं पानकं प्रीणनं गुरु ।

विष्टम्भि मूत्रलं हृद्यं यथाद्रव्यगुणं च तत् ॥ ३४ ॥

पानकं श्रमादिहरं प्रीणनादिगुणयुक्तम् । प्रीणनं मनःप्रीतिकरं यथाद्रव्यगुणं
च । स्वादुना गुणेन च युक्तम् । पर्पटादीनां लाघवादिह गुणा नोक्ताः । यथा ।
“पर्पटा लघवो रुच्या लघीयान् चारपर्पटः । हृद्या वृष्या रुचिकरा गुरवो रागखा-
ण्डवाः । प्रीणना श्रमत्तृदृक्किमदमूर्च्छाश्रमच्छिदः” ।

लाजास्तृदृद्यतीसारमेहमेदःकफच्छिदः ।

कासपित्तोपशमना दीपना लघवो हिमाः ॥ ३५ ॥



लाजास्तृडादींश्छन्दन्ति । कासपिते चोपशमयन्ति । तथा दीपना लघवः शीतवीर्याश्च ।

पृथुका गुरवो बल्याः कफविष्टम्भकारिणः ।

हरितधान्यानि निस्तुषभृष्टमुशलहतानि पृथुकाश्चिपिटसंज्ञा गुरुत्वादियुक्ताः ।

धाना विष्टम्भनी रूक्षा तर्पणी लेखनी गुरुः ॥ ३६ ॥

धाना भृष्ट्यवादिर्विष्टम्भनी रूक्षादिगुणयुक्ता च ।

सक्तवो लघवः क्षुत्तृदश्रमनेत्रामयव्रणान् ।

घ्नन्ति सन्तर्पणाः पानात्सद्य एव बलप्रदाः ॥ ३७ ॥

नोदकान्तरितान्न द्विर्न निशायां न केवलान् ।

न भुक्त्वा न द्विजैश्छित्त्वा सक्तूनद्यान्न वा बहून् ॥ ३८ ॥

सक्तवो लघवः क्षुधादींश्च घ्नन्ति । तथोदकमिश्रिताः सन्तर्पणाः सद्य एव बलं कुर्वन्ति । तांश्च जलेनान्तरितान्व्यवहितान्नाश्रियात् । अन्यभोजनेषु ह्यन्तरा पानं विहितं न तथा सक्तुषु कार्यमिति बोधयति । तथा न द्विर्न वारौ नाद्यात् । न निशायां रात्र्याम् । न केवलानुदकादिरहितान् । न भुक्त्वाऽन्यद्भोजनादि । न द्विजैश्छित्त्वा दन्तैः करस्थं पिण्डं छित्त्वेत्यर्थः । बहूश्च सक्तून्नाद्यात् । तन्त्रान्तरे चोक्तं रूक्षवातलवं सक्तूनामिह नोक्तम् । लघुत्वादिनैवावगतत्वात् । ननु रूक्ष-
वातलं चेदभ्युपगम्यते सक्तूनां, ततः सन्तर्पणा इत्यनुपपन्नम् ? सद्य एव बलप्रदा इत्येतदप्ययुक्तम् ? युक्त्या ह्याहारः परिणमति । स धातुपुष्ट्यै नान्यथा । अत्रा-
चक्षमेह—प्रभावादुभयमप्येतदुक्तम् । सक्तूनां ह्ययमचिन्त्यः प्रत्यक्षवेद्यः प्रभावो यत्पीताः सन्तः सन्तर्पयन्ति, सद्य एव च बलं प्रयच्छन्ति । यथा वार्जाकरणां ह्यपरिणतमेव स्वकार्यं जनयति । यथा च मद्यं परिणतमेव मदं जनयति, तथा-
सन्तर्पणत्वं बलप्रदत्वं चैषामुपपन्नमेव । तन्त्रान्तरे चोक्तम्—“ तुल्याज्यः सक्तु-
प्राशस्तु वृष्यो भेदी रसायनम् । तृच्छर्दिश्रमनुन्मद्यपीततृष्णानिर्वर्तकः । प्रमेह-
क्षयकुष्ठानि न च स्युर्मन्थपायिनाम् । निचयात्कठिना गुर्वी पिण्डी प्रोक्ता, मृदु-
र्लघुः । सक्तूनां द्रवतायोगाल्लघीयस्यवलेहिका । लाजसक्तुकृताऽपि स्याद्विलेपी तु गरीयसी ” ।

पिण्याको ग्लपनो रूक्षो विष्टम्भी दृष्टिदूषणः ।

पिण्याकाख्यो यस्तिलादीनां निष्पीडितः कल्को ग्लपनो ग्लानिकरः । ग्लपन इति ग्लायतेर्णिजन्ताद् ग्लान्नावनुवमां चेति मित्त्वाद् ध्रस्वः, बाहुलका-
त्कर्तरि ल्युट् । तथा विष्टम्भी, दृष्टिविकारकृच ।

वेसवारो गुरुः स्निग्धो बलोपचयवर्धनः ॥ ३९ ॥

वेसवारो नागरधान्यकाऽजाजिहिङ्गुष्टादिसंस्कृतं कुट्टितं मांसम् । गुरुः स्निग्धो बलवर्धनः शरीरोपचयवर्धनश्च ।



मुद्रादिजास्तु गुरवो यथाद्रव्यगुणानुगाः ।

मुद्रादिजास्तु वेसवारा ये इण्डरिकादिभिर्द्रव्यैः सूक्ष्मचिह्नैः क्रियन्ते लोके पूरणशब्देन प्रसिद्धास्ते गुरवः प्रकृतिद्रव्यगुणाश्च । आदिशब्देन माषादयो गृह्यन्ते । तन्त्रान्तरे चोक्तम्—“ सर्पिस्तैलगुणक्षीरैर्यवगोधूमपैष्टिकाः । पूषा विष्टम्भिनः शीताः पौष्टिका वातलाः खराः । वृष्याः बल्याः सरा माषैर्वातघ्ना मृदुपिचिह्नलाः । यथाऽन्नं गुरवो बल्याः स्थूलाश्च कठिनाश्च ये । तैलपक्वास्तु दृष्टिघ्ना गरीयांसो विदाहिनः । कासारसार-लघवो लाजैर्लघुतराः स्मृताः । वातपित्तहरो वृष्यो घृतपूरः कफप्रदः । सद्यः प्राण-करो रुच्यो मांसलो रक्तलो गुरुः । लघीयान्मण्डककृतो गरीयान्फलपूरितः । मधु-रोत्कारिका वृष्या कासारः पिचिह्नलो गुरुः । गुडमत्स्यण्डकाखण्डक्षीरेक्षुरसमा-क्षिकैः । पूषाः शुक्रबलश्लेष्मरुचिदास्तर्पणाः क्षणात् । नानाद्रव्यैः समायुक्ताः पक्वामक्लिन्नभर्जिताः । निर्मदको गुरुः स्निग्धो वृष्यो बलवतां हितः । खारिकेन्दुरि-कापूरबटिकावटकादयः । विशदा रोचना बल्या गुरवः स्युः स्वथोनिवत् । यावकः पिचिह्नलः स्निग्धः प्लोहोदावर्तहा गुरुः । मृष्टक्षिन्नतया वाय्वो लघुः सेव्योऽतिकासि-नाम् । ज्वरोदावर्तमेहानां पथ्यो वातानुलोमनः । ओलकं हरितावस्थं शिम्बि-जत्वात्स्वरं गुरु । मन्दजयो यवादित्वादभ्योषो बृंहणः सरः ” । सिद्धसौर चोक्तम्—“ अत्युष्णा मण्डकाः पथ्याः शीतला गुरवो मता ” इति ।

कुकूलकर्परभ्राष्ट्रकन्दङ्गारविपाचितान् ॥ ४० ॥

एकयोर्नीलघृन्विद्यादूपानुत्तरोत्तरम् ।

अपूपान् कुकूलादिसिद्धानेकयोर्नीलेकारणान्यथोत्तरं लघून्विद्यात् । तेन कुकू-लपक्वात् सजातीयादपूपार्त्कर्परपक्वो लघुः । कर्परपक्वाच्च भ्राष्ट्रपक्वः । भ्राष्ट्रपक्वात्क-न्दुपक्वः । कन्दुपक्वाच्चाङ्गारपक्वः । कुकूलं गोश्वरं गोशकृदादिचूर्णसन्तापः । कर्परो ज्वालातप्तं कपालम् । भ्राष्ट्रकन्दू प्रसिद्धावेव । अङ्गारा बृहन्तः काष्ठसम्भूता इति । इति कृतान्नवर्गः ।

कृतान्नवर्गानन्तरं मांसशाकवर्गयोस्तद्यञ्जनभूतयोर्निर्देशः । तत्राऽपि प्राधा-न्यान्मांसवर्गस्य पूर्वं निर्देशः । प्राधान्यं चाऽस्य भक्तेन सह प्रचुरोपयोगेऽप्युदाघातः । शाकस्य तु बहुपयोगे दोषं वक्ष्यति—“शाकावराजभूयिष्ठमत्युष्णलवणं त्यजेदित्यनेन । मांसवर्गः—

हरिरौणकुरङ्गर्त्तगोर्कर्णमृगमातृकाः ॥ ४१ ॥

शशशम्बरचारुक्कशरभाद्या मृगाः स्मृताः ।

हरिणादयो दश मृगाः स्मृताः । आदिशब्देन कालपुच्छकपृषतादयः सङ्गहोक्ता गृह्यन्ते—“कालपुच्छकचारुक्कवरपोतशशोरणाः । श्वदंष्ट्ररामहारभकोह-कारकेशम्बराः । करालकृतमालौ च पृषतश्च मृगाः स्मृताः ” इति ।

मौ० टि० १—इण्डरीशब्दः प्रायेण माषेमुद्रयोः सहचर एव दृश्यते शास्त्रे । एतन्निर्माणप्रकारश्च “चर्याचन्द्रोदयस्य” दिनचर्याध्याये द्रष्टव्यः ।

लाववर्तीकनार्तीररक्तवर्मककुभाः ॥ ४२ ॥

कपिञ्जलोपचक्राख्यचकोरकुरुवाहवः ।

वर्तको वर्तिका चैव तित्तिरिः क्रकरः शिखी ॥ ४३ ॥

ताम्रचूडाख्यवकरगोनर्दगिरिवर्तिकाः ।

तथा शारपदेन्द्राभवारटाश्चेति त्रिष्किराः ॥ ४४ ॥

तत्र लावादयो वारदान्ता एकविंशतिः । विकीर्य भक्षणाद्विष्किराः । रक्ते कर्मनी यस्य स रक्तवर्मकः । वर्तको वर्तिकेति जाल्यन्तरं, नतु वर्तकस्य स्त्री वर्तिका । यथा च बलाका सारिकेति । पुंस्यपि स्त्रीलिङ्गत्वावेशात् । शिखी मयूरः । व्रीह्यादिः (?) ।

जीवजीवकदात्यूहभृङ्गाहशुकसारिकाः ।

लद्वाकोकिलहारीतकपोतचटकादयः ॥ ४५ ॥

प्रतुदाः

जीवजीवकादयः प्रतुदा दश स्मृताः । प्रतुद्य तुण्डेनाऽहल्य शाल्यादेर्मक्षणा-
त्प्रतुदाः । आदिशब्देन सङ्गहोक्ताः खञ्जरीटकपारावता गृह्यन्ते ।

भेकगोधाहिश्वाविदाद्या बिलेशयाः ।

भेकादयश्चत्वारो बिलेशयाः । बिले बाहुल्येन शयनाद्विलेशयाः । आदिशब्देन
श्वेतश्यामशल्यकादयो गृह्यन्ते ।

गोखराश्वतरोप्राश्वद्वीपिसिहर्क्षवानराः ॥ ४६ ॥

मार्जारमूषिकव्याघ्रवृकबभ्रुतरक्षवः ।

लोपाकजम्बुकश्येनचाषवान्तादवायसाः ॥ ४७ ॥

शशघ्नीभासकुररगृध्रोलूककुलिङ्गकाः ।

धूमिका मधुहा चेति प्रसहा मृगपक्षिणः ॥ ४८ ॥

गवादयः प्रसह्याहृत्य भक्षणात्प्रसहाः । मृगाश्च पक्षिणश्च मृगपक्षिणः । केचि-
न्मृगाः केचित्पक्षिण इत्यर्थः । अश्वतरो वेगसरः । अश्वस्तुरगः । बभ्रुर्जाहको नकुल
इत्यन्ये । लोपाको लोमशः । जम्बुकः शृगालः । श्येनो गरुडाकृतिः । चाषः
किक्रीदिविः । वान्तादः श्वा । वायसः काकः । उलूकः काकारिः । कुलिङ्गकः
कृष्णचटकः ।

वराहमहिषन्यङ्कुरुखरहोहितवारणाः ।

सुमरश्चमरः खड्गो गवयश्च महामृगाः ॥ ४९ ॥

वराहादयो दश महामृगसंज्ञाः । वारणो हस्ती ।

हंससारसकादम्बवककारण्डवस्रवाः ।

बलाकोत्क्रोशचक्राहमद्रुकौश्चादयोऽप्चराः ॥ ५० ॥



हंसादयः कौशान्ता अप्सु चरणादप्चरसंज्ञाः । आदिशब्देन रक्तशीर्षकादयो गृह्यन्ते ।

मत्स्या रोहितपाठीनकूर्मकुम्भीरकर्कटाः ।

शुक्लिशङ्खोड्रशम्बूकशफरीवर्मिचन्द्रिकाः ॥ ५१ ॥

चुलूकीनक्रमकरशिशुमारतिमिङ्गिलाः ।

राजीचिलिचिमाद्याश्च

रोहितकादय एकोनविंशतिर्जलोद्भवा मत्स्यसंज्ञाः । चशब्दोऽनुक्तकदलकपर्दकादिसमुच्चयार्थः ।

मांसमित्याहुरष्टधा ॥ ५२ ॥

इत्यष्टभिः प्रकारैः शास्त्रकारा मांसमाहुः ।

योनिष्वजावी व्यामिश्रगोचरत्वादनिश्रिते ।

योनिषु पूर्वोक्तास्वष्टासु मध्ये व्यामिश्रगोचरत्वाद्यामिश्रविषयत्वादजावी व्यामिश्रेऽजावी ह्यागोरभ्रे तेऽनिश्चिते । ते हि जाङ्गलेऽपि देशे वर्धन्ते अनूपाऽपि । अजावी इति स्त्रीलिङ्गनिर्देशोऽत्र विवक्षित एव । केचित्त्वनिश्चिताविति निजगदुः । तत्र तित्तिरिरपि धन्वानूपचारी प्रथितः । तत्कथमसौ हि जाङ्गलः कीर्तितः । ब्रमः । तत्स्वभावत्वात् । यद्यप्युभयचरोऽयं तथाऽपि जाङ्गलस्वभावत्वाज्जाङ्गलोऽयं भक्षणे । अत्र विष्किरत्वं तित्तिरे निश्चितं निमित्तमस्ति । तस्मादयं जाङ्गल एव युक्तः । हरिणादीनां च किरातकैवर्तादिभ्यो नानादेशप्रसिद्धा संज्ञा वेद्याः ।

आद्यान्त्या जाङ्गलानूपा मध्यौ साधारणौ स्मृतौ ॥ ५३ ॥

आदौ भवा आद्या मृगविष्किरप्रतुदारुया जाङ्गलचारित्वाज्जाङ्गलशब्दवाच्या एव । महामृगाऽप्चरमत्स्याख्या आनूपाः । मध्यौ द्वौ बिलेशयप्रसह्याख्यौ साधारणौ । जाङ्गलानूपचारिणावित्यर्थः । मध्याविति द्विवचननिर्देशसामर्थ्यादाद्यन्तानां वर्गाणां प्रत्येकं त्रिधात्वमनुमीयते त्रिग्रहणमन्तरेणापि ।

तत्र बद्धमलाः शीता लघवो जाङ्गला हिताः ।

पित्तोत्तरे वातमध्ये सन्निपाते कफानुगे ॥ ५४ ॥

तत्र तेषु जाङ्गलानूपसाधारणेषु मध्ये जाङ्गला बद्धमला ग्रथितं पुरीषं कुर्वन्ति । शीतवीर्या लघवः । सन्निपाते हिताः । किम्भूते । पित्तोत्तरे पित्ताधिके । तथा वातो मध्यो यस्मिंस्तस्मिन्मध्यममरुति । तथा कफानुगे कफोऽनुगोऽवलो हीनो यस्मिंस्तस्मिन् स्वल्पश्लेष्मणि ।

दीपनः कटुकः पाके ग्राही रूक्षो हिमः शशः ।

शशोऽग्निदीपनः पाके कटुको ग्राही रूक्षः शीतश्च । ग्राहिशीतत्वं चाऽस्य जाङ्गलत्वादेव लब्धमित्यतिशयार्थं पुनरिहोपात्तम् । स्वादुक्प्रायत्वादिकमेष्टमिह युक्त्योक्तम् । संग्रहे तु स्पष्टं कृत्वोक्तम् । यथा—“तत्र बद्धमला रुच्या मांसानामुत्तमा

हिमाः । कषायस्वादुविशदा जघनो जाङ्गला हिताः । ताम्रोऽथ हरिणः कृष्ण-
स्त्वेणो हृद्यस्त्रिदोषजित् । लघीयान् षड्सश्वासौ ग्राही रूक्षो हिमः शशः । कटु-
पाकोऽग्निकृत्पथ्यः सन्निपातेऽनिलावर” इति ।

ईषदुष्णा गुरुस्निग्धा बृंहणा वर्तकादयः ॥ ५५ ॥

तित्तिरिस्तेष्वपि वरो मेधाग्निबलशुक्रकृत् ।

ग्राही वर्योऽनिलोद्विक्लसन्निपातहरः परम् ॥ ५६ ॥

वर्तकादारभ्य यावज्जाङ्गलसमस्तिस्तावत्सर्वे औष्ण्यगौरवस्निग्धत्वैरल्पैर्युक्ताः ।
तेष्वपि मध्ये तित्तिरिः श्रेष्ठो मेधादिकश्च । तथा सङ्ग्रहणो वर्यो वाताधिकस-
न्निपातहरश्च । स च तित्तिरिर्धन्वन्यान् च देशे विचरत्यतः स्निग्ध उष्णो गुरु-
बृंहणश्च । तथा च सङ्ग्रहे—“धन्वानूपविचारित्वात् स्निग्धोष्णगुरुबृंहण” इति ।

नातिपथ्यः शिखी पथ्यः श्रोत्रस्वरवयोदशाम् ।

शिखी बर्ही नातिपथ्यः श्रोत्रादीनां पथ्यो वयसः स्तम्भनकारित्वेन पथ्यः ।

तद्वच्च कुक्कुटो वृष्यः

तद्वच्च कुक्कुटो मयूरतुल्यगुणो वृष्यश्च ।

ग्राम्यस्तु श्लेष्मलो गुरुः ॥ ५७ ॥

ग्राम्यः पुनः कुक्कुटः श्लेष्मलो गुरुश्च ।

मेधाऽनलकरा हृद्याः क्रकराः सोपचक्रकाः ।

क्रकरोपचक्रकाश्च मेधामग्निं च कुर्वन्ति हृद्याश्च ।

गुरुः सलवणः काणकपोतः सर्वदोषकृत् ॥ ५८ ॥

काणः कपोतो गुरुरीषलवणस्त्रिदोषकृच्च ।

चटकाः श्लेष्मलाः स्निग्धा वातघ्नाः शुक्रलाः परम् ।

चटकाः श्लेष्मलादियुक्ता अतिशयेन शुक्रकृतश्च ।

गुरूष्णस्निग्धमधुरा वर्गाश्चातो यथोत्तरम् ॥ ५९ ॥

मूत्रशुक्रकृतो बल्या वातघ्नाः कफपित्तलाः ।

अतोऽनन्तरं बिलेशयाद्या वर्गा यथोत्तरं गुरुत्वेनोष्णत्वेन स्निग्ध-
त्वेन मधुरत्वेन चाधिकाः । यो यस्मादुत्तरो वर्गः स तस्माद् गुरुत्वादिभिरधिक
इत्यर्थः । तथा यथोत्तरमेव मूत्रशुक्रकृतो बल्या वातघ्नाः श्लेष्मपित्तलाश्च ।

एवं वर्गपञ्चकस्य सामान्यगुणानुक्त्वाऽपवादमाह ।

शीता महामृगास्तेषु क्रव्यादाः प्रसहाः पुनः ॥ ६० ॥

लवणानुरसाः पाके कटुका मांसवर्धनाः ।

जीर्णाशीग्रहणीदोषशोषार्तानां परं हिताः ॥ ६१ ॥

तेषु वर्गेषु मध्ये महामृगाः शीतवीर्याः । क्रव्यमाममांसं भुञ्जते ये ते
क्रव्यादाः । क्रव्यादास्तु ये प्रसहा मार्जारगृध्रोलूकादयस्ते लव-

णानुरसाः पाके कटुका मांसवर्धनाश्चातितराम् । जीर्णप्रभृत्यामयानामतिशयेन हिताः ।

नातिशीतं गुरुः स्निग्धं मांसमाजमदोषलम् ।

शरीरधातुसामान्यादनभिष्यन्दि बृंहणम् ॥ ६२ ॥

नातिशब्दोऽत्रैषदर्थे । यदि तु प्रतिषेधनमात्रमभीष्टमभिविध्यदाचार्यस्य ततो नच एव केवलस्योपादानमकरिष्यत् । तस्मादीषदर्थ एव विवक्षितः । अत एव व्याख्यानयन्ति । अदोषलमिति । अल्पदोषलम् । यथाऽनतिदग्धो ग्राम इति । शरीरस्य धातुः शरीरधातुः प्रकृतत्वात्पुरुषशरीरस्य मांसाख्यो यो धातुस्तस्य सामान्यात्तुल्यत्वादाजं मांसमनभिष्यन्दि बृंहणं च । गुणकृतं चाऽत्र सामान्यं गृह्यते न द्रव्यकृतम् । द्रव्यकृते हि सामान्ये गृह्यमाणे तुरगोरगादिमांसमपि पुरुष-शरीरधातोर्मांसाख्यस्य मांसत्वेन समानं भवतीति तदप्यनभिष्यन्दि बृंहणं च स्याच्च केवलमाजं मांसम् । गुणकृते तु सामान्ये गृहीते शरीरधातुसामान्यादाजमेव मांसमनभिष्यन्दि बृंहणं चेति वक्तुं युज्यते । मांसग्रहणं चाऽत्रोपलक्षणार्थम् । न केवलमाजं मांसं पुरुषशरीरधातुना मांसाख्येन तुल्यं यावदन्येऽपि ये ह्यागशरीर-गता धातवस्तेऽपि मनुष्यशरीरधातुना तुल्यगुणास्तेऽप्यनभिष्यन्दिनो बृंहणाश्च । अनया भङ्ग्या पुरुषमांसस्याऽप्याचार्येणाऽत्र गुणा उक्ताः । ननु बृंहणं यद् द्रव्यं तद्वैमाप्यमभिष्यन्दि च । अपामेवाऽसाधारणो धर्मः स्रवणरूपः । तत्कथमनभि-ष्यन्दीत्युक्तम् । त्रमः । द्रव्यप्रभावात् ईदृशोऽयं द्रव्यप्रभावो यद् बृंहणमपि द्रव्यमनभिष्यन्दीति ।

विपरीतमतो ज्ञेयमाविकं बृंहणं तु तत् ।

अतोऽजमांसाद्विपरीतमाविकं मांसमत्युष्णं स्निग्धं गुरु सदोषमभिष्यन्दि चेति । बृंहणत्वस्याऽपि विपर्यये प्राप्ते तदपवादमाह । बृंहणं तु ब्रदिति । तुशब्दोऽवधार-रणे । बृंहणमेव तदित्यर्थः ।

शुष्ककासश्रमाऽत्यग्निविषमज्वरपीनसान् ॥ ६३ ॥

काश्यं केवलवातांश्च गोमांसं सन्नियच्छति ।

गोमांसं शुष्ककासादीन्नियच्छति ।

उष्णो गरीयान्महिषः स्वप्नदार्ढ्यबृहत्त्वकृत् ॥ ६४ ॥

महिष उष्णो गुरुतरः स्वप्नादींश्च करोति । गुरुशब्दादीयसुनि प्रियस्थिरेत्या-दिना गरादेशः । दार्ढ्यमिति वर्णदृढेत्यादिना ष्यञ् ।

तद्वद्वराहः श्रमहा रुचिशुक्रबलप्रदः ।

वराहः सूकरस्तद्वन्महिषगुणो ज्ञेय इत्यर्थः । तथा श्रमहा रुच्यादिप्रदश्च ।

मत्स्याः परं कफकराः

गुरुष्णस्निग्धमधुरा वर्गाश्चातो यथोत्तरमित्यनेन लक्षणोनाऽतिगुरुष्णस्निग्ध-मधुरत्वमतिमूत्रशुक्रकृत्वमतिबल्यत्वमतिवातघ्नत्वमतिकफपित्तलत्वं च मत्स्याना-

मुक्तम् । परं कफकरा इत्यनेनाऽतः कफकृत्तमा मत्स्या इति बोधयति । सङ्ग्रेह
रपष्ठार्थमेवमुक्तम्—“कफपित्तकरा मत्स्याः परं पवननाशना” इति ।

चिलिचीमस्त्रिदोषकृत् ॥ ६५ ॥

चिलिचीमसंज्ञो मत्स्यस्त्रिदोषकरः ।

लावरोहितगोधैणाः स्वे स्वे वर्गे वराः परम् ।

लावादयः । स्वस्ववर्गेषु वरतराः । तत्र लावो विष्किरेष्वतिश्रेष्ठः । रोहितो
मत्स्येषु । स हि प्रतिस्रोतोविचारी । आकाशशङ्खवनश्च । तथा चोक्तम्—“प्रतिस्रोतो-
विचारित्वादाकाशशङ्खवनेन च । रोहितः प्रवरस्तेषामिति” । गोधा च बिलेशयेषु वरा ।
एणो मृगेष्विति ।

मांसं सद्योहतं शुद्धं वयःस्थं च भजेत् ।

मांसं सद्योहतं भजेत् । सद्योहतस्य मांसं भजेदित्यर्थः । तथा शुद्धं लाव-
स्थ्यादिरहितम् । तथा वयसि तिष्ठतीति वयःस्थम् । यद्यपि सर्वं मांसं वयःस्थमेव
तथाऽपीह वयःस्थमित्युक्त्या शोभनं तरुणं वय इति गम्यते । तस्माद्यूनः प्राणिनो
मांसं भजेन्न बालवृद्धयोरिति ।

त्यजेत् ॥ ६६ ॥

मृतं कृशं भृशं मेघं व्याधिवारिविपैर्हतम् ।

मृतं स्वयं मृतं न भजेत् । अविज्ञातस्वरूपेण व्याधिना मृतस्य प्राणिनो
यन्मांसं तत्त्यजेदित्यर्थः । कृशं दुर्बलं न भजेत् । तथा भृशं मेघमतिमेदुरं मांसं
त्यजेत् । तथा व्याधिना निर्जातस्वरूपेण हतस्य वारिणा विषेण च हतस्य
निर्जीवीकृतस्य यन्मांसं तत्त्यजेत् । सङ्ग्रेह तु हंसादीनां विशेषा उक्ताः । यथा—
“हंसः स्वरकरः पित्तरक्तजिन्मधुरो हिमः । कुलीरः परमं वृष्यो बृंहणः प्रीणनो
गुरुः । गोधा नियच्छति विषं मूषिकः शुक्रवधनः । गुरुयराडानि बालानां
कषायमधुरं पलम् । वृद्धानां स्नायुभूयिष्ठमवल्यं गुरु दोषलमिति” ।

पुंस्त्रियोः पूर्वपश्चार्धे गुरुणी गर्भिणी गुरुः ॥ ६७ ॥

लघुर्योषिच्चतुष्पात्सु विद्वज्जेषु पुनः पुमान् ।

शिरःस्कन्धोरुपृष्ठस्य कट्याः सक्श्रोश्च गौरवम् ॥ ६८ ॥

तथामपकाशयोर्यथापूर्वं विनिर्दिशेत् ।

शोणितप्रभृतीनां च धातूनामुत्तरोत्तरम् ॥ ६९ ॥

मांसाद्वरीयो वृषणमेद्वृक्यकृद्गुदम् ।

पुंस्त्रियोः पूर्वपश्चार्धे यथासंख्यं गुरुणी । पूर्वं च पश्चं च पूर्वपश्चे तयोरर्धे ।
पुंसः पूर्वार्धं गुरु स्त्रियः पश्चार्धं गुर्वित्यर्थः । गर्भिणी गुरुः गर्भिणीमांसं गुरु ।
चत्वारः पादा येषां ते चतुष्पादस्तेषु चतुष्पात्सु गवादिषु मध्ये स्त्री लघुः । चतुष्पा-
दितिसङ्ख्यासुपूर्वस्येत्यन्तलोपः । विद्वज्जेषु द्विजेषु तु पुमांस्तुः । शिरःप्रभृती-

नां मांसानां यथापूर्वं गुरुत्वं निर्दिशेत् । एवं सक्थ्यादिमांसेभ्यः शिरोमांसं गुरुतम-
मित्यवतिष्ठते । आमपक्काशययोश्च यथापूर्वं गुरुत्वं निर्दिशेत् । तेन पक्काशयादामा-
शयो गुरुः । रक्तादीनां धातूनां यथोत्तरं गुरुत्वं निर्दिशेत् । तेन लोहितान्मांसं
गुरु मांसान्मेद इत्यादि । मांसाद्वरीयो वृषणमेद्वृक्कयकृद्गुदमित्यत्राप्युत्तरोत्तर-
मित्यनुवर्तते । तेन मांसाद्गुरुतरो वृषणस्तस्मान्मेदो यावत्सर्वं गरिष्ठं गुदं निर्दिशेत् ।

इति मांसवर्गः ।

मांसवर्गादनन्तरं शाकवर्गो निगद्यते ।

शाकवर्गः—

शाकं पाठासठीपूषासुनिषणसतीनजम् ॥ ७० ॥

त्रिदोषघ्नं लघु ग्राहि सराजक्षववास्तुकम् ।

पाठादिजं शाकं त्रिदोषहरं लघु ग्राहि च तद्ब्राजक्षवकवास्तुकम् ।

सुनिषणोऽग्निकृद्गुदप्यस्तेषु

तेषु मध्ये सुनिषणः स्वस्तिकाख्यो जलमध्ये भवति । पत्रैश्चाङ्गेरीतुल्यो-
ऽग्निकरोऽपि वृष्यः ।

राजक्षवः परम् ॥ ७१ ॥

ग्रहणयशोविकारघ्नः

राजक्षवः क्षुद्रोधनो राजशाकाख्योऽत्यर्थं ग्रहणयशोविकारघ्नः ।

वर्चोभेदि तु वास्तुकम् ।

वास्तुकं तु पुनः टक्कवास्तुकाख्यं वर्चोभेदि पुरीषस्य भेदनम् ।

हन्ति दोषत्रयं कुष्ठं वृष्या सोष्णा रसायनम् ॥ ७२ ॥

काकमाची सरा स्वर्या

काकमाची त्रिदोषघ्नी कुष्ठनाशनी वृष्या किञ्चिदुष्णा सरा भेदिनी स्वरहिता
च स्वर्या । स्वास्थ्यसंवाहकत्वेन च रसायनसादृश्याद्रसायनम् ।

चाङ्गेर्यम्लाऽग्निदीपनी ।

ग्रहणयशोऽनिलश्लेष्महितोष्णा ग्राहिणी लघुः ॥ ७३ ॥

चाङ्गेरी क्षुद्राम्लिकाम्ला चाग्निदीपनी ग्रहण्यादिषु हिता । उष्णवीर्या ग्राहिणी
लघ्वी च ।

पटोलं सप्तलारिष्टशार्ङ्गेष्टावल्गुजाऽमृताः ।

वेत्राग्रं बृहती वासा कुन्तली तिलपर्णिका ॥ ७४ ॥

मण्डूकपर्णी कर्कोटकारवेल्लकपर्पटाः ।

नाडीकलायं गोजिह्वा वार्ताकं वनतिक्कम् ॥ ७५ ॥

करीरं कुलकं नन्दी कुचेला शकुलादनी ।

कटिल्लं केम्बुकं शीतं सकोशातककर्कशम् ॥ ७६ ॥

तिक्कं पाके कटु ग्राहि वातलं कफपित्तजित् ।



पटोलादीनि कर्कशान्तान्यष्टाविंशतिः शीतवीर्याणि तिक्तानि पाके कट्वनि
ग्राहीणि वातलानि कफपित्तघ्नानि च । सप्तला सातला । अरिष्टो निम्बः । शार्ङ्ग-
ष्टाऽङ्गारवल्लिका । अवल्गुजा बाकुची । अमृता गुडूची । वेत्रो वंशसदृशस्तस्याऽग्रम् ।
वासा वृषः । कुन्तली सूक्ष्मतिलजातिः । तिलपर्णी बदरकः । मण्डूकपर्णी आदित्य-
पर्णी वा ब्राह्मी । कर्कोटकारवेले पुनः प्रथिते एव । पर्पटः शीतप्रियाख्यः ।
नाडीकलायं सकुलाक्षकः सुवर्चलाभेदः । गोधूमिका तु गोजिह्वा गोजी
क्रोष्टुकमूलिका । वनतिक्तकं वत्सकः । कुलकं काकतिन्दुकः । नन्दी जयवृक्षश्च शब्दितः ।
कुचेला पाठा । शकुलादनी कटुका । कटिल्लं दीर्घपत्रा वर्षाभूः । कोशातको
घण्टोलिः । कर्कशः कम्पिल्लकः ।

सामान्यगुणानुक्त्वा केषांचिद्गुणकर्मविशेषमाह—

हृद्यं पटोलं कृमिनुत्स्वादुपाकं रुचिप्रदम् ॥ ७७ ॥

पित्तलं दीपनं भेदि वातघ्नं बृहतीद्वयम् ।

मुनिनाऽप्युक्तम्—“पटोलपत्रं पित्तघ्नं वल्ली चास्य कफापहा । फलं त्रिदोष-
शमनं मूलं चास्य विरेचनमिति” । बृहतीद्वयं स्थूलबृहती महोटिकाख्या । जुद-
बृहती कण्टकारिकाख्या । तदेतदुभयं पित्तकर्मभिदीपनं शकृदादीनां भेदनं
वातघ्नं च ।

वृषं तु वमिकासघ्नं रक्तपित्तहरं परम् ॥ ७८ ॥

वृषं छर्दिकासौ हन्ति । रक्तपित्तं चात्यर्थं जयति ।

कारवेल्लं सकटुकं दीपनं कफजित्परम् ।

कारवेल्लमीषद्वये कटुकमभिदीपिकरमतिश्लेष्मघ्नम् ।

वार्त्ताकं कटु तिक्तोष्णं मधुरं कफवातजित् ॥ ७९ ॥

सत्तारमग्निजननं हृद्यं रुच्यमपित्तलम् ।

वार्त्ताकं रसे कटु तिक्तमुष्णवीर्यं मधुरं वातश्लेष्मघ्नम् । सह क्षारेण वर्तते
सत्तारं किञ्चित्क्षारत्वयुक्तमग्निजननम् । हृद्यं हृदयाय हितम् । रुच्यं रुचिकृत् ।
अपित्तलम् । नजीषदर्थे । किञ्चित्पित्तकरमित्यर्थः । तत्र सह क्षारेण वर्तते सत्तार-
मित्येवं कथमुक्तम् । यावता क्षारं द्रव्यम् । तथा च प्रागुक्तं क्षरणादित्यादि । न
द्रव्यं द्रव्येण सह वर्तते । तथा च गुणानामेवाऽयं धर्मो यद् द्रव्याश्रितत्वं नाम ।
तस्मात्क्षारमित्युक्तमिव मन्यामहे । अत्राऽऽचक्ष्महे । क्षारशब्देनाऽत्र क्षारधर्म
उपलक्ष्यते विस्त्रावणाद्यात्मकस्तद्वत्सत्तारमिति द्रव्यमुपदिश्यते । तस्मात्सत्तार-
मित्युपपन्नम् ।

करीरमाध्मानकरं कषायस्वादुतिक्तकम् ॥ ८० ॥

करीरं गूढपत्राख्यमाध्मानकरं रसे कषायमधुरतिक्तकम् ।



कोशातकाऽवलगुजकौ भेदनावग्निदीपनौ ।

अनयोश्च पित्तकारित्वं वातकफप्रत्वं च वेद्यम् । तथाहि । प्रायेण यद्रूक्षं गुह्य-
च्यादिद्रव्यं तत्पित्तलं वातपित्तकफहरं च दृष्टम् । तथा चाह मुनिः—“कफवातनु-
दवलगुज” इति । तदेवमन्यत्राऽऽचिन्त्येन दोषकरत्वाद कल्प्यम् । सङ्ग्रहे चान्येऽ-
प्युक्ताः, यथा—“सतरूठं कन्दकं च चक्षुर्ग्राहि हिमं गुरु । कुमारी जीवलोणिका
नलिनी गुचुपर्णिका । स्वादु रूक्षं सलवणं वातश्लेष्मकरं गुरु । श्यामा शाल्मलि-
काश्मर्यः फज्जी कर्णिकयूथिका । वृक्षादनी क्षीरवृक्षा विम्बी तनिकवृक्षिका । रोध्रः
शाणः कर्बुदारः सशेलुर्वृषमूषिका । भल्लातकः कोविदारः कमलोत्पलकिंशुकम् ।
पटोलादिगुणं स्वादु कषायं पित्तजित्परम् । वातपित्तहरा रूढा पर्विणी दीर्घ-
पुष्पिका । लघुरुष्णतरा तिक्ता सारबूका च लाङ्गली । वातला कटुतिक्ताम्लभेदिनौ
तिलवेतसौ । विश्वं रास्ना बलाशकं वातघ्नमतिसारनुत् । वातं वत्सादनी हन्यात्कफं
कण्डीरचित्तकाविति” । मुनिना चान्येऽप्युक्ताः—“न्यग्रोधोदुम्बराऽश्वत्थश्चक्षुपद्मादि-
पल्लवाः । कषायाः स्तम्भनाः शीता हिताः पित्तातिसारिणाम्” । तथा सुश्रुते गदि-
तम्—“करीरकुसुमं ज्ञेयं कफपित्तहरं लघु । आगस्त्र्यं नातिशीतोष्णं नक्तान्धानां
प्रशस्यते । चातुर्थकज्वरहरं नस्ययोगेन शीलितम् । राजवृक्षस्य निम्बस्य शिग्रोः
सिंहमुखस्य च । कफपित्तहरं पुष्पं कुष्ठं कुटजस्य च । श्रेयसी बिल्वपर्णी च बिल्वपत्रं
च वातनुदिति” ।

तण्डुलीयो हिमो रूक्षः स्वादुपाकरसो लघुः ॥ ८१ ॥

मदपित्तविषास्रघ्नः

तण्डुलीयो मण्डीरकाख्यः शीतवीर्यो रूक्षः स्वादुपाकरसो लघुर्मदनाशनश्च ।

मुञ्जातं वातपित्तजित् ।

स्निग्धं शीतं गुरु स्वादु बृंहणं शुक्रकृत्परम् ॥ ८२ ॥

मुञ्जातं वातपित्तघ्नं स्निग्धादिगुणयुतमतिशुक्रकृत् ।

गुर्वी सरा तु पालक्या

पालक्या गुर्वी तथा सरा शकृदादिभेदिनी । तुशब्दः पिच्छिलश्लेष्मलहिमा-
दीनां सङ्ग्रहोक्तानां समुच्चयार्थः । तथा चोक्तं सङ्ग्रहे । “पालक्या पिच्छिला गुर्वी
श्लेष्मला भेदिनी हिमेति” ।

मदघ्नी चाप्युपोदिका ।

उपोदिका मदनाशिनी । अपिशब्दात्तद्वद् गुर्वी सरा च । उपोदिका मयाला
खण्डपालक्येति प्रथिता ।

पालक्यावत्स्मृतश्चञ्चुः स तु सङ्ग्रहणात्मकः ॥ ८३ ॥

चञ्चुः पालक्यासदृशो गुणैः स्मृतः । स पुनश्चञ्चुः संग्रहणात्मको न भेदी ।

विदारि वातपित्तघ्नी मूत्रला स्वादु शतिला ।

जीवनी बृंहणी, कण्ठ्या गुर्वी वृष्या रसायनम् ॥ ८४ ॥

विदारी शृगालिका वातपित्तहरा मूत्रलादिगुणयुक्ता रसायनं च । कन्दसैवायं
गुणनिर्देशो बोध्यः । तथा च मुनिः—“जीवनो बृंहणो वृष्यो बल्यः शक्नो रसाय-
नम् । विदारिकन्दः कण्ठ्यश्च मूत्रलः स्वादुशीतल” इति ।

चक्षुष्या सर्वदोषघ्नी जीवन्ती मधुरा हिमा ।

जीवन्ती चक्षुष्यादिगुणयुक्ता । या मधुरा सा शीतवीर्या । एभिर्गुणैः किञ्चि-
दूना । तथा चोक्तं सङ्ग्रहे—“चक्षुष्या सर्वदोषघ्नी जीवन्ती मधुरा हिमा । शाकानां
प्रवरा न्यूना द्वितीया किञ्चिदेव तु” । मुनिना तु जीवन्त्याः शतावर्या वातपित्तहरत्व-
मगादि । तत्पाठो हि—“भगडीशतावरीशाकं बलाजीवन्तिजं च यत् । पर्वाण्या
पर्वपुष्पा च वातपित्तहरं मतमिति” ।

कूष्माण्डन्तुम्बकालिङ्गकर्कर्वैर्वारुतिरिडशम् ॥ ८५ ॥

तथा त्रपुसचीनाकचिर्भटं कफवातकृत् ।

भेदि विष्टम्भ्यभिष्यन्दि स्वादुपाकरसं गुरु ॥ ८६ ॥

कूष्माण्डादिकं कफवातकृद्भेदि विष्टम्भ्यभिष्यन्दि स्वादुपाकरसं गुरु च ।

अत्र विशेषमाह ।

वल्लीफलानां प्रवरं कूष्माण्डं वातपित्तजित् ।

वस्तिशुद्धिकरं वृष्यम्

वल्लीफलानां मध्ये कूष्माण्डं पुष्पफलसंज्ञं वरं तथा वातपित्तहरं वस्तिशुद्धकरं
वृष्यं च ।

त्रपुसं त्वतिमूत्रलम् ॥ ८७ ॥

त्रपुसं पुनरतिशयेन मूत्रलम् ।

तुम्बं रुक्षतरं ग्राहि कालिङ्गैर्वारुचिर्भटम् ।

बालं पित्तहरं शीतं विद्यात्पक्रमतोऽन्यथा ॥ ८८ ॥

तुम्बमलाबुसंज्ञं रुक्षतरम् । एवार्ककायपि रुक्षं तुम्बं त्वतिशयेनेत्यर्थः । तथा
ग्राहि । पूर्वाणि तु सामान्यगुणोक्त्या भेदीन्येव । चरकमुनिमतानुसारिणस्त्वेवमा-
चक्षते—“तुम्बं रुक्षतरं कालिङ्गैर्वारुचिर्भटं ग्राहीति” । कालिङ्गं कर्चरम् । एवार्कः
कर्कटिका । चिर्भटं डङ्गरं मालवेषु प्रसिद्धमतिप्रसिद्धं जालन्धरादिषु । एतच्च बाल-
मसम्पूर्णरसादि पित्तहरं शीतवीर्यं च । अतो बालाद्विपरीतं पक्वं पित्तकरमुष्णवीर्यं
चेत्यर्थः । सुश्रुतेनोक्तम्—“नीलं यत्रपुसं बालं वृष्यं पित्तहरं मतम् । तत्पाण्ड-
कफकृजीर्णमस्रपित्तकरं स्मृतम्” ।

शीर्णवृन्तं तु सक्षारं पित्तलं कफवातजित् ।

रोचनं दीपनं हृद्यमष्टीलाऽऽनाहनुल्लघु ॥ ८९ ॥

शीर्णवृन्तं कर्चरमीषत्क्षारं पित्तलं कफवातघ्नं च । रुचिकरमभिदीप्तिहृत् । हृद्य-

मष्टीलाऽऽनाहं च हन्ति लघु च । “घनाष्टीलौपमो ग्रन्थिरष्टीलौर्ध्वं समुन्नत” इत्य-
ष्टीलालक्षणम् । “साटोपमत्युग्ररजमाध्मानमुदरे मृशम् । ऊर्ध्वाधोवातराधेन तमा-
नाहं प्रचक्षत” इति ।

मृणालविसशालूककुमुदोत्पलकन्दकम् ।

नन्दीमाषककेलूटशृङ्गाटककशेरुकम् ॥ ६० ॥

कौञ्चादनं कलोड्यं च रूतं ग्राहि हिमं गुरु ।

मृणालादि रूतं संग्रहणं शीतवीर्यं गुरु च । मृणालं द्विविधं सूक्ष्मं स्थूलं च ।
तत्र सूक्ष्मं मृणालमितरद्विसम् । शालूकं पद्ममूलम् । कुमुदकन्दम् । कुमुदं शशि-
प्रियम् । उत्पलकन्दकं रक्तोत्पलकन्दम् । नन्दी तुण्डेरिका । माषको वास्तुलः ।
केलूटं हिस्मकसंज्ञमुदुम्बरभेदः । शृङ्गाटकं त्रिकोणाकृति जलोद्भवं कन्दम् । कशेरुकं
मागधम् । कौञ्चादनं तमेदम् । कलोड्यं पद्मबीजम् ।

कलम्बनालिकामाषकुटिञ्जरकुतुम्बकम् ॥ ६१ ॥

चिल्लीलद्वाकलोणीकाकुरूटकगवेधुकम् ।

जीवन्तभुञ्जभेडगजयवशाकसुवर्चलम् ॥ ६२ ॥

आलुकानि च सर्वाणि तथा सूप्यानि लक्ष्मणम् ।

स्वादु रूतं सलवणं वातश्लेष्मकरं गुरु ॥ ६३ ॥

शीतलं सृष्टविण्मूत्रं प्रायो विष्टभ्य जीर्यति ।

स्विन्नं निष्पीडितरसं स्नेहाढ्यं नातिदोषलम् ॥ ६४ ॥

कलम्बादिकं मधुरं किंचिल्लवणं वातश्लेष्मकरं गुरु च शीतवीर्यं मूत्रं पुरीषं च
विसृजति बहिः क्षिपति । विष्टभ्योदरप्रदेशे पिण्डीभूय जीर्यति परिणमति । प्रायो-
ग्रहणं किञ्चिदेषां मध्ये नैवं स्वरूपमिति ज्ञापनार्थम् । कलम्बं कदम्बः । नालिका
दीर्घनालरूपा कलम्बुसंज्ञा । माषो गन्धारिका । कुटिञ्जरं ताम्रमूलकम् । कुतुम्बको
द्रोणपुष्पी । चिल्ली पृथुपत्रं यवशाकं कुमामसंज्ञम् । लद्वाको गुग्गुलुकः ।
लोणीका लोणारः । कुरूटकः स्थितिवारकः । गवेधुकं तृणधान्यविशेषः । जीवन्तो
बृहद्रान्धारम् । भुञ्जभुञ्जभुञ्जभुञ्जकः । एडगजः प्रपुञ्जाटः । यवशाकं हृद्यपत्रा चिल्ली ।
सुवर्चला रविभक्ता । आलुकानि च सर्वाणि नानाविधानि रक्तालुकमधुकालुकादि-
भेदेन । सूप्यानि मुद्राराजमाषादिपत्राणि । लक्ष्मणं मधुयष्टिका । एतच्च सर्वं स्विन्नं
निष्पीडितरसमतिबहुस्नेहं च नात्यपथ्यम् । सुश्रुते चोक्तम्—“संस्कृतं वेसवारेण
सन्नेहं शाकमिष्यते । राजिकासक्तुभक्तादिसंस्कारं चानुवर्तते” ।

लघुपत्रा तु या चिल्ली सा वास्तुकसमा मता ।

लघुपत्रा या चिल्ली यवशाकविशेषः सा तु वास्तुकसमा गुणैर्मता ।

तर्कारीवरणं स्वादु सतिक्तं कफवातजित् ॥ ६५ ॥



तर्कार्यरणीका । वरणो मालः । समाहारेण तयोर्द्वन्द्वः । एतत्स्वादु किञ्चित्किं
कफवातघ्नं च ।

वर्षाभवौ कालशाकं च सत्तारं कटुतिक्तकम् ।

दीपनं भेदनं हन्ति गरशोफकफानिलान् ॥ ६६ ॥

वर्षाभवौ पुनर्नवे तथा कालशाकं किञ्चित्त्वारं रसे च कटुतिक्तं वह्निदीपनं भेदनं
गरादींश्च हरति । कठिलो वर्षाभूः स च प्रागुक्तगुणः । तथा च निघण्टुः—“पुनर्नवा
विशाखश्च कठिलः सासिनाडिका । वृश्चिकः क्षुद्रवर्षाभूर्दीर्घपत्रः कठिलकः । पुनर्नवा
परः क्षुद्रः सद्यो मण्डलपत्रकः । श्वेतमूलो वर्षकेतुर्मदा वर्षाभूरुच्यत” इति ।

दीपनाः कफवातघ्नाश्चिरिविल्वाङ्कुराः सराः ।

चिरिविल्वः पूतिकरजस्तस्याऽङ्कुरा वह्निदीपनाः कफवातघ्नाः सराश्च ।

शतावर्षाङ्कुरास्तिक्ता वृष्या दोषत्रयापहाः ॥ ६७ ॥

शतावर्षा अङ्कुराः प्ररोहास्तिक्तरसा वृष्याः शुक्रकृतस्त्रिदोषघ्नाश्च ।

रुक्षो वंशकरीरस्तु विदाही वातपित्तलः ।

वंशकरीरो वंशाङ्कुरो रुक्षो विदाही वातपित्तकृत् ।

पत्तूरो दीपनस्तिक्तः स्नीहार्शःकफवातजित् ॥ ६८ ॥

पत्तूरो दीपनस्तिक्तरसः स्नीहादिजित् । पत्तूरो मत्स्याक्षकः ।

कृमिकासकफोत्क्लेदान् कासमर्दो जयेत्सरः ।

कासमर्दः सरः कृम्यादींश्च नाशयति । उत्क्लेदः स्रोतसां मालिन्येनाद्र्दत्वम् ।

रुक्षोष्णमम्लं कौसुम्भं गुरु पित्तकरं सरम् ॥ ६९ ॥

कुसुम्भशाकं रुक्षमुष्णवीर्यमम्लं गुरु पित्तकृत्सरं च ।

गुरूष्णं सार्षपं बद्धविण्मूत्रं सर्वदोषकृत् ।

सार्षपं शाकं गुरूष्णवीर्यम् । तथा शकृन्मूत्रं च बध्नाति । त्रिदोषकृत् । संग्रहे
तु सत्तारत्वमस्योक्तम् । तत्पाठो हि—“सत्तारमधुरं त्रिग्वमुष्णं च गुरु सार्षप-
मिति” । सुश्रुतेन चोक्तम्—“कफघ्नं सार्षपं शाकमासुरं शाकमेव चेति” ।

यद्बालमव्यक्तरसं किञ्चित्त्वारं सतिक्तकम् ॥ १०० ॥

तन्मूलकं दोषहरं लघु सोष्णं नियच्छति ।

गुल्मकासक्षयश्वासघ्नेनत्रगलामयान् ॥ १०१ ॥

स्वराग्निसादोदावर्तपीनसांश्च

यन्मूलकमव्यक्तरसमस्फुटस्वादं तथा किञ्चित्त्वारमीषत्तारगुणयुक्तं कार्यतोऽनु-
मीयमानं तथा सतिक्तमीषतिक्तकं रसनोन्मियस्य किञ्चिदुद्वेजकं तन्मूलकं दोषाणां हरं
दोषहरं नान्यावस्थम् । बालं मूलकं दोषहरमित्यनेनास्य विशिष्टा बालावस्था दोष-
हरत्वेन नियम्यते । न सर्वं बालावस्थं दोषहरमपि त्वीदृशमित्यर्थः । अन्ये तु

दोषहरमित्यत्र समासं कृत्वा वातश्लेष्मघ्नत्वमेवास्य प्रतिजातते । यतः किञ्चिदुष्ण-
वीर्यत्वात्पित्तकरत्वमस्यास्त्येव । किञ्चित्तिक्तरसोपेतत्वेन पित्तकर्तृत्वमस्य व्याहृतं न
युक्तम् । वक्ष्यति हि—“रसं विपाकस्तौ वीर्यं प्रभावस्तान्व्यपोहतीति” । एवं
चैतन्मूलकं वातश्लेष्मघ्नमेव युक्तं न तु पित्तहृत्वेति तेषामभिप्रायः । एतच्च मूलकं
गुल्मादीन्नियच्छति । पीनसांश्चेति चशब्दः समुच्चये । अन्यानप्येवं प्रायशो रोगा-
न्नियच्छतीति । सुश्रुतस्तु—“सर्वदोषहरा लघ्वी कण्ठ्या मूलकपोतिकेति” । यद्वे-
दान्तरं ब्रूते तदप्यत्रैव बालमूलकलक्षणोऽन्तर्भूतमिति तन्वक्तृतेह पृथङ् नोक्तम् ।

महत्पुनः ।

रसे पाके च कटुकमुष्णवीर्यं त्रिदोषकृत् ॥ १०२ ॥

गुर्वभिष्यन्दि च

अव्यक्तरसादिलक्षणावस्थां विहाय यावद्यक्तरसाद्यवस्थं तत्सम्पद्यते ततोऽनन्तरं
क्रमेण रसविपाकयोः कटुकमुष्णवीर्यं तन्मूलकं महद्बृद्धं त्रिदोषकृद् गुर्वभिष्यन्दि
च भवति । बृद्धस्य च मूलकस्यानेका अवस्थाः सम्भवन्ति । तत्र चास्याद्याऽवस्थायां
किञ्चित्त्रिदोषकृत्वमन्त्याऽवस्थायामतिशयेन त्रिदोषकृत्वं वेद्यम् । सङ्ग्रहे त्वस्य
स्वादुविपाकित्वमुक्तम् । तत्पाठे महत्पुनः—“रूक्षोष्णकटुकं स्वादु विपाके सर्वदोष-
कृदिति” । तच्चाभिविषयम् ।

स्निग्धस्विन्नं तदपि वातजित् ।

अपिशब्द एवार्थः । तदेव महन्मूलकं स्निग्धस्विन्नं वातजित् । स्निग्धं च तत् स्विन्नं
च स्निग्धस्विन्नम् । न त्वस्निग्धस्विन्नमात्रमित्यर्थः ।

वातश्लेष्महरं शुष्कं सर्वम्

सर्वं बालं बृद्धं च मूलकं शुष्कं सद्वातश्लेष्महरम् ।

आमं तु दोषलम् ॥ १०३ ॥

आमं तु पुनर्मूलकं हरीतकत्वेन यद्भक्ष्यते तद्दोषलम् । सर्वमित्यत्रायत्नकृतेन
सम्बन्धेन सम्बध्यते । तेनादोषलस्य बालस्याऽप्यामस्य दोषलत्वं न तु बृद्धस्यैव-
त्यर्थः । मूलकं नीलकण्ठापरसंज्ञम् ।

कटूष्णो वातकफहा पिण्डालुः पित्तवर्धनः ।

पिण्डालुः कटुको रसे वीर्यं चोष्णो वातकफघ्नः पित्तकरश्च ।

कुठेरशिग्रुसुरससुमुखासुरिभूस्तरणम् ॥ १०४ ॥

फणिज्जार्जकजम्बीरप्रभृति ग्राहि शालनम् ।

विदाहि कटु रूक्षोष्णं हृद्यं दीपनरोचनम् ॥ १०५ ॥

दृक्शुककृमिहृत्तीक्ष्णं दोषोत्क्लेशकरं लघु ।

कुठेरादि शालनं ग्राहि विदाहि कटुकं रसपाकयो रूक्षमुष्णवीर्यं हृद्यमग्निदी-
पनं च । तथा दृगादिहृतीक्ष्णम् । तथा दोषान्वातादीनुत्क्लेशयति कोपयति स्था-

नाचालयति दोषोत्केशकरं लघु च । शालनमवदंशो येन सहान्नं भोक्तुं युज्यते ।
कुठेरो वैकुण्ठः । शिग्रुः फलपत्रकः । सुरसः कृष्णतुलसी । सुमुखः कटुपत्रकः ।
आसुरी राजिका । भूस्तृणं गुह्यबीजकम् । “फणिज्जको मरिचकस्तीक्ष्णगन्धः
प्रकीर्तितः” । आर्जकः खरपत्रकः । जम्बीरः करपत्रकः । प्रभृतिशब्देन सङ्ग्र-
होक्ता गृह्यन्ते । “धान्यतुम्बरुसालेययवानीशृङ्गवेरकाः । पर्णाशो गृञ्जनोऽजाजी
करडोरं जलिप्पली । फणिज्जार्जकजम्बीरं खराश्वा कालमालिका । दीप्यकः
क्ष्वकृद्द्वीपिबस्तगन्धादिवद्विडिति” । तत्रान्तरे चोक्तम्—“कटुतिक्करसा शीता
कफपित्तविनाशिनी । विपाके मधुरा लघ्वी तत्कराङ्गुलिका स्मृतेति” ।

हिध्मकासश्रमश्वासपार्श्वरूपपूतिगन्धहा ॥ १०६ ॥

सुरसः

सुरसो हिध्मादिघ्नः पूतिगन्धं दौर्गन्ध्यं सौरभ्योत्पादनाद्वन्ति ।

सुमुखो नातिविदाही गरशोफहा ।

सुमुखः कटुपत्राख्यः किञ्चिद्विदाही गरशोफौ च हन्ति ।

आर्द्रिका तिक्तमधुरा मूत्रला न च पित्तकृत् ॥ १०७ ॥

आर्द्रिकाऽऽर्द्रधानिका तिक्तमधुरा मूत्रकरी पित्तं च न करोति ।

लशुनो भृशतीक्ष्णोष्णः कटुपाकरसः सरः ।

हृद्यः केश्यो गुरुर्वृष्यः स्निग्धो रोचनदीपनः ॥ १०८ ॥

किलासकुष्ठगुल्माऽशोमेहक्रिमिकफाऽनिलान् ।

सहिध्मपीनसश्वासकासान् हन्त्यस्त्रपित्तकृत् ॥ १०९ ॥

लशुनोऽतितीक्ष्णोऽत्युष्णवीर्यः । कटुपाकरसः सरो भेदी हृद्यादिगुणयुक्तश्च
किलासादीन् हन्ति रक्तपित्तं च करोति । किलासं श्वित्रम् । कन्दस्यैवायं गुण-
वीर्यनिर्देशो बोध्यः । पत्रमध्ययोर्मधुरत्वाद् भृशोष्णत्वानुपपत्तिः । तथा चोक्तं
सङ्ग्रहे—“पत्रे सत्त्वारमधुरो मध्ये मधुरपिच्छिलः । तीक्ष्णोष्णो लशुनः कन्द” इति ।

पलाण्डुस्तद्गुणान्यूनः श्लेष्मलो नातिपित्तलः ।

कफवातार्शसां पथ्यः स्वेदेऽभ्यवहृतौ तथा ॥ ११० ॥

पलाण्डुर्धवलाक्षकाख्यस्तद्गुणान्यूनस्तस्य रसोनस्य गुणास्तद्गुणास्तैर्हीनः ।
लशुनात्किञ्चिद्धीनगुण इत्यर्थः । तथा श्लेष्मलो नातिपित्तं च करोति । नतु लशुन-
वत्कफघ्नोऽतिपित्तकृत् । कफवातार्शसां स्वेदे भक्षणे च प्रभावात्पथ्यः । तन्त्रान्तरेऽ-
न्योऽप्युक्तो यथा—“स्निग्धो रुचिष्यः स्थिरधातुकारी बल्योऽथ मेधाकफपुष्टिदश्च ।
स्वादुर्गुरुः शोणितपित्तशस्तः सपिच्छिलः क्षीरपलाण्डुः” इति ।

तीक्ष्णो गृञ्जनको ग्राही पित्तिनां हितकृन्न सः ।

गृञ्जनकस्तीक्ष्णो ग्राही पित्तिनामहितश्च ।

दीपनः सूरणो रुच्यः कफघ्नो विशदो लघुः ॥ १११ ॥



विशेषादर्शसां पथ्यः

सूरणो नाम कन्दविशेषो दीपनो रुच्यः श्लेष्मघ्नो विशदो लघुरर्शसामतिपथ्यश्च ।

भूकन्दस्त्वतिदोषलः ।

भूकन्दः स्फोटारूयः प्रावृडुद्भवः प्रसिद्ध एव । स चाल्पर्थं दोषलः ।

पत्रे पुष्पे फले नाले कन्दे च गुरुता क्रमात् ॥ ११२ ॥

पत्रादीनां यथोत्तरं क्रमाद्गुरुत्वम् । तेन पत्रशाकमपेक्ष्य पुष्पशाकं गुरु ततः फलशाकं ततो नालशाकं ततोऽपि कन्दशाकमिति । एवं हारीतकेष्वपि गुरुत्वं वेद्यम् । बाहुल्येन चैतदुक्तम् । मूलके हि वैपरीत्यं दृश्यते । तथा हि । मूलकस्य हि कन्दे लघुत्वम् । अत एव मुनिरप्याह—“मूलके तु विपर्यय” इति । शाकानां हारीतकानां च येषामिह पर्याया नोक्तास्तेषां सदैवेभ्योऽवगन्तव्याः ।

अथ वराऽवरत्वं निर्धारयति—

वरा शाकेषु जीवन्ती सर्षपास्त्ववराः परम् ।

शाकेषु मध्ये जीवन्ती वरा । सर्षपाः पुनरवराः । इति शाकवर्गः ।

अथ फलवर्गः—

फलानामाहारकाले शाकेभ्योऽल्पोपयोगित्वाच्छाकवर्गादनन्तरं फलवर्ग उच्यते । खरनादेऽप्युक्तम्—“भुक्तावसाने फलं भुज्यत” इति फलवर्गोऽभिधीयत इत्याह ।

द्राक्षा फलोत्तमा वृध्या चतुष्या सृष्टमूत्रविद ॥ ११३ ॥

स्वादुपाकरसा स्निग्धा सकषाया हिमा गुरुः ।

निहन्त्यनिलपित्तास्त्रितिलास्यत्वमदात्ययान् ॥ ११४ ॥

तृष्णाकासश्रमश्वासस्वरभेदक्षतक्षयान् ।

फलेषूत्तमा फलोत्तमा गोस्तनीपर्याया द्राक्षा सा वृध्यादिगुणयुक्ता । सकषाया ईषत्कषाया । अनिलादीन्क्षयान्तान् हन्ति । उदावर्तहरत्वं चरकमुनिनाऽस्या उक्तं तच्च स्निग्धत्ववृष्यत्वसृष्टविण्मूत्रत्वेनेहोक्तप्रायम् । अभ्यासाच्च द्राक्षाणां गुणहीनत्वं देशाद्यनुरोधात्कल्प्यम् ।

उद्विक्कपित्तान् जयति त्रीन् दोषान् स्वादु दाडिमम् ॥ ११५ ॥

पित्ताविरोधि नात्युष्णमम्लं वातकफापहम् ।

सर्वे हृद्यं लघु स्निग्धं ग्राहि रोचनदीपनम् ॥ ११६ ॥

उद्विक्कमतिरिक्तं पित्तं येषां तांस्तथाविधान् त्रीन् दोषान् मधुरं दाडिमं जयति । मधुरस्य पूर्वकथनं प्राधान्यख्यापनार्थम् । पित्तेत्यादि । अम्लं दाडिमं पित्ताविरोधि न पित्तं कुरुते न च पित्तं शमयति । अत एवैतद्वातकफापहमुक्तम् । सर्वं मधुरमम्लं च यद्दाडिमं तद् हृद्यादिगुणसंयुक्तम् । मुनिना तूक्तम्—“रूक्षाम्लं दाडिमं यत्तु तत्पित्तानिलकोपनमिति” ।

मोचखर्जूरपनसनालिकेरपरूषकम् ।



आम्राततालकाश्मर्यराजादनमधूकजम् ॥ ११७ ॥

सौवीरबदराङ्कोल्लफल्गुश्लेष्मातकोद्भवम् ।

वातामाभिषुकाक्षोडमुकूलकनिकोचकम् ॥ ११८ ॥

उरुमाणं प्रियालं च बृंहणं गुरु शीतलम् ।

दाहक्षतक्षयहरं रक्तपित्तप्रसादनम् ॥ ११९ ॥

स्वादुपाकरसं स्निग्धं विष्टम्भि कफशुक्रकृत् ।

मोचादिप्रियालान्तं बृंहणत्वादियुक्तम् । मोचं कदलीफलम् । नालिकेरं राज-
फलाख्यम् । परुषको मृदुफलः । आम्रातः कपिचूडः । तालं तालफलम् । काश्मर्यं काश्म-
रीफलम् । राजादनं क्षीरशुक्रम् । सौवीरबदरं कर्णिकाबदरम् । अङ्कोल्ल इति बिल्वः ।
फल्गुः काकोदुम्बरिका । श्लेष्मातकं शेलुः । अभिषुकं स्याराटम् । आक्षोडं क्षेहफला-
ख्यम् । मुकूलकं दन्तीफलम् । निकोचकं सरलफलम् । उरुमाणं स्निग्धफलम् ।
प्रियालं प्रियालकफलम् ।

फलं तु पित्तलं तालं सरं काश्मर्यजं हिमम् ॥ १२० ॥

शकृन्मूत्रविवन्धघ्नं केश्यं मेध्यं रसायनम् ।

वातामाद्युष्णवीर्यं तु कफपित्तकरं सरम् ॥ १२१ ॥

परं वातहरं स्निग्धमनुष्णं तु प्रियालजम् ।

प्रियालमज्जा मधुरो वृष्यः पित्तानिलापहः ॥ १२२ ॥

कोलमज्जा गुणैस्तद्वत्तृदछुर्दिकासजिच्च सः ।

तालस्येदं तालं फलं पित्तकारि । काश्मर्यजं फलं सरं शीतवीर्यादिगुणयुक्तम् ।
मधूकबदरयोरपि विशेषान्तरमुक्तं सङ्ग्रहे । “मधूकजमद्वयं तु बदरं सरणात्मकमिति” ।
वातामादीनां ग्रहणं गुणविशेषप्रदर्शनार्थम् । निर्धारिते तु विशेषे वातामादिकमु-
ष्णवीर्यं कफपित्तकरं सरमतिशयेन वातघ्नं स्निग्धं च । आदिशब्देनाऽभिषुका-
दीनां ग्रहणम् । प्रियालजातं प्रियालजं फलमनुष्णवीर्यम् । तुर्विशेषे । विशेषस्तु
शीतवीर्यत्वमेव । शेषं बृंहणादि सर्वं समानम् । प्रियालमज्जाऽस्थ्यभ्यन्तरं मधु-
रादिगुणयुक्तम्, बदरमज्जा गुणैस्तद्वत् प्रियालमज्जावत्तृडादिजिच्च । तन्त्रान्तरे
चोक्तम्—“बैभीतको मदकरः कोलानां पित्तनाशनः” । “तथा तालखर्जुरादीनां
मस्तकमज्जानः स्वादुपाका वृष्याः शीतवीर्याश्चेति” सुश्रुतोऽपठत् ।

पक्वं सुदुर्जरं बिल्वं दोषलं पूतिमारुतम् ॥ १२३ ॥

दीपनं कफवातघ्नं बालं ग्राह्यभयं हि तत् ।

बिल्वं पक्वं सुदुर्जरं पूतिमारुतं च दुर्गन्ध्यपानवातकृद्भवति । बालमसम्पूर्णमनु-
पचितं बिल्वं दीपनं कफवातघ्नम् । उभयमामं पक्वं च ग्राहि मूत्रपुरीषादेः सङ्ग्रहणम् ।

भा० टि० १ अङ्कोल्लः=अङ्कोठः । २ पिस्ता । ३ न्योजे । ४ बिल्वगोजे भेदः । ५ बिल्वगोजे ।

कपित्थमामं कण्ठघ्नं दोषलं दोषघाति तु ॥ १२४ ॥

पक्वं हिध्मावमथुजित्सर्वं ग्राहि विषापहम् ।

आमं कपित्थं कण्ठं हन्ति । दोषलं त्रिदोषकृत् । पक्वं कपित्थं दोषघ्नं हिक्का-
च्छर्दिहरम् । सर्वमामं पक्वं च कपित्थं ग्राहि विषापहं च । आमकपित्थस्य कषा-
यत्वं कण्ठघ्नत्वेनैवोदितम् । अम्लत्वं चाम्लवर्गमध्ये पाठादवगन्तव्यम् । पक्वस्य
च मधुरत्वं सुप्रसिद्धमितीहैतन्नोक्तम् । तथा आमकपित्थगुणकथनेन तथाविधानि
कषायाम्लस्वभावानि विविधानि कपित्थानि सदैवामकपित्थगुणानि वेद्यानि, पक्व-
कपित्थगुणकथनेन च तथाविधानि माधुर्यानुविद्धानि सदा पक्वगुणानि वेद्यानि ।

जाम्बवं गुरु विष्टम्भि शीतलं भृशवातलम् ॥ १२५ ॥

सङ्ग्राहि मूत्रशकृतोरकण्ठ्यं कफपित्तनुत् ।

जाम्बवं गुर्वादिगुणयुक्तं मूत्रशकृतोश्च सङ्ग्रहणं कण्ठाय च हितं न । कफपित्त-
जिच्च । जाम्बवमिति फलार्थे जम्बवा वेत्यण ।

आम्रस्य व्यवस्थस्याऽप्युपयोगदर्शनात्तथैव गुणानाह—

वातपित्तास्रकृद्बालं बद्धास्थि कफपित्तकृत् ॥ १२६ ॥

गुर्वाघ्नं वातजित्पक्वं स्वाद्वम्लं कफशुकृत् ।

वातेत्यादि । आम्रमिति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः । आम्रं चूताख्यं बालं सद्वात-
पित्तास्रकृत् । बद्धास्थि सञ्जातास्थि कफपित्तकृत् । पक्वमाघ्नं गुरु वातजित् ।
मधुराम्लं कफशुकृत् । सङ्ग्रहे सहकारस्य गुणा उक्ताः । यथा—“सहकाररसो
हृद्यः सुरभिः स्निग्धरोचन इति” ।

वृक्षाम्लं ग्राहि रूक्षोष्णं वातश्लेष्महरं लघु ॥ १२७ ॥

वृक्षाम्लं ग्राह्यादिगुणैर्युक्तम् । वातश्लेष्महृल्लघु च । कोशाम्रं च किञ्चिदे-
तस्मान्न्यूनगुणं ज्ञेयम् । तथा च सङ्ग्रहे—“वृक्षाम्लं ग्राहि रूक्षोष्णं लघु राचन-
दीपनम् । वातश्लेष्महरं किञ्चिदूनं कोशाम्रजं तत इति” ।

शम्या गुरुष्णं केशघ्नं रूक्षं, पीलु तु पित्तलम् ।

कफवातहरं भेदि स्निहार्शः कृमिगुल्मनुत् ॥ १२८ ॥

सतिकं स्वादु यत्पीलु नात्युष्णं तत्त्रिदोषजित् ।

फलापेक्षया षष्ठी । शम्याः फलं गुरु उष्णवीर्यं केशघ्नं रूक्षं च । पीलुफलं च
पित्तलं यावद्रुल्मनुत् । सतिकमीषतिकं मधुरं च यत्पीलु तत्रात्युष्णं त्रिदोषजिच्च ।

मातुलुङ्गस्य त्वङ्मांसकेसराणां पृथगुपयोगदर्शनात्पृथगेव गुणानाह—

त्वक्किक्ककटुका स्निग्धा मातुलुङ्गस्य वातजित् ॥ १२९ ॥

बृंहणं मधुरं मांसं वातपित्तहरं गुरु ।

लघु तत्केसरं कासश्वासहिध्ममदात्ययान् ॥ १३० ॥

आस्यशोषानिलश्लेष्मविबन्धच्छर्द्यरोचकान् ।

गुल्मोदरार्शःशूलानि मन्दाग्नित्वं च नाशयेत् ॥ १३१ ॥

बीजपूरकस्य त्वक्किक्का कटुका रसे स्निग्धा वातघ्नी च । चरकेऽप्युक्तम्—“गुर्वी त्वगस्य कटुका मारुतस्य च नाशनीति” । खरनादस्त्वाह—“ त्वङ्मातुलुङ्गात्कटुका गुर्वी वातप्रकोपनीति ” । एतन्मतानुसारिणस्त्वत्रैवं पाठं पठन्ति । त्वक्किक्ककटुका-ऽस्निग्धा मातुलुङ्गस्य वातकृदित्यकारप्रश्लेषात् । मांसं केसरदर्वाग्वृंहणं मधुरं वात-पित्तहृद् गुरु च । तस्य मातुलुङ्गस्य केसरं तत्केसरं लघु । तथा कासादीन्मन्दाग्नि-त्वान्तात्राशयेत् ।

भल्लातकस्य त्वङ्मांसं बृंहणं स्वादु शीतलम् ।

तदस्थ्यग्निसमं मेध्यं कफवातहरं परम् ॥ १३२ ॥

त्वक् च मांसं च त्वङ्मांसं भल्लातकसम्बन्धि बृंहणं मधुरं शीतलं च । तस्य भल्लातकस्यास्थि तदस्थि, अग्निसमं तीक्ष्णत्वादग्निवत्स्फोटककर्तृत्वात् । अथवा-ऽग्निश्चित्रस्तस्य गुणदोषकर्तृतया तुल्यं भल्लातकास्थीति । तथा मेधायै हितमिति । कफवातघ्नम् ।

स्वाद्वम्लं शीतमुष्णं च द्विधा पालेवतं गुरु ।

रुच्यमत्यग्निशमनं रुच्यं मधुरमारुकम् ॥ १३३ ॥

पालेवतं रैवतकारुच्यं द्विधा । कथं द्विप्रकारमित्याह । स्वाद्वम्लं च । तत्तु यथासङ्ख्येन शीतमुष्णं च । तथा द्रव्यमपि गुरु रुच्यमत्यग्निशमनं च । अथवा यथासम्भवं सम्बन्धो मधुरं गुर्वत्यग्निनाशनं च । अम्लं रुच्यमिति । मधुरमारुकं रुच्यं हृद्यं भवति ।

अपक्वस्यैवैते गुणा वेद्याः । यस्मादाह—

पक्वमाशुजरां याति नात्युष्णं गुरु दोषलम् ।

पक्वं च द्रागेव परिणामं याति । किञ्चिदुष्णवीर्यं किञ्चिद्गुरु किञ्चिदोषलम-पथ्यम् । निघण्टावुक्तम्—“आरुकं वीरसेनं च वीरावीरारुकं तथा । विद्याज्जाति-विशेषेण तच्चतुर्विधमारुकम्” ।

द्राक्षापरुषकं चार्द्रमम्लं पित्तकफप्रदम् ॥ १३४ ॥

गुरुष्णवीर्यं वातघ्नं सरं च करमर्दकम् ।

द्राक्षा परुषकं करमर्दकं चार्द्रमशुष्कमपक्वमम्लं सत्पित्तश्लेष्मकरं गुरुष्णवीर्यं वातघ्नं सरं चेति । करमर्दकं सुषेणमम्लम् ।

तथाऽम्लं कोलकर्कन्धूलकुचाभ्रातमारुकम् ॥ १३५ ॥

पेरावतं दन्तशठं सतूदं मृगलिण्डिकम् ।

नातिपित्तकरं पक्वं शुष्कं च करमर्दकम् ॥ १३६ ॥

कोलादिकं मृगलिण्डिकान्तं तथा तद्वच्चैत्यम्लद्राक्षादिवद्गुणैर्ज्ञेयमित्यर्थः । कर्कन्धूहस्त्वबदरी । लकुचं लिकुचम् । आरुकस्याम्लकस्यैवैते गुणा ज्ञेयाः । मधु-

रस्य हि विशेषण पूर्वमुक्ता एव गुणाः । तथैरावतादि नात्युष्णं पित्तं करोति ।
ऐरावतं नागरज्जम् । दन्तशठं जम्बीरम् । तथा सतूदं मृगलिण्डिकं च । तथा कर-
मर्दकं पक्कं शुष्कं च नात्यर्थपित्तकरम् ।

दीपनं भेदनं शुष्कमम्लीकाकोलयोः फलम् ।

तृष्णाश्रमक्लमच्छेदि लघ्विष्टं कफवातयोः ॥ १३७ ॥

अम्लीकाफलं कोलफलं च शुष्कं सदीपनं भेदनं तृष्णादिनाशनं लघु कफ-
वातयोश्च पथ्यम् ।

फलानामवरं तत्र लकुचं सर्वदोषकृत् ।

फलानां सर्वेषां मध्ये लकुचमप्रधानं त्रिदोषकरम् । चरकमुनिस्त्वस्य पित्तश्लेष्म-
कृत्वमेवानुजज्ञे । तत्पाठे—“लकुचं श्लेष्मपित्तकृत् । वातलं कफपित्तघ्नं विद्यात्पर्पट-
कीफलम् । मधुराण्यतिपाकीनि वातपित्तहराणि च । अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षन्यग्रोधानां
फलानि तु । प्राचीनामलकं चैव दोषघ्नं गरहारि च । इह्नुदं तिक्तमधुरं स्निग्धोष्णं
कफनातजित् ” । सुश्रुतेनोक्तम्—“ सुगन्धि मधुरं स्निग्धं लवलीफलमुच्यते ।
वृक्षाम्नाल्पांतरगुणं कोशाग्रफलमुच्यत इति । ”

सम्प्रति यादृशं फलं शाकं च सम्पाद्यं तदुपदिशन्नाह ।

हिमानिलोष्णदुर्वातव्याललालादिदूषितम् ॥ १३८ ॥

जन्तुजुष्टं जले मग्नमभूमिजमनार्तवम् ।

अन्यधान्ययुतं हीनवीर्यं जीर्णतयाऽपि च ॥ १३९ ॥

धान्यं त्यजेत्तथा शाकं रूक्षसिद्धमकोमलम् ।

असज्जातरसं तद्वच्छुष्कं चान्यत्र मूलकात् ॥ १४० ॥

प्रायेण फलमप्येवं तथां बिल्ववर्जितम् ।

दूषितशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते । धान्यं केदारस्थं हिमेन दूषितं त्यजेत् । तथा-
ऽनिलेन प्रवृद्धेन दूषितं तथा उष्णेनातपादिना दुर्वातेन पुरोवातादिना तथा व्या-
लानां सर्पादीनां लालया दूषितं त्यजेत् । आदिग्रहणेन शवकाथमूत्रपुरीषादीनां
ग्रहणम् । तथा जन्तुभिः कृम्यादिभिर्जुष्टं सेवितम् । जले मग्नमाश्लिष्यं बुद्धितम् ।
अभूमौ विपरीतभुवि जातमभूमिजम्, या यस्योचिता भूमिस्ततोऽन्या विपरीता ।
अनार्तवमप्राप्तसमयम् । यस्मिन्नृतौ यस्योत्पत्तिः प्रसिद्धा ततोऽन्यस्मिन् जात-
मित्यर्थः । तल्लक्षणं रसादीनामपरिपूर्णत्वेन विज्ञेयम् । अन्येन च विजातीयेन
धान्येन संयुतम् । यथा रूक्षशालिर्यवकेन सह विरुध्यते । तथा मुद्गो माषेण ।
एवं शूक्रधान्यं विजातीयेन शूक्रधान्येन । तथा शिम्बीधान्यं शिम्बीधान्येन विजा-
तीयेन सह विरुद्धं त्यजेत् । केचिच्छूक्रधान्येन सह विरुद्धमिति वर्णयन्ति । अन्ये
तु जीर्णं नवेन मिश्रितमन्यधान्ययुतमिति ब्रुवते । केदारगतं जीर्णतयाऽतिपुरा-
णत्वेन हीनवीर्यं नष्टशक्तिः । एवंविधं धान्यं त्यजेत् । तथा शाकमपि त्यजेत् ।

कादृशम् ? रूक्षसिद्धं निःक्षेहसिद्धमित्यर्थः । अथवा रुक्षेण काञ्जिकादिना सिद्धं रूक्षसिद्धम् । अकोमलं जठरेऽसञ्जातरसमपरिपूर्णरसस्वरूपमित्यर्थः । तद्वच्छुष्कं तथैव शुष्कशकम्प्यसञ्जातरसं त्यजेत् । अन्यत्र मूलकात् शुष्कमूलकं भजेदेव । प्रायेण फलमध्येविधं त्यजेत् । प्रायोग्रहणं द्राक्षापरुषकादीनां शुष्काणामपि पथ्य-
त्वादत्याज्यत्वज्ञापनार्थम् । तथा आममसम्प्राप्तपाकं फलं त्यजेदिति वर्तते । किं सर्वं नेत्याह । बिल्ववर्जितम् । बिल्वं त्वाममपि पथ्यत्वान्न त्यजेदेवेत्यर्थः । इति फलवर्गः ।

अथ लवणादिवर्गः—

फलवर्गादनन्तरं विविधौषधवर्गारम्भः । प्रायेणास्याहारोपयोगित्वात्तत्राऽपि लवणानां पूर्वमुपन्यासो युक्तः सुतरामुपयोगित्वादित्याह ।

विध्यन्दि लवणं सर्वं सूक्ष्मं सृष्टमलं विदुः ॥ १४१ ॥

वातघ्नं पाकि तीक्ष्णोष्णं रोचनं कफपित्तकृत् ।

सर्वं लवणं विध्यन्द्यादिगुणयुक्तं विदुर्जानन्ति सदैव्या इति शेषः । विध्यन्द-
यति तच्छीलं विध्यन्दि । स्नानस्य कफादिसङ्घातस्य विलीनविग्रहतामुत्पादयती-
त्यर्थः । सूक्ष्मं सूक्ष्मस्रोतोगामि । सृष्टं मलं मूत्रपुरीषादि येन तत्सृष्टमलम् । तथा
वातापहम् । पाकि अन्नव्रणादीनां पाककारि । तीक्ष्णममृदु मरीचादिवत् । उष्ण-
मुष्णवीर्यम् । रोचनं रुचिकृत् । तथा कफपित्तकृत् ।

इति सामान्यलक्षणमुक्त्वा विशेषमाह ।

सैन्धवं तत्र सस्वादु वृष्यं हृद्यं त्रिदोषनुत् ॥ १४२ ॥

लघ्वनुष्णं दृशः पथ्यमविदाह्यग्निदीपनम् ।

तत्र तेषु लवणेषु मध्ये सैन्धवं सस्वादु र्ईषन्मधुरं वृष्यं हृद्यं त्रिदोषघ्नं तथा
किञ्चिदुष्णं दृष्टेः पथ्यं किञ्चिद्विदाह्यग्निदीपनं च । सामान्यगुणाश्च विध्यन्दिस्सूक्ष्म-
सृष्टमलत्वरोचनान्यस्य सन्त्येव ।

लघु सौवर्चलं हृद्यं सुगन्ध्युद्गारशोधनम् ॥ १४३ ॥

कटुपाकं विबन्धघ्नं दीपनीयं रुचिप्रदम् ।

सौवर्चलं लघु हृदयाय हितं सुगन्ध्युद्गारं शोधयति दुष्टं सच्छुद्धं करोति ।
कटुपाकं च । तथा विबद्धस्रोतसां हितं विबन्धघ्नम् । अग्निदीप्तिरुचिकृत् ।

ऊर्ध्वाधःकफवातानुलोमनं दीपनं विडम् ॥ १४४ ॥

विबन्धानाहविष्टम्भशूलगौरवनाशनम् ।

विडं तद्धर्ममधश्च कफवातादीननुलोमयति । तथा दीपनं विबन्धादिघ्नं च ।

विपाके स्वादु सामुद्रं गुरु श्लेष्मविवर्धनम् ॥ १४५ ॥

सामुद्रं विपाके मधुरं गुरु कफवर्धनं च ।

सतिक्ककटुकक्षारं तीक्ष्णमुत्क्लेदि चौद्भिदम् ।

भूमिमुद्भिद्य यद्भवति तदौद्भिदमीषत्तिकं कटु क्षारं तीक्ष्णमुत्क्लेदि च दोषो-
त्क्षिष्टकरम् ।

कृष्णे सौवर्चलगुणा लवणे गन्धवर्जिताः ॥ १४६ ॥

कृष्णे लवणे सौवर्चलगुणा लघुत्वादयो गन्धेन वर्जिताः सौगन्धरहितास्ते सन्ति इति शेषः ।

रोमकं लघु पांसूथं सत्तारं श्लेष्मलं गुरु ।

रोमकं लवणं लघु पांसूथं शिरालवणमीषत् त्त्वारं श्लेष्मलं गुरु च ।

लवणानां प्रयोगे तु सैन्धवादीन् प्रयोजयेत् ॥ १४७ ॥

लवणानां प्रयोगे सैन्धवमादि कृत्वा प्रयोजयेत् । अन्यत्र प्रदेशे लवणानि द्वित्राणि त्रिचतुराण्येव यत्र युज्यन्ते तत्र सैन्धवमादि कृत्वा प्रयोज्यानि । यथा हिंवादिचूर्णे द्विपद इत्युक्तम् । तत्र सैन्धवसौवर्चले प्रयोज्ये । यत्र त्रयाणां प्रयोगस्तत्र सैन्धवसौवर्चलविडानि । एवमौद्धिदादीनां लवणवर्गे पठितानामन्यत्राऽपि वेद्यम् । खरनादे चोक्तम्—“सैन्धवं सारकं पाक्यं सौवर्चलमथौद्धिदम् । पूर्वं पूर्वं गुणौत्कृष्ट्यमौष्ण्यं चैषां यथोत्तरमिति ” ।

गुल्महृद्ग्रहणीपाण्डुप्लीहानाहगलामयान् ।

श्वासाशः कफकासांश्च शमयेद्यवशूकजः ॥ १४८ ॥

यवशूकजो यवत्तारो गुल्मादीन् शमयति ।

सम्प्रति स्वर्जिकात्तारादीनामपि गुणानाह ।

त्तारः सर्वश्च परमं तीक्ष्णोष्णं कृमिजिह्वधुः ।

पित्तासृग्दूषणः पाकी छेद्यहृद्यो विदारणः ॥ १४९ ॥

अपथ्यः कटुलावण्याच्छुक्रौजः केशचक्षुषाम् ।

त्तारः सर्वश्च परममतिशयेन तीक्ष्णोष्णः कृमिजिह्वधुश्च । पित्तासृजी दूषयति । पाकी पाककारी । छेदी मेदःश्लेष्मादिग्रन्थिघ्नः । अहृद्यो हृदयाय न हितः । विदारणः पक्वगण्डादीनाम् । कटुलावण्याच्छुक्रादीनामपथ्यः ।

हिङ्गु वातकफानाहशूलघ्नं पित्तकोपनम् ॥ १५० ॥

कटुपाकरसं रुच्यं दीपनं पाचनं लघु ।

हिङ्गु वातादिघ्नं पित्तकोपनं कट्वादिगुणयुक्तं च ।

कषाया मधुरा पाके रूक्षा विलवणा लघुः ॥ १५१ ॥

दीपनी पाचनी मेध्या वयसः स्थापनी परा ।

उष्णवीर्या सराऽऽयुष्या बुद्धीन्द्रियबलप्रदा ॥ १५२ ॥

कुष्ठवैवर्यवैस्वर्यपुराणविषमज्वरान् ।

शिरोऽक्षिपाण्डुहृद्गोगकामलाग्रहणीगदान् ॥ १५३ ॥

सशोषशोफातीसारमेदोमोहवमिक्रिमीन् ।

श्वासकासप्रसेकार्शः प्लीहानाहगरोदरम् ॥ १५४ ॥

विबन्धं स्रोतसां गुल्ममूरुस्तम्भमरोचकम् ।



हरीतकी जयेद्धार्षीस्तांस्तांश्च कफवातजान् ॥ १५५ ॥

हरीतकी कषाया कषायरसा । कषायरसत्वात्कटुविपाकित्वं प्राप्तमित्याह । मधुरा पाक इति । तथा रुक्षा । विलवणेति वचनं लवणं वर्जयित्वा शेषाः पञ्च-
रसा अस्याः सन्तीति वेदयति । नन्वेवं कषायेत्यनर्थकं यतः पञ्चसु रसेषु लवण-
हीनेषु मध्ये कषायोऽनुप्रविष्ट एव । अस्यैवैतत् । कषायेत्येतदतिशयख्यापनाय ।
कषायो रसोऽस्यां बाहुल्येनाऽस्तीत्यर्थः । तथा च मुनिः—“ हरीतकीं पञ्चरसा-
मुष्णां विलवणां शिवामिति ” । तथा लघुः । दीपन्यग्नेः । पाचन्यामादेः । मेध्या
मेधायै हिता । वयस इत्यादि । कालकृता शरीरावस्था यौवनादिर्वयस्तस्य परम-
तिशयेन स्थापनी स्थिरीकरणी । उष्णेत्येतावतैवोष्णवीर्येत्यस्याऽर्थस्य लब्धत्वाद्दीर्य-
ग्रहणमतिशयोष्णवीर्यत्वख्यापनार्थम् । सरा भेदनी । तथाऽऽयुषे हिता । बुद्धिः
वर्तमानार्थप्राहिणी प्रज्ञा । इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि तेषां बलं प्रददाति या सैवम् ।
कुष्ठादीन् रोगान् जयति । खरनादे त्वेवमभ्यधाति—“ स्वाद्वम्लभावात्पक्वं कटु-
तिक्ततया कफम् । कषायमधुरत्वाच्च हन्ति पित्तं हरीतकी ” ।

तद्वदामलकं शीतमम्लं पित्तकफापहम् ।

तया हरीतक्या तुल्यं वर्तत इति तृतीयान्ताद्वतिः । हरीतकीसमानगुणमाम-
लकमित्यर्थः । विशेषं त्वस्याह । अभयोष्णेदं शीतं शीतवीर्यं तथाऽम्लमम्लरसं
पित्तकफघ्नं चेति । कृष्णात्रेयस्त्वामलकं त्रिदोषघ्नं चारुयत् । यथा—“ अम्लभावा-
ज्येद्वातं पित्तं माधुर्यशैत्यतः । कफं रुक्षकषायत्वादेवमेष त्रिदोषनुत् ” । सुश्रुतेऽपि
त्रिदोषघ्नमुक्तम् । तदग्रन्थो हि—“ चक्षुष्यं सर्वदोषघ्नं वृष्यमामलकीफलम् ।
हन्ति वातं तदम्लत्वात्पित्तं माधुर्यशैत्यतः । कफं रुक्षकषायत्वात्फलेभ्योऽभ्यधिकं
तु तदिति ” ।

कटु पाके हिमं केश्यमक्षमीषच्च तद्रुणम् ॥ १५६ ॥

अक्षं बिभीतकं पाके कटुकं शीतवीर्यं केशभ्यो हितम् । तथेष्टदग्गुणं ताभ्यां
हरीतकीधात्रीभ्यां समाना गुणा यस्य तत्तद्गुणं किञ्चिदक्षम् । ननु हरीतक्यादीनां
स्थूलसूक्ष्मादिभेदेनानियतस्वरूपत्वात्कथमिवोपयोगः क्रियतामिति केचित् । तान्
ब्रमेहे । अक्षं तावदत्र कर्षप्रमाणं ग्राह्यम् । तथा च धन्वन्तरिरारुयत्—“ बिभी-
तकः कर्षफल इत्यादि ” । अन्वर्था हीयं संज्ञा । कर्षः कर्षप्रमाणं फलं यस्य स
कर्षफल इति । तदेवं बिभीतकस्य फलं यत्कर्षप्रमाणं तद् ग्राह्यमित्यवतिष्ठते । हरीत-
क्या अपि प्रमाणं नियतमेव । तन्त्रान्तरेऽप्युक्तम्—“ नवा स्निग्धा घना वृत्ता गुर्वी
क्षिप्ता तथाऽम्मसि । निमज्जेद्या प्रशस्तत्वाद् गुणकृत्सा प्रकीर्तिता । नवादगुण-
युक्तत्वं तथैकत्र द्विकर्षता । हरीतक्याः फले यत्र तेनैतच्छ्रेष्ठमुच्यत इति । तदेवं
द्विकर्षप्रमाणत्वं हरीतक्याः स्थितम् । धात्रीफलस्याऽपि युक्त्या नियतप्रमाणत्व-
मेव ” । तथा चोक्तं तन्त्रान्तरे—“ अभयैका प्रदातव्या द्वावेव तु बिभीतकी ।

धात्रीफलानि चत्वारि त्रिफलेयं प्रकीर्तितेति” । तदेवमामलकानामर्धकर्षप्रमाणत्वमव-
तिष्ठते । तस्मान्नियतप्रमाणत्वं त्रिफलायाः स्थितम् ।

इयं रसायनवरा त्रिफलाऽद्यामयापहा ।

रोपणी त्वग्गदक्लेदमेदोमेहकफास्रजित् ॥ १५७ ॥

इयमीदृशी त्रिफला रसायनवरा । चक्षूरोऽग्नी । रोपणी व्रणानाम् । त्वग्गदाः
कुष्ठादयः । क्लेदो व्रणादीनां स्रावः । मेदश्चतुर्थो धातुः । मेहः प्रमेहः । कफः
श्लेष्मा । अस्रं रक्तम् । तानि जयति या सैवम् ।

सकेसरं चतुर्जातं त्वक्पत्रैलं त्रिजातकम् ।

दीपनरोचनमित्येतत्पर्यन्तम् । त्वक् च पत्रं चैला चेति द्वन्द्वैकवद्भावः । एतस्य
नाम त्रिजातकं त्रिसुगन्धमिति । एतत्त्रिजातकं केसरयुक्तं चतुर्जातकमित्युच्यते ।
तच्च पित्तप्रकोपित्वादिगुणम् ।

पित्तप्रकोपि तीक्ष्णोष्णं रुक्षं दीपनरोचनम् ॥ १५८ ॥

रसे पाके च कटुकं कफघ्नं मरिचं लघु ।

पित्तकोपि तीक्ष्णादिगुणयुक्तं रसे पाके च कटुकं मरिचं कफघ्नं लघु च ।
कटुकरसत्वेन लब्धे पाकग्रहणमतिशयार्थम् ।

श्लेष्मला स्वादुशीतार्द्रा गुर्वी स्निग्धा च पिप्पली ।

सा शुष्का विपरीताऽतः स्निग्धा वृष्या रसे कटुः ॥ १५९ ॥

स्वादुपाकाऽनिलश्लेष्मश्वासकासापहा सरा ॥ १६० ॥

न तामत्युपयुञ्जीत रसायनविधिं विना ।

आर्द्राऽशुष्का पिप्पली श्लेष्मला स्वादुरसा शीतवीर्या गुरुः स्निग्धा च । सा शुष्का
पिप्पल्यत आर्द्रायाः पिप्पल्याः सकाशाद्विपरीता शीतविपर्ययेणोष्णा । गुरुविपर्ययेण
लघुः । स्निग्धविपर्ययस्त्वत्र नास्ति स्निग्धेत्युक्तत्वात् । तथा वृष्या रसे कटुश्च ।
कटुरसत्वाच्च कटुपाकत्वं प्राप्तमित्याह । स्वादुपाका । तथाऽनिलादीन् हन्ति सरा च
एवंविधामपि तां पिप्पलीमत्यर्थं न युञ्जीत रसायनविधिं विना । पिप्पलीं वर्धमाना-
दिरसायनविधान एवातिशयेनोपयुञ्जीत ।

नागरं दीपनं वृष्यं ग्राहि हृद्यं विबन्धनुत् ॥ १६१ ॥

रुच्यं लघु स्वादुपाकं स्निग्धोष्णं कफवातजित् ।

नागरं शृङ्गवेरं दीपनादिगुणयुक्तम् । ग्राहि विड्विबन्धकृत् । तथा हृद्यम् ।
विबन्धनुत् स्रोतःशुद्धिकृत् ।

तद्वदार्द्रकमेतच्च त्रयं त्रिकटुकं जयेत् ॥ १६२ ॥

स्थौल्याग्निसदनश्वासकासश्लीपदपीनसान् ।

आर्द्रकं शुण्ठीसमानगुणमेव । एतच्च त्रयं मरिचपिप्पलीशुण्ठ्याख्यं त्रिकटुक-
संज्ञं स्थौल्यादीन् जयेत् ।

चविका पिप्पलीमूलं मरिचात्पान्तरं गुणैः ॥ १६३ ॥

चविका पिप्पलीमूलं मरिचात् स्तोक्विशेषगुणं गुणैर्भवति । कटुरसविपाकं कफघ्नं लघूष्णवीर्यं चेत्यर्थः । गुणशब्देन रसविपाकादयोऽपि तन्त्रान्तराद् गृह्यन्ते नतु पारिभाषिका एव गुरुलघ्वादयो व्याप्तिन्यायात् ।

चित्रकोऽग्निसमः पाके शोफार्शःकृमिकुष्ठहा ।

चित्रको दहनसंज्ञकोऽग्निसमः पाकेऽत्यन्तोष्ण इत्यर्थः । तथा शोफदीनं हन्ति ।

पञ्चकोलकमेतच्च मरिचेन विना स्मृतम् ॥ १६४ ॥

गुल्मसीहोदराऽऽनाहशूलघ्नं दीपनं परम् ।

एतच्च पूर्वोक्तं मरिचरहितं पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशुण्ठ्याख्यं पञ्चकोल-संज्ञं स्मृतं वैद्यके तन्त्रे । तथा गुल्मादिघ्नमग्निदीपनं च ।

बिल्वकाश्मर्यतर्कारीपाटलादुण्डुकैर्महत् ॥ १६५ ॥

जयेत्कषायतिक्रोष्णं पञ्चमूलं कफानिलौ ।

बिल्वादीनामुपलक्षणे तृतीया । बिल्वादिभिर्हृषलक्षितं महत्पञ्चमूलं कफानिलौ जयेत् । तच्च कषायतिक्ररसमुष्णवीर्यं च । बिल्वं श्रीफलम् । काश्मर्यो गम्भारी । तर्कार्यरणिक्का । पाटला ताम्रपुष्पा । दुण्डुकः स्योनाकः । महद् गुरु बृहदनल्पमिति पर्यायाः ।

ह्रस्वं बृहत्पञ्चमतीद्वयगोक्षुरकैः स्मृतम् ॥ १६६ ॥

स्वादुपाकरसं नातिशीतोष्णं सर्वदोषजित् ।

पञ्चमूलमिति वर्तते । ह्रस्वं कनीयो लघ्वल्पमिति पर्यायाः । बृहतीद्वयं क्षुद्र-बृहती महाबृहती च । अंशुमतीद्वयं शालिपर्णी पृश्निपर्णी च । गोक्षुरको भक्ष-कण्टकः । इदं ह्रस्वं पञ्चमूलं स्वादुपाकरसं नातिशीतं नात्युष्णं सर्वदोषजित् ।

बलापुनर्नचैरण्डशूर्पपर्णीद्वयेन तु ॥ १६७ ॥

मध्यमं कफवातघ्नं नाऽतिपित्तकरं सरम् ।

एतैः पञ्चभिर्मध्यमं पञ्चमूलम् । एतच्च कफवातघ्नं नातिपित्तकरं सरं च ।

अधुना चतुर्थं पञ्चमूलमाह—

अभीरुवीरार्जिवन्तीजीवकर्षभकैः स्मृतम् ॥ १६८ ॥

जीवनाख्यं च चक्षुष्यं वृष्यं पित्तानिलापहम् ।

अभीरुवीरादिभिः पञ्चभिर्जीवनाख्यं पञ्चमूलं चक्षुष्यादिगुणयुक्तम् ।

पञ्चमं पञ्चमूलमाह—

तृणाख्यं पित्तजिह्मकासेक्षुशरशालिभिः ॥ १६९ ॥

तृणसंज्ञं पञ्चमूलं दर्भकासेक्षुशरशालिभिः । तच्च पित्तजित् । सद्ग्रहे त्वधि-कमुक्तम् । यथा—“सुवर्णं बृंहणं क्षिप्रं मधुरं रसपाकयोः । विषदोषहरं शीतं

सकषायं रसायनम् । रूप्यं स्निग्धं कषायाम्लं विपाके मधुरं सरम् । वयसः स्थापनं
 शीतं लेखनं वातपित्तजित् । ताम्रं सतिक्लमधुरं कषायं लेखनं लघु । कटुपाकरसं
 शीतं रोपणं कफपित्तजित् । कांस्यं कषायानुरसं विशदं लेखनं सरम् । दृष्टिप्रसादनं
 रुद्धं तिक्तं पित्तकफापहम् । सतिक्ललवणं भेदि पाण्डुत्वक्किमिवातनुत् । लेखनं
 पित्तलं किञ्चित् त्रपु सीसं च तद्रुणम् । चक्षुष्यं कृष्णलोहं तु कषायं स्वादुतिक्लकम् ।
 लेखनं वातलं शीतं कृमिकुष्ठकफप्रणुत् । गात्रशैथिल्यपालित्यपाण्डुघ्नं शोषशोफ-
 जित् । तद्वत्तीक्ष्णं विशेषेण तद्विकाशि सुदुर्जरं । पद्मरागमहानीलपुष्परागाऽश्म-
 गर्भकाः । मुक्ताविद्रुमवज्रेन्द्रवैदूर्यस्फटिकादिकम् । मणिरत्नं सरं शीतं कषायं
 स्वादु लेखनम् । चक्षुष्यं धारयेत्पाणौ पाम्पाऽलक्ष्मीविषापहम् । सत्तार उष्ण-
 वीर्यश्च काचो दृष्टिकृदञ्जनात् । शङ्खोदधिमलौ शीतौ कषायावतिलेखनौ । तुत्थकं
 कटुकं क्षारं कषायं विशदं लघु । लेखनं भेदि चक्षुष्यं कण्डूकृमिविषापहम् । विशदो
 गैरिकः स्निग्धः कषायमधुरो हिमः । कफघ्नी तिक्तकटुका मनोह्रा लेखनी सरा ।
 स्निग्धं कषायं कटुकं हरितालं विषप्रणुत् । कषायमधुरं शीतं लेखनं स्निग्धमञ्जनम् ।
 रक्तपित्तविषच्छर्दिहिध्माघ्नं दृक्प्रसादनम् । स्रोतोऽञ्जनं वरं तत्र ततः सौवीरकाञ्ज-
 नम् । कफघ्नं तिक्तकटुकं छेदि सोष्णं रसाञ्जनम् । सर्वदोषप्रशमनं कासमोह-
 क्षयापहम् । कफघ्नमुष्णकटुकं शिलाजतु रसायनम् । तिक्तं च छेदनं योगवाहि-
 त्वात्सर्वरोगजित् । कषाया मधुरा रुद्धा कफघ्नी वंशरोचना । तुगाक्षीरी क्षयश्वास-
 कासघ्नी मधुरा हिमा । कारवी कुष्ठिकाऽजाजी कबरी धान्यतुम्बर । अन्नगन्ध-
 हरं रुच्यं दीपनं कफवातजित् । बाष्पिका कटुतीक्ष्णोष्णा कृमिश्लेष्महरा परम् ।
 तद्वच्च राजिका विघ्नसाधनी दीपनी परम् । शूलाटोपहरो रुच्यो दीप्यकः कोष्ठशूल-
 जित् । अह्व्याः सर्षपाः स्निग्धा बाष्पिकावत्प्रकीर्तिताः । शताह्वाकुष्ठतगरसुरदारुह-
 रेणवः । एलैलवालु नरलत्वग्ग्याघ्ननखचोरकाः । लघूष्णाः कटुकाः पाके कफवात-
 निर्वहणाः । सैर्यकस्तिक्लमधुरः स्निग्धोष्णः कफवातजित् । बरितमूत्रविबन्धघ्नो
 वृध्यो गोलुरको हिमः । पाचनं कफपित्तघ्नं तिक्तं शीतं विषाद्वयम् । कफघ्नं तिक्त-
 कटुकं मुस्तं सङ्ग्राहि पाचनम् । तिक्ताऽमृता त्रिदोषघ्नी आदिरगुष्णा रसायनी ।
 दीपनी ज्वरहृद्दाहकामलावातरक्लनुत् । तिक्तशीतौ ज्वरहरौ लघू भूनिम्बपर्पत्रौ ।
 निम्बस्तिक्तो हिमः कुष्ठकृमिपित्तकफापहः । महानिम्बः परं ग्राही कषायो रुद्ध-
 शीतलः । गुग्गुलुः पिच्छिलः स्पर्शं विशदोऽभ्यवहारतः । सखादुः सकटुस्तिक्तः
 सकषायो रसायनम् । त्रयः स्वर्यः कटुः पाके रुद्धः सूक्ष्मोऽग्निदीपनः । क्लेदमेदो-
 ऽनिलश्लेष्मगण्डमेहापचीकृमीन् । पिटिकाग्रन्थिशोफांश्च हन्त्युष्णः संसनो लघुः ।
 शङ्खपुष्पी सरा तिक्ता मेध्या कृमिविषापहा । कटुतिक्तोष्णमधुरा स्निग्धा स्वादु-
 कफापहा । पित्तास्रविषतृद्दाहकृमिघ्नं गुरु रुक्षणम् । सर्वं सतिक्तं मधुरं चन्दनं
 शिशिरं परम् । लघु रक्तं, तथोशीरं वातलं पाचनं च तत् । ज्वरातिसारवमधुररक्त-

पित्तकफापहम् । मधुरं रक्तपित्तघ्नं व्रणशोधनरोपणम् । गुरु स्वादु हिमं वृष्यं चक्षुष्यं स्वरवर्णकृत् । कटुतिक्ते निश कुष्ठमेहपित्तकफापहे । प्रलेपाज्यतः कण्डूशोफं दुष्टव्रणं विषम् । प्रपौण्डरीकं चक्षुष्यं शिशिरं व्रणरोपणम् । कषायतिक्तमधुरं रक्तपित्तप्रसादनम् । बलात्रयं स्वादु वृष्यं स्निग्धं शीतं बलप्रदम् । तत्र नागबला बल्या क्षतक्षीणहिता गुरुः । ताम्बूलं कटु सच्चारं रुच्यमुष्णं कफप्रणुत् । भेदि सम्मोहकृत्पूगं कषायं स्वादु रोचनम् । जातिपत्री कटुफलं कङ्गोलकलवङ्गकम् । लघु तृष्णापहं हृद्यं वक्त्रदौर्गन्ध्यनाशनम् । सस्वादुतिक्तस्तृष्णाघ्नः कर्पूरश्छेदनोहिमः । लताकस्तूरिका तद्रग्मुखशोषहरा परम् । कषायमधुरं शीतं पत्रं पित्तकफाक्षजित् । तद्वद्वकुलपुष्पागकुमुदोत्पलपाटलम् । सचम्पकं ततो न्यूनं गुणैः कौरवकिंशुकम् । मालतीमल्लिकापुष्पं तिक्तं जयति मारुतम् । विषपित्तकफाघ्नं सिन्दुवारं च तद्रणम् । कफघ्नं कैतिकं तिक्तं शैरीषं विषहारि च । वातलं पुष्पमागस्त्यं कषायं कफपित्तजित् । बन्धूतं श्लेष्मलं ग्रहि तद्वदेव च यूथिका । कफघ्नमुष्णवीर्यं च कुङ्कुमं, व्रणशोधनम् । अवल्गुजैडगजजं बीजं वातकफप्रणुत् । आस्या वर्णश्लेष्ममेदःसौकुमार्यकृदन्यथा । अतोऽध्वाऽग्निबलायुषि कुर्याच्चङ्कमणं सुखम् । मारुतस्यानुलोम्यं च खुडस्तम्भध्रमापहम् । अन्वर्थसंज्ञं पादत्रं बलकृच्छुकलं तथा । वर्यं नेत्रहितं छत्रं वातवर्षातपापहम् । प्रवातो रौक्ष्यवैवर्यस्तम्भकृदाहृत्क्षमान् । श्रमाग्निमूर्च्छाश्च जयेदप्रवातस्त्वतोऽन्यथा । प्राग्वायुरुष्णोऽभियन्दि त्वग्दोषाऽशौविषकिमीन् । सन्निपातज्वरश्वासमामवायुं च कोपयेत् । याम्योऽसृग्वातकफकृच्छीतः स्वादुः कषायकः । कषायः पश्चिमो रूक्षो लघुर्नातिविदह्यते । वातकृत्कफपित्तघ्नो मूर्च्छादाहध्रमापहः । स्निग्धः शीतो लघुः सात्म्य उत्तरः षडसोऽनिलः । ऐशानः कटुरुक्षोष्ण अभ्रयश्चैव मारुतः । अम्लो विदाही नैर्ऋत्यो वायव्यस्तिक्त उच्यते । आतपो भ्रमतृट्स्वेददाहमूर्च्छाविवर्णताः । कुर्यात्पित्ताघ्नवर्हीश्च च्छाया त्वेतान्व्यपोहतीति” ।

सम्प्रति सुखग्रहणधारणार्थं सङ्ग्रहश्लोकमाह ।

शूकशिम्बीजपक्वान्नामांसशकफलोपधैः ।

वर्गितैरन्नलेशोऽयमुक्तो नित्योपयोगिकः ॥ १७० ॥

शूकधान्यादिभिर्वर्गितैर्वर्गाकृतैरयमन्नस्य लेश एकदेशः स्तोकमात्रो निर्दिष्टः । किम्भूतः ? नित्योपयोगो विद्यते यस्य स नित्योपयोगिकः । सदोपयोगवानित्यर्थः । मात्रायोगक्रियादेशकालादिविशेषाच्चोक्तानामपि द्रव्याणामन्यथात्वं दृष्टम् । यथा—
“तिलशो निषेव्यमाणं विषमपि सञ्जायतेऽमृतसमानम् । भक्ष्यातकः सह तिलैस्तत्कार्यमपि कुष्ठमुहन्ति । संस्कारेण लघुभ्यः सक्नुभ्यः सिद्धपिण्डका गुरवः । मरुवासिष्वतिसात्म्यं दधिपीलुशमीकरीरणाम् । घृतदुग्धं हेमनो मन्शमिकफोत्तरं भवेत्प्रायः । दधिदुग्धं वातघ्नं तदजातं वातकृद्भवति । रेचनमपि च क्षीरं

गव्यं सङ्ग्राहि कस्यचिद्भवति” । तस्मादेवमादि स्वबुद्धयैवाऽभ्यूह्यम् । शास्त्र-
कृता तु ग्रन्थगौरवभयात्स्पष्टं कृत्वा तन्नोक्तम् । प्रदेशान्तरेषु युक्त्यैव प्रतिपादि-
तमिति ।

इति श्रीमृगाङ्कदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टाङ्गहृदयटीकायां सर्वाङ्गसुन्दरा-
ख्यायामन्नस्वरूपादिविज्ञानीयोऽध्यायः षष्ठः ॥

सप्तमोऽध्यायः ।

अन्नपानस्वरूपं शरीरसन्धारणार्थं प्राशुक्तम् । पथ्यमपि चान्नपानं विषाद्युपहतं
रोगाय मृत्यवे वा सम्पद्यते । अतस्तद्रक्षणध्यायोऽयमारभ्यते ।

अथातोऽन्नरक्षाध्यायं व्याख्यास्यामः ।

अन्नस्य रक्षाऽन्नरक्षा सोपदेश्या, यत्राध्याये सोऽप्युपचारादन्नरक्षेत्युच्यते ।
यथा—शिशुपालवधः काव्यमिति । शेषं व्यख्यानमत्र पूर्ववत्कार्यम् ।

राजा राजगृहासन्ने प्राणाचार्यं निवेशयेत् ।

सर्वदा स भवत्येवं सर्वत्र प्रतिजागृविः ॥ १ ॥

राजा नृपः, प्राणाचार्यं वैद्यं, राजगृहासन्ने निवेशयेदावासयेत् । एवं सति यो
गुणः स्यात्तमाह । सर्वदेत्यादि । सर्वदा सर्वकालं रात्रौ दिवा वा, नृपभवनसमी-
पस्थितः स वैद्यः सर्वत्रान्नपानशयनमाल्यादौ प्रतिजगृविर्दत्तवधानो भवति ।

ननु किमेवं क्रियत इत्याह—

अन्नपानं विषाद्रक्षेद्विशेषेण महीपतेः ।

योगक्षेमौ तदायत्तौ धर्माद्या यन्निबन्धनाः ॥ २ ॥

महीपतेः सम्बन्ध्यन्नपानं विषाद्विषसंस्पर्शाद्विशेषेणाऽतिशयेन रक्षेत् । अन्न-
पानमित्युपलक्षणम् । शयनवस्त्रगन्धरत्नमाल्यादीनामपि परिरक्ष्यत्वत् । किमिति
नृपान्नपानादि विशेषेण रक्षेदित्याह । योगेत्यादि । योगोऽन्नवस्त्रादिभिः सम्बन्धः ।
क्षेमस्तेषामन्नादीनां चौराद्युपद्रवरक्षणम् । द्वावप्येतौ तदायत्तौ नृपायत्तौ स्याताम् ।
क्षेमशब्दोऽर्धर्चादिः । धर्माद्या इति । धर्मार्थकाममोक्षा यन्निबन्धना योगक्षेम-
निबन्धनाः ।

सम्प्रति विषदुष्टस्य भक्तस्य लक्षणमाह—

ओदनो विषवान् सान्द्रो यात्यविस्राव्यतामिव ।

चिरेण पच्यते पक्वो भवेत्पर्युषितोपमः ॥ ३ ॥

मयूरकण्ठतुल्योष्मा मोहमूर्च्छाप्रसेककृत् ।

हीयते वर्णगन्धाद्यैः क्लियते चन्द्रकाचितः ॥ ४ ॥

विषवानोदनः सान्द्रो विलेप्याकारः, न च विस्रावयितुं शक्यते, यतः पृथक्-
सिक्थो न भवेत् । तथा चिरेण पच्यते बहुना कालेन पक्वं याति । स च पक्वो

निष्पन्नपाकः सद्य एव पर्युषितोपमो दिवसान्तरितोऽतिक्रान्ताहोरात्रः । पर्युषितोपम इति । यथा पर्युषितं भक्तं निरुद्धं स्तब्धं च भवति । तथा विषदूषितं सद्योऽवतारितमपि तादृशमेव भवति । मयूरकण्ठेन तुल्य ऊष्मा बाष्पराजिर्नानावर्णा यस्य स तथोक्तः । स चोपयुक्तो मोहमूर्च्छाप्रसेकान्करोति । मोहो वैचित्यम् । मूर्च्छा संज्ञा-भ्रंशः । प्रसेकः श्लेष्मनिष्ठोवनम् । हीयते वर्णगन्धायैरित्यादिशब्देन रसस्पर्शादि-परिग्रहः । प्रैक्षिन्नो भवति । सलिलमध्यक्षिततैलविन्दुसदृशैश्चन्द्रकैश्च पूर्णो भवति । इति चक्षुरादिभिः परीक्षा ।

व्यञ्जनानां परीक्षामाह—

व्यञ्जनान्याशु शुष्यन्ति ध्यामकाथानि तत्र च ।

हीनातिरिक्ता विकृता छाया दृश्येत नैव वा ॥ ५ ॥

फेनोर्ध्वराजीसीमन्ततन्तुबुद्बुदसम्भवः ।

विच्छिन्नविरसा रागाः खाण्डवाः शाकमामिषम् ॥ ६ ॥

व्यञ्जनानि सूपादीनि दधितक्रदाडिमादिसंस्कृतान्याशु शीघ्रं शुष्काणि भवन्ति । काथश्च तेषां ध्यामो मलिनो भवति । तत्र चेति । व्यञ्जनवत्सु काथेषु हीनाधिका शिरोविरहादिलक्षणविकारोपेता चात्म्या छाया प्रतिबिम्बं दृश्यते । नैव वा कीदृश्यपि छाया न दृश्यते । न चेदमरिष्टं, सनिमित्तत्वात् । फेनादीनां सम्भवः । तत्रेति प्रकृतम् । व्यञ्जनोपलक्षितेषु सर्वद्रवेष्वेव । विशेषण पुनर्लवणोल्बणद्रवे फेनमाला । ऊर्ध्वराजीसम्भवं तु रसकादिषु स्वयं दर्शयिष्यति । विच्छिन्नविरसा रागा इति । विच्छिन्नो रक्तवर्णः क्वचित्क्वचित्प्रदेशे द्राक्षापानादौ रागो भवति । विरसं विगतरसं तद्भवति । यथा राग एवं खाण्डवोऽपि । शाकमामिषं च छिन्नस्थाने स्थाने त्रुट्यद्विरसं च ।

यत्र द्रवे यादृशी राजी सम्भवति तां विशेषतो दर्शयन्नाह—

नीला राजी रसे ताम्रा क्षीरे दधनि दृश्यते ।

श्यावा पीताऽसिता तत्रे घृते पानीयसन्निभा ॥ ७ ॥

काली मद्याम्भसोः क्षौद्रे हरितैलेऽरुणोपमा ।

पाकः फलानामामानां पक्वानां परिकोथनम् ॥ ८ ॥

द्रव्याणामार्द्रशुष्काणां स्यातां म्लानिविवर्णते ।

मृदूनां कठिनानां च भवेत्स्पर्शविपर्ययः ॥ ९ ॥

माल्यस्य स्फुटिताग्रत्वं म्लानिर्गन्धान्तरोद्भवः ।

ध्याममण्डलता वस्त्रे शदनं तन्तुपद्मणाम् ॥ १० ॥

धातुमौक्तिककाष्ठाश्मरत्नादिषु मलाकृता ।

स्नेहस्पर्शप्रमाहानिः सप्रभत्वं तु मृन्मये ॥ ११ ॥

मौ० टि० १—पूतीभावः ।



मांसरसे विषदूषिते नीला नीलवर्तिकाकारा राजी दृश्यत इति प्रकृतेन सम्बन्धः । एवं चाग्रेऽपि राजी दृश्यत इति योज्यम् । क्षीरमध्ये ताम्रा ताम्रवर्णा । दधनि दध्नि श्यावा दृश्यते लक्ष्यते चक्षुषा । राजीति सर्वत्र प्रकृतम् । पीताऽसिता तक्र इत्यादि । तक्रस्य मध्ये पीताऽसिता आनीलप्रीता राजी दृश्यत इति प्रकृतम् । घृते सलिलनिभा । काली कृष्णा मयस्य तोयस्य च विषदूषितस्य । क्षौद्रे हरि-दिति । मात्तिकमध्ये हरिता राजी दृश्यते । तैलेऽरुणोपमेषल्लोहिताकारा । उदाह-रणमात्रं त्वेतत् । मस्तुनः करोताभा । धान्याम्लस्य कृष्णा । द्रवौषधस्य कपिला । तथा । आम्रानां फलानां पाकः । पक्वानां परिकोथनं शाटितत्वं भवति । द्रव्याणा-मार्द्रशुष्काणां स्यातां म्लानिविवर्णते । यथासंख्यं योज्यम् । आर्द्राणां म्लानिः । शुष्काणां वैवर्ण्यं श्यावत्वादिलक्षणम् । मृदूनां कठिनत्वं कठिनानां मृदुत्वम् । अयं स्पर्शविपर्ययः । माल्यस्य पुष्पादेः स्फुटितं विशीर्णमग्रं प्रान्तो यस्य तत्स्फुटिताग्रं तद्भावस्तत्त्वम् । म्लान्युद्भवो म्लानता । गन्धान्तरोद्भवः स्वगन्धनाशः, अन्यस्य सम्भवश्च । वसागन्धस्य च तैले सम्भवः । ध्याममण्डलता वस्त्रे—वस्त्र आस्तरण-प्रावरणादिरूपे ध्यामानि मलिनानि मण्डलानि यस्य वस्त्रस्य तद्भावस्तत्त्वम् । शदनं श्यातः पातः । केषाम् । तन्तूनां रोम्णां पक्ष्मणां च पार्श्ववर्तिनां वस्त्रसम्बन्धिनामेव । धातुलोहादिः । मौक्तिकं मुक्ता । काष्ठं दारु । अश्मा पाषाणः । रत्नानि वज्रमरकतादीनि । आदिशब्देन शङ्खशुक्त्यादिपरिग्रहः । तेषु धात्वादिषु मलाकृता पङ्कोपदिग्धता । स्नेहहानिस्तेषामेव धात्वादीनां त्रिगधत्वव्यपगम इत्यर्थः । एवं स्पर्शप्रमाहानी । मृन्मये तु भारण्डे विषदूषिते निष्प्रेभ सप्रभवत्वम् ।

इदानीं यो विषं ददाति तस्य लक्षणमाह—

विषदः श्यावशुष्कास्यो विलक्षो वीक्षते दिशः ।

स्वेदवेपथुमांस्त्वस्तो भीतः स्खलति जृम्भते ॥ १२ ॥

विषं ददातीति विषदो नरः, श्यावं शुष्कमास्यं मुखं यस्याऽसौ श्यावशुष्का-स्यः श्यामशुष्कवदनः । किं करोति ? विलक्षो वीक्षते दिशः । दिश इति समन्ता-दित्यर्थः । विलक्ष इति लज्जावान् । वीक्षतेऽवलोकयति । किञ्च स्वदोषशङ्कया स्वेदवान्वेपथुमान् । त्रस्तः शरीरेण जातकम्पत्वात् । भीतश्चित्तेन सोद्वेगतयोपलक्ष्य-माणत्वात् । स्तम्भकुब्जादिभिरात्मानमन्तर्धापयितुमिच्छन्नितस्ततो गच्छंश्च स्ख-लितगतिर्भवति तत आह स्खलति । पुनःपुनश्च जृम्भां करोति तेनाह जृम्भते । उपलक्षणं चेदं तत्तत्कालभाविनीनां क्रियाणाम् । तद्यथा—अस्थानहासी । पृष्ठोऽ-सम्बद्धमुत्तरं ददाति नैव वा वदति । विवर्त्तुर्मुह्यत्यङ्गुलीः स्फोटयति । शिरः करङ्ग-यते । ओष्ठौ लेडि । भुवं विलिखति । क्रियासु त्वरते । विपरीतमाचरति । स्वभूमौ च नावतिष्ठते ।

इदानीं सविषस्याग्निप्रक्षेपणादिकमुपदिशन्नाह—

प्राप्यान्नं सविषं त्वग्निरेकावर्तः स्फुटत्यति ।

शिखिकण्ठाभधूमार्चिरनर्चिर्वोऽग्रगन्धवान् ॥ १३ ॥

सविषमन्नं प्राप्याऽग्निः स्फुटत्यति चटचटायतेऽतिशयेनेत्यर्थः । एकावर्त इति । एक एवावर्तो यस्य । संहतसर्वज्वालत्वादसावेकावर्तः । शिखिकण्ठाभधूमार्चिः शिखी मयूरस्तस्य कण्ठ इन्द्रायुधवदनेकवर्णस्तस्येवाऽभा ययोर्धूमार्चिषोस्ते शिखिकण्ठाभे तादृशे धूमार्चिषी यस्याग्नेरसौ शिखिकण्ठाभधूमार्चिरिन्द्रायुधवदनेकवर्णधूमज्वाल इति यावत् । अनर्चिर्वाऽज्वाल इति वा । उग्रगन्धवानिति कृष्णपगन्धवान् । निदर्शनं चेदम् । धूमोऽप्यस्य प्रसेकरोमहर्षशिरोवेदनापीनसदृश्यः कुलता अप्युत्पादयति ।

ब्रह्मलक्षणयोगादप्यग्निरेवं स्यादतः पक्षिमृगैरपि परीक्षाप्रकारान्तरं दर्शयन्नाह—

प्रियन्ते मक्षिकाः प्राश्य, काकः क्षामस्वरो भवेत् ।

उत्क्रोशन्ति च दृष्ट्वैतच्छुक्रदात्यूहसारिकाः, ॥ १४ ॥

हंसः प्रस्खलति, ग्लानिर्जीवञ्जीवस्य जायते, ।

चकोरस्याऽक्षिवैराग्यं, क्रौञ्चस्य स्यान्मदोदयोः, ॥ १५ ॥

कपोतपरभृद्द्वलचक्रवाका जहत्यसून् ।

उद्वेगं याति मार्जारः, शक्रन्मुञ्चति वानरः ॥ १६ ॥

हृष्येन्मयूरस्तद्दृष्ट्वा मन्दतेजो भवेद्विषम् ।

इत्यन्नं विषवज्ज्ञात्वा त्यजेदेवं प्रयत्नतः ॥ १७ ॥

यथा तेन विषघोरन्नपि न क्षुद्रजन्तवः ।

मक्षिकाः सविषेऽन्ने न निलीयन्ते । निलीनास्तु सद्यो विषघन्ते । विषदुष्टा-
हारात्तु काकः क्षामस्वरो भवेत् । उत्क्रोशन्त्युच्चैर्विक्रोशन्ति दर्शनादेव शुक्रदात्यूह-
सारिकाः । विषदर्शनमात्रादेव च हंसगतिः स्खलति । ग्लानिर्जीवञ्जीवस्य जायते ।
उपलक्षणं चेदम् । मरुत्तमपि कस्यचित्, न ग्लानिरेव जीवञ्जीवस्य । चकोर-
स्याऽक्षिविरक्त । दृष्ट्वैतदिति सर्वत्र योजनीयम् । क्रौञ्चस्य स्यान्मदोदयो मदो-
त्पत्तिः । कपोतपरभृद्द्वलचक्रवाकास्त्यजन्त्यसून् प्राणान्विजहति, अत्यर्थं मरणदुः-
खाभ्याहताः । उद्विजतेऽत्यर्थं मार्जारः । वानरस्तु शक्रत् पुरीषं मुञ्चति । उपलक्षणं
चेदम् । पृष्ठतोमुखो रोदिति च । तथा हृष्येन्मयूरस्तद्दृष्ट्वा—तदिति सविषान्न-
परामर्शः । दृष्ट्वेत्यनुवर्तमानेऽपि । पुनर्दृष्ट्वेति वचनं सर्वत्र मध्ये सम्प्रत्ययार्थमाद्य-
न्ताभ्यां गृहीतत्वात् । विषं चास्य दर्शनादेव मन्दतेजस्कं भवति । एवं पूर्वोक्ताभिः
परीक्षाभिरन्नं भक्तादिः विषवद्विषसंसृष्टं ज्ञात्वा त्यजेदतत् । कथम् ? प्रयत्नतः प्रय-
त्नेन । तमेव प्रयत्नं दर्शयन्नाह । यथा येन प्रकारेण त्यज्यमानेन क्षुद्रजन्तवो

मौ० टि० १—वर्षाकाले ध्वनिमान् पक्षी । २ दृष्टिमात्रेण विषहन्ता पक्षी ।

३ परभृदन्न कोकिलः । ४ कुक्कुटः ।



मञ्जिकादयोऽपि तेन विषेण न विपद्येरन् न नश्येयुस्तथा त्यजेत् । जुद्धजन्तवोऽपि किं पुनर्महान्त इत्यपिशब्दार्थः ।

स्पृष्टे तु कण्डूदाहोषाज्वरार्तिस्फोटसुप्तयः ॥ १८ ॥

नखरोमच्युतिः शोफः, सेकाद्या विषनाशनाः ।

शस्तास्तत्र प्रलेपाश्च सेव्यचन्दनपद्मकैः ॥ १९ ॥

ससेमवल्कतालीसपत्रकुष्ठाऽमृतानतैः ।

सविषेऽन्ने मुखहस्तादिभिस्तु स्पृष्टे सति कण्डूवादयः शोफान्ताः स्युः । ऊषा प्रादेशिको दाहः । सर्वदाहस्तु दाहः । अर्तिः शूलम् । सुप्तिरङ्गस्याऽचैतन्यम् । नखरोमच्युतिर्नखशातो रोमशातः । ननु नखशातः केवलं वातरोगेषु पठितः, विषे च सन्निपातकोप उक्तः, तत्कथमेतदुच्यते ? जात्यन्तर्भूत एवायं विषनिमित्त इत्यदोषः । तत्र तेषु विषसंस्पर्शजेषु कण्डूवादिरोगेषु सेकाद्याः शस्ता यतो विषनाशनाः । प्रलेपाश्च हिताः । कैरित्याह । सेव्यादिभिः ।

लालाजिह्वोष्ठयोर्जाड्यमूपा चिमिचिमायनम् ॥ २० ॥

दन्तहर्षो रसाऽज्ञत्वं हनुस्तम्भश्च वक्त्रगे ।

सेव्याद्यैस्तत्र गण्डूपाः सर्वे च विषजिद्धितम् ॥ २१ ॥

वक्त्रगे मुखप्राप्ते लाला भवति । जिह्वौष्ठयोर्जाड्यं भवति । ऊषादयश्च स्युः । रसाऽज्ञत्वं=जिह्वा रसं न चेतयत इत्यर्थः । हनोः स्तम्भश्च स्यात् । तत्र सेव्याद्यैः पूर्वोक्तैर्गण्डूपा हिताः । सर्वं चान्यदपि यद्विषं जयति तद्धितम् ।

आमाशयगते स्वेदमूर्च्छाऽऽध्मानमदभ्रमाः ।

रोमहर्षो वमिर्दाहश्चर्तुर्हृदयरोधनम् ॥ २२ ॥

विन्दुभिश्चाऽऽचयोऽङ्गानां पकाशयगते पुनः ।

अनेकवर्णं वमति मूत्रयत्यतिसार्यते ॥ २३ ॥

तन्द्रा कृशत्वं पाण्डुत्वमुदरं बलसंक्षयः ।

तयोर्वान्तविरिक्तस्य हरिद्रे कटभीं गुडम् ॥ २४ ॥

सिन्दुवारितनिष्पाववाष्पिकाशतपर्विकाः ।

तण्डुलीयकमूलानि कुक्कुटाण्डमवल्गुजम् ॥ २५ ॥

नावनाञ्जनपानेषु योजयेद्विषशान्तये ।

विषाज्ज आमाशयं प्राप्ते स्वेदादयः स्युः । हृदयस्य रोधनं स्तम्भः । विन्दुभिर्नानावर्णैरङ्गानामाचयः समन्ताच्चयनम् । पकाशयगते तु विषेऽनेकवर्णं वमति । मूत्रयत्यतिसार्यते । तन्द्रादयश्च भवन्ति । तयोरासपकाशयगतयोर्विषयोर्वर्तमानस्य पुंसो यथायोगं वान्तविरिक्तस्य हरिद्रे कटभीमित्यादिकमौषधं नावनादिषु योजयेत् । तत्र मदनफलालावुकुम्भीकोशातकीफलैर्मधुयुक्तैर्निष्पावाभ्युक्तैर्वमनम् । तस्य स्नेहयित्वा विरेचनम् । पकाशयगते वमितस्यैव नीलिनीफलयुक्तेन घृतेन विरेचनमेव ।

विषभुक्ताय दद्याच्च शुद्धायोर्ध्वमधस्तथा ॥ २६ ॥

सूक्ष्मं ताम्ररजः काले सक्षौद्रं हृद्विशोधनम् ।

शुद्धे हृदि ततः शाणं हेमचूर्णस्य दापयेत् ॥ २७ ॥

विषभुक्ताय पुंस ऊर्ध्वमधश्च शुद्धाय काले सूक्ष्ममतिशुद्धं ताम्रचूर्णं समाक्षिप्तं दद्यात् । किम्भूतम् ? हृद्विशोधनं हृदयं शोधयेदित्यर्थः । विषभुक्तायेत्याहिताग्न्यादित्वात्परनिपातः । काल इत्युपलक्षणम् । देशसात्म्याग्न्यादीन्यपेक्षेतेत्यर्थः । शुद्धे हृदि स्वलिङ्गे ज्ञाते ततोऽनन्तरं हेमचूर्णस्य शाणं कर्षचतुर्थांशं दापयेत् ।

हेमि दत्ते सति यो गुणः स्यात्तमाह—

न सज्जते हेमपाऽङ्गे पद्मपत्रेऽम्बुवद्विषम् ।

जायते विपुलं चायुर्गरेऽप्येष विधिः स्मृतः ॥ २८ ॥

हेम पिबतीति हेमपस्तस्याङ्गे विषं न सज्जते । कथम् ? पद्मपत्रे जलमिव । तस्य च हेमपस्य विस्तीर्णमायुर्जायते । एव विधिर्गरेऽपि स्मृतो यो विष उक्तः । सज्जत इत्यत्रात्मनेपदं चिन्त्यम् ।

विरुद्धमपि चाहारं विद्याद्विषगरोपमम् ।

विरुद्धं चाहारं विषगरोपमं विद्यात् । विषगरवद्विरुद्धाहारा अपि व्याधिमृत्युहेतव इत्यर्थः । तथा चोक्तं सङ्ग्रहे—“विस्फोटगुल्ममदविद्रधिमेह्यक्ष्मतेजोबलस्मृतिमृतीन्द्रियचित्तनाशम् । कुर्याद्विरुद्धमशनं ज्वरमस्रपित्तमष्टौ गदांश्च महतो विषवच्च मृत्युमिति” ।

तदेव विरुद्धभोजनमाह—

आनूपमामिषं माषक्षौद्रक्षीरविरुद्धकैः ॥ २९ ॥

विरुध्यते सह विसैर्मूलकेन गुडेन वा ।

विशेषात्पयसा मत्स्या मत्स्येष्वपि चिलीचिमः ॥ ३० ॥

आमिषं मांसमानूपं महाभृगवारिचरवारिशयाख्यं माषादिभिः सप्तभिः सह विरुध्यते । आनूपेष्वपि मध्ये विशेषादतिशयेन पयसा सह मत्स्या विरुध्यन्ते । यतो मत्स्यक्षीरे स्वादुरसविपाकित्वान्महाभिष्यन्दिनी । शीतोष्णयोगाच्च परस्परविरुद्धे । मत्स्येष्वपि चिलीचिमाख्यो मत्स्यः पयसा सहात्यन्तविरुद्धः । स पुनः शकलीरो लोहिताक्षः सर्वतो लोहितराजिः प्रायो भूमौ चरति । सोऽत्यभिष्यन्दिमतत्वात्सुतरां विरुद्धः । एष चाहारोऽनिर्दिष्टविकारकारी यथोक्तान् विस्फोटादीन् करोति । कालान्तरेण च चिकित्सां विना प्राणानपि हरति । कश्चिच्च विरुद्धाहारा निर्दिष्टविकारकारी । यथोपोदिकाऽतिसारायेति ।

विरुद्धमम्लं पयसा सह सर्वं फलं तथा ।

अम्लं द्रव्यं पयसा सह सर्वं विरुद्धम् । सर्वग्रहणं द्रवाद्वग्रहणार्थम् । द्रवं



काञ्जिकादि । अद्रवं चुक्रिकादिकमित्यर्थः । अन्यथा पयसो द्रवसमानजातीयत्वात्काञ्जिकाद्येव द्रवद्रव्यं विरुध्येत न चुक्रिकादिकमपि । ननु तृतीययैव सहार्थो लब्ध एव । यथा । वाराहं श्वाविधा नाद्यादित्यत्र । ततः किं सहशब्देन ? सत्यमेतत् । सहग्रहणं तु नियमार्थम् । सहैकध्यमम्लेनोपयुज्यमानं विरुद्धम् । यदा त्वम्लेन गोरसादिना क्षीरशाकसंज्ञव्यञ्जनकरणार्थं पयः संस्क्रियते, तदा तस्य द्रव्यान्तरत्वापत्तेर्विरोधो नास्ति । तथा दधिक्षीरादिना घृतं पच्यते तत्राप्यविरोध एव । द्रव्यान्तरत्वात् । पूर्वस्याऽपि सहशब्दस्यैवं प्रायमेव प्रयोजनमभ्युद्यमिति । अपि च । क्षीरे भुक्त उत्तरे कालेऽप्यम्लं न भोज्यमिति प्रतिपादनार्थं च सहग्रहणम् । तथा चोक्तं सङ्ग्रहे—“सर्वं चाम्लं पयसा सहैकध्यं तदुत्तरं वा विरुद्धमिति” । फलं तथेति । फलमक्षौडादि च पयसा सह विरुद्धम् । सर्वशब्दः सर्वत्र न सम्बन्धनीयो यतो न सर्वं फलं पयसा सहाभ्यवहर्तुं विरुद्धम् । अपि तु किञ्चिदेव । तथा च मुनिः परिसंख्ययैवाऽपठत् । तथा “आम्राप्नातकलकुचकर्मर्दमोचदन्तशठवदरकोशाम्रभव्यजाम्बवकपित्थतिक्टीकपालेवताक्षौडपनसनालिकेरदाडिमामलकान्येवं प्रकाराणि चान्यानीति” । तस्माच्च सर्वं फलं पयसा सहाभ्यवहर्तुं विरुद्धं किंतु मुन्युक्तमेव ।

तद्वत्कुलत्थवरककङ्गुवल्लमकुष्ठकाः ॥ ३१ ॥

तद्वदिति । फलवत् कुलित्थादयः पयसा सह विरुद्धाः । वरको व्रीहिभेदः । वरकोद्दालकेति प्रागुक्तेः । वल्लमकुष्ठकौ शिम्बीधान्यविशेषौ । उपलक्षणं चेदम् । माषनिष्पावावपि हि विरुद्धौ पयसा सहेति सङ्ग्रहे कथितम् ।

भक्षयित्वा हरितकं मूलकादि, पयस्यजेत् ।

भक्षयित्वेति । हरितकं मूलकं कुठेरादि भुक्त्वा पयस्यजेन्न पुनः शाकं भुक्त्वा । मूलकादि स्निग्धस्विन्नं शाकसाधनेन साधितं भुक्त्वा क्षीरं न त्यजेत् । एतस्मादेव च ज्ञापकान्मूलकादीनामुभयरूपत्वं वेद्यम् । मूलकादीनां यदि शाकत्वप्रसिद्धिरेवाऽभविष्यत् ततो हरितकं मूलकादि भक्षयित्वेति तन्त्रकृत्वावक्ष्यत् । तस्मान्मूलकस्य हरितकत्वं च ज्ञेयम् । लशुनेन सह क्षीरस्य प्रयोगो य उक्तः—“साधयेच्छुद्धशुष्कस्य लशुनस्य चतुःपलमिति” स न विरुद्धः । अग्न्यादिसम्पर्काद्द्रव्यान्तरत्वोत्पत्तेः ।

वाराहं श्वाविधा नाद्याद्, दध्ना पृषतकुक्कुटौ, ॥ ३२ ॥

आममांसानि पित्तेन, माषसूपेन मूलकम्, ।

अविं कुसुम्भशाकेन, विसैः सह विरुढकम्, ॥ ३३ ॥

माषसूपगुडक्षीरदध्याज्यैर्लाकुचं फलम्, ।

फलं कदल्यास्तक्रेण दध्ना तालफलेन वा, ॥ ३४ ॥

कणोषणाभ्यां मधुना काकमार्चौ गुडेन वा, ।



सिद्धां वा मत्स्यपचने, पचने नागरस्य वा, ॥ ३५ ॥

सिद्धामन्यत्र वा पात्रे कामात्तामुषितां निशाम्, ।

श्वाविधा सधामांसेन सह वाराहं मांसं नाद्यात् । अग्रेऽपि नाद्यादिति क्रिया-
योगो यावत्त्यजेदिति क्रियान्तरम् । पृषतकुक्कुटौ दध्ना सह नाद्यात् । आमाम्ना-
पकानि मांसानि पित्तेन सह । माषसूत्रेण सह मूलकम् । अविं मेषं कुसुम्भशाकेन
सह । विरूढकमङ्कुरितधान्यं बिसैः सह । माषसूपादीनामन्यतमेन सह लकुचफलम् ।
कदल्याः फलं तक्रेण सह दध्ना वा तालफलेन वा कदलीफलम् । कणोषणाभ्यां
सह काकमाचीम् । केवलेन मात्तिकेण सह काकमाचीं गुडेन वा सह काकमाचीम् ।
मत्स्याः पच्यन्ते यस्मिन् भारण्डे तत्र वा सिद्धां काकमाचीम् नाद्यात् । नागरस्य
वा पचने शुण्ठीपाचितभारण्डे सिद्धां काकमाचीम् । तथाऽन्यत्र वा भाजने यथारुचि
सिद्धां कामात्तां काकमाचीं रात्रिमुषितां पर्युषितां नाद्यात् ।

मत्स्यनिस्तलनस्नेहसाधिताः पिप्पलीस्त्यजेत्, ॥ ३६ ॥

कांस्ये दशाहमुषितं सर्पिरुष्णं त्वरुष्करे ।

मत्स्या निस्तल्यन्ते भृज्यन्ते येन स्नेहेन स मत्स्यनिस्तलनस्नेहस्तत्र साधिताः
पिप्पलीस्त्यजेत्, विरुद्धत्वात् । नाद्यादिति प्रकृतेऽपि त्यजेदिति वचनं न केवलं
नाद्याल्लेपादिकमपि न कुर्यादिति प्रतिपादनार्थम् । उत्तरत्राऽपि त्यजेदित्यस्यानु-
वृत्तावेतदेव तात्पर्यम् । कांस्यपात्रे दशरात्रमुषितं सर्पिस्त्यजेत् । दशाहादवर्गपि
विरुद्धमेव । अरुष्करे भस्मातकविषय उष्णमन्नपानादिकं त्यजेत् । तथा पेयं नोष्णो-
पचारेणेत्यर्थेन मद्यस्योष्णं निषिद्धम् । तथोष्णमुष्णार्तमुष्णे च युक्तं चोष्णैरिति
मात्तिकस्य । तथा दध्नो नैवाद्यान्निशि नैवोष्णं वसन्तोष्णेत्यादिभिः । तस्मान्मधु-
मद्यदधिष्वत्युष्णं विरुद्धमित्यत्राऽचार्यो युक्त्या प्रत्यपादयत् । सङ्ग्रहे तु स्पष्टं कृत्वो-
क्तम् । “ मद्यमधुदधिभस्मातकेषु चोष्णमिति ” ।

भासो विरुध्यते शूल्यः, कम्पिल्लस्तक्रसाधितः ॥ ३७ ॥

भासः पक्षिविशेषः शूल्यो विरुध्यते शूले संस्कृतो भासः कृतवस्तेर्विरुध्यत
इत्यर्थः । शूल्य इति शूलात्पाक इति यत् । कम्पिल्लस्तक्रसाधितो विरुध्यते ।
संग्रहे चातोऽधिकमप्युक्तम् । यथा—“ सौवीरेण तिलशङ्कुली । क्षीरेण लवणम् ।
नवनीतेन शाकम् । नवपुराणमामपकं चैकध्यम् । तथा सलिलावगाहः सहस्रोष्णा-
भित्तस्य त्वग्दृष्यपघाताय तृष्णाभिवृद्धये च । तथैव पयःपानं रक्तपित्ताय ।
शरीरेणायस्तस्य सहसाभ्यवहारश्छर्दिषे गुल्माय वा । वाचा त्वायस्तस्य स्वर-
सादायेति ।”

ऐकध्यं पायससुराकृशराः परिवर्जयेत् ।

एकत्र पायससुराकृशरास्त्यजेत् । ऐकध्यमिति एकाद्धो ध्यमुञ्चिति ध्यमुञ् ।

मधुसर्पिर्वसातैलपानीयानि द्विशस्त्रिशः ॥ ३८ ॥



एकत्र वा समांशानि विरुध्यन्ते परस्परम् ।

मध्वादीनि समांशानि तुल्यप्रमाणानि मिथो विरुध्यन्ते । कथम् ? द्वे वा त्रीणि वैकत्र वा सर्वाणि । यथा—मधुसर्पिषी । मधुवसे । माक्षिकतैले । माक्षिकोदके । त्रीणि त्रीणि यथा—मधुसर्पिर्वसेत्येवमादि । ननु यद्येवंविधो विरोध उच्यते तत्कथमगस्त्यलेहे “ कुडवं च पृथग्घृतात् । तैलात्सपिप्पलीचूर्णात्सिद्धशीति च माक्षिकादिति ” तैलघृतमधूनां तुल्यांशानां प्रयोगः ? ब्रूमः । केवलानां मध्वादीनां समांशानामुपयोगो विरुद्धो न तु द्रव्यान्तरसंयोगेन । तेषां संयोगसंस्कारादिवशाद्विशिष्टगुणान्तरोत्पत्तिर्दृष्टा । तस्मादगस्त्यलेहादौ द्रव्यान्तरे संयोगादिवशादविरोध एव ।

भिन्नांशे अपि मध्वाज्ये दिव्यवार्यनुपानतः ॥ ३६ ॥

मधुपुष्करबीजं च मधुमैरेयशर्करम् ।

मन्थानुपानः क्षैरेयो हारिद्रः कटुतैलवान् ॥ ४० ॥

भिन्नांशे अपि मध्वाज्ये दिव्यवार्यनुपानतोऽनुपानेन विरुध्येते । तृतीयाथै तसिप्रत्ययः । अपिशब्दान्न केवलं समांश इत्यर्थः । मधु माक्षिकं पुष्करबीजं चैकघ्नं विरुध्यते । तथा मधु मार्द्राकं भैरेयं खर्जूरसवं शर्करं शर्करया कृतं मद्यमेकत्रोपयुक्तं विरुध्यते । क्षैरेयः पायसो मन्थानुपानो विरुद्धः । मन्थोऽनुपानं यस्य स एवम् । क्षैरेय इति क्षीराड्डम् । हारिद्रः कुप्रसवः शाकविशेषः सर्पच्छत्रानुकारी पीताभासः कटुतैलवान् सर्षपतैलभृष्टो विरुद्धः ।

उपोदिकाऽतिसाराय तिलकल्केन साधिता ।

उपोदिका तिलकल्केन साधिताऽतिसाराय । तादर्थ्यं चतुर्थ्यत्र । अर्थो निमित्तम् । तस्मै इदं तदर्थं तदर्थमेव तादर्थ्यम् । तेनातीसारकरणमित्ययमर्थो जायते ।

बलाका वारुणीयुक्ता कुलमाषैश्च विरुध्यते ॥ ४१ ॥

भृष्टा वराहवसया सैव सद्यो निहन्त्यसून् ।

बलाका पक्षिजातिर्वारुण्या प्रसन्नया युक्ता विरुद्धा । कुलमाषैर्नातिस्विन्नमुद्रादिभिश्च सह विरुध्यन्त । सैव बलाका वराहवसया भृष्टा सद्यस्तत्क्षणादेव प्राणान् मारयति ।

तद्वत्तिरिपत्राढ्यगोधालावकपिञ्जलाः ॥ ४२ ॥

ऐरण्डेनाग्निना सिद्धास्ततैलेन विमूर्छिताः ।

तिर्य्यादय ऐरण्डेनाग्निना सिद्धास्ततैलेनैरण्डतैलेन विमूर्छिता वैदुषो भृष्टास्तद्वद्बलाकावत्सद्यो जीवितहराः । पत्राढ्यो मयूरः ।

हारीतमांसं हारिद्रशूलकप्रोतपाचितम् ॥ ४३ ॥

हारिद्रवह्निना सद्यो व्यापादयति जीवितम् ।

हारीतस्य पक्षिविशेषस्य मांसं हारिद्रशूलके प्रोतमासकं च तत्पाचितं च हारिद्राग्निना सद्यो जीवितं हन्ति ।

भस्मपांशुपरिध्वस्तं तदेव च समाक्षिकम् ॥ ४४ ॥

तदेव हारितमांसं भस्मपांशुपरिध्वस्तं समाक्षिकं विरुद्धम् । भस्म च पांशुश्च भस्मपांशू भस्मेरेणू ताभ्यां परिध्वस्तं धूसरितम् । सिद्धसारे चोक्तम्—“न जातु कटुतैलेन भृष्टमद्यादुषोदिकाम् । प्रियङ्गुकल्कस्निग्धाङ्गः पायसं न समाचरेदिति” ।

द्रव्याणामानन्यात्प्रतिपदोक्त्याऽशेषविरुद्धसङ्ग्रहः कर्तुमशक्य इति तत्सङ्ग्रहार्थं व्यापि लक्षणमाह—

यत्किञ्चिदोषमुत्क्रेश्य न हरेत्तत्समासतः ।

विरुद्धं शुद्धिरत्रेष्टा शमो वा तद्विरोधिभिः ॥ ४५ ॥

यत्किञ्चिदक्षपानौषधं वा दोषमुत्क्रेश्य स्वस्थानात्सम्बल्य न हरेद्बहिर्न निष्कासयेत् तत्समासतः संक्षेपतो विरुद्धम् । शुद्धिरत्रेष्टा । अत्र विरुद्धाहारकृते विकारे शुद्धिर्वमनविरेकादिरूपेष्टा त्रेष्टा । कुपितदोषसमूहस्य वमनादिभिर्निर्हरणात्तन्निर्हारे चारोग्योत्पत्तिः शमो वेति । न केवलं शुद्धिरिष्टा शमश्चेष्टः । कैः ? तेषां वैरोधिककोपितदोषाणां तत्कृतानां वा विस्फोटादीनां विकाराणां विरोधिभिः प्रतिपक्षभूतैरौषधैः ।

न च शोधनशमनरूप एवोपक्रमोऽत्रेत्याह—

द्रव्यैस्तैरेव वा पूर्वं शरीरस्याऽभिसंस्कृतिः ।

तैरेव वैरोधिककुपितदोषप्रतिपक्षभूतैर्द्रव्यैः पूर्वं प्रथमं या शरीरस्याऽभिसंस्कृतिः सा च विरुद्धाहारकृते विकारे प्रशस्तेति । यथा माक्षिकहरीतक्यादिना पित्तश्लेष्महरणौषधेन सन्ततशीलनादभिसंस्कृते देहे पित्तश्लेष्मकरं विरुद्धमुपयुक्तं सद्रिकर्तुमशक्तम् । एतदुक्तं भवति—विरुद्धप्रतिपक्षगुणवता द्रव्येण देहस्तथा दार्वं ग्राहितो यथा विरुद्धमपि द्रव्यं विकारं कर्तुं नाऽलम् ।

व्यायामस्निग्धदीप्ताग्निवयःस्थबलशालिनाम् ॥ ४६ ॥

विरोध्यपि न पीडायै सात्म्यमल्पं च भोजनम् ।

व्यायामो विद्यते येषामित्यर्थ आदित्वादच् । वयःस्थास्तरुणाः । बलेन शालितुं श्रद्धितुं शीलं येषां ते बलशालिनः । स्निग्धाः स्निग्धवृद्ध्याहारसात्म्याः । व्यायामिनां विरोध्यपि भोजनं न पीडायै न रोगोत्पत्तये । एवं स्निग्धादीनां प्रत्येकं सम्बन्धः कार्यः । केचिव्यायामीति पठन्ति । तथा विरुद्धमप्यन्नं यदभ्यासात्सात्म्यं सात्मीभूतं तथाऽल्पमल्पमात्रया च यद्भोजनं तच्च विरुद्धमपि न पीडायै, इति योज्यम् ।

अथ यद्यपथ्यमपि सात्म्यतां प्राप्तं तर्हि त्याज्यं न वा ? कथं च त्याज्यं कथं च पथ्यं भोज्यमित्याह—

पादेनापथ्यमभ्यस्तं पादपादेन वा त्यजेत् ॥ ४७ ॥

अपथ्यमहितमन्नं पानं वा यल्लङ्घनप्लवनजागरणस्वप्नादिकं वा चेष्टितमहितमभ्यस्तं तत्पादेन चतुर्थांशेन त्यजेदहितफलत्वात् । तादृि शरीरोचितमप्यपथ्यत्वाद्-

दर्के दोषाय सम्पद्यते न गुणाय । यदि तु तदपथ्यमभ्यस्तं तथा सात्मीभूतं यस्मि-
श्वतुर्थाशेनाऽपि त्यज्यमाने शरीरबाधा शक्यते वह्निमान्द्याद्वा तदा पादपादेन वा
षोडशांशेन त्यजेदिति वाशब्दार्थः ।

निषेवेत हितं तद्वदेकद्वित्र्यन्तरीकृतम् ।

तेन तुल्यं वर्तते तद्वत् । तेनैव क्रमेण पादेन पादपादेन वा हितं निषेवेत
शीलयेत् । कथमेतद्वद्वयमप्यपथ्यरूपं त्याज्यं पथ्यं निषेव्यं चेत्याह । एकेत्यादि ।
एकश्च द्वौ च त्रयश्च तैरन्तरीकृतम् । एकद्वित्रिभिरन्नकालैर्व्यवधानं कृत्वाऽपथ्यं
पादेन पादपादेन वा त्यजेत् । एकद्वित्र्यन्तरीकृतमिति क्रियाविशेषणत्वादत्र नपुंस-
कलिङ्गत्वम् । अधुनैतदेव स्पष्टीकृतोच्यते । अपथ्यात्पाटलव्रीह्यादेरभ्यस्तात्पादमेकं
त्यक्त्वाऽनुचितात्पथ्याद्रक्तशाल्यादेस्तमेव पादं दत्त्वा चतुष्पात्त्वं सम्पाद्य योज्यम् ।
एवमन्नकालमेकमतिवाहयेत् । एवं पादेनापथ्यमभ्यस्तं त्यक्तं भवति । पथ्यं चानु-
चितं निषेवितं भवति । तथा द्वितीयेऽन्नकाले सर्वमपथ्यं योजनीयम् । एवमेकेनान्न-
कालेनापथ्यपादोऽन्तरीकृतः । ततस्तृतीयेऽप्युचितादपथ्यात्पादद्वयमपास्यानुचिता-
त्पथ्यात्पादद्वयमुपयुज्य ततश्चतुर्थे सर्वमपथ्यं भोज्यं पञ्चमे च । एवमन्नकालद्वयेन
पथ्यपादद्वयसहितमपथ्यपादद्वयमन्तरीकृतम् । ततः षष्ठेऽन्नकाले पादमुचितादपथ्या-
त्पादत्रयमनुचितात्पथ्याद् भुक्त्वा सप्तमाष्टमनवमान्नकालेषु सर्वमपथ्यं भोज्यम् ।
एवमन्नकालत्रयेणापथ्यमन्तरीकृतम् । ततो दशमेऽन्नकाले सर्वं पथ्यं सेवनीयम् ।
एवं पादपादेनाप्ययमेव क्रमः । स्पष्टार्थं च दिक्प्रदर्श्यते । तथा यवकादेः षोडशांशं
त्यक्त्वाऽनुचिताच्छाल्यादेः पथ्यात्षोडशांशमेव दत्त्वा चतुष्पात्त्वं सम्पाद्य भोज्यम् ।
एवमपथ्यमभ्यस्तं पादपादेन त्यक्तं भवति पथ्यं चानुचितं निषेवितं भवति ।
द्वितीयेऽन्नकाले सर्वमपथ्यं सेव्यम् । एवमेकेनापथ्यषोडशांशोऽन्तरीकृतः । तत-
स्तृतीयेऽप्युचितादपथ्यात्पादपादद्वयमपास्याऽनुचितात्पथ्यात्पादपादद्वयं दत्त्वा चतु-
ष्पात्त्वं सम्पाद्य सेव्यम् । ततश्चतुर्थे पञ्चमे वाऽन्नकाले सर्वमपथ्यं भोज्यम् । एवं
कालद्वयेन पादपादद्वयमपथ्यस्यान्तरीकृतम् । ततः षष्ठेऽन्नकालेऽनुचितात्पथ्यात्पाद-
पादत्रयमुचितादपथ्यात्पादपादास्त्रयोदशेति भोज्यम् । ततः सप्तमाष्टमनवमान्नकालेषु
सर्वमपथ्यं भोज्यम् । एवं कालत्रयेणान्तरीकृताः । ततो दशमेऽन्नकाले पथ्यादनु-
चितात्पादपादाश्चत्वारः । अपथ्यपादपादा द्वादशेति भोज्यम् । तत एकादशे
सर्वमपथ्यं भोज्यम् । तत एकेनान्नकालेनान्तरीकृतम् । एवमन्नकालद्वयत्रयान्तरितं
च तावद्योज्यं यावत्पथ्यस्य षोडशपादाः सेव्यतया सम्पद्यन्ते ।

एवमनेन क्रमेणापथ्यदोषास्त्यक्ताः पीडायै न भवन्ति, पथ्यगुणाश्च संवर्धिताः
स्थिरतां प्राप्नुवन्तीत्यत आह—

अपथ्यमपि हि त्यक्तं शीलितं पथ्यमेव वा ॥ ४८ ॥

सात्म्यासात्म्यविकाराय जायते सहसाऽन्यथा ।



हि यस्मात्सहसा क्रममिममनालोच्याऽन्यथैवोक्तविध्यतिक्रमेणाऽपथ्यमपि त्यक्तं सात्म्यविकाराय जायते, पथ्यमेव वा सहसा शीलितमसात्म्यविकाराय जायते । सात्म्यासात्म्याभ्यां विकारः सात्म्यासात्म्यविकारस्तस्मै । क्लृप्ति सम्पद्यमाने चतुर्थीति चतुर्थी ।

क्रमेण त्वपथ्यत्यागपथ्यशीलने विधीयमाने गुणाय स्यात्तमिति दर्शयति—

क्रमेणापचिता दोषाः क्रमेणोपचिता गुणाः ॥ ४६ ॥

नाप्नुवन्ति पुनर्भावमप्रकम्प्या भवन्ति च ।

दोषा अपथ्याभ्यासजाः क्रमेण पूर्वोक्तेनापचिताः क्षयं नीताः, गुणाश्च पथ्योपयोगजाः क्रमेण पूर्वोक्तेनैवोपचिताः वृद्धिं नीताः सन्तः, पुरुषाणां यथासङ्ख्यमपुनर्भावं यान्ति दोषाः, गुणाश्चाऽप्रकम्प्याः स्थिरा भवन्ति ।

साम्प्रतमहिताहारसेवनं सदा त्याज्यमिति सद्युक्तिं दर्शयति—

अत्यन्तसन्निधानानां दोषाणां दूषणात्मनाम् ॥ ५० ॥

अहितैर्दूषणं भूयो न विद्वान् कर्तुमर्हति ।

दोषाणामहितैराहारादिभिर्दूषणं कर्तुं विद्वान् परिहृतो नार्हति न युज्यते । किम्भूतानाम् ? अत्यन्तमतिशयेन सन्निधानं निकटत्वं येषां दोषाणां त एवं तेषां दूषणात्मनां दूषणस्वभावानाम् ।

एतत्प्रसङ्गेन चेदमाह—

आहारशयनाऽब्रह्मचर्यैर्युक्त्या प्रयोजितैः ॥ ५१ ॥

शरीरं धार्यते नित्यमागारमिव धारणैः ।

शयनं स्वप्नः, अब्रह्मचर्यं स्त्रीणां सेवा । आहारादीनां द्वन्द्वः । एतैर्युक्त्या प्रयोजितैः शरीरं सततं धार्यते । किमिव कैः ? आगारं गृहमिव धारणैः स्तम्भैर्यथा ।

आहारो वर्णितस्तत्र तत्र तत्र च वक्ष्यते ॥ ५२ ॥

तत्र तेषु त्रिषु मध्याह्नहारो वर्णितः ऋतुचर्यायां द्वात्रिंशस्वरूपविज्ञानीययोः । तत्र तत्र च शास्त्रकारो ज्वरचिकित्सादौ च वक्ष्यति ।

शयनाऽब्रह्मचर्ययोस्त्विहैव विधिं वक्तुकाम आह—

निद्रायत्तं सुखं दुःखं पुष्टिः काश्यं बलाऽबलम् ।

वृषता क्लीवता ज्ञानमज्ञानं जीवितं न च ॥ ५३ ॥

निद्रायत्तं निद्राधीनं, सुखमरोग्यं, दुःखं रोगस्तथा पुष्ट्यदि च । न च जीवितमिति संबन्धः । अजीवितेन योगो भवतीत्यर्थः ।

साम्प्रतं दुष्टनिद्रां निर्दिशति—

अकालेऽतिप्रसङ्गाच्च न च निद्रा निषेविता ।

सुखायुषी पराकुर्यात्कालरात्रिरिवाऽपरा ॥ ५४ ॥

अकाले निषेवितेऽति च निषेविता न च निषेविता निद्रा, सुखमारोग्यलक्षण-

मायुश्च जावितं ते सुखायुषी पराकुर्यान्नाशयेत् । केव ? अपरा कालरात्रिरिव ।

अथ निद्रागुणप्रसङ्गेन तत्प्रतिपक्षभूतस्य जागरणस्याऽपि गुणमाह—

रात्रौ जागरणं रूक्षं, स्निग्धं प्रस्वपनं दिवा, ।

अरूक्षमनभिष्यन्दि त्वासीनप्रचलायितम् ॥ ५५ ॥

अपिशब्दावत्र सामर्थ्यलब्धौ बोद्धव्यौ । तेन रात्रावपि जागरणं रूक्षम् । दिवा त्वाग्नेयमित्यर्थं रूक्षं कालेनाहितबलत्वात् । तथा प्रस्वपनं दिवाऽपि स्निग्धम् । रात्रौ तु सौम्यकालेऽतिशयेन स्निग्धमित्यवतिष्ठते । अपिशब्दाभ्यामन्तरेण तु रात्रावेव जागरणं रूक्षं दिवा तु स्निग्धमित्यर्थो जायते । व्यवच्छेद्यफलत्वाद्वाक्यानाम् । एवं दिवस एव स्निग्धं प्रस्वपनं रात्रौ तु रूक्षमिति । नचैतद्युज्यते । ततो दिवा जागरणं सदा रूक्ष नाभविष्यत् तत्कथमिदमुपपत्स्यते ? “बहुमेदःकफाः स्वप्युः स्नेहनित्याश्च नाऽहनि । विषार्तः कण्ठरोगी च नैव ज तु निशास्वपीति” । येषां ह्यप-
तर्पणमेव हितं यच्चापतर्पणं तदवश्यं रूक्षम् । तस्मादपतर्पणस्वभावं जागरणमेव सेव्यम् । तथा—“ ग्रीष्मे वायुचयादानरौक्ष्यरात्र्यल्पभावतः । दिवास्वप्नो हितोऽन्यस्मिन् कफपित्तकरो हि सः । मुक्त्वा तु भाष्ययानाध्वमद्य-
स्त्रीभारकर्मभिः । क्रोधशोकभयैः क्लान्तान् श्वासहिध्मातिसारिणः । वृद्ध-
बालाऽबलक्षीणक्षततृट्शूलपीडितान् । अजीर्णाभिहतोन्मत्तान् दिवास्वप्नो-
चितानपि ” । तदेतेषां सन्तर्पणार्हत्वात्सन्तर्पणमेव हितम् । यच्च सन्तर्पणं तदवश्यं स्निग्धम् । तस्मादेतैः सन्तर्पणस्वभावमेव सदा प्रस्वपनं सेव्यम् । एवं च पूर्वमेव च व्याख्यानं युक्तम् । प्रस्वप्रजागरणक्रिययोरद्रव्ययोरपि रूक्षस्निग्धत्वमुपचारादुप-
पन्नम् । यथा रूक्षं द्रव्यं गुग्गुलुवादि कफमेदःप्रभृतीन् सौम्यान् भावान् क्षपयति । तथैव यदा जागरणमपि तत्क्षपयद् दृष्टं, तदा तद्रूक्षकार्यकरणादरूक्षमपि रूक्ष-
मित्युपचर्यते । तथा प्रस्वपनादर्वाक्कफमेदःप्रभृतीनां सौम्यानां भावानां स्वहेतो-
रुत्पादस्तथा नोपलभ्यते । यथा प्रस्वपनादनन्तरं तस्मात्प्रस्वपनमस्निग्धमपि स्निग्ध-
मित्युपचर्यते । प्रवल इवाचरतीति क्यङन्तान्निष्ठा । आसीनस्योर्पावष्टस्य प्रचलायि-
तस्मासीनप्रचलायितं, नतु प्रस्वपनं सर्वसर्विकया । येन स्नेहनहेतुः स्यात् । रूक्षकार्याऽ-
करणादरूक्षम् । अनभिष्यन्दि तु विशेषेण । आसीनप्रचलायितं पुनरीदृशप्रमित्यर्थः ।

यदि स्निग्धत्वादभिष्यन्दो दिवास्वप्नस्तर्कि कदाचिदपि न कार्य इत्याह—

ग्रीष्मे वायुचयादानरौक्ष्यरात्र्यल्पभावतः ।

दिवास्वप्नो हितोऽन्यस्मिन्कफपित्तकरो हि सः ॥ ५६ ॥

मुक्त्वा तु भाष्ययानाध्वमद्यस्त्रीभारकर्मभिः ।

क्रोधशोकभयैः क्लान्तान् श्वासहिध्मातिसारिणः ॥ ५७ ॥

वृद्धबालाऽबलक्षीणक्षततृट्शूलपीडितान् ।

अजीर्णाभिहतोन्मत्तान् दिवास्वप्नोचितानपि ॥ ५८ ॥

धातुसाम्यं तथा ह्येषां श्लेष्मा चाऽङ्गानि पुष्यति ।

ग्रीष्मकाले दिवास्वप्नो हितः । यतस्तस्मिन्काले पवनचयो भवति । आदानस्य च परिपुष्टत्वादतिरौक्ष्यं भवति । रात्रयश्च निद्रासमाप्त्ययोग्या अल्पा भवन्ति । दिवास्वप्नश्च सन्तर्पकः । ग्रीष्मादपरस्मिन् काले कफपित्तकरः सः, अचिन्त्यत्वाद्देतु-प्रभावस्य । भाषादिक्लान्तादीन् मुक्त्वा वर्जयित्वा । तेनैतदुक्तं भवति—ग्रीष्मादपर-स्मिन्नपि काले स्वप्न एषां हित एव । यानमध्वादि । क्षतः खड्गादिच्छिन्नः । अभिहतो लगुडादिना । स्वप्नोचिताः शीलितदिवास्वप्नाः । तत्र भाष्यादिक्लान्तानां पवनकोपात्स्वप्नोऽनुज्ञातः । श्वासहिष्मादीनां वेगविस्मरणार्थम् । वृद्धादीनां यथायथं सन्तर्पणार्थं वेगविस्मरणार्थं च । अजीर्णिनां दिवास्वप्नोचितानां च धातुवैषम्यपरि-हारार्थं दिवास्वप्नोऽनुमतस्तन्त्रकृता । तथा चोक्तम्—“उचितो हि दिवास्वप्नो येषां नित्यं शरीरिणाम् । वातादयः प्रकुप्यन्ति तेषामस्वपतां दिवेति” । नन्वजीर्णिनां दिवास्वप्नो न युक्तो दिवास्वप्नस्य कफवृद्धिकरत्वात् ? कफवृद्ध्या चाग्निमान्द्यम् । अग्निमान्द्यादजीर्णाक्षयाऽपाक इत्ययुक्तस्तेषां दिवास्वप्नः । अत्रोच्यते—दिवास्वप्ने-नाजीर्णिनां धातुसाम्यं भवति, धातुसाम्ये च सति स्वस्थानस्थितैर्दोषैरनुपहतो बहिः पचनक्षमो भवति । कफस्तु वृद्धोऽपि नैतेषामग्निमान्द्यं विधत्ते । अपित्वङ्गानां पुष्टि-मादधाति । अत एवानन्तरमेवोवाच शास्त्रकारः—“धातुसाम्यं तथा ह्येषां श्लेष्मा चाऽङ्गानि पुष्यतीति” ।

बहुमेदःकफाः स्वप्युः स्नेहनित्याश्च नाऽहनि ॥ ५६ ॥

विषार्तः कण्ठरोगी च नैव जातु निशास्वपि ।

तथा बहुमेदःश्लेष्माणः स्निग्धाहारादिशीलिनश्च ग्रीष्मेऽप्यहनि न स्वप्युः । विषार्तः कण्ठरोगी च रात्रिष्वपि कदाचिदपि न स्वप्यात् ।

अकालशयनान्मोहज्वरस्तैमित्यपीनसाः ॥ ६० ॥

शिरोरुक्शोफहृत्तासस्त्रोतोरोधाऽग्निमन्दताः ।

अकाले शयनं स्वप्नोऽकालशयनं तस्मादकालशयनान्मोहादयः स्युः । तैमित्यं गात्राणां निरुत्साहत्वम् ।

अत्र च का चिकित्सेत्याह—

तत्रोपवास-वमन-स्वेद-नावनमौषधम् ॥ ६१ ॥

योजयेदतिनिद्रायां तीक्ष्णं प्रच्छर्दनाञ्जनम् ।

नावनं लङ्घनं चिन्तां व्यवायं शोकभीक्रुधः ॥ ६२ ॥

एभिरेव च निद्राया नाशः श्लेष्मातिसंक्षयात् ।

तेष्वकालस्वप्नजेषु रोगेषूपवासाद्यौषधं योजयेत् । निद्रायाश्च बाहुल्येन रात्रिः कालः । तथा चोक्तम्—“लोकादिसर्गप्रभवा तमोमूला तमोमयी । बाहुल्यात्तमसो

रात्रौ निद्रा प्रायेण जायत इति” । अतिनिद्रायां सत्यां तीक्ष्णानि वमनाञ्जननस्यानि योजयेत्, लङ्घनानि च । एभिरेव च तीक्ष्णवमनादिभिर्निद्राया नाशो भवति । श्लेष्माख्यस्य धातोरतिशयेनापचयात् ।

सम्प्रति निद्रानाशजान्विकारानाचष्टे—

निद्रानाशादङ्गमर्दशिरोगौरवजृम्भिकाः ॥ ६३ ॥

जाड्यं ग्लानिभ्रमापकृतन्द्रा रोगाश्च वातजाः ।

निद्रानाशादङ्गमर्दादयो वातोत्थाश्च रोगाः स्युः ।

यथाकालमतो निद्रां रात्रौ सेवेत सात्म्यतः ॥ ६४ ॥

असात्म्याज्जागरादर्धं प्रातः स्वप्यादभुक्त्वान् ।

यतश्च सम्यक् सेविताया निद्राया असम्यक् सेवितायाश्चाऽनन्तरोक्ता गुणा दोषाः । अतोऽस्माद्धेतोः कालानतिक्रमेण सात्म्यतो यामद्वयं त्रयं वा निशि निद्रां भजेत् । असात्म्याज्जागरादर्धेन स्वप्न इष्यते । किन्तर्हि यो यावन्तं कालमुचितं स्वपिति तस्मात्कालादर्धेन प्रातः स्वप्यात् ? असात्म्यग्रहणेनैतद् द्योतयति । न सर्वस्य रात्रावसुप्तस्य जागरणकालादर्धेन दिवास्वप्न इष्यते किं तर्हि यो यावन्तं कालमुचितं स्वपिति तस्मात्कालाद्यावन्तं कालं निशि जागृयात्तावतोऽर्धेनासौ प्रातः स्वप्यात् । केचिद्धि स्वल्पनिद्राः स्वभावतो भवन्ति । अभुक्त्वानभुक्ते सति ।

शीलयेन्मन्दनिद्रस्तु क्षीरमद्यरसान्दधि ॥ ६५ ॥

अभ्यङ्गोद्वर्तनस्नानमूर्धकर्णाक्षितर्पणम् ।

कान्ताबाहुलताश्लेषो निर्वृतिः कृतकृत्यता ॥ ६६ ॥

मनोनुकूला विषयाः कामं निद्रासुखप्रदाः ।

ब्रह्मचर्यरतेर्ग्राम्यसुखनिस्पृहचेतसः ॥ ६७ ॥

निद्रा सन्तोषतृप्तस्य स्वं कालं नातिवर्तते ।

यो यो मन्दनिद्रः स क्षीरादीन् शीलयेत् । कान्ताबाहुलताश्लेषादयो निद्रासुखहेतवः । कान्ताबाहुलताश्लेषग्रहणमाश्लेषमात्रमेव निद्रासुखहेतुर्नतु ग्राम्यधर्मसेवेति दर्शनार्थम् । अत एवानन्तरमाह—“ ब्रह्मचर्यरतेर्निद्रा स्वं कालं नातिवर्तते इति ” । ब्रह्मचर्यरतस्याऽप्यनुगतो भैथुनाभिलाषो निद्रां नाशयेदित्याह । ग्राम्यसुखनिस्पृहं चेतो यस्य स तस्य । तथा सन्तोषतृप्तस्य ।

यदा तु ग्राम्यधर्मेण विना न रतिरपत्यार्थिता वा तदा तदधिकारार्थमुच्यते—

ग्राम्यधर्मे त्यजेन्नारीमनुत्तानां रजस्वलाम् ॥ ६८ ॥

अप्रियामप्रियाचारां दुष्टसंकीर्णमेहनाम् ।

अतिस्थूलकृशां सूतां गर्भिणीमन्ययोषितम् ॥ ६९ ॥

वर्णिनीमन्ययोनिं च गुरुदेवनृपालयम् ।

चैत्यश्मशानाऽऽयतनचत्वराम्बुचतुष्पथम् ॥ ७० ॥



पर्वाण्यनङ्गं दिवसं शिरोहृदयताडनम् ।

अत्याशितोऽधृतिः क्षुद्रान् दुःस्थिताङ्गः पिपासितः ॥ ७१ ॥

वालो वृद्धोन्यवेगार्तस्त्यजेद्रोगी च मैथुनम् ।

ग्राम्यधर्मे स्त्रीपुंसयोगविषयेऽनुत्तानां स्त्रियं त्यजेदुत्तानां भेजदित्यर्थः । तथा रजस्वलत्वादियुतां त्यजेत् । दुष्टं व्याधिमलादिभिः सङ्कीर्णं सङ्कुचन्महनं योनिर्यस्यास्ताम् । तथा वर्णिनीं ब्रह्मचारिणीम् । अन्ययोनिमज्जामहिष्यादिं च त्यजेत् । गुर्वित्यादि । ग्राम्यधर्मनिर्वर्तने गुरुदेववृत्पालयास्त्यजेत् । तथा चैत्यादीस्त्यजेत् । तेषु स्त्रियं न सङ्गच्छेदित्यर्थः । चैत्यादीनां पर्याया दिनचर्यायामुक्ताः । आयतनं दुष्टानां निग्रहस्थानम् । पर्वाणि रविसङ्क्रान्त्यादींस्त्यजेत् । तेषु कामं न सेवेतेत्यर्थः । तथाऽनङ्गम् । अङ्गं जघनम्, नाङ्गमनङ्गमङ्गसदृशं जघनकार्यनिर्वर्तनयोग्यं मुखादिकमुच्यते । दाक्षिणात्या हि मुखेन कुर्वन्ति तन्निषिध्यते । दिवसं च त्यजेत् । दिने रतं न कुर्वीतेत्यर्थः । मूर्ध्ववक्षोभिघातं च त्यजेत् । अत्याशितादयः सुरतं त्यजेयुः । अत्याशितोऽतिभुक्तः । अधृतिर्दुमनाः । अन्यवेगार्तः पुरीषादिवेगातुरः । ननु क्षुद्रान् क्षुद्रेगार्त उच्यते । ततोऽन्यवेगार्त इत्यनेनैवाऽस्यार्थस्य लब्धत्वात्, किं क्षुद्रानित्यनेन ? सत्यमेतत् । अतिशयार्थं त्वेतत् । यथा क्षुद्रेगार्तः स्त्रियं गच्छन्नतिशयेन पीडया बाध्यते, न तथाऽन्यवेगार्त इति ।

सम्प्रति ऋतुविशेषे निधुवनं नियमयति ।

सेवेत कामतः कामं तृप्तो वाजीकृतां हिमे ॥ ७२ ॥

त्र्यहाद्वसन्तशरदोः पक्षाद्वर्षानिदाघयोः ।

तृप्तो वाजीकरणैः सञ्जातसन्तर्पणः सन् कामतो यथेच्छया हिमे हेमन्तर्तौ शिशिरे च कामं यथेच्छं सेवेत । वाजीकृतामिति सम्पर्दादित्वात्किम् । तृप्त इति क्लोऽधिकरणे च ध्रौव्येत्यादिनाऽधिकरणे क्तः । अधिकरणवाचिनश्चेति षष्ठी । वसन्ते शरदि च त्र्यहात् त्र्यहमतिक्रम्य मैथुनं निषेवेत । वर्षाग्रीष्मयोः पक्षात् कामं भजेत् ।

भ्रमक्लमोरुदौर्बल्यबलधात्विन्द्रियक्षयः ॥ ७३ ॥

अपर्वमरणं च स्यादन्यथा गच्छतः स्त्रियम् ।

अन्यथोक्तविधेरन्येन प्रकारेण स्त्रियं गच्छतो भ्रमादयः स्युः । अपर्वण्यकाले मरणमपर्वमरणम् ।

स्मृतिमेधायुरारोग्यपुष्टीन्द्रियशोबलैः ।

अधिका मन्दजरसो भवन्ति स्त्रीषु संयताः ॥ ७४ ॥

स्त्रीषु संयताः स्त्रीः सम्यक् सेवमानाः, स्मृत्यादिभिरधिका अल्पजराश्च भवन्ति ।

स्नानानुलेपनहिमानिलखण्डखाद्यशीताम्बुदुग्धरसयूषसुराप्रसन्नाः ।

सेवेत चानुशयनं विरतौ रतस्य तस्यैवमाशु वपुषः पुनरेति धामा ॥ ७५ ॥

रतान्ते यथौचित्येन स्नानादीन् सेवेत । खण्डखाद्यं खण्डकृतं कणिकेत्यादि ।

रसो मांसरसः । चानुशयनमिति । अनु पश्चाच्च स्वप्नं सेवेत् । तस्य स्नानादिसेविनः शरीरस्य एवमस्मिन्कृते धाम तेजो भूय आगच्छति । “ तमौजौ वसन्ततिलकं गुरुकद्वयं च ” “ स्नानाङ्गरागव्यजनेन्दुपादयूषासवक्षरिरसान् रसालाम् । भक्षान् सिताब्धान् सलिलं सुशीतं सेवेत निद्रां च रतान्ततान्त इति ” ।

एतच्च पूर्वोक्तं हिताहितं सर्वं वैद्य एव वेत्ति, तस्माद्वैद्ये सर्वथा शरीरं राज्ञा निवेद्यमिति दर्शयन्नाह—

श्रुतचरितसमृद्धे कर्मदत्ते दयालौ

भिषजि निरनुबन्धं देहरक्षां निवेश्य ।

भवन्ति विपुलतेजःस्वास्थ्यकीर्तिप्रभावः

स्वकुशलफलभोगी भूमिपालश्चिरायुः ॥ ७६ ॥

भिषजि शरीररक्षणं निरनुबन्धं निर्विकल्पमाधाय बहुकालमात्मीयश्रेष्ठफल-भोगवान्, तथा तेजश्च, स्वास्थ्यं च, कीर्तिश्च, प्रभावश्च, एवं विपुला विस्तीर्णा-स्तेजःस्वास्थ्यकीर्तिप्रभावा यस्य स एवंविधः । कीदृशे भिषजि । श्रुतं शास्त्रावबोधः । चरितमाचारः । ताभ्यां समृद्धे सम्पूर्णं । तथा क्रियाचतुरे । तथा कृपालौ । “ वसु-मुनिविरतिश्चन्मालिनी नौ मयौ यः ” ।

इति श्रीमृद्गदत्तपुत्र श्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टाङ्गहृदयटीकायां सर्वाङ्गसुन्दरा-ख्यायामन्नपानरक्षाध्यायः सप्तमः ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः ।

अन्नरक्षाऽध्यायानन्तरं मात्राशितीयो युक्तः । यतो विषादिभ्यो रक्षितमन्नपानं हीनमात्राभ्यवहृतं जीवितोपघाताय सम्पद्यते । मात्राभ्यवहृतं प्राणिनां प्राणाय ।

अथातो मात्राशितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।

अथेत्यानन्तर्ये । यथा—“ अथाऽतो धर्मजिज्ञासेति ” वेदाध्ययनादनन्तरं धर्मो जिज्ञासितव्य इत्यर्थः । ‘ अतः ’ इति प्रस्तुताभिसम्बन्धे । अशशनम-शितम् । भवे निष्ठा । मात्रयाऽशितं तस्मै हितो मात्राशितीयः । शेषं पूर्व-वद्व्याख्येयम् ।

मात्राशी सर्वकालं स्यान्मात्रा ह्यग्नेः प्रवर्तिका ।

मात्रां द्रव्याण्यपेक्षन्ते गुरुण्यपि लघून्पि ॥ १ ॥

सर्वकालं स्वस्थ आतुरो वा मात्राशी स्यात्, परिमिताशी भवेत् । कुतो हेतोः ? हि यस्मान्मात्राऽग्नेः प्रवर्तिका, स्वव्यापारे अग्निप्रवृत्तिश्च देहस्थितिहेतुः । तथा चोक्तम्—“अग्निमूलं बलं पुंसां बलमूलं हि जीवितमिति ” । तस्मान्मात्रायाः प्राधान्यम् । यस्माच्च कारणान्मात्रायाः प्राधान्यं, ततो मात्रां द्रव्याण्यपेक्षन्ते

गुरुण्यपि लघूनि च । तत्र गुरुणि पिष्टक्षीरद्राक्षाऽक्षोडेक्षुमाषानूपमांसादीनि । लघूनि दिव्योदकरक्कशालिषष्टिकमुद्गलावकपिञ्जलैणशशशम्बरादीनि ।

तत्र गुरुणां का मात्रा का लघूनामित्याह—

गुरुणामर्धसौहित्यं लघूनां नातितृप्तता ।

मात्राप्रमाणं निर्दिष्टं सुखं यावद्विजीर्यति ॥ २ ॥

गुरुणां द्रव्याणामर्धसौहित्यमर्धतृप्तिः । लघूनां नातितृप्तता नातितृप्तिः । किं तर्हि सौहित्यमात्रम् ? एतन्मात्राप्रमाणं निर्दिष्टम् । मात्रा ह्रस्वा मध्या बृहती च, तस्याः प्रमाणम् । तत्र प्रमाणं मानम् । तस्यास्तु प्रमाणमुन्मानम् । एवं चात्र मात्राशब्दस्यापौनरुक्त्यम् । हि यस्मात्, तावत् परिमाणमभ्यवहतं सुखमविकृतिं कृत्वा परिणमति । एतद्विपर्ययेण हीनमात्रं भोजनं वर्ज्यं दोषदर्शनात् ।

यथा चाह—

भोजनं हीनमात्रं तु न बलोपचयौजसे ।

सर्वेषां वातरोगाणां हेतुतां च प्रपद्यते ॥ ३ ॥

हीनमात्रं पुनरशनं न बलाय, नोपचयाय, न चौजसे । सर्वेषां वातरोगाणां कारणतां याति ।

अतिमात्रं पुनः सर्वानाशु दोषान् प्रकोपयेत् ।

अतिमात्रं त्वशनं त्रीनपि दोषान् शीघ्रमेव प्रकोपयति ।

कुपिताश्च त्रयो दोषा अलसकारुण्यं विषूचिकारुण्यं वा व्याधिं यथा कुर्वन्ति तथा दर्शयति—

पीड्यमाना हि वाताद्या युगपत्तेन कोपिताः ॥ ४ ॥

आमेनाग्नेन दुष्टेन तदेवाविश्य कुर्वते ।

विष्टम्भयन्तोऽलसकं च्यावयन्तो विषूचिकाम् ॥ ५ ॥

अधरोत्तरमार्गाभ्यां सहसैवाऽजितात्मनः ।

तेनापक्वेनाहारेण दुष्टेन वाताद्या हि यस्मात्पीड्यमाना विबध्यमाना रुद्धमार्गत्वादत एव युगपदेककालं सर्व एव कोपितास्तदेव दुष्टमन्नमाविश्याऽलसकं कुर्वते । किं कुर्वन्तः ? विष्टम्भयन्तस्तदेव दुष्टमन्नं स्रोत सु रुन्धानाः । तथाऽधरोत्तरमार्गाभ्यां सहसैवानुचिते देशे काले च्यावयन्त ऊर्ध्वमधश्च निष्कर्षयन्तः । अजितात्मनोऽसंयतचेतसो मनुजस्य विषूचिकां कुर्वते ।

एतदेव सविस्तरमाह—

प्रयाति नोर्ध्वं नाधस्तादाहारो न च पच्यते ॥ ६ ॥

आमाशयेऽलसीभूतस्तेन सोऽलसकः स्मृतः ।

ऊर्ध्वं मुखेनाहारो न प्रयाति, न चाधस्ताद् गुदेन प्रयाति, न चाहारः पच्यते । आमाशये="नाभिस्तनान्तरं जन्तोरामाशय इति स्मृतः," तस्मिन्नलसीभूत इवा-

लसंभूतः । यथाऽकर्मशीलः पुरुषोऽलस इत्युच्यते, तथाऽयमाहारोऽलसंभूत-
स्तिष्ठति, तेन हेतुना स रोगोऽलसकः स्मृतः ।

विषूचिकायःस्तु निर्वचनमाह—

विविधैर्वेदनोद्भेदैर्वाय्वादिभृशकोपतः ॥ ७ ॥

सूचीभिरिव गात्राणि विध्यतीति विषूचिका ।

वाय्वादीनां त्रयाणामत्यन्तप्रकोपाच्चानाप्रकारैर्वेदनोद्भेदैः पीडोत्पादैर्यस्माद्वा-
त्राणि सूचीभिरिव विध्यति तस्माद्विषूचिकेत्युच्यते । विविधानां विकाराणां सूचिका
विषूचिका विषूचिकेत्युच्यते ।

तत्र शूलभ्रमाऽऽनाहकम्पस्तम्भादयोऽनिलात् ॥ ८ ॥

पित्ताज्ज्वरातिसारान्तर्दाहवृद्धप्रलयादयः ।

वातादधिकाच्छूलादयो भवन्ति । आदिशब्देनाङ्गोद्भेदनमुखशोषादिपरिग्रहः ।
पित्ताद् वृद्धाज्ज्वराद्याः स्युः । प्रलयो मूर्च्छाप्रायः । आदिशब्देन मदादिपरिग्रहः ।

कफाच्छर्द्यङ्गुस्तवाक्सङ्गृहीवनादयः ॥ ९ ॥

कफादधिकाच्छर्द्यादयो भवन्ति । आदिशब्देन क्षवत्वादीनां ग्रहणम् ।

विशेषाद् दुर्बलस्याऽल्पवहेर्वेगविधारिणः ।

पीडितं मारुतेनान्नं श्लेष्मणा रुद्धमन्तरा ॥ १० ॥

अलसं क्षोभितं दोषैः शल्यत्वेनैव संस्थितम् ।

शूलादीन्कुरुते तीव्रांश्छर्द्यतीसारवर्जितान् ॥ ११ ॥

सोऽलसः,

दुर्बलत्वादियुक्तस्य यन्मारुतेन विशेषादन्नं पीडितमन्तराऽऽमाशयमध्य एव
श्लेष्मणा रुद्धमलसंभूतं, तथा दोषैः क्षोभितमाकुलितमत एवाऽतिपीडाकारित्वा-
च्छल्यरूपत एव स्थितं, तीव्रान् दुःसहान् शूलादीन् छर्द्यादिवर्जितान् कुरुते । छर्द्य-
तीसाराभ्यां विषूचिकोक्ता । सोऽलससंज्ञो रोगः । दुर्बलो ह्यनुपचितधातुः, स न
कदाचिदाहारं सोढुं शक्तः । अल्पाग्नेश्चाहारं सम्यङ्न जीर्यति । यतो वेगधारण-
शीलस्य प्रतिहतो वायुर्विमार्गगः पित्तकफावपि विमार्गगौ कुरुत इत्येतद्विशेषण निर्देशः ।

दण्डकालसकं लिलक्ष्यिषुराह—

अत्यर्थदुष्टास्तु दोषा दुष्टाऽऽमबद्धाः ।

यान्तस्तिर्यक्तनुं सर्वा दण्डवत्स्तम्भयन्ति चेत् ॥ १२ ॥

दण्डकालसकं नाम तं त्यजेदाशुकारिणम् ।

अतिशयेन दुष्टा दोषास्तथा दुष्टाऽऽमेन बद्धानि पूर्णानि खानि स्रोतांसि यैस्ते दुष्टाऽऽ-
मबद्धाः । तथा तिर्यग्गच्छन्तः, तनुं सर्वा=शीरं सकलं, दण्डवद्यदि स्तम्भयन्ति=
प्रसारणाकुञ्चनरहितं कुर्वन्ति, तदा दण्डकालसको नाम रोगो भवति । तं दण्डकालसकं
त्यजेन्नोपक्रमेत् । यत आशुकारिणमाशु=शीघ्रं, स्वकर्म=मारणं, करोतीत्याशुकारी,
क्षिप्रं हन्तीत्यर्थः ।

सम्प्रत्याऽऽमविषं निर्दिशति ।

विरुद्धाध्यशनाजीर्णशीलिनो विषलक्षणम् ॥ १३ ॥

आमदोषं महाघोरं वर्जयेद्विषसंज्ञकम् ।

• विषरूपाशुकारित्वाद्विरुद्धोपक्रमत्वतः ॥ १४ ॥

विरुद्धं प्रागुक्तं 'विरुद्धमपी'त्यादिना । 'विद्यादध्यशन'मित्यादिनाऽध्यशनम् । अजीर्णं च त्रिविधं वक्ष्यति । एतानि शीलितुं शीलं यस्य तस्य पुंसो य आमदोषो विषलक्षणलालादिलक्षणयुक्तो महाघोरोऽतिकष्टो विषारूपा भवति, तं न चिकित्सेत् । कुतः ? विषरूपत्वादाशुकारित्वाद्विरुद्धोपक्रमत्वाच्च । विषसदृशस्वरूपत्वाद्विषे शीतोपक्रमो युक्तः, आमो चोष्णोपक्रमो युक्त इति विरुद्धोपक्रमत्वम् ।

अलसकोपक्रमं निर्दिदित्तुरिदमाह—

अथाऽऽममलसीभूतं साध्यं त्वरितमुल्लिखेत् ।

पीत्वा सोप्रापदुफलं वार्युष्णं योजयेत्ततः ॥ १५ ॥

स्वेदनं फलवर्ति च मलवातानुलोमनीम् ।

नाम्यमानानि चाङ्गानि भृशं स्विन्नानि वेष्टयेत् ॥ १६ ॥

अथेतानन्तर्यं । पूर्वोक्तं साध्याऽसाध्यमवगम्याऽनन्तरमामं साध्यमदुष्टं सन्तं त्वरितं द्रागातुर उल्लिखेदुद्वेगमित्यर्थः । किंविधमामम् ? अलसीभूतम् । अलसलक्षणां गतमुल्लिखेदित्याह । पीत्वेत्यादि । वचालवणमदनफलयुक्तं जलमुष्णं पीत्वा वमेदित्यर्थः । ततोऽनन्तरं स्वेदनं योजयेत् । तथा—“ विपाच्य मूत्राम्लमधूनि दन्तीपिण्डीतकृष्णाबिडधूमकुष्ठैः । वर्ति कराङ्गुष्ठनिभां घृताक्तां गुदे रुजानाहरीं विदध्यादित्यादि ” फलवर्ति च मलवातानुलोमनीं योजयेत् । तत्रामदोषे दोषवशादङ्गानि च नाम्यमानानि सङ्कोच्यमानानि सन्त्यत्यर्थं स्विन्नानि वस्त्रादिना वेष्टयेत् ।

विसूच्यामतिवृद्धायां पाण्योर्दाहः प्रशस्यते ।

तदहश्चोपवास्यैनं विरिक्तवदुपाचरेत् ॥ १७ ॥

विसूच्यां पूर्वोक्तलक्षणायामतिवृद्धायां सत्यां पाण्योः खुरिकयोः शलाकादिना दाहः प्रशस्यते । तदहर्विसूचिकावन्तमुपवास्य लङ्घयित्वा विरिक्तवपेयादिक्रमोपाचरेत् । सुश्रुते चोक्तम्—“ सुच्छर्दितविरिक्तस्य गात्रायामेऽतिदारुणे । भल्लातकमधूच्छिष्टसीसपिण्याकनागैः । घृततैलं पचेत् साम्लैस्तच्च खल्लीघ्नमुत्तमम् । त्वक्पत्ररास्नागुरुशिग्रुकुष्ठैरम्लप्रपिष्टैः सवचाशताहैः । उद्वर्तनं खल्लिविसूचिकाघ्नं तैलं विषकं च तदर्थं कारि । शिरीषनक्ताहफणिज्जबीजत्रायन्त्यपामार्गफलानि वर्तिः । वस्तस्य मूत्रेण विसूचिकौघ्नी प्रलेपनस्याज्जनधूमयोगैरिति ” ।

मौ० टि०—१ विरुद्धमपि चाहारं विद्याद्विषगरोपमम् । अष्टा. सू. ७ अ. २६ श्लो. २ विद्यादध्यशनं भूयो भुक्तस्योपरि भोजनम् । अष्टा. सू. ८ अ. ३४ श्लोके ।

तीव्रार्तिरपि नाऽजीर्णी पिबेच्छूलघ्नमौषधम् ।

आमसन्नोऽनलो नाऽलं पक्तुं दोषौषधाशनम् ॥ १८ ॥

निहन्यादपि चैतेषां विभ्रमः सहसाऽऽतुरम् ।

अजीर्णी तीव्रशूलोऽपि सन्, शूलहरमौषधं न पिबत् । वमनकरमुष्णोत्प्रेकं च प्रागुपदिष्टमेव पिबेदित्यर्थः । शूलघ्नमित्युपलक्षणार्थम् । छर्द्यतीसारघ्नमपि विसूचिकायां न पिबेत् । यत आमेन सन्नो मन्दीभूतोऽग्निर्दोषौषधाशनं पक्तुं न समर्थः । एतेषां च दोषौषधाशनानां त्रयाणां सम्बन्धी यो विभ्रमो व्यापत्तिः सहसा कालमनपेक्ष्य चातुरं हन्यात् । न केवलमिदं गुणाय सम्पद्यते प्रत्युत दोषं करोतीति सूचनार्थमपि चेति कृतम् ।

कदौषधं युज्जीतेत्याह—

जीर्णाशने तु भैषज्यं युज्यात् स्तब्धगुरुदरे ॥ १९ ॥

दोषशेषस्य पाकार्थमग्नेः सन्धुक्तणाय च ।

जीर्णमशनं यस्य तस्मिन्नौषधं युज्याद्वैद्यः । कीदृशि ? स्तब्धमचलं गुरुदरं कोष्ठो यस्य तस्मिन् । किमर्थमौषधं युज्यादित्याह ? दोषेत्यादि गतार्थम् ।

कीदृशमौषधं योज्यमित्याह—

शान्तिरामविकाराणां भवति त्वपतर्पणात् ॥ २० ॥

त्रिविधं त्रिविधे दोषे तत्समीक्ष्य प्रयोजयेत् ।

तुरवधारणे । यस्मादपतर्पणादेवाऽऽमजातानां विकाराणामालस्यजाज्याग्निमान्यादीनां शान्तिरुपशमो भवति, तस्मादपतर्पणं योजयेत् । वक्ष्यति हि—“मेहामदोषातिस्निग्धेत्यारभ्य यावल्लङ्घयेन्नित्यमिति” । तस्मादपतर्पणं समीक्ष्य देशकालाग्न्यादीन् पर्यालोच्य त्रिप्रकारं त्रिप्रकारे दोषे वैद्यः प्रयोजयेत् ।

सम्प्रत्येतदेव यथायोगमाह—

तत्रालेपे लङ्घनं पथ्यं, मध्ये लङ्घनपाचनम्, ॥ २१ ॥

प्रभूते शोधनं, तद्धि मूलादुन्मूलयेन्मलान् ।

तत्र तेषु त्रिषु मध्येऽलेपे दोषे लङ्घनमुपवासाख्यं पथ्यम् । तेन ह्यनलानिलवृद्ध्याऽल्गो दोषः शीघ्रं संशोष्य जीयते । मध्ये दोषे लङ्घनं पाचनं च पथ्यम् । अग्निः पचति तस्य पचतो ये विबन्धादयो भवन्ति तान्निषिध्य पाटवमादधानं पचेति प्रयुङ्क्त इव तत् पाचयतीति पाचनमुच्यते । हेतुमरिणजन्तात्पचेर्बाहुलकात्कर्तरि ल्युट् । यदुपयुक्तमन्नपानौषधमपक्रानां सामानां धातूनां पाचने समर्थं तत् पाचनमित्यर्थः । प्रभूते शोधनं पथ्यम् । शोधनं तु कायाद्वहिर्दोषान्तरयति । वक्ष्यति हि—“यदीरयेद्बहिर्दोषान्पञ्चधा शोधनं तु तदित्यादि” कुतः ? प्रभूत आमदोषे शोधनं हितमित्याह । तद्धित्यादि । हि यस्यात्तच्छोधनं मूलान्मलाज्ञाशयेत् । सङ्ग्रहेऽप्युक्तम्—“बहुदोषाणां पुनर्दोषावसेचनमेव कार्यं नह्य-

स्त्राविते पल्वलोदकौघे शाल्यादिपुष्टिर्भवतीति ” ।

एवमन्यानपि व्याधीन् स्वनिदानविपर्ययात् ॥ २२ ॥

चिकित्सेदनुबन्धे तु सति हेतुविपर्ययम् ।

त्यक्त्वा यथायथं वैद्यो युञ्ज्याद्याधिविपर्ययम् ॥ २३ ॥

यथा सन्तर्पणोत्थ आमदोषो निदानविपर्ययाच्चिकित्स्यते । एवमन्यानपि ज्वरादीन् विकारान् स्वनिदानविपर्ययाच्चिकित्सेत् । सन्तर्पणोत्थोऽपतर्पणेन शीतोत्थ उष्णेनेत्यादि । यदि त्वेवमुपक्रम्यमाणो व्याधिरनुबध्यते=तेनोपशमं न गच्छेत्, ततो हेतुविपर्ययं त्यक्त्वा व्याधिविपर्ययं युञ्ज्यात् । किंभूतम् ? यथायथं यद्यस्य ज्वरादिव्याधेर्भैषज्यं वक्ष्यमाणं तत्प्रयुजीतेत्यर्थः । यथा ‘मुस्तापर्पटकं ज्वरे, रजनी प्रमेह इति’ ।

न च हेतुव्याधिविपर्यययोरेव चिकित्सायामुपयोग इति दर्शयन्नाह—

तदर्थकारि वा पक्वे दोषे त्विद्रे च पावके ।

हितमभ्यञ्जनस्नेहपानवस्त्यादि युक्तितः ॥ २४ ॥

तन्निदानव्याधिविपर्ययाऽसाध्यमर्थं रोगोपशमलक्षणं कर्तुं शीलं यस्य तत्तदर्थकारि तद्वा युञ्ज्यात् । यथा मदाख्ये मद्यपानम्, अतिसारे विरेचनमिति । वाशब्दः समुच्चयार्थ इति । विविधमौषधं निर्दिश्याऽऽमचिकित्साभेवानुसरन्नाह । पक्वे दोषे निरामे दीप्ते पावके च निरामत्वे दीप्ताग्नित्वे च समचितमेव हितमभ्यञ्जादिकम् । युक्तितो मात्रया यथाऽग्निसादादि न भवतीति ।

अजीर्णं लक्षयितुमाह—

अजीर्णं च कफादामं तत्र शोफोऽक्षिगण्डयोः ।

सद्यो भुक्त इवोद्गारः प्रसेकोत्क्लेशगौरवम् ॥ २५ ॥

अग्निप्रतिपक्षत्वेन कफस्याऽजीर्णकरणप्राधान्यादग्ने निर्देशः । कफात्सकाशादजीर्णमामसंज्ञकं भवति । तत्रामाख्येऽजीर्णेऽक्षिकूपयोर्गण्डयोः शोफो भवति । सद्योभुक्तवदप्राप्तविदाहावस्थ उद्गारः । प्रसेकः प्रसक्तं निष्ठीवनम् । उत्क्लेशो दोषाणां स्थानाच्चलनम् । गौरवं गात्राणाम् ।

विष्टब्धमनिलाच्छूलविवन्धाऽऽध्मानसादकृत् ।

अनिलाद्विष्टब्धं नामाजीर्णं भवति । तच्च शूलादिकृत् ।

पित्ताद्विदग्धं तृणमोहभ्रमाऽम्लोद्गारदाहवत् ॥ २६ ॥

पित्ताद्विदग्धं नामाऽजीर्णमुत्पद्यते । तच्च तृडादियुक्तम् । त्रिविधस्यैवास्य चिकित्सा माह—

लङ्घनं कार्यमामे तु विष्टब्धे स्वेदनं भृशम् ।

विदग्धे वमनं, यद्वा यथावस्थं हितं भवेत् ॥ २७ ॥

तुरवधारणे । आमाख्येऽजीर्णे लङ्घनमेव कार्यं, न वमनविरेचनादि । विष्टब्धे

स्वेदनं मृशं कार्यम् । मृशशब्देनैतद् द्योतयति । पूर्वत्राऽपि स्वेदनं कार्यमत्र त्वत्यर्थमिति । विदग्धे विदग्धनामन्यजीर्णे वमनं कार्यम् । यद्वा लङ्घनस्वेदनवमनानां यथावस्थं यथादोषोद्रेकं हितं भवेत्तदेव कार्यम् । आमाजीर्णेऽपि स्वेदनवमने विदग्धेऽपि लङ्घनस्वेदने इति ।

गरीयसो भवेल्लीनादामादेव विलम्बिका ।

कफवातानुबद्धाऽऽमलिङ्गा तत्समसाधना ॥ २८ ॥

गरीयसः प्रभूतादजीर्णादेव विलम्बिका स्यात् । कंठशात् ? लीनादस्य द्योतः सुश्लिष्टत्वात् । लीनादिति 'लीङ्श्लेषण' इत्यस्य क्लप्रत्यये स्वादय ओदित इत्योदित-श्वेति निष्ठानत्वम् । सा च श्लेष्मवायुभ्यामनुबद्धा युक्ता भवति । आमं नाम यदजीर्णं तत्सदृशलक्षणा । यथा—“शोफोऽक्षिगण्डयोः । सद्यो भुक्त इवोद्गारः प्रसेकोत्केशगौरवमिति” । तेनामेन समं तुल्यं साधनं चिकित्सा यस्याः सैवम् । लङ्घनं कार्यमाम इति ।

जीर्णेऽप्याहारे कदाचिदाहारसारो रसोऽजीर्णः स्यात् । तल्लक्षणार्थमाह—

अश्रद्धा हृद्यथा शुद्धेऽप्युद्गारे रसशेषतः ।

शयीत किञ्चिदेवात्र सर्वश्चाऽनाशितो दिवा ॥ २९ ॥

स्वप्यादजीर्णी सञ्जातबुभुक्षोऽद्यान्मितं लघु ।

रसशेषेऽश्रद्धाऽज्ञानभिलाषः । हृद्यथा हृदयशूलं, गौरवं च । शुद्धेऽप्युद्गारे-ऽन्नसम्बन्धिनि । तेनाजीर्णादर्थान्तरभूत एवायं रसशेषः । अतश्च रसस्य रुधिरादि-हेतोरसम्यक्परिपाक इत्यर्थः । तच्चिकित्सामाह—शयीतेत्यादि । अत्र रसशेषे किञ्चिदेव स्तोकमात्रमेव स्वप्यात्, नाजीर्ण इव प्रभूतम् । सर्वश्चाऽजीर्ण्यनाशितो दिवा शयीत । आलाघवात् । यदा चोत्पन्नञ्जुस्यात्तदा स्तोकं लघु चाद्यात् । आशः कृतो येनाऽऽशितः । न आशितोऽनाशितः । अभुक्तवानित्यर्थः । ननु—अजीर्ण्य-भिहतोन्मत्तान्” इत्यनेनैव वाक्येनाऽजीर्णिनां दिवास्वप्नोऽनुज्ञात एव, तर्हि पुनरुक्तेन ? ब्रूमः । विशेषार्थं वाक्यमिदम् । अभुक्तो दिवा स्वप्नादजीर्णाति । तत्र तु सामान्यम् । अशितानशितचिन्ता न कृतेति युक्ता पुनरिहोक्तिः ।

सामान्यमजीर्णलक्षणं सामान्येन ब्रूते—

विबन्धोऽतिप्रवृत्तिर्वा ग्लानिर्मारुतमूढता ॥ ३० ॥

अजीर्णलिङ्गं सामान्यं विष्टम्भो गौरवं भ्रमः ।

विबन्धो मूत्रपुरीषयोरप्रवृत्तिलक्षणः । अतिप्रवृत्तिस्तयोरेव । ग्लानिः शरीरस्य ग्लानता । मारुतमूढता वातस्य प्रतिलोमता । विष्टम्भः कुक्षेराध्मानम् । गौरवं गुरुगात्रत्वम् । भ्रमो मोहः । एतत्सामान्यमजीर्णलक्षणम् । उक्तं च—

मौ० टि० १-अष्टा० सू० ७ अ० ५८ श्लोकाद्धोऽयम् । २ अस्मिन्नेव श्लोकाद्धे ।

“सीदत्यङ्गं भ्रमो मोहः कोष्ठे मुह्यति मारुतः । सर्वेषामप्यजीर्णानामविसंवादि लक्षणम् ।”

साम्प्रतमजीर्णस्याऽन्यान्यपि कारणान्याह ।

न चातिमात्रमेवान्नमामदोषाय केवलम् ॥ ३१ ॥

द्विष्टविष्टमिदग्धाऽऽमगुरुलक्ष्माऽशुचि ।

विदाहि शुष्कमत्यम्बुप्लुतं वाऽन्नं न जीर्यति ॥ ३२ ॥

अतिमात्रमेव भुक्तमन्नं न केवलमामदोषाय किं तर्हि द्विष्टादि चान्नं न जीर्यति । द्विष्टमप्रियम् । विष्टमिदं कुक्ष्याध्मानकारि । हिममतिशीतम् । अशुच्युच्छिष्टं केशादिदूषितं च । एतच्चाचिन्यप्रभावत्वादामदोषहेतुः । विदाहि प्रागुक्तम् । शुष्कमद्रवप्रायम् । अत्यम्बुप्लुतमतिजलेन प्लावितम् ।

उपतप्तेन भुक्तं च शोकक्रोधक्षुदादिभिः ।

चः समुच्चये । न केवलं द्विष्टाद्यन्नं भुक्तं न जीर्यति यावता शोकादिभिश्चोपतप्तेन भुक्तं न जीर्यति । शोक इष्टविपत्त्यादिना मनोदौःस्थ्यम् । क्रोधो रोषः । क्षुद बुभुक्षा । तदुपतप्तत्वं कालातिक्रमत्वात् । आदिशब्देन लोभभयादिपरिग्रहः ।

सम्प्रत्यपरमप्यन्नमामन्नोभकरमाह—

मिश्रं पथ्यमपथ्यं च भुक्तं ‘समशनं’ मतम्, ॥ ३३ ॥

‘विद्यादध्यशनं’ भूयो भुक्तस्योपरि भोजनम्, ।

अकाले बहु चालपं वा भुक्तं तु ‘विषमाशनम्’, ॥ ३४ ॥

त्रीण्यप्येतानि मृत्युं वा घोरान् व्याधीन् सृजन्ति वा ।

पथ्यं शाल्यादि । अपथ्यं यवकादि । तन्मिश्रमेकीकृत्य भुक्तं समशनमभिमतमस्मिन्वैद्यकतन्त्रे । विद्यादित्यादि । भुक्तस्याऽभ्यवहृतस्योपरि यद्भोजनं तदध्यशनं जानीयात् । नन्वेवं प्रातराशे कृते यः सायमाशस्तस्याऽध्यशनत्वं प्रसज्यते ? अध्यशनं च विवर्ज्यमेव यतोऽनन्तरमेव पठिष्यति । त्रीण्यप्येतानि मृत्युं वेत्यादि । वैद्यकतन्त्रेषु च नराणां द्विराहार उपदिष्टः । भगवान् व्यासोऽप्यबोचत्—“सायं-प्रातर्मनुष्याणां भोजनं विधिनिर्मितमिति” । तस्मादध्यशनस्यैवं तदसमाचीनं लक्षणम् । अत्र सच्चक्ष्महे—प्राग्भुक्तस्योपरि समनन्तरमेव बह्वावविभक्ते यदशनं तदेवादध्यशनं नान्यत् । अतएव सुश्रुतो ब्रूते—“प्राग्भुक्ते त्वविभक्तेऽग्नौ द्विरन्नं न समाचरेदिति” । तस्मात् प्रातराशे कृते सत्यग्नौ विभक्ते यः सायमाशः स न परिहार्यः, अपि तु कार्य एव । गुणावहत्वात् । एतदेव प्रातिपादयितुं सङ्ग्रहेऽध्यगीष्ट—‘प्रातराशे त्वजीर्णेऽपि सायमाशो न दुष्यति । अजीर्णे सायमाशे तु प्रातराशो हि दुष्यति । दिवा प्रबोध्यतेऽर्केण हृदयं पुण्डरीकवत् । तस्मिन्विबुद्धे स्रोतांसि स्फुटत्वं यान्ति सर्वशः । व्यायामाच्च विचाराच्च विक्षिप्तत्वाच्च चेतसः । न क्लेदमुपगच्छन्ति दिवा तेनाऽस्य घातवः । अक्लिञ्जेष्वन्नमासक्तमन्यत्तेषु न दुष्यति । अविदग्धेष्विव पयः-

स्वन्यत्सम्मिश्रितं पयः । रात्रौ तु हृदये म्लाने संवृतेष्वयनेषु च । यान्ति कोष्ठे परिक्लेदं संवृते देहधातवः । क्लिप्तेष्वन्यदपकेषु तेष्वसिक्कं प्रदुष्यति । विदग्धेषु पयः-स्वन्यत्पयस्तप्तेष्विवार्पितम् । नैशे तस्मादजीर्णेऽन्ने नान्यद् भुञ्जीत भोजनमिति ।” अधिशब्दोऽत्रोपरिशब्दार्थः । यथा प्रासादमाधिरोहति । अकाले बहु चालपं वा भुक्तं त्वशनं विषमाशनसंज्ञं विद्यात् । कः पुनः कालो भोजनस्येति चेत् ? ब्रमः । “ प्रसृष्टे विरमूत्र ” इत्यादिनाऽऽहारकालं वक्ष्यति तद्वैपरीत्येनाऽकालो वेद्यः । त्रीण्यप्येतानि समशनाऽध्यशनविषमाशनानि मृत्युं वा सृजन्ति जनयन्ति । घोरान् व्याधीन्गुल्मादीन् वा ।

काले सात्म्यं शुचि हितं स्निग्धोष्णं लघु तन्मनाः ॥ ३५ ॥

षड्रसं मधुरप्रायं नाऽतिद्रुतविलम्बितम् ।

स्नातः जुष्टान् विविक्लस्थो धौतपादकराननः ॥ ३६ ॥

तर्पयित्वा पितृन् देवानतिथीन् बालकान्गुरुन् ।

प्रत्यवेक्ष्य तिरश्चोऽपि प्रतिपन्नपरिग्रहान् ॥ ३७ ॥

समीक्ष्य सम्यगात्मानमनिन्दन्नब्रुवन् द्रवम् ।

इष्टमिष्टैः सहाश्रीयाच्छुचि भक्तजनाहृतम् ॥ ३८ ॥

काले वक्ष्यमाणे । तन्मनाः भोजनगतचित्तः । स्नातः । बुभुक्षितः । विविक्लस्थ एकान्तस्थितः । तथा प्रक्षालितचरणहस्तमुखः । अनिन्दन् भोजनमगर्हमाणः । अभ्रवन्नभाषमाणः । इष्टं मनोरुचितं भोजनम् । तथा द्रवं द्रवप्रायम् । इष्टैः प्रियैः सहाशनीयात् । जुष्टान् । अत्र च प्रशंसायां मतुप् । उत्पन्नप्रशस्तबुभुक्षः । तेन किञ्चिदपि यदा दुष्टबुभुक्षा स्यात्तदा नाद्यादित्यर्थः । दुष्टबुभुक्षाया लक्षणम्— “ दोषोपनद्धं यदि लीनमामं पितोद्धतस्यावृणुयाच्च वह्निम् । जयेत दुष्टा तु तदा बुभुक्षा सा मन्दबुद्धीन् विषवज्जिह्वन्तीति ” । किम्भूतं भोजनम् ? सात्म्यम् । तच्च सात्म्यं द्विधा । एकं स्वल्पकालाऽभ्यस्तं सुखावहम् । अन्यच्च जन्मनःप्रमृति सहात्मनाऽभ्यस्तं सुखावहं च । एतेदवैकं सात्म्यमुच्यते । तथा शुचि अनुच्छिष्टं केशाद्यनुपहतं च । हितं पथ्यम् । स्निग्धं च तदुष्णं च स्निग्धोष्णम् । तथा लघु लघुप्रायं न तु लघ्वेव, अत एवेदमुपपन्नम्— “ षड्रसं मधुरप्रायमिति ” । मधुररसो हि गुरुः, तथा च वक्ष्यति— “ कटोः कषायस्तस्माच्च मधुरः परमं गुरुः ” । तद्यदि लघ्वेव स्यान्मधुरप्रायमिति न घटते, तस्माल्लघुप्रायमिति व्याख्येयम् । कथमद्यात् ? आह— “ नातिद्रुतविलम्बितम् ” । किं कृत्वा ? पित्रादींस्तर्पयित्वा । तथा तिरश्चोऽप्यश्ववृषादीन् प्रतिपन्नपरिग्रहान् कृतघासस्वीकारान् प्रत्यवेक्ष्य तदाहारचिन्तां कृत्वेत्यर्थः । अथात्मानं समीक्ष्य यथा ममेदं सात्म्यमिति नित्यमप्रमत्तः सन् पर्यालोच्य । खरनादेनोक्तम्— “ अतिद्रवाशी त्वहारगुणदोषान्न विन्दति । उन्मुह्य-

त्यल्पमश्नाति च्छर्दयेद्वाऽनवस्थितः । विलम्बितं तु भुञ्जानो न तृप्तिमधिगच्छति ।
स्वादु बह्वपि शीतत्वाद्याति भक्तमद्वयताम् । जल्पतो हसतश्चापि भुञ्जानस्याऽन्य-
चेतसः । त एव दोषा मन्तव्या ये विलम्बितभोजन ” इत्यादि ।

भोजनं तृणकेशादिजुष्टमुष्णीकृतं पुनः ।

शाकाऽवरान्नभूयिष्ठमत्युष्णलवणं त्यजेत् ॥ ३६ ॥

तृणादिजुष्टं भोजनं त्यजेत् । आदिशब्देन मत्तिकादिपरिग्रहः । तथा भूय
उष्णीकृतम् तथा शाकबहुलम् । तथाऽवरान्नं माषादि तद्भूयिष्ठम् । तथाऽत्युष्ण-
मतिलवणं च त्यजेत् ।

किलाटदधिकूर्चीकाक्षारशुक्लाऽऽममूलकम् ।

कुशशुष्कवराहाऽऽविगोमत्स्यमहिषामिषम् ॥ ४० ॥

माषनिष्पावशालूकविसपिष्टविरुढकम् ।

शुष्कशाकानि यवकान् फाणितं च न शीलयेत् ॥ ४१ ॥

तथा किलाटादीन् शीलयेन्नाभ्यसेत् । न कादाचित्कोऽभ्यवहार एषां निषि-
ध्यते । मुनिना तु “नाभ्यसेद्गौरवादिति” यथा हेतुरुपन्यस्तस्तथेह नोक्तमयुक्तत्वात् ।
तथा हि । एषामनभ्यवहारे यदि गुरुत्वमेव हेतुः स्यात् ततो यवादीनामपि बहुत-
राणां द्रव्याणां शीलनमयुक्तं स्यात् । तस्मादेषामशीलनेऽन्यदपि कारणं चिन्त्यं न
तु गुरुत्वमात्रमेव । यथा किलाटकूर्चीकयोर्दोषलत्वं दध्नुस्तु ज्वरादिकर्तृत्वं तथा
स्रोतोलेपः । स्रोतोलेपत्वाच्चाऽनेकरोगहेतुत्वम् । क्षारस्य पुंस्त्वहानिकृत्वम् । शुक्तस्य
दृष्टिहननत्वादि । तस्मादेषामपथ्यत्वाच्छीलननिषेधो बोध्यः ।

शीलयेच्छालिगोधूमयवषष्टिकजाङ्गलम् ।

पथ्याऽऽमलकमृद्रीकापटोलीमुद्रशर्कराः ॥ ४२ ॥

घृतदिव्योदकक्षारितौद्रदाडिमसैन्धवम् ।

त्रिफलां मधुसर्पिर्भ्यां निशि नेत्रबलाय च ॥ ४३ ॥

शाल्यादीन् शीलयेत् । मधुसर्पिर्भ्यां सह, त्रिफलां च रात्रौ नेत्रबलाय शीलयेत् ।

स्वास्थ्येऽनुवृत्तिकृद्यच्च रोगोच्छेदकरं च यत् ।

न केवलं शाल्यादीनेव शीलयेत् । यच्च द्रव्यं स्वास्थ्येऽनुवृत्तिं करोत्यृतुचर्या-
विध्यादिषु युक्तमन्नपानादिकम् । तथा रोगोच्छेदकरं यत्किराततित्ककादिद्रव्यं,
तच्च शीलयेत् ।

विसेल्लुमोचचोचाऽऽम्रमोदकोत्कारिकादिकम् ॥ ४४ ॥

अद्याद् द्रव्यं गुरु स्निग्धं स्वादु मन्दं स्थिरं पुरः ।

विपरीतमतश्चान्ते मध्येऽम्ललवणोत्कटम् ॥ ४५ ॥

विसादिद्रव्यं गुर्वादिगुणयुक्तं पुरः पूर्वमद्यात् । मोदको लङ्ङुकः । उत्कारिका
लप्यसिका । अतोऽस्माच्च विपरीतं लघुरूक्षतीक्ष्णकटुरसप्रायमन्ते भोजनस्य

सेवेत । मध्ये चाम्ललवणोत्कटम् । खरनादे चोक्तम्—“कृदुं लवणमम्लं वा पूर्व-
माहारमाहरेत् । आहारो मधुरो ह्यग्रे गुरु विष्टम्य जीर्यति” । तदेतद्देशसात्म्यादि-
वशात्प्रमाणयितव्यम् ।

अन्नेन कुक्षेर्द्वावंशौ पानेनैकं प्रपूरयेत् ।

आश्रयं पवनादीनां चतुर्थमवशेषयेत् ॥ ४६ ॥

कुक्षेर्जठरस्यान्नेन द्वौ भागौ प्रपूरयेत् । पानेन जलादिना एकमंशं प्रपूरयेत् ।
चतुर्थमंशं पवनादीनामाश्रयमवशेषयेन्न त्वन्नेन पानेन वा प्रपूरयेत् । अत्र त्वंश-
कल्पना परिकल्पनेनैव युज्यते, न त्वंगुलमानादिना । सुश्रुते चाभिहितम्—“प्रक्षा-
लयेदद्विरास्यं भुञ्जानश्च मुहुर्मुहुः । विशुद्धे रसने तस्मै रोचतेऽन्नमपूर्ववत् ।”
रसना विद्यते यस्य मुखस्य तद्रसनं, तस्मिन् रसने विशुद्धे, रोचतेऽन्नमपूर्ववत् ।

अनुपानं हिमं वारि यवगोधूमयोर्हितम्- ।

दध्नि मद्ये विषे क्षौद्रे, कोष्णं पिष्टमयेषु तु, ॥ ४७ ॥

शाकमुद्रादिविकृतौ मस्तुतक्राम्लकाञ्जिकम् ।

सुरा कृशानां पुष्ट्यर्थं, स्थूलानां तु मधूदकम्, ॥ ४८ ॥

शोषे मांसरसो, मद्यं मांसे स्वल्पे च पावके, ।

व्याध्यौषधाध्वभाष्यस्त्रीलङ्घनातपकर्मभिः ॥ ४९ ॥

क्षीणे वृद्धे च बाले च पयः पथ्यं यथाऽमृतम् ।

यवगोधूमयोर्भुक्तयोरनु पश्चात्पानं शीतं जलं हितम् । तथा दध्नि मद्ये विषे
क्षौद्रे च हिमं जलमनुपाने हितम् । पिष्टमयेषु कोष्णं जलं हितम् । शाकमुद्रा-
दिविकृतौ च मस्तुतक्राम्लकाञ्जिकम् हितम् । कृशानां पुंसां सुरा पुष्ट्यर्थं हिता । स्थू-
लानां पुनः कर्शनाय मधूदकं हितम् । शोषे क्षीये मांसरसो हितः पुष्टिकारित्वात् ।
मांसे भुक्ते मद्यमनुपानं हितम् । स्वल्पे च पावके मद्यमेवानुपानम् । व्याध्यादिभिः
क्षीणे क्षपिते, पयो दुग्धं, पथ्यं हितम् । इह प्रकृतेऽपि पथ्यग्रहणं पथ्यतरत्व-
ज्ञापनार्थम् । यथाऽमृतमित्यनेनैतत्प्रतिपादयति । यथाऽमृतं बलवर्णौजःकान्त्याऽऽ-
युरादिजनकं तथेदमपीत्यर्थः ।

विपरीतं यदन्नस्य गुणैः स्यादविरोधि च ॥ ५० ॥

अनुपानं समासेन सर्वदा तत्प्रशस्यते ।

अन्नस्य भक्तवटकादेर्यद्विपरीतं गुणैस्तदनुपानं सदा प्रशस्यते । यथा स्निग्धस्य
रूक्षं, रुक्षस्य स्निग्धं, शीतस्योष्णमुष्णस्य शीतम् । मधुरस्याम्लमम्लस्य मधुरमि-
त्यादि । नन्वेवमुररीक्रियमाणे क्षीरस्य क्षीरेयादेर्वा चुकादिनामम्लानामनुपानं
प्राप्तमित्याह । विपरीतगुणमपि यदविरोधि तदेवानुपानं सदा हितम् ।

अनुपानस्य किं कर्मित्याह—

अनुपानं करोत्यूर्जा तृप्तिं व्याप्तिं दृढाङ्गताम् ॥ ५१ ॥



अन्नसंज्ञातशैथिल्यविक्रित्तिजरणानि च ।

अनुपानमूर्जादीन्करोति । ऊर्जा मनःप्रवर्धः । तृप्तिः प्रीणनं शरीरेन्द्रियस्य, क्षामताविपरीतोऽन्नगुणः । तथा व्याप्तिः द्रवस्य हि गमनं न कठिनस्य । दृढाङ्गता स्थिरशरीरत्वम् । तथाऽन्नसंज्ञातस्य शैथिल्यम् । विक्रित्तिर्विक्लेदनम् । जरणं परिणामः । एतानि च करोति ।

एवं गुणमप्यूर्ध्वजत्रुवादिषु न हितमित्याह—

नोर्ध्वजत्रुगदश्वासकासोरःक्षतपीनसे ॥ ५२ ॥

गीतभाष्यप्रसङ्गे च स्वरभेदे च तद्धितम् ।

उर्ध्वं जत्रुण ऊर्ध्वजत्रु, तस्मिन्ने गदास्तेषु तदनुपानं न हितम् । तथा श्वास-दिषु न हितम् । गीतभाष्ययोः प्रकर्षेण सङ्गः सातत्येन सम्बन्धस्तस्मिन् । तथा स्वरभेदे स्वरसादे न तद्धितम् । ऊर्ध्वजत्रुगदादीनां ह्यनुपानं प्रदूष्यामाशयमुरकण्ठ-स्थितमाहारजं स्नेहमासाद्याऽभिष्यन्दाऽग्निसादच्छर्द्यादीनामयान्विदध्यात् ।

सम्प्रति येषां पानमेव न शस्यते तानाह—

प्रक्लिन्नदेहमेहाऽक्षिगलरोगव्रणाऽऽतुराः ॥ ५३ ॥

पानं त्यजेयुः,

प्रक्लिन्नो देहो येषां विसर्गाद्यार्तानां ते पानं त्यजेयुः । मेहादीनां रोगातुरशब्देन प्रत्येकं सम्बन्धः । मेहरोगाद्यातुराः पानं द्रवरूपं त्यजेयुर्न केवलमन्नस्योपरि यदनुपानम् । खरनादे चोक्तम्—“मेही ष्ठीही व्रणी कुष्ठी पाण्डुरजठरपीनसी । शोषा-तिसारी मन्दाम्निः पानीयं मन्दमाचरेत् । नोर्ध्वाङ्गपवनाविष्टे वाग्व्यायामहते न च । क्षतोरसि श्वासकासद्विक्लावम्यर्दिते न च । निरेन्ने चोर्ध्वरोगे च न पेयं वारि शीतलमिति” ।

सर्वश्च भाष्याध्वशयनं त्यजेत् ।

पीत्वा भुक्त्वाऽऽतपं वह्निं यानं स्रवनवाहनम् ॥ ५४ ॥

चशब्दो लुप्तनिर्दिष्टोऽत्र । सर्वोपि पुरुषः, पीत्वा भुक्त्वा च भाष्यादींस्त्यजेत् । तथाऽऽतपादीनां पञ्च त्यजेदित्यत्राऽप्यनुवृत्त्या योज्यम् । यानं रथादि । स्रवनं तरणम् । वाहनमश्वदि ।

काले सात्म्यमित्युक्तम् । भोजनस्य तु कः कालः ? इत्याह—

प्रसृष्टे विण्मूत्रे हृदि सुविमले दोषे स्वपथगे

विशुद्धे चोद्गारे लुदुपगमने वातेऽनुसरति ।

तथाऽग्नाबुद्रिक्ले विशदकरणे देहे च सुलघौ

प्रयुञ्जीताऽहारं विधिनियमितः कालः स हि मतः ॥ ५५ ॥

आहारं विधिना पूर्वोक्तेन काले सात्म्यं शुचि हितमित्यादिना नियमितं प्रयु-ञ्जीत अश्नीयादित्यर्थः । कदा ? मूत्रपुरीषे प्रकर्षेण सृष्टे सति । न किञ्चिदेव त्यक्त

इति प्रशब्देन द्योतयति । तथा हृदये सुद्ध विमले रसशेषकृतगौरवादिरहिते । तथा दोषे वातादौ स्वपथेग स्वमार्गगे । अजीर्णे ह्याहोरेऽन्नशेषेण रुद्धगतयो वातादयः स्वस्थानं न लभेरन् । सर्जीर्णे तु स्वस्थानस्थाः स्युः । उद्गारे विशुद्धे । चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । स्नातोऽमुखेषु च विशुद्धेष्वित्यर्थः । क्षुद्रुपगमन उपग-
तायां क्षुधि । वातेऽनुसरत्यनुलोमं गच्छति । तथाऽग्नौ कायाम्रावुद्विके पाकक्षमे ।
तथा देहे पट्विन्द्रिये सुष्ठु लघौ च । कालः स हि मतः । हिशब्द एवार्थः । स एव
कालो भोजनस्य दृष्टो न त्वतोऽप्यूर्ध्वम् । स ह्यतिकालः । तत्र भुक्तमन्नं वातविष्टब्धं
कृच्छ्राद्विपच्येत । तथा चोक्तं तन्त्रान्तरे—“अतीतकालं भुज्जानो वायुनोपहतेऽनले ।
कृच्छ्राद्विपच्येत भुक्तं द्वितीयं न च काञ्चति । कुक्षावाध्मानमाटोपसादांश्च कुरुते-
धिकमिति” । तस्मात्पूर्वोक्तकाले भोजनमद्यादिति । “यमौ न्सौ तः सस्याद्रसरविवि-
रामा धीरललिता” ।

इति श्रीमृगाङ्कदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टाङ्गहृदयटीकायां सर्वाङ्गसुन्द-
राख्यायां मात्राशितीयोऽध्यायोऽष्टमः ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः ।

पूर्वमन्नपानादिद्रव्यैकदेशः प्रायोपयोगवान्निर्दिष्टस्तस्य चाहारविधेर्मात्रा चोप-
दिष्टा । सम्प्रति द्रव्यरसवीर्यविपाकादयो वाच्याः । अन्नपानं हि रसवीर्यविपाकादि
परीक्ष्य प्रयोक्तव्यम्, नाऽन्यथा । तस्मान्मात्राशितीयाध्यायादनन्तरं द्रव्यादि-
विज्ञानीय आरभ्यते ।

अथातो द्रव्यादिविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥

द्रव्यमादिर्येषां ते द्रव्यादयः । आदिशब्देन रसवीर्यादिपरिग्रहः । द्रव्यादी-
नां विज्ञानमवगमस्तस्मै हितः । शेषं पूर्ववत् ।

तत्र द्रव्यस्य रसादिभ्यः प्राङ्निर्देशः प्राधान्यात् । प्राधान्यं च स्वयमेव
ग्रन्थकृत्प्रतिपादयन्नाह—

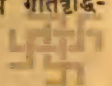
द्रव्यमेव रसादीनां श्रेष्ठं, ते हि तदाश्रयाः ।

रसादीनामिति निर्धारणे षष्ठी । रसवीर्यादीनां मध्ये द्रव्यमेव प्रधानम् । ते
रसादयो हि यस्मात्तदाश्रयास्तदेव द्रव्यमाश्रयो येषां त एवम् । अत एव केवला
रसादयो नोपलभ्यन्ते । तस्माद् द्रव्यं प्रधानम् ।

पञ्चभूतात्मकं तच्च,

तुरवधारणे । यत्तदोश्च नित्यसम्बन्धाद्यदित्येतदनुक्तमप्यर्थाङ्गमभ्यते । तेनाय-
मर्थः—यद्रसादीनामाश्रयभूतं कार्यं द्रव्यं, हरीतक्यादि रथावरं, छागादि जङ्गमं,
तत्पञ्चभूतात्मकम् । तत्र यत्कारणद्रव्यमाकाशादि, तस्य हि पञ्चभूतात्मकत्वे सत्या-
काशादीनां पृथक्त्वेनात्मलाभो न स्यात् । ततश्चेदमाकाशं नाम महाभूतमिदं पृथ्वी

नाम महाभूतमिति गदितुं न पार्येत । सर्वस्य पञ्चमहाभूतात्मकत्वात् । न च यत्कारणं तत्कदाचित्कार्यं स्यात् । तस्मात्कार्यद्रव्यस्यैव पञ्चमहाभूतात्मकत्वं, न कारणद्रव्यस्याऽऽकाशादेः । मुनिस्तु—“ खदीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसंग्रह इति ” । न च वा द्रव्यमुक्त्वा तल्लक्षणं व्यधीत । यथा—“ यत्राऽश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि यत् । तद् द्रव्यमिति । ” अस्यार्थः—यत्र कर्म परिस्पन्दलक्षणं संयोगवियोगकारणं, समवेतश्च गुणः, यत्र शब्दादयो गुर्वादयो वा बुद्धिवपुरादयो वा समवेताः । यच्च कारणं समवायि तद् द्रव्यमुच्यते । समवायीति—यत्कारणमपृथग्भवति तत्समवायिकारणं, यथा—तन्तवः पटस्य । एवमेतानि च कर्मगुणाश्रयित्वसमवायिकारणत्वानि, यद्यपि सर्वाणि सर्वस्मिन् द्रव्ये न विद्यन्ते तथाऽपि यद्यत्र सम्भवति तत्र तेन तस्य द्रव्यस्य द्रव्यत्वं कल्प्यम् । तथा—मनसः कर्मगुणाश्रयित्वेन वाय्वादीनां तु कर्मगुणाश्रयित्वेन समवायिकारणत्वेन च । नन्वाकाशादीनि कारणद्रव्याणीति कथमुक्तम् ? यावताऽकाशस्य द्रव्यत्वमेव नास्तीति केचित्तान्त्रमहे । जलधेरिव प्रत्यक्षेणैवाऽस्य नीलरूपतोपलब्धेरस्तित्वं सिद्धम् । तथा कवयोऽपि नीलत्वमेवाऽस्य वर्णयन्ति । तथा कर्णाटस्य—“ विपुलपुलिना हृद्या नद्यो वहन्त्यतिनिर्मलाः कमलसुभगो वायुर्घ्राणं विलम्बति मांसलः । नवजलधरच्छायावासादिवाचिरनिर्गतो वहति शशभृज्नीलस्निग्धे नभस्यवदाततामिति ” । तथा च बाणस्य—“ धावति शशिनि नभसीति ” । तदेतद् दूषयति । तथा हि—दूराद् भ्रान्तिमात्रेणैव नीलरूपत्वमस्योपलभ्यते । यथा गिरेर्विविधवर्णस्याऽपि दूराच्चीलत्वप्रतीतिः । यत्कवीनां वर्णनं तस्मादलसेन निष्प्रमाणकमेव सम्भाव्यते । तथा च ते, नभसः शुक्लत्वं वर्णयन्ति । न च शुक्लत्वमेतस्योपपद्यते निराकारत्वात् । तस्मान्न नीलरूपत्वं नभसः । ननु दशनवैचित्र्यादस्य रूपवत्वमुपपन्नम् ? यथा पुरुषः शरादि ऋजुतां दिहल्लुरेकं चक्षुर्निमील्याऽपरं चोन्मील्य तामुपलभते ननु नयनयुगलेन । तद्वत्सन्निकृष्टे गगनरूपस्यानादानं विप्रकृष्टे तु स्यादिति । न चैतद्युक्तम् । यतो रूपवत्त्वेऽभ्युपगम्यमाने स्पर्शवत्त्वमस्य प्रसज्येत । रूपस्य स्पर्शेन नित्यसम्बन्धात् । स्पर्शवत्त्वे सत्याकाशत्वमेव न स्यात् । अतो न रूपवद्भोम । अन्ये त्वेवं मन्यन्ते । पवनवदाकाशस्यावस्थाऽस्तु । यथा किल पवनः स्पर्शवान् । न च तस्मिन् रूपं सम्भवति । तथैवाकाशो न रूपवान्न च स्पर्शवानिति । तदिदमनवगतपदार्थस्वरूपाणां विलपनम् । ततो यत्र रूपं तत्राऽवश्यं स्पर्शो न तु यत्र स्पर्शस्तत्राऽवश्यं रूपम् । तस्मान्न नभो रूपवान्न च सत् । अत्रोच्यते । परमार्थदर्शिभिर्यदुपादायोत्पत्तिः कथ्यते तदस्ति । यथा पृथिव्यादि । उक्तं च—“ अक्षरात् खं ततो वायुस्तस्मात्तेजस्ततो जलम् । उदकात् पृथिवी जाता भूतानामेष सम्भव ” इति । तस्मादाकाशं द्रव्यमस्ति । अपि च । आकाशमुपादाय गतिवृद्धि-



प्रसवादिविशेषोपलब्धेराकाशस्याऽस्तित्वम् । यथा रूपोपलब्धिविशेषसम्भवाऽनुमितं चक्षुः । अपि च । आकाशाभावे ह्येकघनत्वं जगतः स्यात् । तथा शब्दाख्यस्य गुणस्यान्यथाऽनुपपत्त्यास्त्याकाशमिति । ननु वायुर्नास्त्येव ? तत्स्वरूपग्राहकप्रमाणाभावात् । स्पर्शोपलब्धेर्वायोरस्तित्वमुच्यत इति चेत् ? तदपि न युज्यते । अधुनैवोक्तं खाद्यायुरिति । गगनस्य च स्पर्शाभावाद्वायोरस्पर्शवत्त्वं कारणगुणपूर्वकत्वात्कार्यस्य । नैतदस्ति । कार्यस्योभयात्मकत्वदर्शनात् । कारणगुणपूर्वकं कार्यं दृष्टमकारणगुणपूर्वकं च दृष्टम् । तत्र कारणगुणपूर्वकं तावद्यथ—तन्तुश्वेतत्वपूर्वकं पटे श्वेतत्वम् । अकारणगुणपूर्वकं च दृष्टं यथा—हरिद्राक्षारसंयोगाद्रक्तता । तस्मादस्पर्शादाकाशादुत्पन्नो वायुः स्यादेव स्पर्शवान् । नन्वेवमप्यग्निजलपृथिवीष्वपि स्पर्शविशेषसम्भवात्तस्मादग्न्यादिसमवाय एव वायुर्व्यवहियते, न तद्वयतिरिक्तो वायुरस्ति ? अत्रोच्यते, सत्यमनलादीनामपि स्पर्शोऽस्ति किन्तु विलक्षण एवाऽसौ । तथा हि—तेजसः स्पर्शो रूपैकार्थसमवायी । अपां स्पर्शो रूपरसाभ्यां समवेतः । पृथिव्या रूपरसगन्धसमवेतः । यस्तु वायोः स्पर्शः, स पत्रचलनशाखाभञ्जनादिकर्मसमवायी । स नैषामग्न्यादीनां दृष्टानां नाप्यदृष्टानामात्मादिकालादीनाम् । गुणाश्च सर्वे द्रव्याश्रया दृष्टा रूपादय इव पटादिषु । तस्माद्वायोर्विशिष्टस्पर्शवत्त्वादस्तित्वमनुमीयते । तथा पवनस्य तत्कर्मोपदेशादस्तित्वम् । यस्य तत्त्वदर्शिभिः कर्मोपदिश्यते तदस्ति । यथा—कफादिवद्वातस्य च कर्मोपदिष्टम् । यथा—संस्रव्यासव्यधस्वोपेत्यादि । तस्मादस्ति वायुर्द्रव्यमिति । अग्निर्द्रव्यं नास्ति, इन्धनव्यतिरेकेणानुपलब्धेः ? अत्रोच्यते । तत्त्वदर्शिभिरग्नेर्द्रव्योत्पत्तिहेतुत्वेनोपदेशादस्तित्वम् । तथा चेहैव वक्ष्यति—“ अग्नेयं दाहभावरूपप्रकाशपवनात्मकमिति ” । ननु युक्तश्चतुर्णां भूतानां सावयवत्वाद् द्रव्येषूत्कर्षाऽपकर्षसन्निवेशः, क्वचिद्द्रव्ये कस्यचिद्भूतस्य प्रमाणतः प्रभावेतश्चावयवानामुत्कर्षापकर्षसद्भावाद् । आकाशस्य तु निरवयवत्वात्सूक्ष्मत्वादेकत्वाच्चोत्कर्षापकर्षसन्निवेशो न युक्तः ? युक्तमाह भवान्, किन्तु सावयवानामेव द्रव्याणां येऽवयवाः क्वचित्पाषाणादौ संहता अवतिष्ठन्ते । येन तत्र द्रव्ये काठिन्यस्य प्रकर्षो भवति तत्र चाऽकाशमप्युच्यते । अनिबिडावयवे तु सन्निवेश आकाशः प्रकृष्यते । तदेवमनया युक्त्याऽकाशस्याऽपि न्यूननाधिकभाव उपपन्नः ।

अथ केन महाभूतेन कथं कृत्वाऽऽरब्धं द्रव्यमित्याह—

क्षममधिष्ठाय जायते ॥ १ ॥

पृथ्वीमाधारीकृत्योत्पद्यते । एवं पृथिव्यख्येन भूतेनाऽऽधारत्वेनोपकृत्य तेन तदारब्धं द्रव्यमित्युच्यते । यथा—

अम्बुयोन्यग्निपवननभसां समवायतः ।

तन्निवृत्तिर्विशेषश्च व्यपदेशस्तु भूयसा ॥ २ ॥

अम्बु सलिलं योनिः कारणं यस्य तदम्बुयोनि द्रव्यम् । एवं जलं नाम महा-



भूतं रसवत्त्वाद्योनितयोपकृत्य तेन तदारब्धमित्युच्यते । मुनिनाऽप्युक्तम्—“रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा । निर्वृत्तौ च विशेषे च प्रत्ययाः खादयस्त्रयः” । अमीषां द्रव्यादीनामाश्रयकर्मणोर्भेदश्चिन्त्यः । तथाऽग्निपवननभसां समवायादपृथग्भावात्तस्य द्रव्यस्य निर्वृत्तिर्निष्पत्तिः । तथा तस्य द्रव्यस्य यो विशेष इदमन्यदिदमन्यद्रव्यमित्येवंरूपो नानास्वभावः, सोऽप्यग्निपवननभसां समवायात् । एवमग्निपवननभोभिः समवायिकारणत्वेनोपकृत्य तैरेतद्द्रव्यमारब्धमित्युच्यते । एवं च सर्वं कार्यद्रव्यं पञ्चमहाभूतात्मकं पञ्चभिर्महाभूतैरारब्धत्वात् । ननु यदि पञ्चमहाभूतात्मकं द्रव्यं तत्कथमुच्यते पार्थिवमिदं द्रव्यमिदमाप्यमित्याह । व्यपदेशस्तु भूयसेति । यत्र द्रव्ये यद्भूतं भूयिष्ठमधिकृतं तेन तस्य व्यपदेशः संज्ञा भवति । यथा पृथिव्याधिकयोत्पादितं द्रव्यं पार्थिवम् । एवमाप्यं तैजसं च वेद्यम् । तदेवं सर्वं द्रव्यं पञ्चभूतात्मकं स्थितम् ।

तस्मान्नैकरसं द्रव्यं भूतसङ्घातसम्भवात् ।

तस्माद्भूतसङ्घातसम्भवात् कारणाद् द्रव्यं नैकरसमपि त्वनेकरसम् । एवं द्रव्यवदसस्याऽपि भूतसङ्घातसम्भवत्वम् । अत एव प्रतिद्रव्यं मधुरादिरसस्य नानास्वादोपलम्भः । तथा च—द्राक्षाऽहोडह्रीरेजुह्वीद्रगोजाक्षीरशुक्लादौ द्रव्ये सत्यपि माधुर्यं परोऽपर आस्वाद उपलभ्यते । एवमम्लानामपि मातुलुङ्गधान्याम्लादीनां द्रव्याणां नानास्वादोपलम्भः । एवं लवणादीनाम् । अपि चैषां द्राक्षादीनामनेकरसत्वमास्वादविशेषादनुमीयमानं भूयसा रसेनान्यरसाभिभवं कृत्वा व्यपदिश्यते । इदं मधुरमिदमम्लाद्यन्यतमं महाभूतवत् । यथा सर्वं द्रव्यं पञ्चमहाभूतात्मकं भूयसा महाभूतेनान्यमहाभूताभिभवं कृत्वा तेन व्यपदिश्यते पार्थिवमिदमाप्यमिदमिति । ननु द्रव्यनिर्णये कृते पाञ्चभौतिकं द्रव्यं यदेव प्रतिज्ञातं तदेव तस्मादित्यादिना निगमनग्रन्थेनाऽतिवाहयितुं युक्तं न पुनरप्रस्तुतमनेकरसत्वम् ? तस्मादत्रैवं ग्रन्थः कर्तुं न्याय्यः—“तस्मान्नैकभूतजं द्रव्यं भूतसङ्घातसम्भवादिति” । अत्रोच्यते—षण्णामपि रसानां योनिरुदकं, ततश्चैकस्यैव महाभूतस्योदकसंज्ञस्य रसकारणत्वं प्राप्तं, नान्येषां नीरसत्वादिति कृत्वा न भूतसम्भवत्वं रसस्येत्येवंविधामाशङ्कामपनिनीर्भुतसङ्घातसम्भवत्वं रसस्य चैकेनैव प्रयत्नेन । ‘तस्मान्नैकरसं द्रव्यं भूतसङ्घातसम्भवादिति’ जगाद । मुनिश्चात एव रसस्य भूतसङ्घातसम्भवत्वं स्पष्टं कृत्वोवाच । यथा—‘रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा । निर्वृत्तौ च विशेषे च प्रत्ययाः खादयस्त्रयः’ । इत्येवं भूतसङ्घातो रसानां द्रव्याश्रितानामपि सम्भवकारणम् । एतच्च रसभेदीये सविस्तरं व्याख्यास्यामः ।

नैकदोषास्ततो रोगास्तत्र व्यक्नो रसः स्मृतः ॥ ३ ॥

अव्यक्नोऽनुरसः किञ्चिदन्ते व्यक्नोऽपि चेष्ट्यते ।

द्रव्यमनेकरसं, ततस्तस्मात्कारणादेकदोषा रोगा ज्वरादयो न भवन्ति अपि

त्वनेकदोषा इत्यर्थः । अत्रापि व्यःदेशस्तु भूयसेत्यध्याहार्यम् । ते त्रिदोषात्मके-
ऽपि ज्वरे, वाताधिके वातज्वरः, एवं पित्तज्वरः, श्लेष्मज्वर इत्येवंरूपो व्यपदेश उप-
पन्नः । ननु यदि सर्वो ज्वरः सन्निपातजस्तत्किमिति वक्तव्यं सन्निपातज्वर इति ?
ब्रूमहे—समविषमरूपं शक्त्युत्कर्षमाश्रित्य यत्र दोषा वर्तन्ते स सन्निपातज्वर इति
तन्त्रकृता पुरस्ताद्विस्तरेण प्रतिपादयिष्यते । अथ को रसोऽनुरसो वेत्याह ? तत्रेत्यादि ।
तत्र तस्मिन् द्रव्ये यो व्यक्तः स्फुट उपलभ्यते स रसः स्मृतस्तन्त्रकृद्भिः । यश्चाव्य-
क्तोऽस्फुटप्रतिभासो रसनेन्द्रियेणोपलभ्यते सोऽनुरसः । हीनार्थोऽत्रानुशब्दोऽल्प-
रस इत्यर्थः । नैतावेवानुरसलक्षणमिति ? आह—किंचिदित्यादि । मुखक्षितस्य
हरीतक्यादेर्द्रव्यस्य रसनेन्द्रियेण किंचिदन्ते व्यक्तोऽप्युपलभ्यते यः सोऽप्यनुरस
इष्यते मुनिभिरिति वाक्यशेषः । अन्त इत्यनेनैवं तद्वोधयति—अन्तेऽवसाने, न
त्वादौ वा, पानमात्रे वा, न च मध्ये । तयोर्हि रसस्यैवोपलम्भः । अनुशब्दस्यात्र
पञ्चादर्थत्वम् । पश्चात् स्फुटोऽपि किंचिद्य उपलभ्यते सोऽप्यनुरस इत्यर्थः ।

ननु मधुरादयो रसा गुर्वादiguणयुक्ताः कथं वक्तुं पार्यन्ते ? यतो मधुरादयो
रसाः, गुणा गुर्वादयश्च । न च गुणानां मधुरादीनां गुर्वादiguणाधारत्वमुप-
पन्नम् । तथा च वैशेषिकाः—“निर्गुणा गुणा” इति तस्मिन्पर्यनुयोग इदमाह—

गुर्वादयो गुणा द्रव्ये पृथिव्यादौ रसाश्रये, ॥ ४ ॥

रसेषु व्यपदिश्यन्ते साहचर्योपचारतः ।

पृथिव्यादौ पृथिव्यादिमहाभूतारब्धे, द्रव्ये रसाश्रये, गुर्वादयो गुणाः, परमा-
र्थत आश्रिताः, नतु रसेषु मधुरादिषु । यतु रसेषु व्यपदिश्यन्ते, तत् साहचर्यो-
पचारतः । सहचरतीति सहचरस्तस्य भावः साहचर्यम् । यस्मिन्नेव गुडादौ द्रव्ये
मधुरो रस आश्रितस्तस्मिन्नपि गुरुगुण आश्रित इति, मधुररसगुरुगुणयोः सहचर-
भावः । साहचर्येण तुल्याश्रयत्वेनोपचारः साहचर्योपचारस्तस्मात्साहचर्योपचारतो
गुर्वादयो गुणा रसेषु मधुरादिषु व्यपदिश्यन्ते । यथा गुरुर्मधुरो रसो लघुरम्ल
इत्यादि । न पुनः परमार्थतो रसेषु गुर्वादयः सन्ति । अस्ति च साहचर्येण व्य-
पदेशः । यथा घृतसहचरेण घृतस्थेनाग्निना दग्धो घृतदग्ध इत्युच्यते ।

तत्र द्रव्यं गुरु स्थूलं स्थिरगन्धगुणोल्बणम् ॥ ५ ॥

पार्थिवं गौरवस्थैर्यसङ्गातोपचयावहम् ।

तत्र तेषु पार्थिवादिषु पञ्चसु द्रव्येषु मध्ये, पार्थिवं द्रव्यं गुर्वादiguणोत्कटम् ।
उल्बणशब्देनैतद् द्योतयति, पार्थिवे द्रव्येऽन्येऽपि गुणाः सन्ति, सर्वद्रव्याणां पाञ्च-
भौतिकत्वात्; गुर्वादयस्तत्रोत्कटाः । एवमप्यादिषु सर्वं योज्यम् । तथा गौरवा-
द्यावहं गुरुत्वादित्यर्थः ।

द्रव-शीत-गुरु-स्निग्ध-मन्द-सान्द्र-रसोल्बणम् ॥ ६ ॥

आप्यं, स्नेहन-विष्यन्द-क्लेद-प्रह्लाद-बन्धकृत् ।



आप्यं द्रव्यं द्रवादिगुणोल्बणं स्नेहनादिकृत् ।

रूक्ष-तीक्ष्णोष्ण-विशद-सूक्ष्म-रूप-गुणोल्बणम् ॥ ७ ॥

आग्नेयं, दाह-भा-वर्ण-प्रकाश-पचनात्मकम् ।

आग्नेयं द्रव्यं रूक्षादिगुणोत्कटं दाहादिकरम् ।

वायव्यं रूक्ष-विशदं लघु-स्पर्श-गुणोल्बणम् ॥ ८ ॥

रौक्ष्य-लाघव-वैशद्य-विचार-ग्लानि-कारकम् ।

वायव्यं रौक्ष्यादिगुणं रौक्ष्यलाघवादिकरञ्च ।

नाभसं सूक्ष्म-विशद-लघु-शब्द-गुणोल्बणम् ॥ ९ ॥

सौषिर्य-लाघव-करं,

नाभसं द्रव्यं सूक्ष्मादिगुणोल्बणं सौषिर्यादिकरं च ।

जगत्येवमनौषधम् ।

न किञ्चिद्विद्यते द्रव्यं, वशान्नानार्थयोगयोः ॥ १० ॥

एवमेनेन पञ्चमहाभूतारब्धेन गुर्वादिगुणयोगेन द्रव्याणां जगति भुवनेऽस्मिन् नौषधभूतं न किञ्चिद् द्रव्यमस्ति, अपि तु सर्वमेव द्रव्यं यत्सिकतापांस्वादिकं तदौषधं चिकित्सितम् । वशान्नानार्थयोगयोः । अर्थश्च योगश्चार्थयोगौ । अर्थः प्रयोजनम् । योगो युक्तिः । यथाऽनया युक्त्यौषधमिदं योजितमस्य रोगस्य विजयाय स्यादनया चास्य रोगस्येति । नानाविधौ यावर्थयोगौ तयोर्वशात्सामर्थ्यात् सर्वमपि द्रव्यमौषधम् । रोगप्रतीकारहेतुत्वात् ।

अथ किं द्रव्यं किम्भूतोत्कटं भवतीत्याह—

द्रव्यमूर्ध्वगमं तत्र प्रायोऽग्निपवनोत्कटम् ।

अधोगामि च भूयिष्ठं भूमितोयगुणाधिकम् ॥ ११ ॥

ऊर्ध्वं गच्छतीत्यूर्ध्वगमम् । खप्रकरणे गमेरप्युपसङ्ख्यानमिति खः । प्रायो बाहुल्येनोर्ध्वं द्रव्यमग्निपवनाधिकं भवति, यथा—मदनफलादि । भूयिष्ठं प्रायेण । तथा चाऽग्निसमीरणोत्कटस्याऽप्यधोगामित्वं दृष्टम्, यथा—हरीतक्यादेः । अचिन्त्यप्रभावत्वाद्यथा सर्पे विषमयत्वेऽपि तत्फणामणेरविषप्रत्वम् । भूमितोयोल्बणं द्रव्यमधोगामि भवति, यथा—त्रिवृतादि । यत्तु व्यामिश्रात्मकं तुल्यकालमूर्ध्वाधोदोषहरणं, तदिह ग्रन्थगौरवभयाजोक्तमपि मिश्रीभूतोत्कटं द्रव्यं व्यामिश्रात्मकमिति सामर्थ्यलब्ध एवायमर्थः ।

इति द्रव्यं रसान्भेदैरुत्तरत्रोपदेक्ष्यते ।

इति परिसमाप्तौ । द्रव्यं प्रति यद्वक्तव्यं तज्जिष्णुमितिर्थः । एवं द्रव्ये निर्दिष्टे रसा निर्देष्टुं युक्ता इत्याह—रसानित्यादि । बहुवक्तव्यत्वादुत्तरत्रानन्तरेऽध्याये रसान्भेदस्त्रिषष्टिसङ्ख्यावच्छिन्नैरुपदेक्ष्यते तन्त्रकृत् ।

अथ वीर्यस्य विपाकादिभ्यः प्राधान्यात्तच्चर्चा प्रस्तौति—

वीर्यं पुनर्वदन्त्येके गुरुस्निग्धहिमं मृदु ॥ १२ ॥



लघुरूक्षोष्णतीक्ष्णं च तदेवं मतमष्टधा ।

द्रव्यमुक्तम् । वीर्यं पुनर्गुर्वादीनष्टौ गुणान् द्रव्याभितानिति समाचक्षते । तस्मा-
देवमनेन प्रकारेण वीर्यमष्टधाऽष्टप्रकारं गुर्वादीनां मतम् ।

चरकस्त्वाह, वीर्यं तद्येन या क्रियते क्रिया, ॥ १३ ॥

नाऽवीर्यं कुरुते किञ्चित्, सर्वा वीर्यकृता हि सा ।

चरकाचार्यः पुनरेवं वक्ति—येन स्वभावेन या क्रिया क्रियते यत्कर्म निष्पाद्यते
तद्वीर्यम् । तदेव यावत् किञ्चिद् गुणजातं द्रव्ये स्थितं, तत्सर्वं वीर्यमेव, सर्वं वीर्यं करोति ।
अत एवाह—नाऽवीर्यमित्यादि । यन्न वीर्यं तन्न किञ्चित्करोति, न काञ्चिदप्यर्थक्रियां
निष्पादयति । प्रतिनियतशक्तिपरिष्वक्तत्वात्सर्वभावानाम् । अत एवाह—सर्वे-
त्यादि । हिशब्दो यस्मादर्थः । यस्मात्सर्वा क्रिया वीर्यकृता वीर्येण जनिता, ततो
यन्न वीर्यं, तन्न किञ्चित्कुरुते ।

गुर्वादिष्वेव वीर्याख्या तेनाऽन्वर्थेति वर्ण्यते ॥ १४ ॥

समग्रगुणसारेषु शक्त्युत्कर्षविवर्तिषु ।

व्यवहाराय मुख्यत्वाद्वहग्रहणादपि ॥ १५ ॥

यतो वीर्यस्यैव करणसामर्थ्यं तेन कारणेन गुर्वादिष्वेवाष्टासु वीर्याख्याऽन्वर्थाऽ-
नुगतार्थेति भण्यते । एवकारोऽवधारणार्थः । गुर्वादिष्वेव वीर्यसंज्ञा न तु रसविपाक-
प्रभावेषु । किम्भूतेषु गुर्वादिषु ? समग्रेत्यादि । समग्राश्च ते गुणाश्च तेषु साराश्चिर-
कालावस्थितयो गुर्वादय एव । तथा च जाठराग्निसंयोगेनाऽपि न मधुरादिरसस्वभाव-
मेते जहति । सरतेः 'सृस्थिर' इति घञि सारशब्दः । तथाऽन्येभ्यो मन्दसान्द्रा-
दिभ्यो रसादिभ्यो वा गुणेभ्यो वा गुर्वादयः शक्त्युत्कर्षविवर्तिनः । शक्तेः सामर्थ्य-
स्योत्कर्ष आधिक्यम् । विशेषेण वर्तो विशेषेण भवनम् । शक्त्युत्कर्षस्य विवर्तः स
विद्यते येषां त एवम् । किञ्च गुर्वादीनां गुणानां व्यवहाराय व्यवहारार्थम् । मुख्य-
त्वादन्येभ्यो गुणेभ्यो गुर्वादयः प्रधानभूता इत्यर्थः । तथा च गुर्वादयो गुणा द्रव्ये
पृथिव्यादौ रसाश्रय इत्युक्तं, न मधुरादयो गुणा इति । तस्माद्गुर्वादीनां गुणानां
व्यवहारमुख्यत्वं रसादिभ्यः । तथा बह्वग्रहणाद्बहुग्रहणादग्रहणाच्च बहवो द्रव्य-
रसादयो गुर्वादिभिर्गृहीता भवन्ति । तथा चायुर्वेदशास्त्रेषु रसादिभ्यो गुर्वादीनामग्रे
ग्रहणं दृष्टम् । यथा वातादिदोषगुणनिरूपणायां गुर्वादीनामेव पूर्वं ग्रहणं, न रसा-
दीनाम् । तथा च 'तत्र रूक्षो लघुरित्याचार्योऽपठद्वाय्वादिलक्षणे । एवं गुर्वादीना-
मेवाग्रे ग्रहणाद् गुर्वादिष्वेव वीर्याख्याऽन्वर्थाऽनुगतार्थेति भण्यते ।

अतश्च विपरीतत्वात्सम्भवत्यपि नैव सा ।

विवक्ष्यते रसाद्येषु वीर्यं गुर्वादयो ह्यतः ॥ १६ ॥

अतोऽस्माच्च कारणकदम्बकाद्विपरीतत्वाद्विपरीत्येन स्थितत्वाच्च रसादयो वीर्यम् ।
तथाहि—रसस्य सारत्वं नाऽस्ति । जाठराऽनलसंयोगवशेन रसान्तरोत्पत्तेः । गुर्वा-

दीनां तु जाठराग्निसंयोगवत्तेनाऽपि नान्यऽथाभावः । तथा न रसस्य शक्त्युत्कर्ष-
विवर्तित्वम् । यतो रसस्य गुर्वाद्याहितशक्तेरेव स्वकर्मणि सामर्थ्यम् । व्यवहाराय
यथा गुर्वादेर्मुख्यत्वं यथा बह्वप्रग्रहणं तथा प्राग्दर्शितम् । प्रभावः सर्वातिशायी
द्रव्यस्वभावस्तस्य च क्रियानिर्वर्तनसामान्ये सत्यपि वीर्यसंज्ञा पूर्वोक्ताद्धेतोर्न वर्तते ।
एवं विपाककर्मणोरपि विन्यम् । तस्माद्रसाद्येषु सम्भवत्यपि विद्यमानाऽप्यसद्रूपेव
सा वीर्यसंज्ञा न विवक्ष्यते नोररीक्रियते । आदौ भव आद्यः । दिगादित्वाद्यत् । रस
आद्यो येषां प्रभावादीनां त एवं तेषु । वीर्यमित्यादि । हिशब्दो यस्मादर्थः । यत
एवं सा वीर्यसंज्ञा सम्भवत्यपि रसादिषु वैपरीत्यान्न विवक्ष्यतेऽतो गुर्वादय एव वीर्यं,
न रसादयः ।

• उष्णं शीतं द्विधैवाऽन्ये वीर्यमाचक्षतेऽपि च ।

अन्य आचार्या उष्णं शीतमिति द्विप्रकारं वीर्यमाचक्षते । एककारोऽवधार-
णार्थः । द्विधैव वीर्यं नाष्टधेति । अपिचेति निपातसमुदायो युक्तिसमुच्चये । तेऽपि
सयुक्तिकमेवाहुरित्यर्थः ।

तामेव युक्तिं दर्शयन्नाह—

नानात्मकमपि द्रव्यमग्नीषोमौ महाबलौ ॥ १७ ॥

व्यक्ताऽव्यक्तं जगदिव नातिक्रामति जातुचित् ।

नानास्वभावमपि द्रव्यं स्थावरजङ्गमाद्यचेतनचेतनमग्नीषोमौ महाबलावुत्कृष्ट-
शक्ती, न जातु कदाचिदतिक्रामति नोल्लङ्घ्य वर्तते । अवश्यं हि द्रव्यं किञ्चिदाग्रेयं
किञ्चित्सौम्यम् । अतः किञ्चिद् द्रव्यमुष्णवीर्यं किञ्चिच्छीतवीर्यम् । तथा च मुनिः—
“न मत्स्याः पयसा सहाभ्यवहार्याः । उभयं ह्येतन्मधुरं मधुरविपाकं शीतोष्ण-
त्वाद्विरुद्धवीर्यं विरुद्धवीर्यत्वाच्छेणितप्रदूषणायेति” । अत्र दृष्टान्तमाह—व्यक्ता-
ऽव्यक्तमित्यादि । व्यक्तं चाव्यक्तं च व्यक्ताऽव्यक्तं नानात्मकमपि जगत्त्रैलोक्यं
कर्तुं यथा व्यक्तं चाव्यक्तं च नातिक्रामति तथा द्रव्यमग्नीषोमावित्यर्थः । व्यक्तं
स्थूलं दृश्यमित्यर्थः । साङ्ख्यानां तु महदादि व्यक्तमव्यक्तं प्रधानं पुरुषश्च ।

तत्रोष्णं भ्रमतृङ्गलानिस्वेददाहाऽऽशुपाकिताः ॥ १८ ॥

शमं च वातकफयोः करोति, शिशिरं पुनः ।

ह्लादनं जीवनं स्तम्भं प्रसादं रक्तपित्तयोः ॥ १९ ॥

तत्र तयोरुष्णशीतयोर्मध्य उष्णमुष्णवीर्यं भ्रमादीन् करोति । आशुपाकितां
शीघ्रपाकित्वम् । शिशिरं शीतवीर्यं तु ह्लादनादीन्करोति ।

वीर्यादनन्तरं विपाकं लक्षयति—

जाठरेणाऽग्निना योगाद्यदुदेति रसान्तरम् ।

रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः ॥ २० ॥

जाठरेणोदयेणाऽग्निना योगात् संश्लेषाद्यद्रसानां परिणामान्ते जठरनिष्ठाकाले

रसान्तरं रसविशेष उत्पद्यते स विपाक इति स्मृतौ मुनिभिः कथितः ।

स्वादुः पटुश्च मधुरमम्लोऽम्लं पच्यते रसः ।

तिक्तोष्णकषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः ॥ २१ ॥

स्वादुर्मधुरो गुडादिः, पटुर्लवणः सैन्धवादिर्मधुरं कृत्वा पच्यते रस इति सम्बन्धः । मधुरमिति क्रियाविशेषणत्वान्नपुंसकलिङ्गम् । स्वादुः स्वादुविपाको लवणोऽपि स्वादुविपाक इत्यर्थः । अम्लो रसो दधिकाजिकादिरम्लं पच्यतेऽम्लविपाको भवति । तिक्तोष्णकषायाणां प्रायशः कटुर्विपाको भवति । प्रायशोऽग्रहणं सर्वत्राऽपि योजनीयम् । तेन ब्रीहिस्थो मधुरो रसोऽम्लं पच्यत इत्युपपन्नम् । तथा चोक्तम्—“स्वादुरम्लविपाकोऽन्यो ब्रीहिरिति” । तथा हरीतक्या भूयस्त्वेन यः कषायो रसः स मधुरमेव पच्यते । तथा चोक्तम्—“कषायै मधुरा पाक इति” । तथा “कटुको रसः शुण्ठ्याद्रकपिप्पल्यादिस्थो मधुरं पच्यते । तथा—“नागैरं दीपनं वृध्यं ग्राहि हृद्यं विबन्धनुत् । रुच्यं लघु स्वादुपाकमिति” । तद्वदार्द्रकमपीति । तथा—श्लेष्मला स्वादुशीतार्द्रेत्यारभ्य यावत्स्वादुपाकेति” । अत्र केचिदाहुः—तिक्तकषाययोरेव कटुविपाकितया पित्तकर्तृत्वमापद्यत इति । तदेतदसत् । शीतवीर्यत्वेनैतयोः पित्तहन्तृत्वात् । वीर्यं हि रसविपाकौ विजयते । वक्ष्यति हि—“रसं विपाकस्तौ वीर्यमिति” ।

रसैरसौ तुल्यफलस्तत्र द्रव्यं शुभाऽशुभम् ।

किञ्चिद्रसेन कुरुते कर्म, पाकेन वाऽपरम्, ॥ २२ ॥

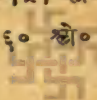
गुणान्तरेण, वीर्येण, प्रभावेणैव किञ्चन ।

रसैर्जिह्वावैषयिकैर्मधुराम्लकटुकैर्विपाककालोपलभ्यो मधुराम्लकटुलक्षणो यो रसो भवत्यसौ तुल्यफलः । तुल्यं सदृशं फलं यस्य स तुल्यफलः । एतदुक्तं भवति अभ्यवहृतस्य मधुररसस्य जाठराग्निसंयोगवशाद्यद्रसान्तरं फलतया निष्पन्नं तद्रसैः सदृशम् । फलग्रहणेनैतत्प्रतिपादयति । फलोपमेमेव वृष्यादिलक्षणकार्यसदृशं, न तु कुसुमोपमं देहाह्लादनादिलक्षणकार्यमिति । एवमम्लादीनामपि व्याख्येयम् तत्रेत्यादि । तेषु रसवीर्यविपाकादिषु मध्ये द्रव्यं किञ्चिच्छुभाऽशुभं सदसत्कर्म रसेन कुरुते । यथा—मधु कषायरसत्वेन पित्तं शमयति । किञ्चिद्विपाकेन । यथा—तदेव मधु कटुविपाकितया कफं हन्ति । किञ्चन द्रव्यं गुणान्तरेणाऽन्योन्यगुणविकृतत्वादसविपाकतो यो गुणान्तरो गुर्वादित्तेन । यथा—अम्लं काजिकं कफं शमयति, रौक्ष्यात् । किञ्चन वीर्येण । यथा—कषायतिक्रमं महत्पञ्चमूलं वातं जयति

मौ० टि० १-वाग्भ० सू० ६ अ० ६ श्लो० । २-वा० सू० ६ अ० १५१ श्लो०

३-वा० सू० ६ अ० १६१ श्लो० । ४-वा० सू० ६ अ० १५६, १६० श्लो० ।

५-अस्मिन्नेवाध्याये २५ श्लोके ।



नतु पित्तमुष्णवीर्यत्वात् । किञ्चन द्रव्यं प्रभावेणैव शुभाऽशुभं कर्म कुरुते । यथा—
अम्लोष्णा सुरा क्षीरं वर्धयति ।

तनु गुरूष्णाऽम्लमधुरादिगुणानां रसादीनां विरोधः । तत्रैषां कार्यनिष्पत्तौ सम-
शक्तित्वं न वेत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह—

यद्यद्द्रव्ये रसादीनां बलवत्त्वेन वर्तते ॥ २३ ॥

अभिभूयेतरांस्तत्तत्कारणत्वं प्रपद्यते ।

रसादीनां रसवीर्यविपाकप्रभावानां मध्ये यद्रसादिवस्तु रसो वीर्यं वा विपाको
वा प्रभावो वा बलवत्त्वेन बलिष्ठतया द्रव्यं वर्ततेऽवतिष्ठते तत्तद्वस्तुजातमितरान-
बलिष्ठानभिभूय विफलीकृत्य कारणत्वं प्रपद्येत । कर्मकरणे कारणतामासादयती-
त्यर्थः ।

अत इदमाह—

विरुद्धगुणसंयोगे भूयसाऽल्पं हि जीयते ॥ २४ ॥

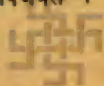
हि यस्माद्विरुद्धगुणसंयोगे संहतीभावे सति, यदल्पं वस्तु तद् भूयसा बलवता
जीयतेऽभिभूयते । गुणशब्देन चात्र रसादयो गृह्यन्ते, न पारिभाषिका गुर्वादयो-
ऽप्रकृतत्वात् । विरुद्धगुणसंयोग इत्यत्र विरुद्धगुणसमवेतद्रव्यसंयोग इति कल्प्यं,
न विरुद्धगुणसंयोग इति । न हि गुणानां संयोगो वक्तुं युज्यते किं तर्हि द्रव्याणाम् ।
तथा च मुनिः—“संयोगस्तु द्वयोर्बहूनां वा संहतीभावः” । विरोधश्च द्विविधः ।
स्वरूपतः कार्यतश्च । स्वरूपतो विरोधो गुरुलघ्वोः शीतोष्णयोश्च । कार्यतो यथा-
वायौ जेतव्येऽरुक्षोष्णद्रव्यसंयोगोपयोगः । अत्र हि यो गुणानां विरोधः स कार्येण ।
तत्र यदल्पं वस्तुजातं तद्भूयसा वस्तुजातेनाऽभिभूयते । तत्र यथा क्षीरं शीतवीर्य-
मपि मधुररसहेतुकं नेहगौरवादिभिः सहायबाहुल्याद्वातशमनाख्यं कार्यं करोति, न
पुनः स्वकार्यं वातप्रकोपाख्यम् ।

यत्र तु द्रव्ये रसादीनामुत्कर्षाऽसम्भवः परस्परं साम्यं, तत्र कस्य कार्यकारण-
त्वम् ? इत्याह—

रसं विपाकस्तौ वीर्यं, प्रभावस्तान्व्यपोहति ।

बलसाम्ये रसादीनामिति नैसर्गिकं बलम् ॥ २५ ॥

रसं मधुरादिषड्विधं, विपाकः कर्ता, व्यपोहति कार्यकरणे कुराठयति । यथा-
मधुरो मधुनि रसः, कटुना विपाकेनाऽभिभूयते । अत एव पवनशमनाख्यं कार्यं
मधुररसहेतुकं न करोति, अपि तु वातप्रकोपनाख्यं कटुविपाकहेतुकमेव करोति । तौ
रसविपाकौ वीर्यं कर्तृभूतमपोहति । यथा महिषाऽऽमिषोत्थितौ मधुररसविपाका-
बुष्णवीर्याख्यं कर्तृ अभिभवति । अत एव तन्मांसं पित्तादिदूषणम् । अन्यथा
स्वादुरसविपाकित्वात्पित्तशमकमेव स्यात् । प्रभावस्तु त्रीनपि रसादीन् विजयते ।



यथा—अम्लरसविपाकोष्णवीर्या च सुरा क्षीरं जनयति । इतीदृशं रसादीनां नैसर्गिकं बलं स्वभाविकी शक्तिः । एतदुक्तं भवति—रसं समबलमपि विपाको व्यपोहति । रसविपाकौ च समबलावपि वीर्यं स्वभावादपोहति । एतानि च समबलान्यपि प्रभावो व्यपोहतीति ।

ननु द्रव्यरसविपाकवीर्याणि कर्मानुमानेन यथास्वरूपाण्येवाऽवगच्छामः । प्रभावस्य तु न ज्ञायते कीदृशं कर्मेत्यत आह—

रसादिसाम्ये यत्कर्म विशिष्टं तत्प्रभावजम् ।

द्रयोर्द्रव्ययो रसादीनां रसवीर्यविपाकानां साम्ये सति, यदेकं द्रव्यमन्यत्कर्म कुर्वेत्तदन्यत्पुनरन्यद्विशिष्टं कर्म तत् प्रभावजं प्रभावाज्जातमिति ज्ञेयम् । अयमस्य द्रव्यस्य प्रभाव इति विशिष्टकर्मकरणान्निश्चीयत इत्यर्थः । ननु प्रभावः क उच्यते इति ? ब्रमः—रसवीर्यविपाकादिगुणातिशया द्रव्यस्य स्वभावो यः स प्रभावः । उक्तं च—“ रसवीर्यविपाकादिगुणातिशयवानलम् । द्रव्यस्वभावो निर्दिष्टो यः प्रभावः स कीर्त्यत ” इति ।

अत्र निदर्शनार्थमाह—

दन्ती रसाद्यैस्तुल्याऽपि चित्रकस्य विरेचनी ॥ २६ ॥

मधुकस्य च मृद्वीका घृतं क्षीरस्य दीपनम् ।

चित्रकस्य रसवीर्यविपाकैस्तुल्यापि दन्ती रसादिभ्योऽतिशायिद्रव्यस्वभावयोगाद्विरेचनी, न चित्रकश्चित्रकत्वात् । मधुकस्य च मृद्वीका तुल्याऽपि रसादिभ्योऽतिशायिद्रव्यस्वभावयोगान्मृद्वीका विरेचनी, न मधुकम् । घृतं क्षीरस्य रसादिभिस्तुल्यमपि घृतं दीपनं, न पुनः क्षीरम् । अन्ये त्वेवं प्रभावलक्षणं प्रतिपन्नाः, प्रतिवस्तु स्वसंज्ञाप्रवृत्तिनिमित्तलक्षणो यो धर्मस्त्वतलादिप्रत्ययप्रतीतिसमधिगम्यः स प्रभावः । तन्त्रान्तरे चोक्तम् । “ वस्तूनां यः स्वसंज्ञायाः प्रवृत्तौ करणे स्मृतः । त्वतलादिप्रबोध्यश्च प्रभाव इति कीर्तितः ” । एवं च दन्तीत्वाद्दन्त्या विरेचनकारित्वं प्रभावः । चित्रकस्य चित्रकत्वाद्विरेचनकारित्वं प्रभावः । एवं मृद्वीकात्वान्मृद्वीकाया विरेचनकारित्वं प्रभावः । इत्यादि सकलपदार्थेषु बोध्यम् ।

सामान्यविशेषाभ्यां यतः सकलं व्याप्तमतो ग्रन्थकार इदमाह—

इति सामान्यतः कर्म द्रव्यादीनां पुनश्च तत् ॥ २७ ॥

विचित्रप्रत्ययारब्धद्रव्यभेदेन भिद्यते ।

इति प्रकारे । अनेन प्रकारेण द्रव्यरसवीर्यादीनां सामान्येन कर्म व्याख्यातं न विशेषेण । यैरेव महाभूतै रसवीर्यादयो द्रव्याश्रिता आरब्धस्तैरेव तथाभूतैस्तदाश्रयमपि द्रव्यम् । अतः सामान्यतः कर्म द्रव्यादीनां युक्तं सम्प्राप्तं, विशिष्टं कर्म प्रतिद्रव्यं वक्तुमिदमाह—पुनश्च तदिदं । तत्सामान्योक्तं कर्म द्रव्यरसादीनां सम्बन्धि पुनर्भिद्यते विशिष्यते । केनेत्याह । विचित्रेत्यादि । विचित्राश्च ते प्रत्ययाश्च

विचित्रप्रत्ययाः । नानाकारसन्निवेशविशेषयुक्तानि महाभूतानि प्रतिसत्त्वं प्राक्तनशुभाऽशुभकर्मप्रेरितो विचित्रो महाभूतपरिणाम इत्यर्थः । विचित्रप्रत्ययारब्धश्च तद् द्रव्यं च तस्य भेदो विशेषस्तेन विचित्रप्रत्ययारब्धद्रव्यभेदेन तत्सामान्योक्तं कर्म द्रव्यादीनां भिद्यते । द्रव्याश्रितत्वादसादीनामपि यत्कर्म तदपि द्रव्यभेदेन भिद्यते, न तु सर्वमपि देशकालादिवशाद्विचित्रप्रत्ययारब्धम् । परस्परवैलक्षण्याद् द्रव्याणाम् । परस्परवैलक्षण्ये चैषां विचित्रप्रत्ययारब्धत्वमेव कारणम् । यद्वशादन्यदिदं द्रव्यमिति रुरसविपाकादिभिन्नमुत्पद्यते तथा प्रतिभासते च । तर्हिनु विचित्रप्रत्ययारब्धद्रव्यभेदेन भिद्यत इति ? अत्राऽऽचक्ष्महे—सत्यमेतत् किन्तु विशिष्टद्रव्यस्य संप्रहार्थं विचित्रप्रत्ययारब्धमिति विशेषणं शास्त्रकृता कृतम् । यस्य भेदेन द्रव्ये रसवीर्यादीनां यत्सामान्योक्तं कर्म तद्विद्यते । यस्मिन् द्रव्ये रसादीनामन्यानि महाभूतान्यारम्भकाणि द्रव्यस्य चारम्भकाण्यपराणि च तद् द्रव्यं विचित्रप्रत्ययारब्धम् । तदेवं द्रव्याणां द्वैविध्यम् । यतः कानिचिद्द्रव्याणि यैरेव महाभूतैर्यथाविधै रसादय आरब्धान्तेरेव तथाविधैर्महाभूतैस्तदाश्रयाण्यपि द्रव्याण्यारब्धानि । तानि रसादिसमानप्रत्ययारब्धान्युच्यन्ते । तानि च यथायथं तत्कर्म रसाद्यनुगुणं सामान्यात्कुर्वते । यथा क्षीरेक्षुशर्करादीनि । कानिचित्पुनस्तदाश्रितरसादिसमारम्भकमहाभूतान्यन्यानि तदाश्रयद्रव्यारम्भकाण्यन्यानि च महाभूतानि । तैरारब्धानि तानि विचित्रप्रत्ययारब्धानि द्रव्याणि । एतदुक्तं भवति । रसादीनामारम्भकाण्यन्यथाभूतानि महाभूतानि नोभयत्रैकरूपाणीति । तानि च यथायथं रसाद्यनुगुणं कर्म न कुर्वन्ति भिन्नत्वाद्भेदतुभावस्य । तथाहि—रसादीनामारम्भेऽन्यो हेतुरन्यश्च तदाश्रयद्रव्यारम्भ इति यथा मकुष्ठयवमत्स्यसिंहादीनि । एतानि यथारसं वीर्यविपाककर्म न कुर्वन्ति । विचित्रप्रत्ययारब्धत्वात् । इत्थं यानि रसादिसमानप्रत्ययारब्धानि द्रव्याणि च बहून्यपि तेषां रसोपदेशेन रसकर्म निर्देष्टुं शक्यते । अत एव हेतोः षण्णां रसानां योऽनुगुणनिर्देशस्तस्य सार्थकत्वम् । रसोपदेशमन्तरेण हि बहुतराणां समानरूपाणां द्रव्याणां क्षीरेक्षादीनां कर्म वक्तुं सुखेन शक्यते । यानि तु विचित्रप्रत्ययारब्धानि द्रव्याणि तेषां प्रतिद्रव्यं कर्मोपदेशं विना यथायथं कर्म वक्तुं न शक्यते ।

एतदुदाहरणार्थं ग्रन्थकृदाह—

स्वादुर्गुरुश्च गोधूमो वातजिद्वातकृच्चवः ॥ २८ ॥

उष्णा मत्स्याः पयः शीतं कटुः सिंहो न शूकरः ।

स्वादुरसोपेतो गुरुगुणयुक्तश्च गोधूमो मधुररसोपदिष्टं यद्वातजित्वं कर्म तत्करोति, समानप्रत्ययारब्धत्वात् । यवस्तु स्वादुरसोपेतो गुरुगुणयुक्तरश्च मधुररसोपदिष्टं यद्वातजित्वं कर्म, तन्न करोति, अपि तु वातकृत्वमेव करोति, विचित्रप्रत्ययारब्धत्वात् । मत्स्यः स्वादुरसोपेतो गुरुगुणोपेतश्च न मधुररसोपदिष्टशीतवीर्यः, किं तर्ह्युष्णवीर्यो विचित्रप्रत्ययारब्धत्वात् । क्षीरं च स्वादुरसोपेतं गुरुगुणयुक्तं च

मधुररसोपदिष्टशीतवीर्यं समानप्रत्ययारब्धत्वात् । स्वादुरसयुक्तो गुरुगुणयुक्तश्च सिंहो न यथारसं मधुरविपाकः, किं तर्हि कटुको विपाके विचित्रप्रत्ययरब्धत्वात् । शूकरो मधुररसयुक्तो गुरुगुणोपेतश्च यथारसं मधुरविपाक एव समानप्रत्ययारब्धत्वात् । एवं यानि समानप्रत्ययारब्धानि द्रव्याणि तेषां रसोपदेशेनैव गुणा निर्दिष्टा भवन्ति । तथा च मुनिः—“शीतं वीर्येण यद्द्रव्यं मधुरं रसपाकयोः । तथोरम्लं यदुष्णं च यच्चोष्णं कटुकं तयोः । तथा रसोपदेशेन निर्देश्यो गुणसंग्रहः । वीर्यतो विपरीतानां पाकतश्चोपदेक्ष्यते । यथा पयो यथा सर्पिर्यथा वा चव्यचित्रकौ । एवमादीनि चान्यानि निर्दिशेद्रसतो भिषगिति” । बाहुल्येन च रसादिसमानप्रत्ययारब्धान्येव द्रव्याणीति चेतासि कृत्वा चान्योऽवोचत् । यथा—“गुर्वादयो गुणा द्रव्ये पृथिव्यादौ रसाश्रये । रसेषु व्यपदिश्यन्ते साहचर्योपचारतः” इति । अत एव च बहुतराणि द्रव्याणि रसादिसमानप्रत्ययारब्धान्यतो रसोपदेशव्याप्त्या तानि निर्देष्टुं शक्यन्ते नान्यथा । विचित्रप्रत्ययारब्धानि पुनः कतिपयान्येव द्रव्याणि तानि प्रतिद्रव्यमेवोपदिश्यन्ते । मुनिनाऽप्ययमर्थो युक्त्यैवोक्तः । यथा—“मधुरं किञ्चिदुष्णं स्यात्कषायं तिक्तमेव च । यथा महत्पञ्चमूलं तथा चानूपमामिषम् । लवणं सैन्धवं नोष्णमम्लमामलकं तथा । अर्काऽगुरुगुडचीनां तिक्तानां चौष्ण्यमुच्यते । किञ्चिदम्लरसं ग्राहि किञ्चिदम्लं भिनत्ति च । यथा कपित्थं संग्राहि भेदि चामलकं यथा । पिप्पली नागरं वृष्यं कटु चावृष्यमुच्यते । कषायः स्तम्भनः शीतः सोऽभयास्वन्यथा मतः । तस्माद्रसोपदेशेन न सर्वं द्रव्यमादिशेदिति” । ये च रससंयोगा वक्ष्यमाणास्ते रसादिसमानप्रत्ययारब्धैर्मधुराम्ललवणतिक्तकटुकषायरूपैर्मिथः कल्पनीयाः, न तु विचित्रप्रत्ययारब्धैर्मधुराम्ललवणतिक्तकटुकषायरूपैः । यस्मात्तेषामयथाशास्त्रनिरूपिता रसवीर्यविपाकादयो विद्यन्ते । विचित्रप्रत्ययारब्धत्वात् । अयं रससंयोगभेद एवंगुणोऽयमेवंगुणत्वाच्चाभूमिन्विषये योज्य एतस्मिन्विषये चाऽयमिति निर्देष्टुं न शक्यते । अनिर्ज्ञातस्वरूपत्वात् । नहि विचित्रप्रत्ययारब्धैर्ये रससंयोगाः क्रियन्ते तेषां स्वरूपं कथमवधारयितुं शक्यते । अपि च । समानप्रत्ययारब्धैर्ये संयोगाः कल्प्यन्ते तेषां संयोगिनां वीर्यतो यो विरोधः शीतोष्णलक्षणः, स न दोषाय । ये तु विचित्रप्रत्ययारब्धैः संयोगाः कल्प्यन्ते तेषां संयोगिनां यः शीतोष्णलक्षणैर्विरोधः स दोषायेति वेद्यम् । अन्यथा रसालापानकादीनामनेकद्रव्यकृतानामनभ्यवहार एव प्राप्नुयात् । तथा त्रयस्त्रिंशद्गर्गा ये वक्ष्यमाणास्तेषु यदयौगिकं तज्ज्ञात् । यौगिकं त्वनुक्रमपि युञ्ज्यादिति यद्रक्ष्यते तत्र रसादिसमानप्रत्ययारब्धमेव योज्यं न विचित्रप्रत्ययारब्धम् । तस्य रसवीर्यविपाकानां निश्चयस्य कर्तुमशक्यत्वात् । तस्मादित्यादि । यत एवं विचित्रप्रत्ययारब्धं विचित्ररूपं तस्माद्रसोपदेशेन न सर्वं द्रव्यमादिशेदपि तु रसादिसमानप्रत्ययारब्धं द्रव्यमेव रसोपदेशेन निर्दिशेदिति ।

इति श्रीमृगाङ्कदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टाङ्गहृदयटीकायां सर्वाङ्गसुन्द-
राख्यायां नवमोऽध्यायः ॥ ६ ॥

दशमोऽध्यायः ।

पूर्वस्मिन्नध्याये रसान् भेदैरुत्तरत्रोपदेक्ष्यत इत्युक्तमतस्तान् रसभेदान्वक्तुं रस-
भेदीयाऽध्यायं ब्रूते—

अथाऽतो रसभेदीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।

रसानां भेदो रसभेदस्तस्मै हितो रसभेदीयस्तमध्यायं व्याख्यास्यामः कथयि-
ष्यामः । “रसनार्थो रस” इति मुनिः । तथा-अव्योनिः, अपामेव रसवत्त्वात् । तथा
च मुनिः—“आपो हि रसवत्य” इति । अपां चाव्यक्तरसत्वात्प्रतिव्यक्त्यन्यादृशो
रसानां महाभूतवैलक्षण्यज आस्वाद आस्वाद्यते । तथा च मधुररसाधिष्ठितानां
क्षीरद्राक्षेक्षुशर्करादीनां प्रतिव्यक्त्यन्यादृशो मधुररसास्वाद उपलभ्यते । न त्वेक-
रूपः । एवमम्लानामारनालकोलाम्लिकादीनामपि प्रतिव्यक्तेनेकरूप आस्वादवि-
शेष उपलभ्यते न त्वेक एव ।

पूर्वं च प्रत्यपादि षडेव रसा इति तानेव लक्षयति—

क्षमाऽम्भोऽग्निक्षमाऽम्बुतेजःखवाय्वग्न्यनिलगोऽनिलैः ।

द्वयोल्बणैः क्रमाद्भूतैर्मधुरादिरसोद्भवः ॥ १ ॥

पृथिव्यादिभिर्महाभूतैर्द्वयोल्बणैर्द्वयधिकैः, क्रमात्परिपाठ्या, यथासङ्ख्यमित्यर्थः,
मधुरादीनां षण्णां रसानामुद्भवोऽभिनिवृत्तिर्भवति । द्वयमुल्बणं येषु भूतेषु तानि
द्वयोल्बणानि तैः । द्वयोल्बणशब्दोपादानाच्च द्रव्यवद्रसस्याऽपि पाञ्चभौतिकत्वमिति
प्रतिपादयति । कतमत्पुनर्भूतद्वयं कतमस्मिन् रसेऽधिकमारम्भकं स्याद् ? इति
यथासङ्ख्येन दर्शयन्नाह—‘क्षमाऽम्भोऽग्निक्षमाऽम्बुतेजःखवाय्वग्न्यनिलगोऽनिलैः’ ।
भूमिजलाभ्यामधिकाभ्यां मधुरः । क्षमाग्निभ्यामम्लः । अम्बुग्निभ्यां लवणः ।
खवायुभ्यां तिक्तकः । अग्निवायुभ्यां कटुः । क्षमानिलाभ्यां कषायः । ननु भूमि-
तोयाधिक्यान्मधुरः, एवमम्बुवाय्वाधिक्यादन्यो भूम्याकाशाधिक्यादन्य इत्येव-
मादिरसविकल्पैरसङ्ख्येयरसप्रसङ्गः प्राप्नोति ? अत्रोच्यते—स्वभावाददोषः । एषां
भूम्याकाशादीनामीदृशः स्वभावो यत्केनचिदेव भूताधिक्येन व्यवस्थितानि भूम्या-
दीनि रसान्तरोत्पादनसमर्थानि भवन्ति न सर्वेणेति ।

ननु स्वलक्षणं विनाऽनुक्तो रसविशेषः, कथं ज्ञायताम् ? इति लक्षणार्थमाह—

तेषां विद्याद्रसं स्वादुं यो वक्त्रमनुलिम्पति ।

आस्वाद्यमानो देहस्य ह्लादनोऽक्षप्रसादनः ॥ २ ॥

प्रियः पिपीलिकादीनाम्,



तेषां रसानं मध्य आस्वाद्यमानो वक्त्रमनुलिम्पति । मुखोपदेहं जनयति । तथा देहस्याऽऽह्लादन आश्वासकः । तथाऽक्ष्णाणामिन्द्रियाणां प्रसादनः प्रसन्नत्वकृत् । तथा पिपीलिकादीनां प्रियः । तं मधुरं जानीयात् । पिपीलिकादीनां प्रिय एतेनैतद्दर्शयति । प्रमेहादिषु मूत्रगन्धोदये । पिपीलिकोपसर्पणान्माधुर्यानुमानं कृत्वा मधुमेहत्वादि ज्ञायेत । आस्वाद्यमान इत्युत्तरत्राऽपि योज्यम् ।

अम्लः क्षालयते मुखम् ।

हर्षणो रोमदन्तानामक्षिभ्रुवनिकोचनः ॥ ३ ॥

अम्लो रस आस्वाद्यमानो मुखं क्षालयते स्नावयति । तथा रोमदन्तानां हर्षणः । हृषु अलीके । अलीककरी । उद्वेजक इत्यर्थः । तथाऽक्षिभ्रुवनिकोचनः । अक्षिणी च भ्रुवौ चाक्षिभ्रुवम् । अचतुरादिसूत्रे निपातितम् ।

लवणः स्यन्दयत्यास्यं कपोलगलदाहकृत् ।

लवणो रसो मुखं स्यन्दयति । तथा कपोलयोर्गले च दाहं करोति । अन्नस्य रोचन इतीहातिप्रसिद्धत्वान्नोक्तम् । सङ्ग्रेहे तु स्पष्टार्थमुक्तम् । यथा—“कण्ठकपोलं विदहत्यन्नं प्ररोचयतीति” ।

तिक्तो विशदयत्यास्यं रसनं प्रतिहन्ति च ॥ ४ ॥

तिक्तो मुखं विशदयतीति । तच्च अपैच्छिल्ययुतं करोति । रसनेन्द्रियं च प्रतिहन्ति । अन्यरसग्रहणशक्तिं नाशयतीत्यर्थः ।

उद्वेजयति जिह्वाग्रं कुर्वश्चिमिचिमां कटुः ।

स्नावयत्यक्षिनासास्यं कपोलौ दहतीव च ॥ ५ ॥

कटुरास्वाद्यमानो जिह्वाग्रमुद्वेजयति सोद्वेगं करोति । चिमिचिमां कुर्वन्, दहनज्वालासंस्पर्शादिनाऽक्ष्यादि स्नावयति । गरडौ च दहतीव ।

कषायो जडयोर्जिह्वां कण्ठस्रोतोविवन्धकृत् ।

कषायो जिह्वां जडयति रसादिक्रियायां मन्दीकरोति । तथा कण्ठस्य स्रोतांसि सिराविशेषास्तेषां विवन्धं करोति । श्वासादीनामयथाप्रवृत्तिमिव कुरुत इत्यर्थः ।

रसानामिति रूपाणि कर्माणि,

इति परिसमाप्तौ । रसानां मधुरादीनां लक्षणानि समाप्तानि । सम्प्रति तेषां कर्म यथास्वं प्रदर्शयन्नाह—‘कर्माणीति’ । वक्ष्यमाणानीति वाक्यशेषः ।

अथ को रसः किं कर्म करोति इति ? अत आह—

मधुरो रसः ॥ ६ ॥

आजन्मसात्म्यात्कुरुते धातूनां प्रबलं बलम् ।

बालवृद्धक्षतक्षीणवर्णकेशेन्द्रियौजसाम् ॥ ७ ॥

प्रशस्तो बृंहणः कण्ठ्यः स्तन्यसन्धानकृद् गुरुः ।

आयुष्यो जीवनः स्निग्धः पित्ताऽनिलविषाऽपहः ॥ ८ ॥



कुरुतेऽत्युपयोगेन स मेदःकफजान् गदान् ।

स्थौल्याग्निसादसंन्यासमेहगरडावुदादिकान् ॥ ६ ॥

मधुरो रसो धातूनां बलं प्रबलं कुरुते । बलं निजं तत्प्रकृष्टं जनयतीत्यर्थः ।
 कुतः ? आजन्मसात्म्याजन्मप्रभृति देहस्य सात्म्यादित्यर्थः । बालभाव एव हि
 क्षीरादिना पुरुषस्य वृत्तिः । तथा बालादीनां प्रशस्तो हित ओजसोऽधिकवर्धनत्वात्प्रशस्तः ।
 'ओजस्तु तेजो धातूनां शुकान्तानां परं स्मृतम्' इत्योजोलक्षणं वक्ष्यति । तथा
 बृंहणं करण्यश्च । स्तन्यं क्षीरं सन्धानं श्लेषस्ते करोतीति स्तन्यसन्धानकृत् । तथा-
 ऽऽयुष्यादिगुणः । नन्वायुष्यजीवनयोरेकार्थत्वादेकतरोपादानमेव युक्तम् ? मैवम् ।
 एतयोर्भिन्नार्थत्वात् । तथाहि—आयुष्यः स उच्यते, योऽपरिमितायुषो हितोऽधि-
 कायुषो-हितत्वात् । तथा च मुनिः—“ तेनाऽऽयुरमितं लेभ इति ” । यस्त्वायुषो
 नियतरूपस्य तामेव मर्यादामनुबध्नाति स जीवयतीति जीवन उच्यते । तदनयोः
 स्पष्ट एव भेदः । तथा जीवनमोजस्यमित्यभिन्नार्थौ किन्वेतयोर्द्वयोरपीह यदुपादानं
 तदोजसो द्विविधाया अपि वृद्धेः कारकोऽयमिति प्रतिपादयितुम् । तथा च मधुरो
 रसो रुधिरादिकमेणौजसो वृद्धिकरः सामान्याद्विशेषाच्च । यथा क्षीरं धातुवर्धनमुक्तं
 वृध्यं च । तत्र धातुवर्धनत्वेनैव वृध्यत्वस्योक्तत्वाद् वृध्यशब्दोपादानं यत्तदन्यानि
 वृध्यरूपाण्यात्मगुणादीनि तेभ्यः सकाशाद्विशेषणोश्च वृद्धिकरमिति द्योतयितुं कृत-
 मिति । कुरुत इत्यादि । मधुरो रसोऽत्युपयोगेनाऽतिसेवया मेदःश्लेष्मोत्थान् रोगा-
 न्करोति । कांस्तानित्याह—‘ स्थौल्यादिकान् ’ ।

अम्लोऽग्निदीप्तिकृत्स्निग्धो हृद्यः पाचनरोचनः ।

उष्णवीर्यो हिमस्पर्शः प्रीणनो भेदनो लघुः ॥ १० ॥

करोति कफपित्तास्रं मूढवातानुलोमनः ।

सोऽत्यभ्यस्तस्तनोः कुर्याच्छैथिल्यं तिमिरं भ्रमम् ॥ ११ ॥

करडूपाण्डुत्ववीसर्पशोफविस्फोटवृड्ज्वरान् ।

अम्लो रसोऽग्निदीप्तिकृत्त्वादियुतः । तथा कफपित्तास्रं करोति । मूढमननु-
 लोमगं वातमनुलोमयतीति मूढवातानुलोमनः । सोऽम्लो रसोऽतिसेवितो देह-
 शैथिल्यं तिमिरादींश्च कुर्यात् ।

लवणः स्तम्भसङ्घातबन्धविध्मापनोऽग्निकृत् ॥ १२ ॥

स्नेहनः स्वेदनस्तीक्ष्णो रोचनश्छेदभेदकृत् ।

सोऽतियुक्तोऽस्त्रपवनं खलति पलितं बलिम् ॥ १३ ॥

तदकुष्ठविषवीसर्पान् जनयेत्क्षपयेद्वलम् ।

लवणो रसः स्तम्भादिविध्मापनो बद्धिकृत्त्वादियुतश्च । सोऽत्यभ्यस्तो वात-
 रक्तादीन् जनयेत् । बलं प्राणं क्षपयेत् ।

तिक्तः स्वयमरोचिष्णुररुचिं कृमितृड्विषम् ॥ १४ ॥



कुष्ठमूर्च्छाज्वरोत्केशदाहपित्तकफान् जयेत् ।

क्लेदमेदोवसामज्जशक्नुमूत्रोपशोषणः ॥ १५ ॥

लघुर्मध्यो हिमो रुक्षः स्तन्यकण्ठविशोधनः ।

धातुक्षयाऽनिलव्याधीनतियोगात्करोति सः ॥ १६ ॥

तिक्तो रसः, स्वयं मुखस्याऽरोचनशीलोऽरुच्यादीन् जयेत् । अरुचिराहारद्रव्य-
विषयेऽनभिलाषः । क्लेदादीनामुपशोषणः । तथा लघ्वादигुणयुक्तः । सोऽतिसेवितो
धातुक्षयादीन् कुरुते ।

कटुर्गलामयोददकुष्ठाऽलसकशोफजित् ।

व्रणावसादनः स्नेहमेदःक्लेदोपशोषणः ॥ १७ ॥

दीपनः पाचनो रुच्यः शोधनोऽन्नस्य शोषणः ।

छिनत्ति बन्धान् स्रोतांसि विवृणोति कफापहः ॥ १८ ॥

कुरुते सोऽतियोगेन तृष्णां शुक्रबलक्षयम् ।

मूर्च्छामाकुञ्चनं कम्पं कटिपृष्ठादिषु व्यथाम् ॥ १९ ॥

कटुर्गलामयादीन् जयति । व्रणस्याऽवसादनो रोहणः स्नेहादिविशोषणो
दीपनत्वादигुणयुक्तश्च । अन्नं शोषयति विदहति । अन्नशोषणत्वाच्छिनत्ति बन्धान् ।
स्रोतांसि विवृणोति प्रसारयति । कफघ्नश्च । सोऽतिनिषेधितस्तृष्णादीन् करोति ।

कषायः पित्तकफहा गुरुरस्त्रविशोधनः ।

पीडनो रोपणः शीतः क्लेदमेदोविशोषणः ॥ २० ॥

आमसंस्तम्भनो ग्राही रुक्षोऽतित्वकप्रसादनः ।

करोति शीलितः सोऽति विष्टम्भाध्मानहृद्रुजः ॥ २१ ॥

तृक्क।श्यपौरुषभ्रंशस्रोतोरोधमलग्रहान् ।

कषायः पित्तकफघ्नो गुरुत्वादियुतोऽतिशयेन त्वकप्रसादनश्च सोऽत्युपयुक्तो
विष्टम्भादीन्करोति ।

अथ मधुरादिस्कन्धानिर्दिशति—

घृत-हेम-गुडाक्षोड-मोच-चोच-परुषकम् ॥ २२ ॥

अभीरु-वीरा-पनस-राजादन-बलात्रयम् ।

मेदे चतस्रः पर्णिन्यो जीवन्ती जीवकर्षभौ ॥ २३ ॥

मधूकं मधुकं बिम्बी विदारी श्रावणीयुगम् ।

क्षीरशुक्ला तुगाक्षीरी क्षीरिण्यौ काश्मरी सहे ॥ २४ ॥

क्षीरेक्षु-गोक्षुर-क्षौद्र-द्राक्षादिर्मधुरो गणः ।

हेम काञ्चनम् । राजादनं चाषप्रियम् । बलात्रयं बलातिबलानागबलेति ।

मेदा महामेदेति मेदाद्वयम् । चतस्र इति । शालिपर्णी पृश्निपर्णी मुद्गपर्णी माष-
पर्णी च । मधूकं मधूकपुष्पम् । मधुकं मधुयष्टी । बिम्बी गोलहा । श्रावणीयुगं

श्रावणी महाश्रावणी च । न्नीरिणी काञ्चनक्षीरी । काश्मरी गम्भारी । सहे महा-
सहा लुद्रसहा च । आदिशब्देन तृणपञ्चमूलं मेदोमज्जतैलं मधुरदाडिमपुष्करबीज-
शृङ्गाटकाश्वगन्धाश्वदंष्ट्रा मृणालकशेरुकसिञ्चित्काखर्जूरीतालमस्तकादीनि गृह्यन्ते ।

इदानीमम्लस्कन्धमाह—

अम्लो धात्रीफलाऽम्लीकामातुलुङ्गाऽम्लवेतसम् ॥ २५ ॥

दाडिमं रजतं तक्रं चुक्रं पालेवतं दधि ।

आम्रमात्रातक्रं भव्यं कपित्थं करमर्दकम् ॥ २६ ॥

धात्रीफलमामलकम् । रजतं रौप्यम् । चुक्रं शुक्रम् । उपलक्षणं चेदम् ।
सङ्ग्रहोक्तान्यन्यान्यपि कोशाम्रलकुक्कुवल्कोलवदरैरावतप्राचीनामलंकमस्तुधान्या-
म्लादीनीहैव बोध्यानि ।

अथ लवणस्कन्धमाह—

वरं सौवर्चलं कृष्णं बिडं सामुद्रमौद्गिदम् ।

रोमकं पांसुजं शीसं क्षारश्च लवणो गणः ॥ २७ ॥

वरं सैन्धवं लवणश्रेष्ठत्वात् । क्षारः स्वर्जिकादिः ।

तिक्तस्कन्धं वक्ति—

तिक्तः पटोली त्रायन्ती बालकोशीरचन्दनम् ।

भूनिम्बनिम्बकटुकातगरागुरुवत्सकम् ॥ २८ ॥

नक्तमालद्विरजनीमुस्तमूर्वाऽटरूपकम् ।

पाठाऽपामार्गकांस्योयोगुडूचीधन्वयासकम् ॥ २९ ॥

पञ्चमूलं महद्वाग्रयौ विशालाऽतिविषा वचा ।

नक्तमालः करजः । कांस्यं लोहभेदः । अयो लोहम् ।

कटुस्कन्धमाह—

कटुको हिङ्गुमरिचकृमिजित्पञ्चकोलकम् ॥ ३० ॥

कुठेराद्या हरितकाः पित्तं मूत्रमरुष्करम् ।

पित्तं मूत्रं छागादीनाम् । उपलक्षणं चेदम् । अन्यानि सङ्ग्रहोक्तानि च मनः-
शिलासर्षपकुष्ठादीनि बोध्यानि ।

कषायस्कन्धमाह—

वर्गः कषायः पथ्याऽक्षं शिरीषः खदिरो मधु ॥ ३१ ॥

कदम्बोदुम्बरं मुक्ताप्रवालाञ्जनगैरिकम् ।

बालं कपित्थं खर्जूरं विसपम्नोत्पलादि च ॥ ३२ ॥

मौ. टि. १—ताम्रत्रपुजो धातुः 'काँसी' इति ख्यातः ।



आदिशब्देन प्रियङ्गुरोधकद्वङ्गादीनि गृह्यन्ते ।

इदानीमेषां गुणनिरूपणं करोति—

मधुरं श्लेष्मलं प्रायो जीर्णाच्छालियवाहते ।

मुद्गाद्रोधूमतः क्षौद्रात्सिताया जाङ्गलामिषात् ॥ ३३ ॥

प्रायेण मधुरं द्रव्यं कफकृद्भवति, शल्यादीन्पुराणान् वर्जयित्वा । प्रायोग्रहणं तैलमकुष्ठादीनां व्यभिचारदर्शनात् । एवमुत्तरत्रापि प्रायोग्रहणस्य प्रयोजनं वेद्यम् ।

प्रायोऽम्लं पित्तजननं दाडिमामलकाहते ।

अपथ्यं लवणं प्रायश्चक्षुषोऽन्यत्र सैन्धवात् ॥ ३४ ॥

अम्लं द्रव्यं प्रायः पित्तकृद्, दाडिमामलके हित्वा । लवणं द्रव्यं प्रायश्चक्षुषोऽपथ्यं सैन्धवं वर्जयित्वा ।

तिक्तं कटु च भूयिष्ठमवृष्यं वातकोपनम् ।

ऋतेऽमृतापटोलीभ्यां शुण्ठीकृष्णारसोनतः ॥ ३५ ॥

तिक्तं द्रव्यं कटु च प्रायेणावृष्यं वातकृच्च, गुड्यादीन् हित्वा ।

कषायं प्रायशः शीतं स्तम्भनं चाऽभयामृते ।

कषायं द्रव्यं प्रायेण शीतवीर्यं स्तम्भनं च भवति, हरीतकीं वर्जयित्वा ।

रसाः कद्वम्ललवणा वीर्येणोष्णा यथोत्तरम् ॥ ३६ ॥

तिक्तः कषायो मधुरस्तद्वदेव च शीतलाः ।

कद्वम्ललवणा रसा यथोत्तरमुष्णवीर्याः । कटुकृष्णः । अम्ल उष्णतरः । लवण उष्णतमः । एवमुत्तरत्रापि यथोत्तरत्वं योज्यम् । तिक्तादयश्च तद्वदेव यथोत्तरं शीतवीर्याः । तेन तिक्तः शीतवीर्यः । कषायः शीतवीर्यतरः । मधुरः शीतवीर्यतम इति स्थितम् ।

तिक्तः कटुः कषायश्च रूक्षा बद्धमलास्तथा ॥ ३७ ॥

तिक्तकटुकषाया रूक्षा विष्टम्भकतश्च । तथेति । यथोत्तरमित्यर्थः ।

पट्वम्लमधुराः स्निग्धाः मृष्टविण्मूत्रमारुताः ।

पट्वादयः स्निग्धा निःसारितविण्मूत्रवाताश्च । तथेत्यत्रापि वर्तते ।

पटोः कषायस्तस्माच्च मधुरः परमं गुरुः ॥ ३८ ॥

लवणात्कषायो गुरुतरः । कषायान्मधुरः परमं गुरुः । अतिशयेन गुरुरित्यर्थः ।

लघुरम्लः कटुस्तस्मात्तस्मादपि च तिक्तकः ।

अम्लो लघुस्तस्मादम्लात् कटुर्लघुतरस्तस्माच्च कटोः तिक्तो लघुतमः ।

इदानीं रसानामाधारद्वारेण संयोगान् कल्पनां च विभजन्नाह—

संयोगाः सप्तपञ्चाशत्कल्पना तु त्रिषष्टिधा ॥ ३९ ॥

रसानां यौगिकत्वेन यथास्थूलं विभज्यते ।

वक्ष्यमाणया रीत्या रसानां योगाः सप्तपञ्चाशद्विभज्यन्ते इति वचनविपरिणा-

मैन सम्बन्धः । कल्पना पुनरेषां त्रिषष्टिषा विभज्यते । कथं कृत्वा कल्पना विभज्यते ? यथास्थूलं स्थूलानतिक्रमेण व्यक्तरसास्वादानुरूपतया न पुनर्यथासूक्ष्मम् । तथाहि—रसानुरसकल्पनया तरतमयोर्वशाच्च रसानां कल्पना क्रियमाणाऽऽनन्त्यमुपैति । तस्माद्यथास्थूलं रसानां कल्पना त्रिषष्टिषा विभज्यते । तथा यौगिकत्वेन शरीरोपयोग्यत्वेन ।

इदानीं रससंयोगानां व्याख्यानं विभक्तिकामाह--

एकैहीनांस्तान्पञ्च पञ्च यान्ति रसा द्विके, ॥ ४० ॥

त्रिके स्वादुर्दशाभलः षट् त्रीन्पटुस्तिक्त एककम्, ।

चतुष्केषु दश स्वादुश्चतुरोऽम्लः पटुः सकृत्, ॥ ४१ ॥

• पञ्चकेष्वेकमेवाम्लो मधुरः पञ्च सेवते, ।

द्रव्यमेकं षडास्वादमसंयुक्ताश्च षड्रसाः ॥ ४२ ॥

द्विके परिमाणे, रसाधारद्रव्यसम्बन्धिनि संयोगे, पञ्च रसा मधुराम्ललवणतिक्तकटुकाः, तान् पञ्चाम्ललवणतिक्तकटुकषायान् यान्ति संयुज्यते । किम्भूतान् ? एकैकेन हीना विनाकृता एकैकहीनाः, तान् । येनैकेन युक्तास्तद्वियुक्तानित्यर्थः । अत्र पञ्चानां रसानां पर्यायेण प्रत्येकमेकैकहीनानां च शक्तिमत्त्वेनैककर्तृत्वेन च सम्बन्धो वेद्यः । अत एव चतुर्द्विके पञ्चदशप्रकाराविति यद्वक्ष्यति तदुपपन्नम् । एवं मधुरोऽम्लादीन्, अम्लो लवणादीन्, लवणस्तिक्तादीन्, तिक्तः कटुकषायौ, कटुः कषायं, यातीति स्थितम् । द्विक इति द्वौ परिमाणमस्य संयोगस्य । 'संख्यायाः संज्ञे'त्यादिपरिमाणानुवृत्तेः परिमाणार्थे 'संख्याया अतिशदन्तायाः कन्' इति कन् । एवं त्रिकादिषु वक्ष्यमाणेषु लक्षणं योज्यम् । द्विरसद्रव्यसंयोगे पञ्चदश भेदा भवन्ति—यथा—मधुरोऽम्लं याति १, मधुरो लवणम् २, मधुरस्तिक्तम् ३, मधुरः कटुकम् ४, मधुरः कषायम् ५, । अम्लो लवणं याति १, अम्लस्तिक्तम् २, अम्लः कटुकम् ३, अम्लः कषायम् ४, । लवणस्तिक्तम् १, लवणः कटुकम् २, लवणः कषायम् ३, । तिक्तः कटुकम् १, तिक्तः कषायम् २, कटुः कषायमिति १ ॥ अत्र च मधुरस्य गन्तृत्वमेव न गम्यत्वं हीनत्वयोगाऽभावात् । कषायस्य गम्यत्वमेव न गन्तृत्वमन्त्यत्वात् । एवं द्विरससंयोगे पञ्चदश ॥ त्रिके त्रिरसाधारद्रव्यसम्बन्धिनि संयोगे स्वादुर्मधुरो दश संयोगान् याति—यथा—मधुरोऽम्ललवणम् १, मधुरोऽम्लतिक्तकम् २, मधुरोऽम्लकटुकम् ३, मधुरोऽम्लकषायम् ४ । स एव मधुरोऽम्लत्यागेन तत्स्थाने लवणयुक्तस्तिक्तादिभिस्त्रिभिः क्रमेणाऽन्वितस्त्रीन् संयोगान् याति—मधुरलवणतिक्तकः १, मधुरलवणकटुकः २, मधुरलवणकषायः ३ । स एव लवणत्यागेन तत्स्थाने तिक्तयुक्तः कटुकषायाभ्यां क्रमेणाऽन्वितो द्वौ संयोगौ याति—मधुरतिक्तकटुकः १, मधुरतिक्तकषायः २ । स एव तिक्तत्यागेन तत्स्थाने कटुकान्वित एकं संयोगं याति—मधुरकटुकषायः १ । एवं मधुरो दशसंयोगान् याति । अम्ल इत्यादि—त्रिक इति

वर्तते । अम्लः षट् संयोगान् याति—यथा—अम्ललवणतिक्तः १, अम्ललवण-
कटुकः २, अम्ललवणकषायः ३ । स एवाऽम्लो लवणत्यागेन तत्स्थाने तिक्ता-
न्वितः कटुकषायाभ्यां क्रमेण युक्तो द्वौ संयोगौ याति—अम्लतिक्तकटुकः १ अम्ल-
तिक्तकषायः २ । एवं तिक्तत्यागेनैकं संयोगं याति—अम्लकटुकषायः १ । इत्यम्लः
षट् । त्रीन् पटुरिति लवणस्तिक्तयुक्तः कटुकषायाभ्यां क्रमेणाऽन्वितो द्वौ संयोगौ
याति—लवणतिक्तकटुकः १, लवणतिक्तकषायः २ । स एव तिक्तत्यागेनैकं याति ।
लवणकटुकषायः १ । एवं लवणस्त्रीन् संयोगान् याति । तिक्त एकमेवं संयोगं
याति । तिक्तकटुकषायः १ । एवं त्रिकसंयोगे विंशतिः । चतुष्केष्वित्यादि—
चतुष्करसंयोगेषु स्वादुर्दश संयोगान् याति । तत्र मधुरः साम्लो लवणादिभिः
षट् संयोगान् याति । यथा—मधुराम्ललवणतिक्तः १, मधुराम्ललवणकटुकः २,
मधुराम्ललवणकषायः ३, मधुराम्लतिक्तकटुकः ४, मधुराम्लतिक्तकषायः ५, मधु-
राम्लकटुकषायः ६ । स एव मधुरोऽम्लत्यागेन तत्स्थाने लवणान्वितस्त्रीन् संयोगान्
याति । मधुरलवणतिक्तकटुकः १, मधुरलवणतिक्तकषायः २, मधुरलवणकटुकषायः
३ । स एव लवणत्यागेन तत्स्थाने तिक्तान्वित एकं संयोगं याति । मधुरतिक्त-
कटुकषायः १ । एवं चतुष्केषु मधुरो दश संयोगान् याति । चतुरोऽम्ल इत्यादि ।
चतुष्क इति वर्तते । अम्लः सलवणस्तिक्तादिभिस्त्रीन् संयोगान् याति । अम्ल-
लवणतिक्तकटुकः १, अम्ललवणतिक्तकषायः २, अम्ललवणकटुकषायः ३ ।
स एव लवणत्यागेन तत्स्थाने तिक्तान्वित एकं संयोगं याति । अम्लतिक्तकटुकषायः
१ । एवं चतुष्केष्वम्लश्चतुरः । पटुः सकृत्, पटुर्लवणः सकृदेकं भेदं याति । लवण-
तिक्तकटुकषायः १ । एवं चतुष्केषु पञ्चदश संयोगभेदाः । पञ्चकेष्वेकमेवा-
म्ल इति । पञ्चकेष्वम्लो रस एकमेव भेदं याति । अम्ललवणतिक्तद्वयषायः १ ।
मधुरः पञ्च सेवते । मधुरो रसः पञ्च संयोगान् सेवते । अम्लत्यागान्मधुरलवण-
तिक्तकटुकषायः १ लवणत्यागान्मधुराम्लतिक्तकटुकषायः २ । तिक्तत्यागान्मधुरा-
म्ललवणकटुकषायः ३ । कटुकत्यागान्मधुराम्ललवणतिक्तकषायः ४ । कषाय-
त्यागान्मधुराम्ललवणतिक्तकटुकः ५ । इति । पथेन च सुखस्मृत्यै रसभेदान् शृणुष्व
मे । मधुरोऽम्लेन पटुना तिक्तेन कटुकेन च । १ । कषायेण पृथक् सार्धमम्लः
सुलवणेन च । तिक्तेन कटुना सार्धं कषायेण पृथक् सह । २ । पटुस्तिक्तेन कटुना

मौ० टि० १—एवं पञ्चकेषु षट् संयोगभेदा भवन्ति । षण्णां संयो-
गस्तु—‘द्रव्यमेकं षडास्वादमित्यनेन’—एक एव । असंयुक्ताश्च=अमिलिताश्च—पृथ-
क्पृथगित्यर्थः । षट्=षट्संख्यावन्तो रसाः सन्त्येवेति भावः । एवं सर्वयोगेन त्रि-
षष्टिधा कल्पना पूर्णा भवति ।

एतावानत्र टीकायामधिकः पाठ इष्यते ।

नान्यथा मूलपद्यानि सम्यग्व्याख्याऽनुधावति ॥



कषायेण पृथक् सह । तिक्तस्तु कटुना सार्धं कषायेण पृथक् तथा । ३ । कटुकस्तु कषायेण द्विसंयोग इति स्मृताः । दश पञ्च च, भेदास्तु सङ्ख्याता विंशतित्रिके । ४ । मधुराम्लौ तु पटुना तिक्तेन कटुना तथा । कषायेण तथा सार्धं तथा स्वादु-पट् पृथक् । ५ । तिक्तेन कटुकेनाऽपि कषायेण तथा सह । स्वादुतिक्तौ तु कटुना कषायेण पृथक् सह । ६ । स्वादूषणौ कषायेण स्वादोरेवं दश त्रिके । भेदाः स्युरम्ल-लवणौ तिक्तेन कटुना पृथक् । ७ । कषायेण तथा सार्धमम्लतिक्तौ पृथक् सह । कटुकेन कषायेण तथाम्लकटुकौ सह । ८ । कषायेणेति षट् प्रोक्ता भेदा अम्लस्य तु त्रिके । पटुतिक्तौ तु कटुना कषायेण पृथक् सह । ९ । पटूषणौ कषायेण भेदा इति पटोन्नयः । तिक्तोषणौ कषायेण तिक्तस्यैवं सकृत्स्मृतः । १० । त्रिके भेदा इति, प्रोक्ताश्चतुष्के दश पञ्च च । स्वाद्वम्ललवणं सार्धं तिक्तेन कटुकेन च । ११ । पृथक्कषायेण तथा मधुराम्लौ सतिक्तौ । कटुकेन तु सम्पृक्तौ कषायेण पृथक् तथा । १२ । स्वाद्वम्लकटुकाः सार्धं कषायेणेति षट् स्मृताः । सप्तमश्चाऽत्र मधुरो लवणोषणतिक्तकैः । १३ । भेदोष्टमो मतः स्वादुकटुतिक्तकषायकैः । नवमस्तत्र मधुरः षट्पणकषायकैः । १४ । दशमोऽत्र भवेत्स्वादुतिक्तोषणकषायकैः । दश भेदा भवन्त्येवं मधुरेण चतुष्के । १५ । कटुतिक्ताम्ललवणैर्भेद एकश्चतुष्के । द्वितीयस्त्वम्ललवणकषायकटुकैः स्मृतः । १६ । तृतीयोऽत्र भवेदम्लपटुतिक्त-कषायकैः । चतुर्थोऽत्र भवेदम्लतिक्तोषणकषायकैः । १७ । एवमम्लेन भेदाः स्यु-श्चत्वारोऽत्र चतुष्के । पटुनैकोऽत्र लवणतिक्तोषणकषायकैः । १८ । एवं पञ्चदश ख्याताश्चतुष्करससंख्यया, । षट् भेदान् पञ्चके प्राहुस्तान्वक्ष्यामि विभागशः । १९ । एको भेदोऽम्ललवणतिक्तोषणकषायकैः । द्वितीयः स्वादुलवणतिक्तोषण-कषायकैः । २० । तृतीयस्त्वम्लमधुरतिक्तोषणकषायकैः । चतुर्थस्त्वम्लमधुरपटूषण-कषायकैः । २१ । पञ्चमस्त्वम्लमधुरपटुतिक्तकषायकैः । षष्ठो भेदोऽम्लमधुरलव-णोषणतिक्तकैः । २२ । षड्भेदा इति निर्दिष्टाः पञ्चके प्रविभागशः, । भेदः स्वा-द्वम्ललवणतिक्तोषणकषायकैः । २३ । एक एव षड्भेदेन, पृथक्त्वेन तु षट् स्मृताः । स्वादुरम्लोऽथ लवणस्तिक्तश्च कटुकस्तथा । २४ । कषाय इति भेदाः स्युः, सर्वतोऽत्र त्रिषष्टिधा । क्षीरं सुरा बिडं निम्बश्चव्या पद्मं रसाश्रयम् । २५ । द्रव्यं स्वादु रसादीनां षण्णां विद्धि यथाक्रमम्, । द्रव्यं द्रव्यान्तरैरेव योजयेद्धि रसादिषु । २६ । धात्रीफलं शर्करया, लवणेनाऽर्द्रकं तथा, । एवमादीनि द्रव्याणि योजयेद्धि-पगुत्तमः । २७ । कानिचिद् द्विरसादीनि द्रव्याणि स्युः स्वभावतः । यथैषः षड्भेदः कृष्णो यथा पञ्चरसाऽभया, । २८ । मथं पञ्चरसं, यद्वत्तिलो यद्वच्चतूरसः, । एरण्डतैलं त्रिरसं, माक्षिकं द्विरसं यथा । २९ । घृतमेकं स्वादुरसं, मधुरादिविभा-गतः । दिङ्मात्रादुदितादेवं शेषमूढं मनीषिणा ॥ ३० ॥

सम्प्रति एकैकहीनानित्यादिना ग्रन्थेन ये रसानां भेदाः शास्त्रकृतोक्तास्तानेव

संक्षेपेण प्रकटयितुमाह—

षट् पञ्चकाः, षट् च पृथग्रसाः, स्युश्चतुर्दिकौ पञ्चदशप्रकारौ ।

भेदास्त्रिका विंशतिरेकमेव द्रव्यं षडास्वादमिति त्रिषष्टिः ॥ ४३ ॥

पञ्चकरसानां योगाः षट्संख्याः । पञ्चकेष्वेकमेवाम्लो मधुराः पञ्च सेवत इति । षट् च पृथग्रसा असंयुक्ताश्च षड्रसा इति । चतुरित्यादि । चतुष्कभेदः पञ्चदश-प्रकारः । द्विकभेदश्च पञ्चदशप्रकारः । चतुष्केषु दश स्वादुरचतुरोऽम्लः पटुः सकृत् । एवं पञ्चदश प्रकाराः । एकैकहीनांस्तान् पञ्च पञ्च यान्ति रसा द्विक इति वचनात् । भेदा इत्यादि त्रिकास्त्रिभेदभिन्ना भेदा विंशतिः । त्रिके स्वादुर्दशाम्लः षट् त्रीन् पटुस्तिक्त एककमिति विंशतिः । एकमेव द्रव्यं षडास्वादम् । इतीत्थं रसानां भेदास्त्रिषष्टिः ।

यथास्थूलं चैषा त्रिषष्टिधा कल्पना ख्याता । सम्प्रति यथासूक्ष्मं प्रदर्शयितु-माह—

ते रसाऽनुरसतो रसभेदास्तारतम्यपरिकल्पनया च ।

सम्भवन्ति गणनां समतीता दोषभेषजवशादुपयोज्याः ॥ ४४ ॥

ते रसभेदास्त्रिषष्टिरूपा रसतो रसवशेन तथाऽनुरसतोऽनुरसवशेन तथा तारत-म्यपरिकल्पनाऽयं मधुरोऽयं मधुरतरोऽयं मधुरतम इत्येवंरूपा या, तथा च गणनां समतीताः सङ्ख्यामतिक्रान्ताः सम्भवन्ति । दोषेत्यादि—दोषा वातादयो भेषजानि हरीतक्यादीनि । दोषाश्च भेषजानि च दोषभेषजनानि तेषां वशोऽनुरोधः सामर्थ्यं वा तस्माद्धेतुभूताद्रसभेदा उपयोज्या न दोषमनपेक्ष्य भेषजं वाऽनपेक्ष्य । एवमेवो-पयोज्या इत्यर्थः । तथा च मुनिः—“ क्वचिदको रसः कल्प्यः संयुक्ताश्च रसाः क्वचित् । दोषौषधादीन् सञ्चिन्त्य भिषजा सिद्धिमिच्छतेति ।” दोषभेषज-वशादित्युपलक्षणार्थम् । देशादिवशादपि देशादीन्वीक्ष्य रसभेदा उपयोज्याः । यथा पवने जेतव्ये मधुराम्लौ लवण इति । ‘स्वागता रनभगैर्गुरुकान्ता इति ।’

इति श्रीमृगाङ्कदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टाङ्गहृदयटीकायां सर्वाङ्ग-सुन्दराख्यायां रसभेदीयाख्यो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः ।

रसभेदीयानन्तरं दोषादिविज्ञानीय आरभ्यते । यतो दोषभेषजवशादुपयोज्या इत्युक्तमत ईदृक्स्वरूपास्ते दोषा इति ज्ञापनार्थमध्यायोऽयमुच्यते—

अथातो दोषादिविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।

दोषा आदयो येषां ते दोषादयस्तेषां विज्ञानं प्राकृतेन वैकृतेन च स्वरूपेणो-पगमस्तस्मै हितो यस्तमध्यायं व्याख्यास्यामः । आदिशब्देन धातवो मलाश्च

सङ्गृह्यन्ते । तत्स्वरूपोपगमेन च त एव दोषाः सम्यग्ज्ञाता भवन्ति । धातूनां मलानां च दोषाधारभूतत्वात् ।

दोषधातुमला मूलं सदा देहस्य, तं चलः ।

उत्साहोच्छ्वासनिश्वासचेष्टावेगप्रवर्तनैः ॥ १ ॥

सम्यग्गत्या च धातूनामक्षाणां पाटवेन च ।

अनुगृह्णात्यविकृतः, पित्तं पक्त्यूष्मदर्शनैः ॥ २ ॥

क्षुत्तृद्धरुचिप्रभामेधाधीशौर्यतनुमार्दवैः, ।

श्लेष्मा स्थिरत्वस्निग्धत्वसन्धिवन्धक्षमादिभिः ॥ ३ ॥

दोषा वातादयो धातवो रसादयो मला मूत्रादयस्ते देहस्य मूलमिव मूलम् । यथा वृक्षस्य स्कन्धशाखादियुक्तस्य मूलं प्रधानं तदारब्धत्वात्तथा देहस्य दोषधातु-मलाः । तं च देहं चलो वायुरुत्साहादिभिरनुगृह्णात्युपकुर्वते । उत्साहः सर्वचेष्टा-सूद्योगः । उच्छ्वास ऊर्ध्वं श्वसनं श्वासमुक्तिः । निश्वासः श्वासस्य शरीरान्तःप्रवे-शनम् । चेष्टनं चेष्टा वाक्कायमनोव्यापारः । वेगानां प्रवर्तनं वातविरमूत्रादीनां बहिर्निरसनम् । एतैश्च मारुतो देहमनुगृह्णाति । पित्तं पक्त्यादिभिरनुगृह्णाति । पक्ति पाकः । ऊष्मा औष्ण्यम् । दर्शनं दृष्टिः । मेधा बुद्धिविशेषः । धीः प्रज्ञा । शौर्यं पौरुषम् । तनुमार्दवं शरीरमृदुत्वम् । श्लेष्मा स्थिरत्वादिभिरनुगृह्णाति । क्षमा क्षान्तिः ।

इदानीं धातूनां कर्माण्याह—

प्रीणनं जीवनं लेपः स्नेहो धारणपूरणे ।

गर्भोत्पादश्च धातूनां श्रेष्ठं कर्म क्रमात्स्मृतम् ॥ ४ ॥

प्रीणनादानि कर्माणि रसादीनां क्रमात्क्रमेण श्रेष्ठानि स्मृतानि । मुनिभिरिति शेषः । सङ्ग्रहोक्तानि मध्यमान्यपराणि कर्माण्येषां सन्त्येव । यथा रसस्य—दृष्टिरक्तपुष्प्यादिकं कर्म । रक्तस्य च वर्णप्रसादौ मांसपोषणम् । मांसस्य बलं मेदःपुष्टी च । मेदसः स्वेददार्ढ्यास्थिपुष्टयश्च । अस्थौ मज्जपोषणम् । मज्जो बल-मास्थिपूरणं शुक्रपुष्टिश्च । शुक्रस्य हर्षो बलं च । एतैर्धातवो देहमनुगृह्णन्तीत्यर्थः । प्रीणनमाप्यायनम् । रसो हि सम्यग्भयवहरणतः स्रोतांसि सम्प्रविश्येन्द्रियप्रसाद-मभिनिर्वृतयन्मनसः प्रीतिमादधाति । जीवनमोजोवृद्धिकरं रक्तकर्म । लेप उपदेहो मांसस्य कर्म । तदुपलिप्तान्यस्थीनि चेष्टां क्षमन्ते । स्नेहो नेत्रादिषु स्निग्धता मेदसः कर्म । धारणमूर्ध्वधारणमस्थिकर्म । पूरणं स्नेहेनास्थां मज्जः कर्म । शुक्रस्य गर्भो-त्पत्तिः श्रेष्ठं कर्मेति योज्यम् ।

इदानीं मलानां कर्माण्याह—

अवष्टम्भः पुरीषस्य, मूत्रस्य क्लेदवाहनम्, ।

स्वेदस्य क्लेदविधृतिः,



अवष्टम्भो देहधारणशक्तिः श्रेष्ठं कर्म पुरीषस्य स्मृतम् । मूत्रस्य क्लेदवाहनं श्रेष्ठं कर्म । मूत्रं क्लेदं निर्वाहयति । खेदस्य क्लेदविधारणं श्रेष्ठं कर्म । क्लेदाभावे हि नैव देहस्य मध्यमत्वम् । खेदस्य कचरोमधारणमपि ।

वृद्धस्तु कुरुतेऽनिलः ॥ ५ ॥

कार्श्यकाष्ण्यौष्ण्यकामित्वकम्पाऽनाहशकृद्ग्रहान् ।

बलनिद्रेन्द्रियभ्रंशप्रलापभ्रमदीनताः ॥ ६ ॥

वृद्धः पुनर्वायुः कार्श्यदीन् करोति । बलादीनां भ्रंशेन सम्बन्धः । बलस्य तु प्राणोपघातो भ्रंशः । निद्रायास्तु नाशो भ्रंशः ।

पीतविरमूत्रनेत्रत्वक्कुत्तृद्धदाहाऽल्पनिद्रताः ।

पित्तम् ।

पीतस्य विडादिभिस्त्वगन्तैः सम्बन्धः । ततः कुदादिभिर्द्वन्द्वस्ततस्ताप्रत्ययः । पित्तं पीतविरमूत्रादीन् करोति ।

श्लेष्माऽग्निसदनप्रसेकालस्यगौरवम् ॥ ७ ॥

श्वैत्यशैत्यश्लथङ्गत्वं श्वासकासातिनिद्रताः ।

श्लेष्मा वृद्धोऽग्निसादादीन् करोति । श्वैत्यं गात्रशुक्लता । शैत्यमङ्गानां शिशिरत्वम् ।

रसोऽपि श्लेष्मवद्, रक्तं विसर्पस्त्रीहविद्रधीन् ॥ ८ ॥

कुष्ठवातासूपित्तासृगुल्मोपकुशकामलाः ।

व्यङ्गाग्निनाशसंमोहरक्तत्वङ्नेत्रमूत्रताः ॥ ९ ॥

रसः श्लेष्मवत् । रसोऽपि वृद्धोऽग्निसादादीन् करोति । रक्तं वृद्धं विसर्पादीन् करोति । उपकुशो नाम दन्तरुजोत्तरतन्त्रे वक्ष्यमाणलक्षणा ।

मांसं गरडार्बुदग्रन्थिगण्डोरुदरवृद्धताः ।

कण्ठादिष्वधिमांसं च,

मांसं वृद्धं गरडादीन् रोगान् करोति । गरडशब्देन गरडमाला गलगण्डश्च गृहीतौ । आद्यन्तलोपात् । इतरश्च गरडो गरडमांसम् । गरडौ चार्बुदं च ग्रन्थिश्च गरडार्बुदग्रन्थयः । गरडौ च ऊरु चोदरं च तेषां वृद्धता । ततो द्वन्द्वः । ताः करोति । वृद्धता वृद्धत्वम् । कण्ठादिष्वधिकं मांसं च कुरुते । आदिशब्देन तालु-जिह्वादिपरिग्रहः ।

तद्वन्मेदस्तथा श्रमम् ॥ १० ॥

अल्पेऽपि चेष्टिते श्वासं स्फिक्स्तनोदरलम्बनम् ।

मेदोऽपि वृद्धं गरडादीन् कुरुते । तथाऽल्पेऽपि चेष्टिते श्रमं कुरुते श्वासं च । तथा स्फिजोः स्तनयोरुदरस्य च लम्बनं कुरुते ।

अस्थ्यध्यस्थ्यधिदन्तांश्च,



अस्थि वृद्धमध्यस्थ्यधिदन्तांश्च कुरुते ।

मज्जा नेत्राङ्गगौरवम् ॥ ११ ॥

पर्वसु स्थूलमूलानि कुर्यात्कृच्छ्राण्यरुंषि च ।

मज्जा वृद्धो नेत्रयोरङ्गानां च गौरवं कुर्यात् । कुरुते इति प्रकृते कुर्यादित्युक्तं स्पष्टार्थम् । पर्वस्वद्गुल्यादिसन्धिषु स्थूलानि मूलानि येषां तानि । अरुंषि पिटिका-विशेषान् कुर्यात् । कोटशानि ? स्थूलमूलानि । कृच्छ्राणि कृच्छ्रसाध्यानि ।

अतिस्त्रीकामतां वृद्धं शुक्रं शुक्राश्मरीमपि ॥ १२ ॥

शुक्रं वृद्धमतिस्त्रीकामतां कुर्यात् । शुक्राश्मरीं च । अपिशब्दाद्बलक्षेहाद्यपि ।

कुक्षावाधमानमाटोपं गौरवं वेदनां शकृत् ।

शकृत्पुरीषं वृद्धं कुक्षावाधमानादीन् कुर्यात् । कुर्यादिति सम्भावनायां लिङ् । आध्मानमानाहः । आटोपोऽन्त्रकूजनम् ।

मूत्रं तु बस्तिनिस्तोदं कृतेऽप्यकृतसंज्ञताम् ॥ १३ ॥

मूत्रं वृद्धं बस्तिनिस्तोदं बस्तिव्यथां कुर्यात् । तथा कृतऽपि मूत्रेऽकृतसंज्ञताम-कृताभासत्वमेव कुर्यात् ।

स्वेदोऽतिस्वेददौर्गन्ध्यकण्डूः,

स्वेदो वृद्धोऽतिस्वेदादीन् ।

एवं च लक्षयेत् ।

दूषिकादीनपि मलान् बाहुल्यगुरुतादिभिः ॥ १४ ॥

अनेन प्रकारेण दूषिकादीनपि मलान् लक्षयेदनुमिनुर्यात् । दूषिकाऽक्षिमलः । आदिशब्दाद् घ्राणकर्णनासामलादीनां ग्रहणम् । कथं लक्षयेदित्याह । बाहुल्य-त्वादि । मलबाहुल्येन तत्स्थानगौरवेण च । आदिग्रहणात्करणद्वयेदादयो गृह्यन्ते ।

वृद्धानां वातादीनां लिङ्गान्यभिधाय क्षीणानां वातादीनां लिङ्गान्याह—

लिङ्गं क्षीणेऽनिलेऽङ्गस्य सादोऽल्पं भाषितोहितम् ।

संज्ञामोहस्तथा श्लेष्मवृद्ध्युक्ताऽऽमयसम्भवः ॥ १५ ॥

अनिले क्षीणे स्वप्रमाणापचिते । वायोस्तु सर्वक्षये देह एव न स्यात् । कस्य तु लिङ्गं स्यात् । किं पुनस्तस्मिन्मित्राह । अङ्गस्येत्यादि । अङ्गस्य सादः क्रियास्व-सामर्थ्यम् । ईहितं चेष्टितं कायिकं कर्म । भाषितं चेहितं च—अल्पवचनताऽल्प-चेष्टितत्वं च स्यात् । तथा संज्ञामोहः संविदोऽभावः । तथा श्लेष्मवृद्धौ य उक्ता अग्नि-सादप्रसेकादयस्तेषामामयानां सम्भवो भवति ।

पित्ते मन्दोऽनलः शीतं प्रमाहानिः,

पित्ते क्षीणे लिङ्गमेतत् । अग्निर्मन्दः शीतं कान्तिहानिरच स्यात् ।

कफे भ्रमः ।

श्लेष्माशयानां शून्यत्वं हृद्द्रवश्लथसन्धिताः ॥ १६ ॥



कफे क्षीणे भ्रमो भवति । तथा श्लेष्माशयानां शून्यत्वम् । श्लेष्माशया उरः-
शिरःसन्ध्याद्याः ।

रसे रौक्ष्यं भ्रमः शोषो ग्लानिः शब्दासहिष्णुता ।

रसे क्षीणे रौक्ष्यादयः स्युः ।

रक्तेऽम्लशिशिरप्रीतिसिराशैथिल्यरूक्षताः ॥ १७ ॥

रक्ते क्षीणेऽम्लाद्यभिलाषादयः स्युः ।

मांसेऽक्षग्लानिगण्डस्फिक्शुष्कतासन्धिवेदनाः ।

मांसे क्षीणेऽक्षग्लानिः । गल्लयोः स्फिजोश्च शुष्कत्वम् । सन्धीनां वेदनाः
स्युः । स्फुटन्तीव सन्धय इत्यर्थः ।

मेदसि स्वपनं कठ्याः स्नीहो वृद्धिः कृशाङ्गता ॥ १८ ॥

मेदसि क्षीणे कठ्याः स्वापः स्नीहवृद्धिः कृशाङ्गत्वं च ।

अस्थन्यस्थितोदः शदनं दन्तकेशनखादिषु ।

अस्थि क्षीणेऽस्थ्नां तोदो भवति । शदनं शातः । पात इत्यर्थः । केषाम् ?
दन्तादीनाम् ।

अस्थ्नां मज्जनि सौषिर्यं भ्रमस्तिमिरदर्शनम् ॥ १९ ॥

मज्जनि क्षीणेऽस्थ्नां सौषिर्यं भ्रमादिश्च ।

शुके चिरात् प्रसिच्येत शुक्रं शोणितमेव वा ।

तोदोऽत्यर्थं वृषणयोर्मेढ्रं धूमायतीव च ॥ २० ॥

शुके क्षीणे शुक्रं चिरात् प्रसिच्येत रक्तं वा । प्रसिच्येतेति कर्मकर्तरि । वृषण-
योरतिशयेन तोदो व्यथा स्यात् । मेढ्रं शिश्रं धूमायतीव च लोहितादेराकृतिगण-
त्वात् किप् । अकृत्सार्वेत्यादिना दीर्घः ।

पुरीषे वायुरन्त्राणि सशब्दो वेष्टयन्निव ।

कुक्षौ भ्रमति यात्यूर्ध्वं हृत्पार्श्वे पीडयन् भृशम् ॥ २१ ॥

पुरीषे क्षीणे वायुः कुक्षौ भ्रमति । अन्त्राणि वेष्टयन्निव शब्दं जनयन् यात्यूर्ध्व-
ध्वम् । किं कुर्वन् ? हृत्पार्श्वे भृशं पीडयन् ।

मूत्रेऽल्पं मूत्रयेत्कृच्छ्राद्विवर्णं सास्त्रमेव वा ।

मूत्रे क्षीणेऽल्पं मूत्रयेत्कृच्छ्राद्विवर्णं रक्तसहितमेव वा ।

स्वेदे रोमच्युतिः स्तब्धरोमता स्फुटनं त्वचः ॥ २२ ॥

स्वेदे क्षीणे रोम्णां च्युतिः शादो रोम्णां च स्तब्धत्वम् । त्वचश्चर्मणः
स्फुटनं दरणम् ।

इदानीं प्राणादिमलानामपि सामान्येन क्षयलिङ्गमाह—

मलानामतिसूक्ष्माणां दुर्लक्ष्यं लक्षयेत् क्षयम् ।

स्वमलायनसंशोषतोदशून्यत्वलाघवैः ॥ २३ ॥



सूक्ष्माणां शुष्काल्पानां दूषिकादीनां, दुःखेन बोद्धुं शक्यं दुर्लभ्यं, क्षयं लक्ष्ये-
ज्जानयात् । कैः? मलानां स्थानानि मलायनानि स्वानि च तानि मलायनानि च स्वमला-
यनानि, तेषां संशोषतोदशून्यत्वलाघवानि स्वमलायनसंशोषतोदशून्यत्वलाघवानि तैः ।

एवं व्यासेन दोषधातुमलानां वृद्धिक्षयावभिधाय समासतोऽभिधातुमिदमाह-
दोषादीनां यथास्वं च विद्याद्वृद्धिक्षयौ भिषक् ।

क्षयेण विपरीतानां गुणानां वर्धनेन च ॥ २४ ॥

वृद्धिं मलानां सङ्गाच्च क्षयं चाऽतिविसर्गतः ।

दोषधातुमलानां वृद्धिक्षयौ जानीयात् । कथम् ? यथास्वं दोषादीनां गुणेभ्यो
विपरीता ये गुणास्तेषां गुणानां क्षयेण वर्धनेन च देहगतेन दोषादीनां वृद्धिं क्षयं
च विद्यात् । यथा वायोर्गुणा रूक्षलघुशीतादयस्तेषां विपरीताः स्निग्धगुरुष्णादय-
स्तेषां स्निग्धादीनां देहे यदा वृद्धिर्दृश्यते तदा वायोः क्षयो ज्ञेयः । यदा तु तेषां
स्निग्धादीनां देहे क्षयो दृश्यते तदा वायोर्वृद्धिं विद्यात् । एवं स्वबुद्ध्या विकल्प्य
मलानां धातूनां च वाच्यम् । मलानामित्यादि । न केवलं मलानां पूर्वोक्तेन प्रकारेण
वृद्धिक्षयौ ज्ञेयौ यावदमुनाऽपि वक्ष्यमाणेन लक्षणेन तेषां वृद्धिक्षयौ ज्ञेयौ । एवं
स्वबुद्ध्या विकल्प्य मलानां सङ्गाद्वृद्धिर्निःसरणलक्षणाच्च वृद्धिं विद्यात् । तेषामेव
मलानामतिविसर्गादतिप्रवर्तनात्क्षयं विद्यात् ।

मलोचितत्वाद्देहस्य क्षयो वृद्धेस्तु पीडनः ॥ २५ ॥

द्वावपि मलानां वृद्धिक्षयौ पीडाकरौ देहस्य । तत्रापि य एषां क्षयः स वृद्धि-
तोऽप्यतिशयेन पीडाकरः । अनौचित्यात् । देहिनां हि प्रायो मलक्षयोऽनुचितो-
ऽनभ्यस्तो वृद्धिस्तूचितैवेति न तथा पीडां करोति ।

अथ दोषादीनामाश्रयाश्रयिभावं दर्शयति—

तत्राऽस्थनि स्थितो वायुः पित्तं तु स्वेदरक्तयोः ।

श्लेष्मा शेषेषु तेनैवामाश्रयाश्रयिणां मिथः ॥ २६ ॥

यदेकस्य तदन्यस्य वर्धनक्षपणौषधम् ।

अस्थिमारुतयोर्नैवं प्रायो वृद्धिर्हि तर्पणात् ॥ २७ ॥

श्लेष्मणाऽनुगता तस्मात् संक्षयस्तद्विपर्ययात् ।

वायुनाऽनुगतः,

तत्र तेषु वातादिषु मध्येऽस्मिन् वायुः स्थितः आश्रितः । पित्तं तु स्वेदरक्तयोः
स्थितम् । श्लेष्मा शेषेषु रसमांसमेदोमज्जशुक्रमूत्रपुरीषादिषु स्थितः । यतश्चैवमा-
श्रयाश्रयिभावो दोषधातूनां तेन हेतुनाऽऽश्रयाश्रयिणां मिथः परस्परं यदेकस्या-
ऽऽश्रयस्य वर्धनं तत्तदाश्रयिणोऽपि वर्धनं यदाश्रयस्य क्षपणं तदाश्रयिणोऽपि
क्षपणम् । नन्वेवमेवाऽस्त्रो वाताश्रयस्य यद्वर्धनं तदप्याश्रयिणोऽपि वर्धनं यदस्य
क्षपणं तदपि वातस्य क्षपणं प्राप्नोतीत्यत आह । 'अस्थिमारुतयोर्नैवं वर्धनक्षपणौ-

षधम् । संभवतीत्यध्याहार्यम् । हि यस्मात् प्रायो बाह्येन या वृद्धिर्वर्धनं दोष-
धातूनां सा तर्पणाद् बृंहणाद्भवति । प्रायोऽग्रहणं वायुपरिहारार्थम् । सा च श्लेष्मणा-
ऽनुगताऽनुबद्धा यत एवं या वृद्धिः सन्तर्पणात्तस्माद्वैतोऽर्थ एषां दोषादीनां क्षयः स
प्रायो भूयिष्ठमपतर्पणात्तल्लङ्घनरूपाद्भवति । स च संक्षयो वायुनाऽनुगतः ।

एवं यदस्थनो वर्धनमौषधं तत् क्षिग्धमधुरादि बृंहणरूपं वातस्य क्षपणम् ।
यच्च वातस्य वर्धनमौषधं तद्रूक्षतिक्ताद्यपतर्पणं लङ्घनरूपमस्थनः क्षपणम् ।
तदर्थमेतदुक्तम् ।

अस्माच्च वृद्धिक्षयसमुद्भवान् ॥ २८ ॥

विकारान् साधयेच्छीघ्रं क्रमालङ्घनबृंहणैः ।

यत एवं वृद्धेः सन्तर्पणरूपत्वं क्षयस्याऽपतर्पणरूपत्वमतो वृद्धिक्षयसम्भवान्
विकारान् दोषधातूनां सम्बन्धिनः क्रमालङ्घनबृंहणैः साधयेदुपक्रमेत् । कथम् ?
शीघ्रम् । चिरोत्थिता हि ते दुश्चिकित्स्याः स्युः । वृद्धयुत्थान् विकारान् लङ्घनैः
क्षयोत्थान् बृंहणैरिति क्रमार्थः ।

नन्वेवं वातवृद्धयुत्थान् विकारान् लङ्घनैस्तत्क्षयोत्थान् बृंहणैरिति स्यादत
इदमाह—

वायोरन्यत्र तज्जांस्तु तैरेवोत्क्रमयोजितैः ॥ २९ ॥

वायुं हित्वा वृद्धयुत्थान् विकारान् लङ्घनैः, क्षयोत्थान् बृंहणैः साधयेत् । अथ
तज्जान् वायुसम्भवान् विकारान् पुनस्तैरेव लङ्घनबृंहणैरुत्क्रमयोजितैरुपक्रमेत् ।
यथानिर्दिष्टक्रमाद्विपरीतः क्रमः उत्क्रमः । यथा वातवृद्धयुत्थान् विकारान् बृंहणैस्त-
त्क्षयोत्थांश्च लङ्घनैरिति ।

दोषाणां विशेषचिकित्सेह नोक्ता । दोषोपक्रमणीये वक्ष्यमाणत्वात् । रस-
चिकित्सा च, रसोऽपि श्लेष्मवदित्युक्तेर्नेह पुनर्निर्दिष्टाऽतो रक्तादीनां चिकित्सामाह—

विशेषाद्रक्तवृद्धयुत्थान् रक्तस्रुतिविरेचनैः ।

मांसवृद्धिभवान् रोगान् शस्त्रक्षाराग्निकर्मभिः ॥ ३० ॥

स्थौल्यकार्ष्योपचारेण मेदोजातस्थिसंक्षयात् ।

जातान् क्षीरघृतैस्तिक्तसंयुतैर्बस्तिभिस्तथा ॥ ३१ ॥

विड्वृद्धिजानतीसाराक्रियया विदक्षयोद्भवान् ।

मेषाऽजमध्यकुल्माषयवमाषट्त्रयादिभिः ॥ ३२ ॥

मूत्रवृद्धिक्षयोत्थांश्च मेहकृच्छ्रचिकित्सया ।

व्यायामाऽभ्यञ्जनस्वेदमयैः स्वेदक्षयोद्भवान् ॥ ३३ ॥

वृद्धिक्षयोपक्रमे, एवं स्थितेऽपि, विशेषेण रक्तवृद्धयुत्थान् रक्तस्रुतिविरेचनै-
रुपक्रमेत् । मांसवृद्धिजान् शस्त्रक्षाराग्निकर्मभिः । स्थौल्यकार्ष्योपचारेण मेदोवृद्धि-

क्षयाभ्यां जातान् । मेदोज्ञानिति मध्यमपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः । मेदोवृद्धिजान् स्थौ-
ल्योपचारेण द्विविधोपक्रमणीयोक्तया स्थौल्यविकित्सया । मेदःक्षयजान् काश्योप-
चारेणोपाचरेत् । अस्थिक्षयजान् क्षीरघृतैस्तिक्रसंयुक्तैर्वस्तिभिस्तथा तथारूपैस्तिक्र-
संयुतैरित्यर्थः । ननु यानि वातकृन्ति द्रव्याणि तान्यस्थिक्षयोद्भवविकारणां वृद्धि-
करणानीति तद्द्रव्योपयोगोऽत्र न युक्तस्तिक्रस्य वातकृत्वात् ? उच्यते । यद्द्रव्यं
स्निग्धं शोषणं खरत्वमुत्पादयति तदस्थनो वर्धनं युक्तं, खरस्वभावादस्थनाम् । नचैवं-
विधमेकं द्रव्यमस्ति यत् स्निग्धं शोषणं च । तस्मात् क्षीरघृतैस्तिक्रसंयुतैर्वस्तिभिश्च
तिक्रसंयुतैरित्युपदिष्टम् । क्षीरघृतस्य तिक्रयुक्तस्य खरस्वभावत्वात् । विट् वृद्धिजान्
पुरीषवृद्धिजानतीसारचिकित्सया साधयेत् । विट्क्षयोद्भवान् मेषाजमध्यादिभिः साध-
येत् । मेष उरध्वः । अजरङ्गागः । तयोर्मध्यमन्तराधिः । कुलमाषोऽर्धस्त्रिजो माषा-
दिर्हृक्कुपृतादिसंयुतः । माषद्वयं माषो राजमाषश्च । आदिशब्देन काकारण्डोलात्म-
गुप्तादीनां ग्रहणम् । मूत्रवृद्धयर्थान् मेहचिकित्सया मूत्रक्षयोत्थान् मूत्रकृच्छ्रचिकि-
त्सया । स्वेदक्षयजान् व्याधीन् व्यायामादिभिः साधयेत् ।

स्वस्थानस्थस्य कायाग्रेरंशा धातुषु संश्रिताः ।

तेषां सादातिदीप्तिभ्यां धातुवृद्धिक्षयोद्भवः ॥ ३४ ॥

स्वस्थानं कायामेः पक्वमाशययोर्भक्ष्यम् । यथा वक्ष्यति—“ पित्तं पञ्चात्मकं
तत्तु पक्वमाशयमध्यगमित्यादि यावत्पाचकं नाम तत् स्मृतमिति ” । तत्र पक्वा-
माशयमध्ये तिष्ठतीति स्वस्थानस्थस्तस्यैवंविधस्य कायामेर्जाठरानलस्यांऽशा भागा
धातुषु रसादिषु संश्रितास्तेषामग्न्यंशानां सादेन मान्द्येन धातूनां वृद्धयुद्भवस्तेषा-
मंशानामतिदीप्याऽतितैक्ष्ण्याद्ध तुक्षयोद्भवः ।

पूर्वो धातुः परं कुर्याद् वृद्धः क्षीणश्च तद्विधम् ।

पूर्वो रसाख्यो धातुर्वृद्धो भूत्वा परं रक्ताख्यं धातुं वृद्धं कुर्यात् । पूर्वश्च क्षीणो
धातुः परं धातुं तद्विधं क्षीणमेव कुर्यात् ।

दोषा दुष्टा रसैर्धातून् दूषयन्त्युभये मलान् ॥ ३५ ॥

दोषा दुष्टा रसैर्मधुरादिभिर्मिथ्यायोगातियोगसेवितैः कुपिता धातून् दूषयन्ति ।
उभये दोषा धातवश्च मलान् दूषयन्ति ।

अधो द्वे सप्त शिरसि खानि स्वेदवहानि च ।

मला मलायनानि स्युर्यथास्वं तेष्वतो गदाः ॥ ३६ ॥

मला मलायनानि दूषयन्तीति सम्बन्धः । तथा च मुनिः—“ मलायनानि
बाध्यन्ते दुष्टैर्मात्राधिकैर्मलैरिति ” । कानि मलायनानि ? इत्याह—
अधो द्वे गुदमेढ्राख्ये । सप्त शिरसि खानि—द्वे अक्षिणी द्वौ कर्णौ
द्वौ नासापुटवास्यं चेति । तथा स्वेदवहानि रोमकूपाख्यानि छिद्राणि सर्वशरीर-
गतानि मलायनानि स्युः । अतो दूषणात्कारणात् तेषु मलायनेषु दुष्टेषु यथास्वं
गदाः स्युः । यो यस्य स्त्रो यथास्वम् ।

दोषधातुमलानां समविषमाऽवस्था गदिता । ओजो-निरूपयन्नाह—

ओजस्तु तेजो धातूनां शुक्रान्तानां परं स्मृतम् ।

हृदयस्थमपि व्यापि देहस्थितिनिबन्धनम् ॥ ३७ ॥

स्निग्धं सोमात्मकं शुद्धमीषज्जोहितपीतकम् ।

यन्नाशे नियतं नाशो यस्मिंस्तिष्ठति तिष्ठति ॥ ३८ ॥

निष्पद्यन्ते यतो भावा विविधा देहसंश्रयाः ।

रसादीनां धातूनां शुक्रान्तानां यत्परं तेजस्तदेजः स्मृतम् । तथा हृदयस्थमपि व्यापि सकलशरीरव्यापि । यतस्तस्य षड्बिन्दुकस्य विशेषेण हृदयं स्थानम् । तथा देहस्य स्थितिर्देहस्थितिस्तस्या निबन्धनं जीविताधिष्ठानमित्यर्थः । अन्ये त्वाहुः परशब्देनैतद् द्योतयति—अन्यदप्योजोऽस्ति, न तद्धातूनां शुक्रान्तानां तेजः श्रेष्ठमाख्यमिति । तथा चोक्तं सङ्ग्रहे—“मृदु सोमात्मकं शुद्धं रक्तमीषत्सपीतकमित्यादि” । यन्नाशे यस्यौजसो नाशेऽभावे नियतं निश्चितं प्राणिनोऽभावः । यस्मिन्नोजसि तिष्ठति विद्यमाने, तिष्ठति प्राणिति, देहीति शेषः । यतो यस्माच्च भावा पदार्था निष्पद्यन्ते जायन्ते । विविधा अनेकप्रकाराः । तथा देहः संश्रयो येषां ते देह-संश्रयाः । लक्षणमोजसो मुनिनाऽभ्यधायि—“हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं स्निग्धमीष-त्सपीतकम् । ओजः शरीरे सङ्ख्यातं तन्नाशे ना विनश्यतीत्यादि” ।

ओजः क्षीयेत कोपचुद्धयानशोकश्रमादिभिः ॥ ३९ ॥

बिभेति दुर्बलोऽभीक्ष्णं ध्यायति व्यथितेन्द्रियः ।

विच्छ्रायो दुर्मना रूक्षो भवेत्क्षामश्च तत्क्षये ॥ ४० ॥

जीवनीयौषधक्षीररसाद्यास्तत्र भेषजम् ।

ओजः कौपादिभिः क्षीयेत । तत्क्षये बिभेति दुर्बल इत्यादि लक्षणम् । जीवनीयौषधाद्यास्तत्र भेषजम् । जीवनीयौषधानि जीवन्त्यादीनि दश जीवनसंज्ञानि । तथाऽन्यानि यानि मधुराणि द्रव्याणि । क्षीरस्य जीवनीयत्वेनैव ग्रहणे सिद्धे पृथग्भावोऽतिशयार्थोऽतिशयेनात्र क्षीरमौषधमिति । रसो मांसरसः । आदिग्रहणेन काकाण्डोलाऽऽत्मगुप्ताघृतादिपरिग्रहः ।

ओजोविवृद्धौ देहस्य तुष्टिपुष्टिबलोदयः ॥ ४१ ॥

ओजोविवृद्धौ सत्यां देहस्य तुष्टिः प्रहर्षः पुष्टिर्बुद्धिर्बलं सामर्थ्यमेषामुदयः सम्यग्बुद्धिर्भवति ।

इदानीं संक्षेपेण वृद्धिक्षयभेषजं कथयन्नाह—

यदन्नं द्वेष्टि यदपि प्रार्थयेताविरोधि तु ।

तत्तत्त्यजन् समश्नञ्च तौ तौ वृद्धिक्षयौ जयेत् ॥ ४२ ॥

यदन्नं पुरुषो द्वेष्टि नाभिनन्दति यदप्यन्नं प्रार्थयेत तत्तदन्नं द्विष्टं त्यजन् परिहर-
न्निष्टमन्नं समश्नन् भक्षयन् दोषाणां सम्बन्धिनौ वृद्धिक्षयौ तौ तौ यौ यस्य दोष-

स्यात्मीयौ वृद्धिज्ञयौ तौ तौ जयेत् । ननु किमविशेषेणैतत्प्रार्थितमश्वन् दोषज्ञं जयेत् ? नेत्याह । अवरोधि त्विति । तुरवधारणे । अवरोध्येव तत्तथाविधमजमश्वन् दोषाणां ज्ञं जयेन्न तु विरोध्यजमश्वन् ।

ननु द्वेष्यान्नत्यागेनेष्टमक्षणेन कुतो हेतोर्दोषाणां वृद्धिज्ञयौ जयेद् ? इत्याह—

कुर्वते हि रुचिं दोषा विपरीतसमानयोः ।

वृद्धाः क्षीणाश्च भूयिष्ठं लक्षयन्त्यबुधास्तु न ॥ ४३ ॥

यस्माद्दोषा वातादयो विपरीतसमानयो रुचिं कुर्वन्ति । किम्भूताः सन्तः ? वृद्धाः क्षीणाश्च यथाक्रमम् । वृद्धाः प्रमाणाधिकाः सन्तः स्वगुणेश्च यद्विपरीतगुणमजं तद्विषयां रुचिं प्रीतिमुत्पादयन्ति । भूयिष्ठं बाहुल्येन । क्षीणाः सन्ता यत्तत्समानगुणमाहारजातं तेषां वर्धनहेतुस्तद्विषयां प्रीतिमुत्पादयन्ति । यथा वातो वृद्धः स्निग्धाम्लमधुरमजमभिलषति । पित्तं वृद्धं शीतमधुररूक्षतिक्कषायमजमभिलषति । श्लेष्मा वृद्धो रूक्षाम्लकटुतिक्कमजमभिलषति । वातः क्षीणो रूक्षकषायाद्यजमभिलषति । पित्तं क्षीणमम्ललवणकटुकमजमभिलषति । श्लेष्मा क्षीणः स्निग्धमधुराम्ललवणमजमभिलषति । भूयिष्ठमित्यनेन प्रायिकत्वमस्या व्यवस्थाया दर्शयति । तेन दोषगतिवैचित्र्यादन्यथाऽपि कचिद्भवति । यथा कस्यचिन्नरस्य वातोऽपि क्षीणः स्निग्धमधुराद्यजमभिलषति पित्तमपि वृद्धमम्ललवणाद्यजमभिलषति श्लेष्माऽपि वृद्धो मधुराम्लाद्यजमभिलषतीति व्यभिचारात् । अत एवाऽबुधा न लक्षयन्ति न विदन्ति, यथा—किमयं दोषः क्षीण उत वृद्धः ? इति ।

नचानेनैव लक्षणेन वृद्धाः क्षीणाश्च दोषा लक्षणीयाः । किं तर्ह्यन्यदपि लक्षणमस्ति ? इत्याह—

यथाबलं यथास्वं च दोषा वृद्धा वितन्वते ।

रूपाणि जहति क्षीणाः समाः स्वं कर्म कुर्वते ॥ ४४ ॥

बलानतिक्रमेण यथास्वं च यद्यदात्मीयं यथास्वं रूपाणि गुणकर्मलक्षणानि दोषा वृद्धा वितन्वते विस्तारयन्ति । क्षीणाश्च बलानतिक्रमेण यथास्वं रूपाणि जहति त्यजन्ति । यथा वायुर्वृद्धो रूक्षशैत्यपारुष्यस्त्र्यव्यासादीनि विस्तारयति । र्क्षीणस्तु वायुः पूर्वोक्तानि रूक्षादीनि जहात्यत एव न व्यजयति । अथ समा दोषाः किं विदधति ? इत्याह—समा इत्यादि । यदा न वृद्धा नच क्षीणाः समा दोषाः स्वप्रमाणस्थास्तदा स्वं कर्मोत्साहोच्छ्वासादिकं यथोक्तं कुर्वते । तल्लक्षणात्ते लक्षणीयाः ।

तदेवं वृद्धक्षीणसमा दोषा वैद्याः । क्षीणा दोषाः क्षीणत्वादेवाकिञ्चित्करत्वात्कदाचित्पीडां नोत्पादयन्त्येवेति विचिन्त्याऽलमतयो वैद्याः क्षीणदोषवर्धनार्थं कदाचिदनादरं कुर्युरित्याह—

य एव देहस्य समा विवृद्धयै त एव दोषा विपमा वधाय ।

यस्मादतस्ते हितचर्ययैव क्षयाद्विवृद्धेरिव रक्षणीयाः ॥ ४५ ॥

य एव दोषाः समाः सन्तो देहस्य विवृद्ध्यै वर्धनाय भवन्ति, त एव दोषा विषमाः स्वप्रमाणादधिका हीना वा सन्तो वधाय देहविनाशाय स्युः । यस्मादेवं ततस्ते दोषा हितचर्ययैव क्षयाद्धानत्वादक्षणीयाः । कुत इव ? विवृद्धेरिव । यथा विवृद्धेर्विशेषेण वर्धनात्ते रक्ष्यन्ते तथा क्षयादपि रक्षणीया इति । उपजातिवृत्तम् ।

इति श्रीमृगाङ्कदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टाङ्गहृदयटीकायां सर्वाङ्ग-
सुन्दराख्यायां दोषादिविज्ञानीयो नामैकादशोऽध्यायः ॥

द्वादशोऽध्यायः ।

दोषादिविज्ञानीयादनन्तरं दोषभेदीयाध्यायारम्भो यतो दोषभेदमन्तरेण दोष-
विज्ञानं सम्यङ्नोक्तं स्यात् । पूर्वस्मिन्वाध्याये बहुवक्तव्यत्वादोषभेदो नोक्त इत्याह—

अथाऽतो दोषभेदीयाध्यायं व्याख्यास्यामः ।

दोषाणां भेदो दोषभेदः, स्थाननामविभागादिभिस्तस्मै हितो दोषभेदीयः । शेषं
पूर्ववत् ।

पकाशयकटीसक्थिश्रोत्राऽस्थि स्पर्शनेन्द्रियम् ।

स्थानं वातस्य तत्राऽपि पकाधानं विशेषतः ॥ १ ॥

पकाशयादि वातस्य स्थानं तत्राऽपि षड्विधस्थाने विशेषेण पकमाधीयते
स्थाप्यतेऽस्मिन्निति पकाधानं पकाशयः । अतएव वाते बहोरुपक्रमः प्रधान उक्तः ।
मूलापकर्षणात्सकलशरीरव्यापित्वेऽपि येषामिदं विशेषेणोक्तम् । तथा च प्रागुक्तम्—
' ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरिति ' विचित्रगतित्वाच्चैषां वक्ष्यमाणप्राणादिभेदेन
पृथक् स्थानकर्मनिर्देशः ।

नाभिरामाशयः स्वेदो लसीका रुधिरं रसः ।

दृक् स्पर्शनं च पित्तस्य नाभिरत्र विशेषतः ॥ २ ॥

पित्तस्य नाभ्यादीनि स्थानानि । लसीका जलसदृशी । दृक् चक्षुः । स्पर्शनं
त्वक् । ननु स्पर्शनेन्द्रियं वायोः स्थानमुद्दिष्टं तदेव कथं पित्तस्याऽपि स्यात् ? ब्रमः—
वातसखित्वादग्नेः । वातसखो ह्यग्निः । पित्तं च वह्निरिति वचनात् । तस्मादुभयो-
रप्येतद्युक्तं स्थानम् । विशेषत इति । अत्रैषु स्थानेषु मध्ये पित्तस्य विशेषेण
नाभिः स्थानम् ।

उरःकण्ठशिरःक्लोमपर्वाण्यामाशयो रसः ।

भेदो घ्राणं च जिह्वा च कफस्य सुतरामुरः ॥ ३ ॥

कफस्योरःप्रभृतीनि जिह्वान्तानि स्थानानि । सुतरां सुष्ठु स्थानमुरो वक्तुः ।

अथ प्रत्येकमेतेषां दोषाणां विशिष्टस्थानाश्रयेण क्रियाभेदात्पञ्चभेदानाह—

प्राणादिभेदात्पञ्चात्मा वायुः,

वायुरेक एव चलनस्वभावः सन्, प्राणादिभिः प्रणोदानव्यानसमानाऽपानै-
र्भेदाद्विशेषात्पञ्चात्मा पञ्चस्वभावः । यैथैकोऽपि देवदत्तो यां यां क्रियां करोति तदनु-
रूपमेव संज्ञां लावकपाचकादिकां लभते, तद्वद्वातादयः ।

प्राणोऽत्र मूर्धगः ।

उरःकरठचरो बुद्धिहृदयेन्द्रियचित्तधृक् ॥ ४ ॥

ष्ठीवनक्षवथूद्वारनिःश्वासाऽन्नप्रवेशकृत् ।

अत्र एषु मध्ये प्राणो वायुर्मूर्धगः शिरसि स्थित उरः करठं च चरति । तथा
बुद्ध्यादीनां धारकस्तथा ष्ठीवनादिक्रियः । ष्ठीवनं मुखस्रावोद्वारः । ष्ठीवनमिति
'ष्ठिवैल्युटि ष्ठिविसिव्योर्दीर्घश्चेति पृषोदरादिपाठादीर्घः' ।

उरःस्थानमुदानस्य नासानाभिगलांश्चरेत् ॥ ५ ॥

वाक्प्रवृत्तिप्रयत्नेर्जाबलवर्णस्मृतिक्रियः ।

उदानस्य प्रधानमुरः स्थानं नासादींश्च चरति । वाक्प्रवृत्त्यादिक्रियः । प्रयत्नः
कार्येषु पदार्थग्रहणादिष्वयमः ।

व्यानो हृदि स्थितः कृत्स्नदेहचारी महाजवः ॥ ६ ॥

गत्यपक्षेपणोत्क्षेपनिमेषोन्मेषणादिकाः ।

प्रायः सर्वाः क्रियास्तस्मिन् प्रतिबद्धाः शरीरिणाम् ॥ ७ ॥

व्यानो हृदये स्थितः प्राधान्येन, कृत्स्ने सर्वस्मिन् शरीरे चरति । तथा महा-
जवः शीघ्रगतिः प्रणाद्यपेक्षया । तथा गत्यादिकाः क्रियाः प्रायः सर्वदेहिनां तस्मि-
न्व्याने प्रतिबद्धास्तदायत्ताः । गतिश्चङ्क्रमणम् । अपक्षेपणमङ्गस्याऽधोनयनम् ।
उत्क्षेपोऽङ्गस्योर्ध्वनयनम् । निमेषोऽक्ष्णोर्निमीलनम् । उन्मेषस्तयोर्विकाशः । आदि-
ग्रहणेन जृम्भणाऽन्नास्वादनविशोधनादिपरिग्रहः ।

समानोऽग्निसमीपस्थः कोष्ठे चरति सर्वतः ।

अन्नं गृह्णाति पचति विवेचयति मुञ्चति ॥ ८ ॥

समानो वायुरग्निसमीपस्थ इति सामान्योक्तावपि प्राधान्यात्पाचकोऽग्निर्युज्यते ।
अत एवाह—'कोष्ठे चरतीति' । सर्वत इत्याद्यादित्वात् सर्वस्मिन् कोष्ठे चरति ।
स चान्नं गृह्णात्यपक्वमामाशये धारयतीत्यर्थः । पचत्यग्निसन्धुच्छणाद्भक्तकार इव ।
विवेचयति संहतमन्नं पाकाय विभजते । मुञ्चति शकृन्मूत्रादिरूपमधः ।

अपानोऽपानगः श्रोणिबस्तिमेढोरुगोचरः ।

शुक्रार्तवशकृन्मूत्रगर्भनिष्क्रमणक्रियः ॥ ९ ॥

अपानो वायुरपानं प्राधान्येनाश्रितः श्रोण्यादिचरः शुक्रादिनिष्क्रमणक्रियः ।
इति वातभेदाः पञ्च ।

पञ्च पित्तभेदानाह—

पित्तं पञ्चात्मकं तत्र पक्वामाशयमध्यगम् ।

२४



पञ्चभूतात्मकत्वेऽपि यत्तैजसगुणोदयात् ॥ १० ॥

त्यक्तद्रवत्वं पाकादिकर्मणाऽनलशब्दितम् ।

पचत्यन्नं विभजते सारकिट्टौ पृथक् तथा ॥ ११ ॥

तत्रस्थमेव पित्तानां शेषाणामप्यनुग्रहम् ।

करोति बलदानेन पाचकं नाम तत्स्मृतम् ॥ १२ ॥

तत्र तेषु पञ्चसु मध्ये पक्वामाशययोर्मध्यस्थं तथा पञ्चभूतात्मकत्वेऽपि सति यत्तैजसगुणोदयादग्नेयगुणोत्कर्षात्त्वपित्तसोमगुणत्वेन त्यक्तद्रवत्वं सञ्जातकाठिन्यं तथा सहकारिकारणैः पाचनक्रियां प्रति सव्यापारैर्वाधादिभिरनुग्रहादुपकारात्पाकदाहादिक्रिययाऽनलशब्दितमाग्निशब्दवाच्यं यत्पित्तं तत्पाचकमुच्यते । तच्चान्नं पचति । सारकिट्टौ पृथक् विभजति विभागीकरोति । किट्टशब्दस्य लोकाश्रयत्वात्त्रिजस्येति पुंस्त्वम् । तत्रस्थमेव पक्वामाशयमध्यगमेव शेषाणां रजकदीनां धातुस्थानां चानुग्रहमुपकारं करोति । बलदानेन सामर्थ्याधानेन स्वस्थानस्थमेव तेषूपकुत इत्यर्थः ।

आमाशयाश्रयं पित्तं रजकं रसरज्जनात् ।

यच्चाऽऽमाशयस्थं पित्तं तद्रसाख्यधातो रजनाद् रागनिष्पादनाद् रजकमुच्यते ।

बुद्धिमेधाऽभिमानाद्यैरभिप्रेतार्थसाधनात् ॥ १३ ॥

साधकं हृद्गतं पित्तं,

यत्तु हृद्गतं हृदयस्थं पित्तं तद्बुद्ध्यादिभिः कारणभूतैरभिप्रेतस्याऽर्थस्य बाह्य-ग्रहणस्मरणारूपेण साधनात् साधकमुच्यते । वर्तमानकाले या मनोऽर्थतन्त्रशयस्य निश्चयं कर्तुं तदर्थार्थवसायोपाहृता सा बुद्धिः । बुद्धिविशेषो मेधा ।

रूपालोचनतः स्मृतम् ।

हृक्स्थमालोचकं,

दृष्टिस्थं पित्तं रूपालोचनादन्तस्तारकायाः स्थितं तदायत्तरूपग्रहणशक्तित्वादा-लोचकमुच्यते ।

त्वक्स्थं भ्राजकं भ्राजनात्त्वचः ॥ १४ ॥

त्वचो भ्राजनादीपनाद् भ्राजकं नाम पित्तम् । एतच्च पित्तमभ्यङ्गलेपपरिधेकादीन् पाचयति ।

श्लेष्मा तु पञ्चधा,

श्लेष्मा तु पञ्चधा श्लेष्माऽपि पञ्चप्रकारः ।

तदेव पञ्चप्रकारत्वमाह—

उरःस्थः स त्रिकस्य स्ववीर्यतः ।

हृदयस्यान्नवीर्याच्च तत्स्थ एवाभ्युक्तमर्मा ॥ १५ ॥

कफधाम्नां च शेषाणां यत्करोत्यवलम्बनम् ।

अतोऽवलम्बकः श्लेष्मा,



स श्लेष्मा उरसि तिष्ठतीत्युरःस्थस्त्रिकस्य पृष्ठाधाराख्यस्य स्वप्रभावाद्यवसाद-
वलम्बनं करोति स्वकर्मणि तस्य सामर्थ्यमुपादयति । हृदयस्यान्नवीर्यादन्नवीर्येणा-
भ्यवहृतादन्नाद्रमरुतः परिणतादवलम्बनं बलेन वीर्येण करोति । चशब्दात्स्ववीर्ये-
णाऽपि हृदयस्यावलम्बनं करोति । किन्त्वन्नवीर्यादतिशयेन यथावलम्बनं हृदयस्य
करोति, न तथा स्ववीर्यतः, यतोऽन्नरसः पूर्वं हृदि स्थितिं कृत्वा, तदा व्यानव्युत्क्षिप्तः
सर्वं शरीरं याति, तस्माद्विशेषेण हृदयस्याऽन्नवीर्यादवलम्बनं युक्तम् । आगमोऽपि-
“हृदयं मनसः स्थानमोजसश्चिन्तितस्य च । मांसपेशीचयो रक्तपद्माकारमधोमुखम् ।
योगिना यत्र पश्यन्ति सम्यग् ज्योतिः समाहिताः । रसो यः स्वच्छतां यातः स
तत्रैवाऽवतिष्ठते । ततो व्यानेन विक्षिप्तः कृत्स्नं देहं प्रपद्यते” । तथा तस्य एवोरःस्थ
एवैष श्लेष्मा शेषाणां कफस्थानानामम्बुर्कर्मणा क्लेदसंश्लेषादिलक्षणो जलव्यापारेणा-
ऽवलम्बनं करोत्यतोऽस्माद्यथोक्तादेतोरवलम्बकः श्लेष्मेत्युच्यते ।

यस्त्वामाशयसंस्थितः ॥ १६ ॥

क्लेदकः सोऽन्नसङ्घातक्लेदनात्,

रसबोधनात् ।

यः पुनः श्लेष्मा आमाशये स्थितः स क्लेदक इत्युच्ये । कुतः ? अन्नसङ्घात-
क्लेदनात्कारणात् ।

बोधको रसनास्थायी,

रसनास्थायी जिह्वास्थो बोधक इत्युच्यते । रसबोधनात् कारणात् ।

शिरःसंस्थोऽक्षतर्पणात् ॥ १७ ॥

तर्पकः,

शिरःस्थोऽक्षतर्पणात्तर्पकः । शिरःस्थस्तर्पक इत्युच्यते । अक्षतर्पणादेतोः ।

सन्धिसंश्लेषाच्छ्लेषकः सन्धिषु स्थितः ।

सन्धिषु स्थितः श्लेष्मा श्लेषक इत्युच्यते । सन्धिसंश्लेषात् कारणात् ।

एवं दोषाणां स्थानान्युक्तवोपसंहरन्नाह—

इति प्रायेण दोषाणां स्थानान्यविकृतात्मनाम् ॥ १८ ॥

व्यापिनामपि जानीयात्कर्माणि च पृथक्पृथक् ।

बाहुल्येन दोषाणामविकृतात्मनामप्रच्युतस्वभावानामित्युक्तप्रकाराणि स्थानानि
व्यापिनामपि सकलशरीरचराणामपि ज्ञेयानि । तथा कर्माणि पृथक्पृथक् प्रत्येकं
कृत्वा जानीयाद्वैद्यः ।

विकृतिरेषां वृद्धिः क्षयश्च । वृद्धिरपि द्विविधा चयप्रकोपभेदेन । दोषादि-
विज्ञानीये सामान्येन वृद्धिक्षयलक्षणमुक्तम् । सम्प्रति चयकोपरूपवृद्धिनिदानं
संक्षेपेण सूचयन्नाह—

उध्मेन युक्ता रुक्षाद्या वायोः कुर्वन्ति सञ्चयम् ॥ १९ ॥

शीतेन कोपमुष्णेन शमं स्निग्धादयो गुणाः ।

उष्णेन गुणेन विरुद्धेनोपहिता रूक्षादयः प्रथमाध्यायोक्ताः षड्वातगुणाः, वायोश्चयं कुर्वन्ति, न कोपम्, उष्णस्य विरुद्धत्वात् । त एव रूक्षादयः शीतगुणोपहितास्तत्सदृशत्वाद्वायोः कोपं कुर्वन्ति । उष्णेन युक्ताः स्निग्धादयो गुणाः, वायोः शमं कुर्वन्ति, विपरीतत्वात् ।

शीतेन युक्तास्तीक्ष्णाद्याश्चयं पित्तस्य कुर्वन्ते ॥ २० ॥

उष्णेन कोपं, मन्दाद्याः शमं शीतोपसंहिताः ।

एवं शीतेन गुणेन युक्तास्तीक्ष्णादयो गुणाः पित्तस्य चयं कुर्वन्ति । एवं तीक्ष्णादयो गुणाः, उष्णेन सहिताः, कोपं कुर्वन्ति । मन्दादयो गुणाः शीतगुणयुक्ताः शमं कुर्वन्ति, विपरीतत्वात् ।

शीतेन युक्ताः स्निग्धाद्याः कुर्वन्ते श्लेष्मणश्चयम् ॥ २१ ॥

उष्णेन कोपं तेनैव गुणा रूक्षादयः शमम् ।

शीतगुणोपहिताः स्निग्धादयः कफस्य चयं कुर्वन्ति । उष्णेन युक्तास्त एव स्निग्धादयः कफस्य कोपं कुर्वन्ति । तेनैवोष्णेन युक्ता रूक्षादयः कफस्य च शमं कुर्वन्ति । कफस्य हि शीतगुणेन सदृशेनाऽपि स्निग्धादिगुणयुक्तेन स्त्यानत्वाच्चयः स्यात् । विपरीतेनोष्णेन विलयनात्कोपः । स एवोष्णो यदा रूक्षादियुक्तो भवति तदा विपरीतत्वाच्छमको भवति ।

इदानीं चयादीनां लक्षणान्याह —

चयो वृद्धिः स्वधाम्न्येव, प्रद्वेषो वृद्धिहेतुषु ॥ २२ ॥

विपरीतगुणेच्छा च,

स्वधाम्न्यात्मीये स्थाने, दोषस्य या वृद्धिः स चय उच्यते । चित्तस्य दोषस्य लिङ्गमाह—यदा हि वातश्चितो भवति तदा रूक्षादिषु तद्गुणसमानेषु प्रद्वेषः स्यात् तद्विपरीतगुणेषु स्निग्धादिष्वभिलाषः स्यात् । एवं कफपित्तयोश्चित्तयोर्व्याख्या । ननु ? प्रद्वेषो वृद्धिहेतुष्वित्येकमेव लक्षणं दोषचयसत्तानुमापकं कर्तुं न्याय्यम् । यदि वा यस्य विपरीतगुणेच्छा चेत्येतत् । किं द्वयोरुपादानेन ? अत्रोच्यते—कदाचिदचित्तोऽपि दोषो वाताख्यः स्वप्रमाणस्थः क्षीणो वा यस्य स वातवृद्धिहेतुः रूक्षादीन् द्वेष्ट्यपि तु तानिच्छति । साम्प्रत्यवशात् । यथा गर्भिणी स्त्री दोहदवशात् । तदेवं व्यभिचारदर्शनात् ‘प्रद्वेषो वृद्धिहेतुषु’ ‘विपरीतगुणेच्छा चेति’ द्वयमपि कर्तव्यम् । तेन यदा तुल्यकालं मनुजस्य वातसमानगुणेषु तद्वृद्धिहेतुषु च प्रद्वेषो जायते वातगुणप्रतिपक्षेषु तत्क्षपणहेतुषु चाभिलाषस्तदा सम्यक् निश्चीयते वातस्योपचित्तिरिति द्वयमप्येतदुक्तम् ।

कोपस्तून्मार्गगामिता ।

लिङ्गानां दर्शनं स्वेषामस्वास्थ्यं रोगसम्भवः ॥ २३ ॥



उन्मार्गगामिता स्वस्थानं त्यक्त्वा दोषस्य यत्पुनर्मार्गान्तरगमनं स कोपः ।
कोपस्य लिङ्गमाह—लिङ्गानां स्वेषां यथायथं दर्शनमुद्भवो वातादीनां कुपितानां
यानि लिङ्गानि दोषादिविज्ञानीयेऽभिहितानि, वातव्याधिनिदाने च वक्ष्यन्ते, तेषां
दर्शनमुपलब्धिः ।

चयप्रकोपप्रशमा वायोर्ग्रीष्मादिषु त्रिषु ।

वर्षादिषु तु पित्तस्य, श्लेष्मणः शिशिरादिषु ॥ २४ ॥

ग्रीष्मादिषु त्रिषु कालेषु ग्रीष्मवर्षाशरत्सु वातस्य चयप्रकोपप्रशमा भवन्ति ।
तथा वर्षादिषु त्रिषु वर्षाशरद्धेमन्तेषु पित्तस्य चयप्रकोपप्रशमा भवन्ति । तथा
शिशिरादिषु त्रिषु शिशिरवसन्तग्रीष्मेषु श्लेष्मणश्चयप्रकोपप्रशमा भवन्ति ।

ननु मरुतो ग्रीष्मे चयो न युक्तो यतस्तस्मिन्काले लघुरुक्षा ओषधयो भवन्ति ।
तथा वर्षासु पित्तचयो न युक्तो जलानामौषधीनां चाऽम्लपाकत्वात् । तथा श्लेष्मणः
शिशिरे चयो न युक्तस्तदा ह्याप ओषधयश्च स्निग्धा भवन्ति, कालश्च शीत इति
कोप एवोपपन्न इति ? अस्मिन् पर्यनुयोग इदमाह—

चीयते लघुरुक्षाभिरोषधीभिः समीरणः ।

तद्विधस्तद्विधे देहे, कालस्यौष्ण्यान्न कुप्यति, ॥ २५ ॥

अद्भिरम्लविपाकाभिरोषधीभिश्च तादृशम् ।

पित्तं याति चयं, कोपं न तु कालस्य शैत्यतः, ॥ २६ ॥

चीयते स्निग्धशीताभिरुदकौषधिभिः कफः ।

तुल्येऽपि काले देहे च, स्कन्धत्वान्न प्रकुप्यति ॥ २७ ॥

ग्रीष्मकाले वातो लघुरुक्षाभिरोषधीभिर्देहे चादानकालस्वभाव्यात्तद्विधे लघु-
रुक्षः समीरण इति समानगुणत्वात्पवनस्य कोपः प्राप्तः, स निषिध्यते कालस्यौ-
ष्ण्यादित्यनेन । एवं पित्तस्य वर्षासु कोपः, नतु कालस्य शैत्यत इत्यनेन निषिध्यते ।

इति कालस्वभावोऽयं,

इति पूर्वोक्तोऽयं वाय्वादिचयादिः, कालस्य स्वभावः ।

आहारादिवशात्पुनः ।

चयादीन् यान्ति सद्योऽपि दोषाः कालेऽपि वा न तु ॥ २८ ॥

आहारादिवशादन्नपानसामर्थ्यात्पुनर्दोषाः सद्योऽपि तत्क्षणदेव कालमनपे-
क्ष्यैव चयादींश्चयप्रकोपप्रशमान् यान्ति । तस्मादेव आहारादिवशात् यथास्वं चया-
दिकालेऽपि वा दोषा न तु चयादीन् यान्ति । तस्मात्कालादाहारादीनां प्राधान्य-
मित्यर्थः । आहारादीत्यत्राऽऽदिशब्देन रसायनवाजीकरणवमनविरेचनादयो
गृह्यन्ते ।

एवं दोषाणां चयादीन् प्रदर्श्य, कोपजं व्याप्तिनिवृत्तिवैचित्र्यं दर्शयितुमाह—

व्याप्नोति सहसा देहमापादतलमस्तकम् ।



निवर्तते तु कुपितो मलोऽल्पाऽल्पं जलौघवत् ॥ २६ ॥

मलः कुपिः, सहसा शीघ्रमेवाऽऽपादतलमस्तकं व्याप्नोति । पादतलादारभ्य यावन्मस्तकमित्यर्थः । निवर्तते पुनरल्पाऽल्पं स्तोकं स्तोकमिति । यथा गिरिनद्यादीनां जलपूरः समविषमं सहसैव व्याप्नोति । निवर्तते तु स्तोकं स्तोकमिति ।

ननु प्रतिरोगं निदानलक्षणचिकित्सितमानन्याद्वक्तुमशक्यं तच्चाऽविदन्न कश्चिदत्र तथा यत्नं कुर्याद् ? इत्याशङ्क्याह—

नानारूपैरसङ्ख्येयैर्विकारैः कुपिता मलाः ।

तापयन्ति तनुं तस्मात्तद्धत्वाकृतिसाधनम् ॥ २७ ॥

शक्यं नैकैकशो वक्तुमतः सामान्यमुच्यते ।

यत्तदोर्नित्यमम्बन्धाद्यस्मादिति लभ्यते । यस्मान्नानारूपैरनेकप्रकारैरसङ्ख्येयैर्गणानां समतीतैर्विकारैर्ज्वरमला वातपित्तश्लेष्माणः कुपितास्तनुं देहं तापयन्ति दुःखयन्ति, तस्मात्तद्धत्वाकृतिसाधनं शक्यं नैकैकशो वक्तुमयमस्य विकारस्य हेतुरियमाकृतिरिदं लक्षणादिमदमस्य साधनं चिकित्सितमिति एकैकशो वक्तुं न शक्यमतः सामान्यमुच्यते ।

अत्रैव हेत्वन्तरमाह—

दोषा एव हि सर्वेषां रोगाणामेककारणम् ॥ २१ ॥

यथा पक्षी परिपतन् सर्वतः सर्वमप्यहः ।

ह्यायामत्येति नात्मीयां, यथा वा कृत्स्नमप्यदः, ॥ २२ ॥

विकारजातं विविधं त्रीन् गुणान्नाऽतिवर्तते ।

तथा स्वधातुवैषम्यनिमित्तमपि सर्वदा ॥ २३ ॥

विकारजातं त्रीन्दोषान्,

सर्वेषां रोगाणां यस्माद्दोषा एवैककारणम् । एकं प्रधानं च तत्कारणं निमित्तमेककारणम् । यद् वा सर्वेषां रोगाणां दोषा एकं तुल्यं कारणं समानं कारणमित्यर्थः । एवशब्दोऽवधारणे । दोषा एव कारणं नाऽपरं किञ्चिद्भूतजातम् । अत्र दृष्टान्तमाह—पक्षी प्रचिकादिर्यथा सर्वतः समन्तात्परिपतन् भ्रमन् सर्वमप्यहः सकलमपि दिवसमात्मीयां ह्यायां नाऽत्येति नाऽतिक्रामति । तथा विना क्षणमप्यसौ नोपलभ्यत इत्यर्थः । तथाऽन्यदपि निदर्शनमाह—यथा वेत्यादि । यथा वा कृत्स्नं निरवशेषमेतद्विकारजातं स्थावरजङ्गमादिभेदभिन्नं जरायुजाण्डजादिभेदभिन्नं वा विविधं नानाप्रकारं त्रीन् गुणान् सत्वरजस्तमःसंज्ञान्नाऽतिवर्तते नाऽत्येति । त्रिभिरैतैर्विरहितं न जातुचिद्भवतीत्यर्थः । तथा स्वधात्वित्यादि । धातवो दोषधातुमलाः शरीरधारणसामान्यात्, तेषां वैषम्यं स्वलक्षणतोऽन्यथात्वं स्वधातुवैषम्यं निमित्तं यस्य तद्विकारजातं त्रीन् दोषान्नाऽतिक्रामति । त्रिदोषरहितं न सम्भवतीत्यर्थः । धातुवैषम्यं च प्रतिरोगमन्यादशत्वानानाविधम् । यत्तु येन धातुवै-

षम्येण जन्यते ततस्य स्वं स्वीयं भवति । येषां तु रोगाणां देवप्रहादि निमित्तं, न तेषु तथा दोषानुबन्धः, आगन्तुकत्वात् । आगन्तुक्निजयोर्ह्येवमेव भेदः । यदागन्तुकेषु प्रथमं रोगोद्भूतिः पश्चाद्दोषानुबन्धो निजेषु प्राग्दोषानुबन्ध इति । ये च व्याचक्षते—स्वे च ते धातवश्च तेषां वैषम्यमिति । तेषां नायमर्थः प्रतिपादितः स्यात् । स्वग्रहणं चाऽतिरिच्येत । यतः शरीरान्तरावस्थायिनो दोषा वातादयः शरीरान्तरे रोगं जनयितुं नालम् । तस्मात्पूर्वव्याख्यानमेव श्रेयः ।

तेषां कोपे तु कारणम् ।

अथैरसात्म्यैः संयोगः कालः कर्म च दुष्कृतम् ॥ ३४ ॥

हीनातिमिथ्यायोगेन भिद्यते तत्पुनस्त्रिधा ।

तेषां वातादीनां कोपे कारणमसात्म्यैरनुचितैरर्थैः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाख्यैः श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणारूपानामिन्द्रियाणां यः संयोगस्तथा कालः शीतोष्णवर्ष-लक्षणा दुष्टस्तथा कर्म चैहिकमन्यजन्मजं च यदुष्कृतमशुभम्, एतत्त्रयं दोषाणां कोपे हेतुः । तुशब्दः समुच्चये । न केवलं रुद्धादयो वातादीनां कोपकारणं यावदसाऽत्म्येन्द्रियार्थं संयोगादिरपि । एतच्च पूर्वोक्तं दोषकोपकारणमसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगादिभेदेन त्रिधा भिन्नमपि पुनर्भूयस्त्रिधा त्रिप्रकारमपि भिद्यते । कथम् ? हीनमिथ्यातियोगेन । तानेव हीनमिथ्यातियोगान्दर्शयति—

हीनोऽर्थेनेन्द्रियस्याऽल्पः संयोगः स्वेन नैव वा, ॥ ३५ ॥

अतियोगोऽतिसंसर्गः, सूक्ष्मभासुरभैरवम् ।

अत्यासन्नाऽतिदूरस्थं विप्रियं विकृतादि च ॥ ३६ ॥

यदक्षणा वीक्ष्यते रूपं मिथ्यायोगः स दारुणः ।

एवमत्युच्चपूत्यादीनिन्द्रियार्थान् यथायथम् ॥ ३७ ॥

विद्यात्,

अर्थेन शब्दादिना स्वेनेन्द्रियस्य श्रोत्रादेर्हीनोऽल्पो यः संयोगः स हीनयोगः । नैव वेति—अथवा सर्वसर्विकया तेनार्थेन न संयोगः सोऽपि हीनो योगः । तस्यैवेन्द्रियस्य स्वेनार्थेन योऽतिसंसर्गोऽतिसेवालक्षणः स तस्य स्वेनार्थेनाऽतियोगः । यच्च सूक्ष्मभासुरभैरवमित्यादि, यदक्षणा वीक्ष्यते नयनेनालोक्यते, स तस्य चक्षुरिन्द्रियस्य स्वेनार्थेन मिथ्यायोगः । एवमनया दिशा सूक्ष्मभासुरभैरवम् । “अत्यासन्नातिदूरस्थं विप्रियं विकृतादि च । यदक्षणा वीक्ष्यते रूपं मिथ्यायोगः स दारुणः” । तिमिरादिहेतुत्वात् । एवमनया चक्षुषो रीत्याऽन्यानपीन्द्रियार्थान् यथास्वमिन्द्रियाणामत्युच्चपूत्यादीन् मिथ्यायोगरूपान्विद्यात् । यदाऽत्युच्चपरुषेष्टविनाशभीषणाद्य-निष्ठशब्दः श्रोत्रेन्द्रियेण गृह्यते तदा श्रोत्रेन्द्रियस्य स्वेनार्थेन शब्दाख्येन मिथ्यायोगः । यदा पूतिविघ्नायनिष्ठो गन्धो घ्राणेन्द्रियेण गृह्यते तदा घ्राणेन्द्रियस्य स्वेनार्थेन गन्धाख्येन मिथ्यायोगः । यदा स्नानानुलेपनादीनां शीतोष्णादीनां च स्पर्श-

शयानामक्रमतेवनेन स्पर्शः स्पर्शनेन्द्रियेण गृह्यते तदा स्पर्शनेन्द्रियस्य स्वेनार्थेन स्पर्श-
रूपेण मिथ्यायोगः । तथा रसनेन्द्रियेण यो रसोऽपरिपाक्या युज्यते, तथाऽप्य-
द्रव्यनिविष्टो यो रसो रसनेन्द्रियेण गृह्यते, स तस्य रसनेन्द्रियस्य स्वेन रसाख्येना-
ऽर्थेन मिथ्यायोगः ।

कालस्तु शीतोष्णवर्षभेदात्त्रिधा मतः ।

स हीनो हीनशीतादिरतियोगोऽतिलक्षणः ॥ ३८ ॥

मिथ्यायोगस्तु निर्दिष्टो विपरीतस्वलक्षणः ।

कालः पुनः शीतोष्णवर्षभेदेन त्रिधा त्रिप्रकारो मतो मुनीनाम् । तत्र हेमन्त-
शिशिरलक्षणः शीतः । उष्णो वसन्तग्रीष्मलक्षणः । प्रावृद्धलक्षणो वर्षाख्यः ।
स च कालो हीनशीतादिर्हीनयोगलक्षणः । अतियोगोऽतिमात्रयोगलक्षणः । विप-
रीतं स्वं शीतोष्णवर्षाख्यं लक्षणं यस्य कालस्य स विपरीतस्वलक्षणो मिथ्या
योगः । गुणगुणिनोरभेदोपचारात् काल एवमुच्यते । तत्र यथा हेमन्ते शीतस्या-
ल्पत्वं हीनो यांगस्तस्मिन्नेव हेमन्तेऽतिशैत्यमतियोगस्तस्मिन्नेव हेमन्त औष्ण्यं
मिथ्यायोगः । उपलक्षणं चेदम् । शरद्वसन्तयोरपि यन्मन्दवर्षोष्णत्वं स्वलक्षणं,
तद्यथा हीनतरं स्यात् सोऽपि हीनयोगः । एवमतियोगोऽयोगयोरपि योज्यम् ।

कायवाक्चित्तेभेदेन कर्माऽपि विभजेत्त्रिधा ॥ ३९ ॥

कायादिकर्मणां हीना प्रवृत्तिर्हीनसंज्ञिका ।

अतियोगोऽतिवृत्तिस्तु वेगोदीरणधारणम् ॥ ४० ॥

विषमाङ्गक्रियारम्भपतनस्खलनादिकम् ।

भाषणं सामिभुक्तस्य रागद्वेषभयादि च ॥ ४१ ॥

कर्मप्राणातिपातादि दशधा यच्च निन्दितम् ।

मिथ्यायोगः समस्तोऽसाविह चामुत्र वा कृतम् ॥ ४२ ॥

यथा कालत्रिधा निरूपितस्तथा कर्माऽपि कायवाक्चित्तेभेदेन त्रिप्रकारं विभ-
जेत् । तथा कायकर्मणस्तथा वाक्कर्मणस्तथा चित्तकर्मणो हीना या प्रवृत्तिः स
हीनसंज्ञको योगः । अतिप्रवृत्तिस्त्वतियोगः । कायादिकर्मणो मिथ्यायोगमधिकृत्याह-
'वेगोदीरणधारणमित्यारभ्य यावत्पतनस्खलनादिकं' यदेतत् कायिकं कर्म तस्य कर्मण
एवंरूपस्य या वृत्तिः स कायकर्मणो मिथ्यायोगः । विषमाङ्गः क्रिया कर्म विष-
मारम्भ उभयलोकविरुद्धः । विषमपतनं विषमस्खलनम् । आदिशब्देन विषम-
गमनादीनां ग्रहणम् । सामिभुक्तस्याऽर्धभुक्तस्य, यद्भाषणं जल्पनमेवंरूपा या
प्रवृत्तिः स वाक्कर्मणो मिथ्यायोगः । रागद्वेषभयादि यदेतन्मानसं कर्म, तस्य कर्मण
एवंरूपा या प्रवृत्तिः स चित्तकर्मणो मिथ्यायोगः । तथा दिनचर्याध्यायोक्तं यत्प्राणा-
तिपातादि दशधा दशप्रकारं कर्म निन्दितमशुभं निर्दिष्टं, 'हिंसास्तेयत्यादिना'
ग्रन्थेन, तच्च यथायथं कायवाक्चित्तकर्मणां मिथ्यायोगः । समस्तोऽसाविह चामुत्र

वा कृतमस्मिन् लोके कृतमन्यत्र वा लोके कृत्वाचरितं सर्व एव मिथ्यायोगः ।

निदानमेतद्दोषाणां कुपितास्तेन नैकधा ।

कुर्वन्ति विविधान् व्याधीन् शाखाकोष्ठास्थिसन्धिषु ॥ ४३ ॥

निदानमेतद्दोषाणां कोपे, इति वाक्यशेषः । कुपितास्तेन निदानेन नैकधा अनेकप्रकारेण व्याधीन् विविधान् नानाप्रकारान् कुर्वन्ति । कुपिता दोषा इति विभक्तिविपरिणामेन सम्बन्धः । क्व व्याधीन् कुर्वन्ति ? आह । शाखाश्च कोष्ठश्चाऽस्थीनि च सन्धयश्च तेषु ।

शाखेति किमुच्यते ? इत्याह—

शाखा रक्तादयस्त्वक् च बाह्यरोगायनं हि तत् ।

तदाश्रया मषव्यङ्गगण्डालज्यबुर्दादयः ॥ ४४ ॥

बहिर्भागाश्च दुर्नामगुल्मशोफादयो गदाः ।

शाखा रक्तादयः षड्धातवस्त्वक् चैतद्बाह्यं रोगायनं बाह्यानां रोगाणामयनं स्थानम् । हिशब्दो यस्मादर्थे । यस्माद्बाह्यानां रोगाणामयनमतस्तदाश्रया मषव्यङ्गादयो रोगा बहिर्भागा उच्यन्ते । आदिशब्देन विसर्पविद्रधिष्णीहकुष्ठादयो गृह्यन्ते । दुर्नामेत्यादि । बहिर्भागाश्चेत्यत्र चशब्दो भिन्नक्रमः शोफादय इत्यस्मादनन्तरं द्रष्टव्यः । दुर्नामगुल्मशोफादयश्च बहिर्भागा इत्यर्थः ।

अन्तः कोष्ठो महास्रोत आमपकाशयाश्रयः ॥ ४५ ॥

तत्स्थानाश्छर्द्यातीसारकासश्वासोदरज्वराः ।

अन्तर्भागं च शोफार्शोगुल्मवीसर्पविद्रधि ॥ ४६ ॥

कोष्ठः कथ्यते—अन्तः, स महास्रोत आमपकाशयाश्रयः । तत्स्थाना अन्तर्भागाश्रयाश्छर्द्यादयो रोगाः । न केवलास्त एव छर्द्यादयोऽन्तर्भागाश्रया यावच्छ्रो-फार्शोगुल्मवीसर्पावद्रध्यप्यन्तर्भागं च । शोफादीनां विद्रध्यन्तानां समाहार-द्वन्द्वनिर्देशः ।

इदानीं मध्यमं रोगमार्गं वक्ति—

शिरोहृदयवस्त्यादिमर्माण्यस्थ्नां च सन्धयः ।

तन्निबद्धाः सिरान्नायुकण्डराद्याश्च मध्यमाः ॥ ४७ ॥

रोगमार्गास्थितास्तत्र यक्ष्मपक्षवधार्दिताः ।

मूर्धादिरोगाः सन्ध्यस्थित्रिकशूलग्रहादयः ॥ ४८ ॥

शिरोहृदयादीनि मध्यमो रोगमार्गः । अस्थ्नां च सन्धय इत्येवं निर्देशेनेदं बोधयति—नाऽत्र द्वयं विवक्षितमस्थीनि च सन्धयश्चेति, किं तर्ह्यस्थ्नां सम्बन्धिनः सन्धय इति । सन्धयो ह्यन्येऽपि सन्ति । तथा च वक्ष्यति—“ मांसास्थिक्लादु-धमनीसिरासन्धिसमागम इति ” । तन्निबद्धास्तेष्वस्थिषु निबद्धाः संलग्ना इत्यर्थः ।

सिराः स्नायवः कण्डराश्चादयो येषां धमनीकूर्चादीनां ते । चशब्दात्पूर्वोक्ताश्च । तत्र मध्यमे रोगमार्गे यक्ष्मादयो गदास्त्रिकशूलग्रहाद्यन्ताः । मूर्धादीत्यत्राऽदिशब्देन हृदयवस्त्र्यादिपरिग्रहः । सन्ध्यस्थित्रिके शूलानि सन्ध्यस्थित्रिके ग्रहा इति योज्यम् । आदिशब्देन पक्षग्रहादयो वातविकारा गृह्यन्ते । यक्ष्मणोऽत्र मर्मास्थिसन्ध्यधिष्ठानत्वात्पूर्वं निर्देशः । वक्ष्यति हि—“ तैरुदीर्णोऽनिलः पित्तं कफं चोदीर्य सर्वतः । शरीरसन्धीनाविश्य तान् सिराश्च प्रपीडयन्नित्यादि ।”

इदानीं वायोः कर्माण्याह—

स्रंसव्यासव्यधस्वापसादरुक्नोदभेदनम् ।

सङ्गाऽङ्गभङ्गसङ्कोचवर्तहर्षणतर्षणम् ॥ ४६ ॥

कम्पपारुष्यसौषिर्यशोषस्पन्दनवेष्टनम् ।

स्तम्भः कषायरसता वर्णः श्यावोऽरुणोऽपि वा ॥ ४७ ॥

कर्माणि वायोः,

स्रंसो हन्वादिसन्धेर्भ्रंशः । व्यसनं व्यासो विक्षेपणमङ्गप्रत्यङ्गादेर्यथाऽऽक्षेपकादिषु । व्यधस्ताडनमिव मुद्रादिना । स्वापः सुप्तिः कर्मण्यचैतन्यम् । सदनं सादोऽङ्गानां क्रियास्वसामर्थ्यम् । रुक् सततं शूलम् । तोदो विच्छिन्नं शूलम् । भेदनं भेदो विदारणमिवाङ्गस्य । सङ्गो मूत्रपुरीषादेः स्वाशयेभ्योऽनिसारो वाक्सङ्गादिश्च । अङ्गानां जङ्घोरुप्रसृतीनां भङ्ग इव भङ्गश्चूर्णनमिवाङ्गभङ्गः । सङ्कोचनं सङ्कोचः सिरादीनाम् । वर्तनं वर्तः, पुरीषादीनां पिराडीकरणम् । हर्षणं रोम्णामूर्ध्वाभावः । तर्षणं तर्षस्तृट् । तथा कम्पोऽतिवेष्टनम् । पारुष्यम् परुषत्वम् । सौषिर्यमस्थनाम् । शोषः शोषणम् । स्पन्दनं हि किञ्चिच्चलनम् । वेष्टनं ग्रथनमिवाङ्गस्य । स्तम्भो बाहूरुजङ्घादीनामाकुञ्चनाद्यभावः । कषायरसता कषायास्वादत्वम् । वर्णः श्यावोऽरुणोऽपि वा । श्यावारुणौ वर्णावित्यर्थः । एतानि वायोः कर्माणि ।

अथ पित्तस्याह—

पित्तस्य दाहरागोष्मपाकिताः ।

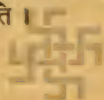
खेदः क्लेदः स्रुतिः कोथः सदनं मूर्च्छनं मदः ॥ ४१ ॥

कटुकाम्लौ रसौ वर्णः पाण्डुरारुणवर्जितः ।

दाहादीनि पित्तस्य कर्माणि । सर्वाङ्गीणस्तापो दाहः । रागो लौहित्यम् । ऊष्मा औष्ण्यम् । पाकिता पाककर्तृत्वमजीर्णेष्वन्ने च । स्वेदनं स्वेदः । क्लेदः शोणितादिषु विकारः । स्रुतिः स्रावः । कोथः क्लेदस्यातिशयेस्याऽविच्छिन्नत्वम् । सदनं सादः । मूर्च्छनं भ्रमः । मदो वक्ष्यमाणो रोगविशेषः । रसास्वादौ कटुकाम्लौ । वर्णः पाण्डुरारुणाभ्यामन्यः । शुक्लोहितवर्णनिषेधेन तच्छेषनानावर्णसम्भवः सूच्यते ।

क्षेष्मकर्माण्याह—

क्षेष्मणः स्नेहकाठिन्यकण्डूशीतत्वगौरवम् ॥ ४२ ॥



बन्धोपलेपस्तैमित्यशोफाऽपकृत्यतिनिद्रताः ।

वर्णः श्वेतो, रसौ स्वादुलवणौ, चिरकारिता ॥ ५३ ॥

कफस्य स्नेहादीनि कर्माणि । स्नेहः स्नेग्ध्यम् । काठिन्यममृदुत्वम् । कण्डूः खर्जुः । शीतत्वं शीतसद्भावः । गौरवं गुरुत्वम् । बन्धः स्रोतसाम् । अस्थ्यादीनामुप-
लेपः । तैमित्यं गात्राणामपटुत्वम् । काये वर्णः शुक्लः । रसौ च मधुरपटु । चिर-
कारिता कार्यादौ विश्रब्धत्वम् । ननु वायोरमूर्तत्वाद्गौररसोपलब्धिरनुपपन्ना ।
अमूर्तस्य हि वर्णरसौ दूरोत्सारितौ । नैतदस्ति । न हि सर्वाणि कार्याणि कारण-
सदृशान्येव भवन्ति । यथा चेन्द्रियेभ्यो जडेभ्यो बुद्धेरजडाया उत्पत्तिर्दृष्टा ।
तस्मात्कारणसदृशानि कार्याणीति प्रायिकमेतत् । अचिन्त्यत्वाच्च द्रव्यप्रभावस्य
वायोः सकाशात् कषायरसता श्यावारुणवर्णोत्पत्तिश्चाऽन्वयव्यतिरेकसिद्धा
कथमिव निवार्यताम् । इत्येवं दोषाणां कर्माण्युपदिष्टानि । तद्विकाराश्च सदग्रह
उक्ताः । तथा च तदग्रन्थः—अशीतिर्वातजा रोगाश्चत्वारिंशच्च पित्तजाः ।
विंशतिः श्लेष्मजाश्चैव स्थूला नानात्वजा मताः ॥ नखभेदः पादशूलं सुप्तिर्भ्रं-
शो विपादिका । खुडो गुल्फग्रहो जानुविश्लेषो जानुकुञ्चनम् । पिरिडकोद्वेष्टनं
सादश्चोर्वोः स्तम्भश्च गृध्रसी । पाङ्गुल्यं भ्रंशशूलं च गुदे स्तम्भस्तु मेहने । सु-
ष्काक्षेपः श्रोणिभेदो वक्ष्णानाह एव च । उदावर्तोऽथ विड्भेदः पार्श्वपृष्ठत्रिक-
ग्रहाः । खज्वामनकुब्जत्वं हृद्द्रवोदरवेष्टकौ । हृन्मोहो वक्षनिस्तोदः शोषोद्वातौ
तथोरसः । बाहुशोषो हनुग्रीवामन्यास्तम्भौष्ठभेदनम् । दन्तभेदोऽथ शैथिल्यं कण्ठ-
ध्वंसोऽथ वा ग्रहः । कषायास्यत्वमूकत्वे मुखशोषो रसाऽज्ञता । घ्राणानाहोऽज्ञता
गन्धे शब्दोच्चैःश्रवणं तथा । बाधिर्यं कर्णशूलं च वर्त्मस्तम्भनकुञ्चनम् । तिमिरं
चाक्षिशूलं च भ्रूव्युदासोऽथ नेत्रयोः । ललाटशङ्खभेदौ च केशभ्रूसफुटनं तथा ।
शिरोरुजाऽर्दितं जृम्भा प्रलापो वेपथुर्भ्रमः । एकाङ्गव्याधिरायामः पक्षाघातोऽप-
तन्त्रकः । दण्डकः स्वप्ननाशश्च ग्लानिः पारुष्यरुक्षता । विषादश्चाऽनवस्थानमरु-
णश्यामवर्णता । इत्यशीतिः समाख्याता रोगा वातसमुद्भवाः । “अन्त-
र्दाहो विदाहश्च श्लोषोऽथ दवथुर्दवः । अत्यूष्मा चांसदाहश्च स्वेदोऽत्यम्लकधूमकौ ।
रक्तक्लेदोऽङ्गगन्धश्च गात्रावयवशातनम् । त्वङ्मांसदरणं मांसक्लेदश्चर्मदलं तथा ।
रक्तविस्फोटकः कोष्ठः पित्तासृग्रहणमण्डले । नीलिका कामला कक्षा गात्रे हरित-
पीतता । पूतितिक्तास्यता तृष्णा लोहगन्धास्यता तथा । जीवादानमतृप्तिश्च प्रवेश-
स्तमसस्तथा । गलास्यगुदमेढ्राऽक्षिपाको हारिद्रपीतता । नखाऽक्षिमूत्रशकृतां
चत्वारिंशत् पित्तजाः । तैमित्यं गौरवं तृप्तिरालस्यमतिनिद्रता । तन्द्राऽऽ-
स्यस्त्रावमाधुर्यं प्रलेपो हृदयस्य च । सादः कण्ठप्रलेपश्च श्लेष्मोद्गिरणमेव च ।
मलाधिक्यमतिस्थौल्यं वमनं प्रतिसिद्ध्यम् । उदरौ गलगण्डश्च शैत्यं श्वेताव-

भासता । विण्मूत्रनखनेत्राणां शुक्लता च कफामयाः । यथास्थूलं विकाराणां प्रसङ्ख्यानमिदं स्मृतमिति ” । हृदादौ शूलवद्दाहो योऽन्तर्दाहः स कीर्तितः । पाणिपादांसमूलेषु सन्तापो विविधस्तु यः । अग्न्यर्चिषेव निःस्वेदो विदाहः स निगद्यते । आषः सर्वाङ्गिकस्तीव्रो दाहः स्वेदारतिप्रदः । दन्तुश्चक्षुरादिभ्यस्तीव्र ऊष्मा प्रवर्तते । मुखैष्ठतालुषु दन्तचाम्लोद्विरणमम्लकः । धूमायनं शिरोघ्राण-कण्ठतालुषु धूमकः । प्रमीलकस्तु स्तैमित्यं गुह्यताऽङ्गस्य गौरवम् । आहारानभिलाषस्तु तृप्तिः स्याद्विषयाऽग्रहः । निद्रार्तस्येव तन्द्रा स्याच्छेषाः प्रथितनामकाः ” । दोषाणां कर्माण्युपदिश्य निर्देशप्रयोजनमधिकृत्याह—

इत्यशेषामयव्यापि यदुक्तं दोषलक्षणम् ।

दर्शनाद्यैरवहितस्तत्सम्यगुपलक्षयेत् ॥ ५४ ॥

व्याध्यवस्थाविभागज्ञः पश्यन्नातान् प्रतिक्षणम् ।

इति प्रकारे । दोषाणां लक्षणं दोषलक्षणं यथायथं लिङ्गम् । इति पूर्वोक्तेन प्रकारेण यदोषलक्षणमुक्तं तद्दर्शनाद्यैः सम्यगुपलक्षयेद् जनीयात् । वैद्य इति शेषः । दर्शनाद्यैरित्यादिशब्देन स्पर्शनप्रश्नौ गृह्यते । किम्भूतं दोषलक्षणम् ? अशेषाश्च त आमयाश्चाशेषामयास्तान् सर्वानामयान् व्याप्नोति तदशेषामयव्यापि । किम्भूतो वैद्यः ? अवहितो दत्तावधानः । तथा व्याध्यवस्थाविभागज्ञः । व्याधेरवस्थाः काल-कृता दशास्तासां विभागः पृथक्त्वं, यथेयमन्यस्य व्याधेरवस्थेयमन्यावस्थेयवस्था-भेदाच्चोपक्रमभेदः । तथा लैकस्यैव ज्वरस्य नवस्याऽन्य उपक्रमो जीर्णस्याऽन्यस्त-देवं विभागं यो जानाति स व्याध्यवस्थाविभागज्ञः । तथाऽऽर्तान् व्याधितान् प्रति-क्षणं मुहूर्ते मुहूर्ते पश्यन्नालोकयन् ।

किमिति पुनः पुनर्व्याधितदर्शनं कियत इत्याह—

अभ्यासात्प्राप्यते दृष्टिः कर्मसिद्धिप्रकाशिनी ॥ ५५ ॥

रत्नादिसदसज्ज्ञानं न शास्त्रादेव जायते ।

अभ्यासान्मुहुर्मुहुश्चिकित्सितकर्मणि प्रवर्तनाद्दृष्टिर्दर्शनं चिकित्साविज्ञानं जायते, न केवलाच्चिकित्साशास्त्रावगमात् । किम्भूता दृष्टिः ? कर्मणि सिद्धिस्तां प्रकाशयितुं शीलं यस्याः सा कर्मसिद्धिप्रकाशिनी । अत्र दृष्टान्तमाह—रत्नादीत्यादि । आदि-शब्देन सुवर्णहिरण्यार्दानां ग्रहणम् । तेषां यत्सदसज्ज्ञानमिदं शोभनमिदं न शोभ-नमित्यवगमस्तत्र शास्त्रादेव जायते किन्तुर्ह्यभ्यासाच्च । एवकारोऽवधारणार्थः । न शास्त्रावबोधान्न च केवलादभ्यासादित्येवकारेण बोधयति । किल यथा रत्नपरीक्षा तच्छास्त्रावबोधदर्शनाभ्यां सम्यग्जायते तथैव चिकित्साशास्त्रावबोधान्नित्यं नित्यमा-तुरदर्शनाच्चाऽवगम्यत इत्यर्थः ।

दृष्टापचारजः कश्चित्कश्चित्पूर्वापराधजः ॥ ५६ ॥

मौ. टि.-१ विंशतिरिति शेषः ।



तत्सङ्कराद्भवत्यन्यो व्याधिरेव त्रिधा स्मृतः ।

दृष्टश्चासावपचारश्च तस्माज्जातो दृष्टापचारजः । अपचारो व्याधिहेतुः । एहि-
कलौकिकाद्याधिकारणाज्जातो दृष्टापचारजः । कश्चिदात्मकतापूर्वापराधादशुभकर्मा-
रुधाज्जातः पूर्वापराधजः । अपरः कश्चित्तत्संस्कराद्भवति । तयोः सङ्करस्तत्सङ्करो
मिश्रत्वं तस्मात् । न केवलात्पूर्वापराधान्न च केवलाद्दृष्टापराधाद्, अपि तु द्वयोः
संसर्गाज्जात इत्यर्थः । एवमनेन प्रकारेण व्याधित्रिधा त्रिप्रकारः स्मृतः ।

अथ त्रिप्रकारव्याधिलक्षणार्थमाह--

यथानिदानं दोषोत्थः कर्मजो हेतुभिर्विना ॥ ५७ ॥

महारम्भोऽल्पके हेतावातङ्को दोषकर्मजः ।

यथानिदानं दोषोत्थ इति । यद्यस्य दोषस्य वातादेर्लघुरुक्षादि निदानं तेन
कुपिता दोषास्तेभ्य उत्थितो व्याधिः स दोषोत्थो ज्ञेयः । यो दृष्टापचारज इत्युक्त
इत्यर्थः । हेतुभिर्वातादिनिदानैर्लघुरुक्षादिभिर्विना यो भवति स कर्मजः । यस्त्वलो
निदाने सेविते महारम्भः स्यात् स कर्मदोषजो रोगो ज्ञेयः । महानारम्भो यस्य सः ।
पूर्वरूपरूपैर्बलवद्भिर्युक्त इत्यर्थः ।

अथ त्रिविधस्याऽपि व्याधेश्चिकित्सामाह--

विपक्षशीलनात्पूर्वः कर्मजः कर्मसंक्षयात् ॥ ५८ ॥

गच्छत्युभयजन्मा तु दोषकर्मक्षयात्क्षयम् ।

विपक्षशीलनात्पूर्व इति । पूर्वः पूर्वमुक्ते यः केवलं दोषजो व्याधिः स विप-
क्षशीलनात् यथोक्तविपक्षादिसेवनात्क्षयं याति । कर्मजो रोगः कर्मसंक्षयात्क्षयं
याति । उभयजन्मा दोषकर्मोत्थो दोषकर्मणोरुभयोरपि क्षयात्क्षयं याति ।

व्याधीनां त्रैविध्यमाख्याय द्वैविध्यं दर्शयितुमाह--

द्विधा स्वपरतन्त्रत्वाद्वाधयः,

स्वतन्त्रश्च परतन्त्रश्च स्वतन्त्रपरतन्त्रौ तयोर्भावः स्वतन्त्रपरतन्त्रत्वं तस्मा-
द्धेतोर्द्विधा व्याधयः । एके स्वतन्त्रा अन्ये परतन्त्रा इत्यर्थः ।

अन्त्याः पुनर्द्विधा ॥ ५९ ॥

अन्ते भवा अन्त्याः परतन्त्रास्ते पुनर्भूयो द्विधा ।

तदेव द्वैविध्यं दर्शयितुमाह--

पूर्वजाः पूर्वरूपाख्या जाताः पश्चादुपद्रवाः ।

पूर्व जाताः पूर्वजाः । 'अन्येष्वपि दृश्यत इति डः' । पूर्वजाः पूर्वरूपसंज्ञा
रोगाः । ये च पश्चाज्जाता गदास्ते व्याधीनामुपद्रवा इत्यं ते द्विविधाः ।

सम्प्रति स्वतन्त्रं लक्षयति--

यथास्वजन्मोपशयाः स्वतन्त्राः स्पष्टलक्षणाः ॥ ६० ॥

जन्मा चोपशयश्च जन्मोपशयौ । जन्मोत्पत्तिरुपशयः सुखानुबन्धः । यो यः

स्वं यथास्वम् । यस्य ज्वरादेर्यावातमीयौ शास्त्रनिर्दिष्टौ तौ यथास्वशब्देन सूच्येते । यथास्वं जन्मोपशयौ येषां ते यथास्वजन्मोपशया व्याधयः स्वतन्त्रा उच्यन्ते । चिकित्सागुरुलाघवप्रतिपत्त्यर्थं च स्वतन्त्रादिसंज्ञाकरणम् । स्वग्रहणाद्येऽन्यजन्मनि जायन्तेऽन्यस्य च व्याधेर्यत उपशयः सुखःनुबन्धस्तत एतत्परिवारस्याऽपि । ते तु न स्वतन्त्राः । तथा चोक्तम्—पूर्वरूपरूपादिक्रमेण ज्वरादावुत्पन्ने तत्परिवारा ये श्वासादय उत्पद्यन्ते, तदुपशये चोपशेरते न ते स्वतन्त्राः । ज्वरादय एव मूलव्याधिरूपत्वात्स्वतन्त्रा इत्युच्यन्त इति” ।

विपरीतास्ततोऽन्ये तु

स्वतन्त्रेभ्यो रोगेभ्यो येऽन्ये परतन्त्राः पूर्वरूपाख्यास्तथोपद्रवसंज्ञाश्च ते विपरीता विपरीतस्वरूपा न यथास्वजन्मोपशया न च स्पष्टलक्षणाः ।

एवं व्याधीनां स्वतन्त्रपरतन्त्रत्वं प्रतिपाद्य दोषाणां प्रतिपादयन्नाह —

विद्यादेवं मलानपि ।

न केवलं रोगान् स्वतन्त्रपरतन्त्रभेदैर्विद्याद्वैद्यो यावन्मलान् दोषानपि वातादीनेवं स्वतन्त्रपरतन्त्रभेदैर्जानीयात् ।

तान् लक्षयेदवहितो विकुर्वाणान् प्रतिज्वरम् ॥ ६१ ॥

तान् वातपित्तकफान् यथास्वजन्मोपशयलक्षणावच्छिन्नस्वरूपान् प्रतिज्वरं प्रतिविकारं विकुर्वाणान् विकृतिं कोपं गच्छतो जानीयाद् वैद्य इति शेषः । क्विहक् ? अवहितो दत्तचित्तः ।

एवं स्वतन्त्राणां व्याधीनां यथास्वोपशय एव भेषजमुक्तम् । परतन्त्राणां व्याधीनां कः प्रशमोपायः ? इत्याह—

तेषां प्रधानप्रशमे प्रशमोऽशाम्यतस्तथा ।

पश्चाच्चिकित्सेत्तूर्णं वा बलवन्तमुपद्रवम् ॥ ६२ ॥

तेषां परतन्त्राणां रोगाणामप्रधानानां प्रधानप्रशमे स्वतन्त्रव्याधिप्रशमे शमो भवति । न तु तेषां पृथगुपक्रमो विधेय इत्यर्थः । अशाम्यतस्तथा शममागच्छतः परतन्त्रान् व्याधीन् दोषान् वा, तथा तेन प्रकारेण प्रधानचिकित्सालक्षणेन पश्चात् प्रधानचिकित्सात् उत्तरकालं चिकित्सेत् । अचिकित्स्यमानो ह्यसाध्यतां यायात् । तूर्णं वेति । उपद्रवश्चेद्बलवान् स्यात्तदा तमेवोपद्रवं तूर्णमेव चिकित्सेज्ज पश्चात् ।

ननु कुतोऽप्रधानं शीघ्रं चिकित्सेदित्याह—

व्याधिक्लिष्टशरीरस्य पीडाकरतरो हि सः ।

हि यस्माद्व्याधिक्लिष्टशरीरस्य पुंसः सोऽतिशयेन पीडाकरः । प्रागुत्पन्नोऽपि रोगः पीडाकरः । उपद्रवश्च पश्चाज्जायमानो व्याधिक्लिष्टशरीरस्योत्पन्नत्वात्पीडाकरतरः । तदयमन्वर्थः । परतन्त्रो व्याधिर्हीनबलः प्रधानोपक्रमेणैवोपशाम्यति । यस्तु परतन्त्रः पश्चादुत्पद्यमानोऽपि स्वतन्त्रव्याध्युपक्रमेण शमं न याति, तं

पश्चादुपक्रमेत् । यस्तु बलवान् परतन्त्रस्तमादावेव चिकित्सेदतिपीडाकरत्वात् ।

ननु येषां विकाराणां नामग्राहं चिकित्सा नोक्ता तेषां नामाऽकुशलो वैद्यः किं चिकित्सेन्नत्यांशङ्क्याह—

विकारनामाकुशलो न जिह्मीयात्कदाचन ॥ ६३ ॥

न हि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थितिः ।

विकारा रोगास्तेषां नामानि, तेष्वकुशलो वैद्यो न जातुचिज्जिह्मीयात् रोगसंज्ञा-
ऽनभिज्ञोऽहमिति लज्जां न कुर्यात् । चिकित्सामिव विदध्यादित्यर्थः । कुतो हेतो-
रित्याह ? नहीत्यादि । यस्मात्सर्वविकाराणां नामतः संज्ञातो ध्रुवा निश्चिता
स्थितिः स्थानं नास्ति ।

ननु कुतोऽशेषरोगाणां नामतो नास्ति स्थितिरित्याशङ्क्याह—

स एव कुपितो दोषः समुत्थानविशेषतः ॥ ६४ ॥

स्थानान्तराणि च प्राप्य विकारान् कुरुते बहून् ।

यस्मात्स एक एव दोषो वाताद्यन्यतमः समुत्थानविशेषतो हेतुभेदात् तथा
स्थानान्तराणि स्वस्थानं हित्वा पराणि स्थानानि प्राप्य गत्वा विकारान् बहून्ननन्तान्
कुरुते । तथा चोक्तं तन्त्रान्तरे—“योऽन्तःशरीरसन्धीनाविशति तेन जृम्भा ज्वर-
श्चोपजायते । यस्त्वामाशयमभ्युपैति तेन रोगा भवन्त्युरस्यरोचकश्च । यः कण्ठ-
मभिप्रपद्यते कण्ठस्ततो भ्रंशते स्वरश्चाऽवसीदति । यः प्राणवहानि स्रोतांस्येवेति
श्वासः प्रतिश्यायश्च तेनोपजायत इति” ।

तस्माद्विकारप्रकृतीरधिष्ठानान्तराणि च ॥ ६५ ॥

बुद्ध्वा हेतुविशेषांश्च शीघ्रं कुर्यादुपक्रमम् ।

विकारस्य ज्वरादेः प्रकृतय उपादानकारणानि वातादिदोषास्ता विकारप्रकृती
रोगहेतुविशेषान् बुद्ध्वा ज्ञात्वा तथाऽधिष्ठानान्तराणि स्थानविशेषांश्च बुद्ध्वा तथा
हेतुविशेषानधिष्ठाननिदानभेदांश्च बुद्ध्वा यथा किमयं कुपितः पवनो रुद्धेण हेतुना
लघुना शीतेन व. ? इत्यादि ज्ञात्वा शीघ्रमेवोपक्रमं चिकित्सां कुर्यान्न तु विकारानभिज्ञ
इति न चिकित्सेत् ।

ननु बुद्ध्वापि विकारप्रकृत्यादित्रयमुपक्रमं कुर्वन्तः कदाचित्सिद्धिमाप्नुवन्तो
दृश्यन्ते भिषजः, कदाचिन्नेति, तदत्र संशयस्खलिते कर्मणि कथं नियुज्यते वैद्य
इति ? कथमुक्तं शीघ्रं कुर्यादुपक्रममित्याशङ्क्याह—

दूष्यं देशं बलं कालमनलं प्रकृतिं वयः ॥ ६६ ॥

सत्त्वं सात्त्विकं तथाऽऽहारमवस्थाश्च पृथग्विधाः ।

सूक्ष्मसूक्ष्माः समीक्ष्यैषां दोषौषधनिरूपणे ॥ ६७ ॥

यो वर्तते चिकित्सायां न स स्खलति जातुचित् ।

दोषौषधनिरूपणे सति दृष्ट्यादीन् दश समीक्ष्य सम्यग्विलोक्य, यश्चिकित्सायां

वर्तते यन्न करोति, स वैद्यो न कदाचित् रक्खलति नाऽपगधी स्यात् । दोषो चातादिः । औषधं हरीतक्यादि । तयोनिरूपणं पर्यालोचनं, तस्मिन् दोषौषधनिरूपणे । दूष्यादीनां सास्तानामुपादानं सर्वेषामेवावगमे चिकित्साकरणं प्रति यत्नातिशयद्योतनार्थं, न पुनरेषां द्वौ वा त्रीन् वा चतुरः पञ्च वा समीक्ष्य, किन्तर्हि सर्वानेतान् सम्यगवबुध्येति । अथ दूष्यादीनेव समीक्ष्य वेत्याह—अवस्थाश्च पृथग्विधाः । एषामेव दूष्यादीनामवस्थाः सूक्ष्मसूक्ष्मा अतिशयेन सूक्ष्मास्ताश्च यथावदबुद्ध्वेति ।

न च दूष्याद्येव परीक्ष्यं किन्तर्हि व्याधिरपि गुरुलघुत्वेन परीक्ष्य एवेत्याह—

गुर्वल्पव्याधिसंस्थानं सत्त्वेदेहबलाबलात् ॥ ६८ ॥

दृश्यतेऽप्यन्यथाकारं तस्मिन्नवहितो भवेत् ।

गुरुश्चाऽल्पश्च गुर्वल्पौ, गुर्वल्पौ च तौ व्याधी च गुर्वल्पव्याधी, तयोः संस्थानमाकृतिः । अपिशब्दो भिन्नक्रमे । तद्गुर्वल्पव्याधिसंस्थानमन्यथाकारमपि दृश्यते विपरीतमपि लक्ष्यते । अपिशब्दात्काचद्गुर्वल्पव्याधिसंस्थानं यथातत्त्वं दृश्यते कचिन्नेति व्याधिलक्षणस्य गमकत्वाभावः प्रसज्येत । ततश्च रोगं निदानप्राप्तपलक्षणोपशयाप्तिभिरिति दूष्येत्तस्मादपिशब्दोऽत्र गुर्वल्पसंस्थानस्य यथातत्त्वं दर्शनं कचिद्भवत्येवेति सूचनार्थं कृतः । कुतो हेतोरित्याह । सत्त्वेत्यादि । सत्त्वं धैर्यम् । देहो महदल्पस्थूलकृशादिः सत्त्वं च देहश्च सत्त्वेदेहौ । बलं चाबलं च बलाबलं । तस्मात्सत्त्वेदेहबलाबलाद्धेतोर्गुर्वल्पव्याधिसंस्थानेऽवहितो भवेत् । अधिकसत्त्वं तथोत्कृष्टदेहबले च गुरुर्महानपि व्याधिरुत्पन्नोऽल्पसंस्थानो हीनबल इव लक्ष्यते । सत्त्वेदेहबलयोः कृष्टत्वात् । तथा हीनसत्त्वे हीनेदेहबले चोत्पन्नो लघुरपि महानिव लक्ष्यते, हीनसत्त्वेदेहबलात् । तस्मादस्मिन्व्याधिसंस्थानेऽर्थे दत्तावधानेन भाव्यम् ।

गुरुं लघुमिति व्याधिं कल्पयंस्तु भिषग्ब्रुवः ॥ ६९ ॥

अल्पदोषाऽऽकलनया पथ्ये विप्रतिपद्यते ।

भिषग्ब्रुव इत्यादि । यश्च भिषग्ब्रुवः कुत्सितो वैद्यः स व्याधिसंस्थानमात्रावलोकनाद् गुरुं व्याधिं लघुमिति कल्पयन्निश्चिन्नवल्पदोषाऽऽकलनया हीनमात्रदोषनिश्चयेन पथ्ये विप्रतिपद्यते । चिकित्सिते मोहं गच्छति । गुरुव्याधावलपव्याधियोग्यं भेषजं ददाति । एवं लघुव्याधिं गुरुमिति कल्पयन् बहुदोषाऽऽकलनया पथ्ये विप्रतिपद्यते भिषग्ब्रुवत्वात् । अन्यत्रापि ब्रुवान्तस्य कुत्सितत्वमेव प्रसिद्धम् । यथाह मनुः—“जातिमात्रोपजीवी स्यात् कामं वा ब्राह्मणब्रुवः । धर्मप्रवक्ता नृपतेर्न तु शूद्रः कथञ्चनेति” केचिद् भिषग्ब्रुवमिति पेठुः । भिषग्वैद्यो गुरुं लघुमिति व्याधिं कल्पयन् ब्रुवं निश्चितं पथ्ये विप्रतिपद्यत इति च व्याचक्षते ।

यस्मादेवम्—

ततोऽल्पमल्पवीर्यं वा गुरुव्याधौ प्रयोजितम् ॥ ७० ॥

उदीरयेत्तरां रोगान् संशोधनमयोगतः ।

ततोऽल्पमल्पमात्रमल्पवीर्यं वाऽनुकृष्टशक्तिकं वा भेषजं गुरुव्याधौ प्रयोजितं दत्तं संशोधनं रोगानुदीरयेत्तरामतिशयेनोत्केशयेत् । कुतः ? अयोगतो हीनयोगात् । अयोगो हि हीनयोग उच्यते । यथा पुत्रकार्याऽकरणादपुत्र इत्युच्यते ।

शोधनं त्वतियोगेन विपरीतं विपर्यये ॥ ७१ ॥

क्षिणुयाच्च मलानेव केवलं वपुरस्यति ।

विपर्यये च लघुव्याधौ विपरीतं शोधनं तु प्रयोजितं कस्माद्विपरीतमल्पवीर्यात् संशोधनादतिमात्रमुत्कृष्टवीर्यं च बहुदोषाऽऽकलनयाऽतियोगेन प्रयोजितं न केवलं मलान् क्षिणुयात् क्षपयेद्यावद्वपुरस्यति शरीरमपि हिंस्यात् । अत्र च संशोधनं यद्दृष्टान्तत्वेनोपन्यस्तं तद्योगाऽतियोगाभ्यां रोगिशरीरक्षपणकृदिति निर्वर्तयतीति । खरनादेनाऽप्युक्तम्—“ अल्पमुत्केशयेद्दोषं बहु प्राणाग्निहन्ति च । तस्मान्निरूप्य भिषजा देयं युक्तं विरेचनमिति ” । तथा ज्वरगुल्मादीनां च तत्प्रतीकारार्थं यदीयते भेषजं तत्राऽपि महारम्भेऽल्पमल्पवीर्यं चौषधं न देयमित्यस्मादेव दृष्टान्तीभूतादर्थादवगन्तव्यम् ।

अतोऽभियुक्तः सततं सर्वमालोच्य सर्वथा ॥ ७२ ॥

तथा युञ्जीत भैषज्यमारोग्याय यथा ध्रुवम् ।

यस्माच्चैवं रोगाणां दुर्विज्ञेया गतिरतोऽस्माद्धेतोः सततमभियुक्तः सदाऽऽयुर्वेदपाठवबोधानुष्ठानपरो वैद्यः सर्वं दूष्यादिवस्तुजातमालोच्य सर्वथा सर्वेण प्रकारेणाऽऽयुर्वेदानुसारिण्या स्वमनीषया तद्विद्यसम्भाषातः सम्भवया च तथा कर्माभ्यासतोऽपि निपुणं निरूप्य तथा तेन प्रकारेण दोषदूष्यदेशाद्यनुगुणेन भैषज्यं युञ्जीत भेषजं युञ्ज्यात् । यथाऽऽरोग्याय ध्रुवं येन प्रकारेणाऽऽरोग्यार्थमवश्यं स्यात् ।

पूर्वमुक्तं ‘ दोषा एव हि सर्वेषां रोगाणामेककारणम् ’ अतस्तानेव दोषान् वृद्धिक्षयभेदेनाह—

वक्ष्यन्तेऽतः परं दोषा वृद्धिक्षयविभेदतः ॥ ७३ ॥

वृद्धिश्च क्षयश्च वृद्धिक्षयौ, तयोर्विभेदो वृद्धिक्षयविभेदः । विविधो भेदो विभेदस्तस्माद्वृद्धिक्षयविभेदतः । अतोऽनन्तरं दोषा बातादयो वक्ष्यन्ते भणिष्यन्ते ।

पृथक् त्रीन् विद्धि संसर्गस्त्रिधा तत्र तु तान्नव ।

पृथग्व्यस्तान् स्वप्रमाणाधिकान् त्रीन् दोषान् रोगहेतून् विदध्यवेदि । बातो वृद्धः, पित्तं वृद्धं, श्लेष्मा वृद्धः, एवं त्रयो दोषाः । संसर्गभेदानधुना वक्ति । संसर्गस्त्रिधा त्रिप्रकारः । तत्र संसर्गं नव दोषभेदान्स्वप्रमाणाधिकान् विद्धीत्येतदनुवृत्ति-

कृतेन सम्बन्धेन सर्वत्र योज्यम् ।

कथं नव भेदाः? इत्याह—

त्रिनेव समया वृद्ध्या षडेकस्याऽतिशयेन ॥ ७४ ॥

समया वृद्ध्या त्रिनेवाऽन्यूनाधिकान् संसर्गदोषभेदान् । एको वातपित्ताभ्यामधिकाभ्यां, द्वितीयो वातकफाभ्यामधिकाभ्यां, तृतीयः पित्तश्लेष्मभ्यामधिकाभ्यामिति । संसर्गोत्थयोर्दोषयोरेकस्य दोषस्यातिशयेनऽधिकतरया वृद्ध्या षट् संसर्गदोषभेदान् विद्धि । अतिशयोऽतिशयनम् । 'अतिशयेन तमबिष्टनाविति' निपातनाद्दीर्घः । दोषद्वयवृद्धेश्चिन्त्यमानत्वादपरदोषचिन्ता नास्त्यत्र । वातो वृद्धः, पित्तं वृद्धतरम् । पित्तं वृद्धं, वातो वृद्धतरः । कफो वृद्धः, पित्तं वृद्धतरम् । पित्तं वृद्धं, कफो वृद्धतरः । कफो वृद्धो, वातो वृद्धतरः । वातो वृद्धः, कफो वृद्धतरः । एवं षट् संसर्गभेदान् विद्धि ।

त्रयोदश समस्तेषु,

समस्तेषु सन्निपतितेषु त्रिष्वपि दोषेषु वृद्धेषु त्रयोदश दोषभेदान् विद्धि ।

कथमित्याह—

षड् द्व्येकातिशयेन तु ।

द्वावेकश्च द्व्येकास्तेषां द्व्येषामतिशयाऽधिकत्वं, तेन द्व्येकातिशयेन । ततो द्वयातिशयेन त्रयो भेदाः । तथा एकस्याऽतिशयेन त्रय इति षड् भेदाः । यथा कफो वृद्धो, वातपित्तमाधिकवृद्धम् । पित्तं वृद्धं, वातकफावतिवृद्धौ । वातो वृद्धः, पित्तकफावतिवृद्धौ । पित्तकफौ वृद्धौ, वातोऽतिवृद्धः । वातकफौ वृद्धौ, पित्तमतिवृद्धम् । वातपित्ते वृद्धे, कफोऽतिवृद्धः । इति षड्भेदान् द्व्येकातिशयेन सन्निपाते विद्धि ।

एकं तुल्याधिकैः,

तुल्यं कृत्वा समं कृत्वा वृद्धैर्दोषैरेकं सन्निपातमेकभेदं विद्धि ।

षट् च तारतम्यविकल्पनात् ॥ ७५ ॥

तरतमयोर्भावस्तारतम्यम् । कस्य तारतम्यम् ? प्रकृतत्वात्संनिपातस्थदोषाणाम् । तारतम्यस्य विकल्पनं भेदस्तारतम्यविकल्पनं तस्मात्सन्निपातस्थदोषाणां वृद्धिरूपाणां षड्भेदान् विद्धि । यथा—वातो वृद्धः, पित्तं वृद्धतरं, कफो वृद्धतमः । वातो वृद्धः, कफो वृद्धतरः, पित्तं वृद्धतमम् । पित्तं वृद्धं, कफो वृद्धतरो, वातो वृद्धतमः । पित्तं वृद्धं, वातो वृद्धतरः, कफो वृद्धतमः । कफो वृद्धो, वातो वृद्धतरः, पित्तं वृद्धतमम् । कफो वृद्धः, पित्तं वृद्धतरं, वातो वृद्धतमः । एतेषां च लक्षणं मुनिरध्यर्गिष्ठ, तथा च ग्रन्थः—सन्निपातज्वरस्योर्ध्वं त्रयोदशविधस्य हि । प्राक् सूत्रितस्य वक्ष्यामि । लक्षणं वै पृथक्पृथक् । भ्रमः पिपासा दाहश्च गौरवं शिरसोऽतिरक्तम् । वातपित्तोल्बणे विद्याल्लिङ्गं मन्दकफे ज्वरे । शैत्यं कासोऽरुचिस्तन्द्रा पिपासा दाहश्चग्व्यथा । वातश्लेष्मोल्बणे विद्याल्लिङ्गं पित्तज्वरे विदुः । छर्दिः शैत्यं मुहुर्दाहस्तृष्णा मोहो-

ऽस्थिवेदना । मन्दवातेऽध्यवस्यन्ति लिङ्गं पित्तकफोल्बणे । सन्ध्यस्थिशिरसः शूलं प्रलापो गौरवं भ्रमः । वातोल्बणे स्याद्ध्यनुगे तृष्णां कण्ठास्यशुष्कता । रक्त-विण्मूत्रता दाहः स्वेदस्तुब्धलसंक्षयः । मूर्च्छा चेति त्रिदोषे स्याल्लिङ्गं पित्ते गरी-यसि । आलस्याऽरुचिहृल्लासदाहवम्यरतिभ्रमैः । कफोल्बणं सन्निपातं तन्द्राका-सेन चाऽदिशेत् । समं दोषैस्त्रिभिर्वृद्धैः सन्निपातस्य लक्षणम् । मुहुर्दाहो मुहुः शीतं कर्णक्षेपडनपार्श्वरुक् । मोहश्छर्दिदिवा निद्रा रात्रौ जागरणं तथा । प्रतिश्या-छर्दिरालस्यं तन्द्ररुच्यग्निमार्दवम् । हीनवाते पित्तमध्ये चिह्नं श्लेष्माधिके मतम् । हारिदमूत्रनेत्रत्वग्दाहस्तृष्णा भ्रमोऽरुचिः । हीनवाते मध्यकफे लिङ्गं पित्ताधिके मतम् । शिरोरुग्नेपथुः श्वासः प्रलापश्छर्द्यरोचकौ । हीन-पित्ते मध्यकफे लिङ्गं वाताधिके मतम् । शीतकं गौरवं तन्द्रा प्रलापोऽस्थिशिरोऽति-रुक् । हीनपित्ते वातमध्ये लिङ्गं श्लेष्माधिके विदुः । वर्चोभेदोऽग्निदौर्बल्यं तृष्णा दाहोऽरुचिर्भ्रमः । कफहीने वातमध्ये लिङ्गं पित्ताधिके मतम् । श्वासः कासः प्रति-श्यायो मुखशोषोऽतिपार्श्वरुक् । कफहीने पित्तमध्ये लिङ्गं वाताधिके स्मृतमिति” ।

पञ्चविंशतिमित्येवं वृद्धः,

एवं पूर्वोक्तेन प्रकारेण पञ्चविंशतिसङ्ख्यान् दोषभेदान् वृद्धैर्दोषैर्विद्धि ।

क्षीणैश्च तावतः ।

क्षीणैः क्षयावस्थैर्दोषैस्तावतस्तत्परिमाणान्पञ्चविंशतिसङ्ख्याकान् दोषभेदान् विद्धि । यथा वृद्धैः पृथक् त्रीन् दोषभेदान् तथा क्षीणैः । पृथक् त्रीनित्यादि ग्रन्थे वृद्धिशब्दस्थाने क्षीणशब्दो निपात्यः । तद्यथा—वातः क्षीणः, पित्तं क्षीणं, कफः क्षीणः । तदेवं संसर्गे नव दोषभेदान् विद्धि । कथम् ? त्रीनेव समक्षीणत्वेन क्षीणवातपित्तसंसर्गः । क्षीणपित्तकफसंसर्गः । क्षीणवातकफसंसर्गः षडकस्याति-शयने । अतिशयनेऽन्यदोषापेक्षया क्षीणत्वातिरेके । वातः क्षीणः, पित्तं क्षीण-तरम् । पित्तं क्षीणं, वातः क्षीणतरः । वातः क्षीणः, कफः क्षीणतरः । कफः क्षीणो, वातः क्षीणतरः । कफः क्षीणः, पित्तं क्षीणतरम् । पित्तं क्षीणं, कफः क्षीणतरः । एवं षड् दोषभेदान् विद्धि । त्रयोदश समस्तेषु सन्निपतितेषु क्षीणेषु दोषेषु दोषभेदान्त्रयोदश विद्धि । कथम् ? षड् व्येकातिशयेन तु । दोषद्वय-स्याऽतिशयेनाऽतिक्षीणत्वेन तथा दोषैकस्याऽतिक्षीणत्वेन पर्यायतः षट् क्षीण-संनिपातैर्दोषभेदान् विद्धि । यथा वातः क्षीणः, पित्तकफावतिक्षीणौ । पित्तं क्षीणं, वातकफावतिक्षीणौ । कफः क्षीणः, पित्तवातावतिक्षीणौ । वातपित्ते क्षीणे, कफो-ऽतिक्षीणः । पित्तकफौ क्षीणौ, वातोऽतिक्षीणः । वातकफौ क्षीणौ, पित्तमतिक्षीणम् । एवं तुल्यक्षीणैर्भेदं विद्धि । षट् तारतम्यविकल्पनात् । कफः क्षीणः, पित्तं क्षीण-तरं, वातः क्षीणतमः । वातः क्षीणः, कफः क्षीणतरः, पित्तं क्षीणतमम् । पित्तं क्षीणं, कफः क्षीणतरो, वातः क्षीणतमः । कफः क्षीणो, वातः क्षीणतरः, पित्तं

क्षीणतमम् । वातः क्षीणः, पित्तं क्षीणतरं, कफः क्षीणतमः । पित्तं क्षीणं, वातः क्षीण-
तरः, कफः क्षीणतमः । एवं पञ्चविंशतिदोषभेदान् क्षीणैर्दोषैर्विद्धि ।

एकैकवृद्धिसमताक्षयैः षट् ते,

ते सन्निपातस्थदोषास्त्रयः षोढा भवन्ति । कथम् ? इत्याह । वृद्धिश्च समता च
क्षयश्च वृद्धिसमताक्षयाः । एकैकस्य वाताद्यन्यतमस्य वृद्धिसमताक्षया एकैकवृद्धि-
समताक्षयास्तैरेकैकवृद्धिसमताक्षयैः षट् । यथा—वातो वृद्धः, पित्तं समं, कफः क्षीणः ।
पित्तं वृद्धं, वातः समः, कफः क्षीणः । कफो वृद्धः, पित्तं समं, वातः क्षीणः ।
कफो वृद्धो, वातः समः, पित्तं क्षीणम् । वातो वृद्धः, कफः समः, पित्तं क्षीणम् । पित्तं
वृद्धं, कफः समो, वातः क्षीणः । एवमेकैकवृद्धिसमताक्षयैः षट् ।

पुनश्च षट् ॥ ७६ ॥

एकक्षयद्वन्द्ववृद्ध्या सविपर्यययाऽपि ते ।

भेदा द्विषष्टिर्निर्दिष्टाः,

एकस्य क्षय एकक्षयः । द्वन्द्वस्य वृद्धिर्द्वन्द्ववृद्धिः । एकक्षयसहिता द्वन्द्ववृद्धिरेक-
क्षयद्वन्द्ववृद्धिस्तया । किम्भूतया ? सविपर्ययया सहविपर्ययेण वैपरीत्येन वर्तते
तया । एकक्षयद्वन्द्ववृद्धया पुनरेव षट् दोषभेदाः । वातः क्षीणः, पित्तकफौ वृद्धौ ।
पित्तं क्षीणं, वातकफौ वृद्धौ । कफः क्षीणो, वातपित्तं वृद्धे । एवमेकक्षयद्वन्द्ववृद्ध्या
त्रयो भेदाः । सविपर्ययया च वृद्ध्या त्रयो दोषभेदाः । द्वन्द्वक्षयैकदोषवृद्ध्या
द्वन्द्वक्षयसहितैकदोषवृद्धिस्तया । यथा । वातपित्तं क्षीणं, श्लेष्मा वृद्धः । वातकफौ
क्षीणौ, पित्तं वृद्धम् । पित्तकफौ क्षीणौ वातो वृद्धः । इति सविपर्ययया वृद्ध्या त्रयो
दोषभेदाः । एवं सन्निपातभेदाः । द्विरूपया वृद्ध्या षडेते । पञ्चभेदगणनया दोषाणां
भेदा द्विषष्टिर्निर्दिष्टाः ।

त्रिषष्टः स्वास्थ्यकारणम् ॥ ७७ ॥

त्रिषष्टीनां पूरणो यो दोषभेदः, स स्वास्थ्यकारणमारोग्यहेतुर्धातुसाम्यात् ।
अत्र हि स्वप्रमाणस्था वातपित्तकफाः । ये च दोषभेदा द्विषष्टिस्ते च रोगकारण-
मित्यर्थादुक्तं भवति । अत्र च रोगहेतुत्वे दोषवैषम्यं कारणम् । 'त्रिषष्ट इति तस्य
पूरणे ङङिति ङट्' ।

अधुना रसादिभेदादानन्त्यं दोषभेदानां दर्शयन्नाह—

संसर्गाद्रसरुधिरादिभिस्तथैषां दोषास्तु क्षयसमताविवृद्धिभेदैः ।

आनन्त्यं तरतमयोगतश्च यातान् जानीयादवहितमानसो यथास्वम् ॥

न केवलं द्विषष्टिभेदभिन्नान् दोषान् जानीयात् । आनन्त्यं च गतान्विद्यात् ।
कथमानन्त्यमित्याह—एषां दोषभेदानां यथास्वं रसादिभिः संयोगात् । तथैषामेव
क्षयादिभेदैस्तरतमयोगाच्चाऽऽनन्त्यं गतान्विद्यात् । तत्र दिङ्मात्रं शिष्यव्युत्पत्तये
प्रदर्श्यते । तत्र रसे वातपित्तकफानां पृथक् त्रयो भेदा भवन्ति, पृथक् त्रीन् विद्धी-

त्यनुसारेण । संसर्गत्रिधा तत्र तु तान् रसमेवाधिकृत्य नव विद्धि । कथम् ? पूर्व-
वत् । 'त्रीनेव समया वृद्ध्या षडेकस्याऽतिशयेन' । एवं पूर्वोक्तेन न्यायेन रसमधि-
कृत्य संसर्गं योजयित्वा संनिपाते योजनीयाः । यथा त्रयोदश समस्तेषु । कथम् ?
'षड्व्येकातिशयेन तु । एकं तुल्याधिकैः षट् च तारतम्यविकल्पनादिति ' समानं
पूर्वेण । रसाख्यं स्थानं केवलमधिकम् । पञ्चविंशतिमित्येवं वृद्धैः क्षीणैश्च तावतो
रसमधिकृत्य भेदान् विद्धि । इत्येवं रुधिरमांसादिभिर्योज्यम् । एकैकापहासेनेत्येवं
द्विषष्टिभेदभिन्नानां दोषाणां रसादिभिः सप्तभिः संयोगाच्चत्वारिंशतान्येकचत्वारिंश-
दधिकानि स्युः । शकृदादिसंसर्गात्क्षीणतमादिभेदैश्च चिन्त्यमाना दोषा आनन्त्यं
यान्तीति । रसभेदे दोषभेदे चाऽवगते वैद्यस्य हेतुलक्षणोपक्रमेषु मोहो न भवति ।
तथा च मुनिः—“ यः स्याद्रसविकल्पज्ञः स्याच्च दोषविकल्पवित् । न स
मुद्बेदिकाराणां हेतुलिङ्गोपपत्तिष्विति ” । औजौगन्निदशभवा प्रहर्षिणी स्यात् ।
इति श्रीमृगाङ्कदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टाङ्गहृदयटीकायां सर्वाङ्ग-
सुन्दराख्यायां दोषभेदीयानाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः ।

पूर्वेऽध्याये विकृतान् दोषानाश्वेवोपक्रमेदित्युक्तमतस्तमेवोपक्रमं दर्शयितुं
दोषोपक्रमणीयमारिरिप्सुरिदमाह ।

अथाऽऽतो दोषोपक्रमणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।

दोषाणामुपक्रमणं चिकित्सा दोषोपक्रमणं तस्मै हितो दोषोपक्रमणीयः ।
शेषं पूर्ववद्योज्यम् ।

सर्वदोषेभ्यश्च प्रधानो वात इति तदुपक्रमं पूर्वमाह—

वातस्योपक्रमः स्नेहः स्वेदः संशोधनं मृदु ।

स्वाद्वाम्ललवणोष्णानि भोज्यान्यभ्यङ्गमर्दनम् ॥ १ ॥

वेष्टनं त्रासनं सेको मद्यं पैष्टिकगौडिकम् ।

स्निग्धोष्णा वस्तयो वस्तिनियमः सुखशीलता ॥ २ ॥

दीपनैः पाचनैः सिद्धाः स्नेहाश्चानेकयोनयः ।

विशेषान्मेध्यपिशितरसतैलानुवासनम् ॥ ३ ॥

वातस्योपक्रमः स्नेहः । श्रेष्ठत्वाच्च प्रागुपादानं स्नेहस्य । ततः स्वेदः । कृतश्लेह-
स्वेदस्य च संशोधनं तच्च मृदु न तीक्ष्णम् । तीक्ष्णस्य वातकोपहेतुत्वात् । तथा
स्वाद्वाम्लानि भोज्यानि भक्ष्याणि । अभ्यङ्गश्च मर्दनं चाऽभ्यङ्गमर्दनं पाण्यादिना ।
वेष्टनं शाटकादिना । त्रासनं खड्गव्यघ्रोग्रहस्तराजपुरुषादिदर्शनादिना । ननु भी-
शोकादिभिर्मारुतस्य कोप उक्तः । वक्ष्यति हि—‘क्रियाऽतियोगभीशोकेत्यादि’ ।

तत् कथं त्रासनं वायोरुपक्रमः । उच्यते । भयं वातप्रकोपहेतुर्न तु त्रासनम् । त्रासनं हि सर्ववातावजयनं तस्माद्वातोपशान्त्यर्थं त्रासनं युक्तम् । यथोन्मादादिषु । तथा च वक्ष्यति—“वातोन्मादे हर्षणाश्वासनत्रासभयताडने”त्यादि । तथा सेकादिरुपक्रमः । सेको दशमूलकाद्यादिना तथा मद्यं पैष्टिकं गौडिकं वातस्योपक्रमः । तथा स्निग्धोष्णा वस्तयो वातस्योपक्रमः । स्निग्धोष्णा इत्युक्त्या रुक्षशीतं वस्त्रमत्र निराकरोति । तथा वस्तिनियमो यथाविधि वस्तिदानं वातस्योपक्रमोऽथवा वस्तिनियमः कर्मकाले योगाख्यस्त्रिपञ्चाशद्वस्तिसंख्यः प्राक्लेह एकः पञ्चान्त इत्येवमादिना ग्रन्थेन यो दर्शितः स वातस्योपक्रमः । तथा सुखं शीलयतीति सुखशीलः । शीलिकामिभिक्ष्याचरिभ्यो णः । तस्य भावः सुखशीलता सौख्यवृत्तित्वम् । तिलप्रियालाक्षोडादयोऽनेका योनयो येषां तेऽनेकयोनयः स्नेहास्ते च वातस्योपक्रम इति योज्यम् । किम्भूताः ? । दीपनपावनैर्द्रव्यै सिद्धाः विशेषेण पुष्टमांसरसस्तैलमनुवासनं च वातस्योपक्रमः ।

पित्तस्योपक्रमं वक्ति—

पित्तस्य सर्पिषः पानं स्वादुशीतैर्विरेचनम् ।

स्वादुतिक्तकषायाणि भोजनान्यौषधानि च ॥ ४ ॥

सुगन्धशीतहृद्यानां गन्धानामुपसेवनम् ।

करुणै गुणानां हाराणां मणीनामुरसा धृतिः ॥ ५ ॥

कर्पूरश्चन्दनोशीरैरनुलेपः क्षणे क्षणे ।

प्रदोषश्चन्द्रमाः सौधं हारि गीतं हिमोऽनिलः ॥ ६ ॥

अयन्त्रणसुखं मित्रं पुत्रः संदिग्धमुग्धवाक् ।

छन्दानुवर्तिनो दाराः प्रियाः शीलविभूषिताः ॥ ७ ॥

शीताम्बुधारागर्भाणि गृहाण्युद्यानदीर्घिकाः ।

सुतीर्थविपुलस्वच्छसलिलाशयसैकते ॥ ८ ॥

साम्भोजजलतीरान्ते कायमाने द्रुमाकुले ।

सौम्या भावाः पयः सर्पिर्विरेकश्च विशेषतः ॥ ९ ॥

उपक्रम इति वर्तते । सर्पिषः पानमित्यादि पित्तस्य प्रकुपितस्योपक्रमः । तथा हाराणां मुक्तादाभ्रां करुणै गुणसंज्ञानां वक्षसा धृतिर्धारणम् । मणीनां मरकतचन्द्रकान्तपद्मरागादीनाम् । तथा कर्पूरादिभिः प्रतिक्षणमनुलेपनम् । तथा प्रदोषादिः पित्तस्योपक्रम इति वर्तते । प्रदोषो रात्रिमुखम् । सुधाया इदं सौधं धवलगृहम् । हारि रम्यं गीतं गानम् । तथा मित्रमयन्त्रणसुखं न विद्यते यन्त्रणा यस्मिंस्तथाविधं सुखं यस्मिंस्तथाविधं मित्रम् । तथा संदिग्धाऽव्यक्ता मुग्धाऽप्रौढा वाग् गीर्यस्य स एवंविधः पुत्रः । दाराः कलत्राणि वल्लभाः सुशीलाश्च । तथा छन्दानुवर्तिनश्चित्तानुगुणकारिणः । शीताम्बुधारा गर्भेऽभ्यन्तरे येषां तथाविधानि

गृहाणे । तथोद्यानमुपवनम् । तथा दीर्घिकाः गृहपुष्करिण्यः । तथा सौम्या
भावाः पित्तस्योपक्रमः । कस्थितस्य । सुतीर्थविपुलस्वच्छसलिलाशयसैकते यः
कायमानस्तृणगृहं तस्मिन् । शोभनं तीर्थं यस्य स एवं सुतीर्थश्चासौ विततविमल-
जलाशयश्च सुतीर्थविपुलस्वच्छसलिलाशयस्तस्य समीपे सैकतं तस्मिन् । सिकता
अस्मिन्देशे सन्तीति सिकताशर्कराभ्यां चेत्यण् । समुद्धार्ये ठमुर्निवारः स्यात् ।
कीदृशे कायमाने साम्भोजं सपद्मं जलं यस्मिन्तीरान्ते स एवं साम्भोजजलस्ती-
रान्तो यस्मिन् कायमाने तस्मिन्, तथा दुर्भैर्वृक्षैराकुले व्याप्ते । विशेषेण तु पायो
विरेचकश्चोपक्रमः ।

अधुना श्लेष्मण उपक्रममाह—

श्लेष्मणो विधिना युक्तं तीक्ष्णं वमनरेचनम् ।

अन्नं रूक्षाऽल्पतीक्ष्णोष्णं कटुतिक्तकषायकम् ॥ १० ॥

दीर्घकालस्थितं मद्यं रतिप्रीति प्रजागरः ।

अनेकरूपो व्यायामश्चिन्ता रूक्षं विमर्दनम् ॥ ११ ॥

विशेषाद्वमनं यूषः क्षौद्रं मेदोघ्नमौषधम् ।

धूमोपवासगण्डूषा निःसुखत्वं सुखाय च ॥ १२ ॥

विधिना शास्त्रोक्तेन युक्तं तीक्ष्णं वमनविरेचनं कफस्योपक्रमः । तथाऽन्नं रूक्षादि-
गुणयुक्तम् । तथा मद्यं पुराणम् । रतिप्रीतिप्रजागरः । रमणं रतिस्तस्याः प्रीतिः
सुखम् । तथा प्रजागरोऽतिजागरणम् । तथाऽनेकरूपो व्यायामो नियुद्धधनुराक-
र्षणादिकः । विशेषेण तु वमनं यूषो माद्विकं तथा मेदोघ्नं यदौषधं तच्च धूमादयश्च ।
तथा निःसुखत्वं सुखाभावो दुःखरूपत्वम् । वाग्देहमनःकर्मणो दुःखदस्याऽनुष्ठानाद्य-
दसुखमुत्पद्यते तच्च श्लेष्मणो वृद्धस्य विकारकरणहेतोरुपशमात्सुखाय जायते ।

इदानीं संसर्गोपक्रमं वक्ति—

उपक्रमः पृथग्दोषान् योऽयमुद्दिश्य कीर्तितः ।

संसर्गसन्निपातेषु तं यथास्वं विकल्पयेत् ॥ १३ ॥

पृथक् प्रत्येकं दोषान्वातादीनुद्दिश्याऽश्रित्य य उपक्रमः कीर्तित उक्तः संसर्ग-
सन्निपातेषु च तमुपक्रमं यथास्वं विकल्पयेत् । प्रवृद्धदोषानुसारेण निरूप्य प्रयुज्य-
तेत्यर्थः । यथा वातपित्तसंसर्गे वातपित्तोपक्रमौ मिश्रौ वातकफसंसर्गे वातकफोप-
क्रमावित्यादि । एवं सन्निपातेऽपि निरूप्योपक्रमः प्रयोज्यः ।

संसर्गे भूयोऽप्युपक्रमाह—

त्रैष्मः प्रायो मरुत्पित्ते वासन्तः कफमारुते ।

मरुतो योगवाहित्वात्कफपित्ते तु शारदः ॥ १४ ॥

उपक्रम इति वर्तते । वातपित्तसंसर्गे त्रैष्मर्तुचर्याविहित उपक्रमः प्रायेण
योज्यः । यथाऽतोऽस्मिन् पटुकट्वम्लव्यायामार्ककरास्त्यजेत् । भजेन्मधुरमेवात्र-

मित्यादि सर्वं त्याज्यं सेव्यं च । कफमारुतसंसर्गे वसन्तर्तुभवस्तीक्ष्णैर्वमननस्याद्यै-
रित्यादिरूपक्रमो योज्यः । प्रायेणेत्यत्रापि योज्यम् । ननु ग्रीष्मेऽत्यन्तशीतसेवोक्ता
वसन्ते च तीक्ष्णं वमननस्यायुक्तमेतच्च द्वयमध्येकान्तेन पवनहेतुः । तत्कथमुक्तं—
“ ग्रीष्मः प्रायो मरुत्पित्ते वासन्तः कफमारुत ” इत्याशङ्क्याह—मरुतो योगवाहि-
त्वात् । अत्राऽयं भावः । यदा किल वायुः पित्तेन युज्यते तदा दाहादिकृञ्च पित्ते
समे सति दाहादिकं कर्तुं मरुत्सामर्थ्यमपि च ग्रीष्मे शीतमेव सेव्यत इति नायं
नियमः किन्तर्हि क्षिग्धाद्यपि तस्मान्मरुत्पित्ते ग्रीष्मविधिर्युक्तः । वसन्ते च कफ-
योगात् कफविकारकार्येव भवति योगवाहित्वादतो वासन्तस्तीक्ष्णो वमननस्यादि-
न्याय्यः । एवं पित्तेन सह स्थितस्य वायोः पित्तचिकित्सा कफेन सह स्थितस्य
वायोः कफचिकित्सा स्वभाववशादिति भावः । कफपित्तसंसर्गे तु शारदः शरदृतुच-
र्याविहित उपक्रमः । सन्निपाते क उपक्रमः ? ब्रूमः । वर्षर्तुचर्याविहितः । प्रावृषि हि
दोषत्रयकोप उक्तोऽत एवाह । भजेत्साधारणं सर्वमित्यादि ।

सम्प्रत्युपक्रमस्य कालं वक्ति—

चय एव जयेद्दोषं कुपितं त्वविरोधयन् ।

सर्वकोपे बलीयांसं शेषदोषाऽविरोधतः ॥ १५ ॥

चयकाल एव दोषं वातादिं जयेत् । तथा क्षिन्नमूलत्वान्न विकुर्वीत । न
कोपकालं प्रतीक्षेतेति सूचनार्थ एव शब्दः । कथं जयेदित्याह । कुपितं दोषमविरो-
धयन् । सर्वदोषकोपे केवलं बलवत्तरं दोषं जयेत् । कथम् ? शेषदोषाऽविरोधेन ।

कुतो हेतोरित्यह—

प्रयोगः शमयेद्वाधिं योऽन्यमन्यमुदीरयेत् ।

नाऽसौ विशुद्धः, शुद्धस्तु शमयेद्यो न कोपयेत् ॥ १६ ॥

प्रयोगो व्याधिं शमयेदन्यमन्यं व्याधिमुदीरयेत्प्रकोपयेन्नाऽसौ विशुद्धो
न श्रेष्ठ इत्यर्थः । स तु विशुद्धः प्रयोगो यः शमयेद्वाधिं न कोपयेत् । तस्मादन्यं
व्याधिमविरोधयन् व्याधिं जयेत् ।

अथ कथं दोषाः कोष्ठाच्छाखास्थिमर्मसु यान्तीत्याह—

व्यायामादूष्मणस्तैक्ष्ण्यादहिताचरणादपि ।

कोष्ठाच्छाखास्थिमर्माणि द्रुतत्वान्मारुतस्य च ॥ १७ ॥

दोषा यान्ति,

कोष्ठादुदराच्छाखास्थिमर्माणि दोषा यान्ति । कुत इति ? हेतुचतुष्टयमाह ।
व्यायामादिभिः शाखास्थिमर्माणि दोषा यान्ति । तत्र व्यायामोपजातश्रमस्योर्ध्वं
प्रपन्नः पवनो व्यायामकृतक्षोभश्रमोष्मादिभिः प्रशिथिलं चलं च दोषं स्वास्पदा-
च्छावयित्वा पर्याकुलं शाखादिषु क्षिपति । तथाऽग्न्यातपादिसम्बन्धिन ऊष्मणा-
स्तैक्ष्ण्यातीक्ष्णेन ह्यूष्मणा विलायिता दोषास्तेनैव चोष्मणा विवृतेषु स्रोतोमुखेषु

सत्सु शाखादीन् यान्ति । अहितेत्यादि । अहितेन सेवितेन दोषाः स्वप्रमाणादति-
रिच्यमानाः कोष्ठमापूर्य वार्षिका इव जलौघा निम्नोन्नतानीव शाखास्थिमर्माणि
प्रपद्यन्ते । अपि समुच्चये । द्रुतत्वादित्यादि । द्रुतत्वाच्छीघ्रवाहित्वान्मारुतस्य कोष्ठा-
च्छाखास्थिमर्माणि दोषा यान्ति ।

शाखादिभ्यः कथं दोषाः कोष्ठं यान्तीत्याह—

तथा तेभ्यः स्रोतोमुखविशोधनात् ।

वृद्ध्याभिष्यन्दनात्पाकात्कोष्ठं वायोश्च निग्रहात् ॥ १८ ॥

स्रोतसां मुखानि तेषां विशोधनं विवरणं तस्माद्दोषाः कोष्ठं यान्ति । तथा
वृद्ध्यादिभिः । वृद्धिः स्वप्रमाणातिरेकः । वृद्धा हि दोषाः स्वानि स्रोतांस्यापूर्य
कोष्ठं यान्ति । अभिष्यन्दनं च नाग्नितापादितीक्ष्णोष्णादिसंश्लेषादेवाऽपि तु
क्षीराद्यभिष्यन्दिभोजनादपि । एवं पाकात् । पाचनादिभिः पक्वा दोषाः कचिदना-
सज्जन्तः कोष्ठं यान्ति । किञ्च, वायोश्च निग्रहात् । चशब्दान्न केवलं पूर्वभ्यो
हेतुभ्यो यावद्वाय्वप्रेरणाच्चैत्यर्थः ।

कोष्ठस्था दोषाः किं कुर्युरित्याह—

तत्रस्थाश्च विलम्बेरन् भूयो हेतुप्रतीक्षिणः ।

तत्रस्थाः कोष्ठस्थाश्च दोषा विलम्बेरन्नरोगानुत्पादयेयुर्यस्मात्ते भूयो हेतुप्रती-
क्षिणः । निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां प्रायदर्शनाद्धेतौ प्रथमा । भूयो हेतुप्रती-
क्षित्वादित्यर्थः । वृद्धोऽपि हि दोषः कोष्ठे शाखादौ वा मार्गान्तरे गतो हीनशक्ति-
त्वान्न रोगोत्पादनसमर्थो भवति ।

यद्येवं किं कदाचिदप्यन्यस्थानगता दोषा हीनशक्तित्वान्न रोगान् कुर्युरित्याह—

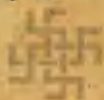
ते कालादिवलं लब्ध्वा कुप्यन्त्यन्याश्रयेष्वपि ॥ १९ ॥

ते दोषाः कालदेशदूष्यप्रकृत्यपथ्यादेः समानगुणाद्बलं लब्ध्वा कुप्यन्ति ।
विकारमुत्पादयन्तीत्यर्थः । कुत्र स्थान इत्याह । अन्याश्रयेष्वपि कोष्ठाश्रयाः शाखा-
दिमर्मस्वपि । शाखामर्माश्रिताः कोष्ठेष्वपीत्यर्थः । न केवलं स्वस्थानस्था एव
कुप्यन्तीति सूचनार्थोऽपिशब्दः ।

इदानीं परस्थानगतानां दोषाणां विकल्पेन चिकित्सामुपदिशन्नाह—

तत्राऽन्यस्थानसंस्थेषु तदीयामाबलेषु तु ।

तत्र तेषु वातादिष्वन्यस्थानसंस्थेषु । अन्यस्य स्थानमन्यस्थानं तत्र
सन्तिष्ठन्तेऽन्यस्थानसंस्थास्तेषु परस्थानगतेषु तदीयां स्थानिदोषसम्बन्धिनीमेव
चिकित्सां कुर्यान्न स्वकीयाम् । तस्य परस्थानदोषस्येयं तदीया ताम् । किम्भूतेषु
दोषेषु ? अबलेषु । तुरवधारणे । अबलेष्वेव न बलवत्सु । बलवत्सु हि स्वामेव
चिकित्सां वक्ष्यति ।



अत एवाह—

कुर्याच्चिकित्सां स्वामेव बलेनान्याभिभाविषु ॥ २० ॥

बलेनात्मीयया शक्त्याऽन्याभिभाविवन्त्यस्थानिदोषमभिभवितुं शीलं येषां तेऽन्याभिभाविनः । स्थानिदोषं पराभूय तत्र ये सन्तिष्ठन्त इत्यर्थः । तेषु स्वामेव चिकित्सां कुर्यादित्यर्थः । किमेष एव नियमो यदन्यस्थानगतेष्वबलेष्वागन्तुषु स्थानिदोषसम्बन्धिनीं चिकित्सां कुर्यात् । बलवत्सु पुनरागन्तुसम्बन्धिनीं चिकित्सां कुर्यात् ।

अथ पक्षान्तरेऽपि कुत्रचित्कचिद्विद्यत इत्यत आह—

आगन्तुं शमयेदोषं स्थानिनं प्रतिकृत्य वा ।

स्थानिनं दोषं प्रतिकृत्य यथाऽसौ स्थानिदोष आगन्तुदोषचिकित्सानिर्वर्तनाच्च विकारं कुर्यात्तथा तस्य पूर्वं प्रतीकारं कृत्वा पश्चात् स्वैरेवोपक्रमैरबलिनमप्यागन्तुं दोषं शमयेच्चिकित्सेत् । न केवलमन्यस्थानसंस्थेष्वगन्तुष्वबलेषु स्थानिदोषविकित्सां कुर्याद्यावदागन्तुदोषचिकित्सामपि कुर्यादित्यर्थः । अथाऽसौ स्थानिदोष आगन्तुदोषेण बलवत्त्वादभिभूयते ततोऽस्य विकारकरणं प्रत्यसमर्थत्वात्तत्प्रतीकारमकृत्वैव चागन्तुं शमयेदिति वाशब्दार्थः । अन्यस्थानसंस्थेष्विति बहुवचननिर्देशः पर्यायेण दोषाणां स्थितत्वादन्यथा द्वयोरेकस्य वाऽन्यस्थानस्थितत्वं सम्भवति न त्रयाणाम् ।

तिर्यग्गतेषु दोषेषु यत्कार्यं तदाह—

प्रायस्तिर्यग्गता दोषाः क्लेशयन्त्यातुरांश्चिरम् ॥ २१ ॥

कुर्यान्न तेषु त्वरया देहाग्निबलवित्क्रियाम् ।

तिर्यग्गता दोषाः प्रायो बाहुल्येनाऽऽतुरांश्चिरं क्लेशयन्ति पीडयन्ति । तेषु तिर्यग्गतेषु दोषेषु त्वरया शीघ्रमेव क्रियां चिकित्सां न कुर्याद्वैद्य इति शेषः । कीदृशो वैद्यो देहाग्निबलाभिज्ञः ।

कथं तेषामुपक्रमः कार्य इत्याह—

शमयेत्तान् प्रयोगेण सुखं वा कोष्ठमानयेत् ॥ २२ ॥

तांस्तिर्यग्गतान् दोषान् प्रयोगेण शास्त्रविहितेन शमयेत् । सुखं वेति । यथा वा देहपीडा न भवति तथा क्रमेण कोष्ठमानयेद्वृद्ध्याऽभिष्यन्दनादित्यादिना ।

ज्ञात्वा कोष्ठप्रपन्नांश्च यथाऽसन्नं विनिर्हरेत् ।

ज्ञात्वेत्यादि । कोष्ठगतांश्चावगत्य यथाऽसन्नं विनिर्हरेत् । यो यस्यासन्नो मार्गो गुदं मुखं घ्राणं वा तेनैव यथाऽसन्नं वमनविरेचनादिना निष्कासयेदित्यर्थः ।

सम्प्रति साममललिङ्गमाह—

स्रोतोरोधबलभ्रंशगौरवाऽनिलमूढताः ॥ २३ ॥

आलस्याऽपक्किनिष्ठीवमलसङ्गाऽरुचिक्रमाः ।

लिङ्गं मलानां सामानां निरामाणां विपर्ययः ॥ २४ ॥

स्रोतसं रोधः । बलस्य भ्रंशो हानिर्बलभ्रंशः । गौरवं गुरुत्वम् । अनिल-
स्य वायोर्मूढता सम्यगसञ्चारः । आलस्यं तन्द्रा । अपक्किराहारस्याऽपाकः । नि-
ष्ठीवो मुखत्वावः । मलस्य पुरीषादेः सङ्गोऽप्रवृत्तिः । अरुचिरज्ञानभिलाषः । क्रमो
ग्लानिः । इत्येतत्सामानां मलानां लिङ्गं लक्षणम् । निरामाणां विपर्ययोऽस्माद्वैप-
रीत्यम् ।

सम्प्रति आमसम्भवमाह—

ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम् ।

दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते ॥ २५ ॥

ऊष्मणोऽग्रेरल्पबलत्वेन दौर्बल्येनाऽद्यं प्रथमधातुं रसं रसाख्यमपाचितमामं
प्रचक्षते वदन्त्याचार्या इति शेषः । किम्भूतं रसम् ? आमाशयगतम् । तथा
दुष्टं वाताद्यनुशयितम् । रसग्रहणं पवनस्य निरासार्थम् । अन्यथा आद्यो धातु-
वार्ताख्य इत्याशङ्क्येत । वातादीनामपि हि धारणाद्वातुसंज्ञाऽस्त्येव ।

अन्ये दोषेभ्य एवातिदुष्टेभ्योऽन्योन्यमूर्च्छनात् ।

कोद्रेवेभ्यो विषस्येव वदन्त्यामस्य सम्भवम् ॥ २६ ॥

अन्येऽपरे आचार्या दोषेभ्य एव वातादिभ्योऽतिदुष्टेभ्योऽन्योन्यमूर्च्छनात् पर-
स्परमिथ्रीभावादामस्य सम्भवं कथयन्ति । केभ्यः कस्येव ? यथा कोद्रेवेभ्यो वि-
षस्य सम्भवं कथयन्ति तथा दोषेभ्य आमस्य सम्भवम् ।

आमेन तेन सम्पृक्ता दोषा दूष्याश्च दूषिताः ।

सामा इत्युपदिश्यन्ते ये च रोगास्तदुद्भवाः ॥ २७ ॥

तेन पूर्वोक्तलक्षणेनाऽमेन सम्पृक्ताः संयुक्ता दोषा दूष्याश्च रसादयः । कीदृशाः ?
दूषितास्तैरेव वातादिभिः । सहाऽऽमेन सामा इत्युपदिश्यन्ते तत्र तत्र प्रदेशे तन्त्रे
भग्यन्ते । ये च रोगा ज्वरादयस्तदुद्भवा वातादिदोषसमुत्थास्तेनामेन युक्ताः सामा
इत्युच्यन्ते । यथैहैव । ‘अजीर्णं इव शूलघ्नं सामे तीव्ररुजि ज्वरे’ इति । आमल-
क्षणं चैवं पठन्ति । “द्रवं गुर्वनेकवर्णं हेतुः सर्वरोगाणां स्निग्धं पिच्छिलमामं तन्तु-
मदनुबद्धशूलं दुर्गन्धीत्यादि” । सामानां च वातादीनां सङ्ग्रहे पृथग्लक्षणमुक्तम् ।
यथा—“वायुरामान्वयः सार्तिराध्मानकृदसञ्चरः । दुर्गन्धमसितं पित्तं कटुकं बहलं
गुरु । आविलस्तन्तुमाँस्त्यानः प्रलेपी पिच्छिलः कफः । विपर्यये तु पक्त्वं तथा
ताम्रं समेचकम् । पीतं च पित्तमच्छं च श्लेष्माऽच्छः पिण्डतोऽथवा । विशदश्च

१ “विरमूत्रनखदन्तत्वक्चक्षुषां पीतता भवेत् । रक्तत्वमतिकृष्णत्वं पृष्ठास्थि-
कटिसन्धिरुक् । शिरोरुग् जायते तीव्रा निद्रा विरसता मुखे । क्वचिच्च श्वयथु-
र्गात्रे ज्वरोऽतीसारदर्षणम्” । क्षेपकावत्रेति केचित्कथयन्ति ।



सफेनश्च धवलो मधुरो रस" इति ।

सामा अपि दोषा यादृशा न निर्हार्यास्तादृशान् दर्शयति ।

सर्वदेहप्रविस्तृतान् सामान् दोषान्न निर्हरेत् ।

लीनान् धातुष्वनुत्क्रिष्टान् फलादामाद्रसानिव ॥ २८ ॥

आश्रयस्य हि नाशाय ते स्युर्दुर्निर्हरत्वतः ।

सामान् दोषान् वातादीन् सर्वस्मिन्देहे प्रविस्तृतान् व्याप्ताशेषकायान् धातुषु रसाद्येषु लीनान् छिष्टाननुत्क्रिष्टान् स्वस्थानादचलितान् न निर्हरेद्रमनादिभिर्न शोधयेत् । कुतः ? दुर्निर्हरत्वाद्दुःखेन निर्हर्तुं शक्यत्वात् । ते हि निर्हिंयमाणा आश्रयस्य शरीराख्यस्य नाशाय स्युः । यावत् सर्वदेहप्रविस्तृता न भवन्ति यथा भुक्तानन्तरं ज्वरोत्पत्तौ नवातिसारं च तथा वमनेन हरीतक्या च यथायोगं निर्हारी-
ऽनुज्ञात एव ग्रन्थकृता । अत्र दृष्टान्तमाह । फलादित्यादि । आमादपक्वात्फलादाम्रादे रसो निर्हिंयमाणो दुर्निर्हरत्वादाश्रयस्य फलस्य यथा नाशाय भवत्येवं दोषा अपि ।

तर्हीदृशे दोषे किं कार्यमित्याह—

पाचनैर्दीपनैः स्नेहैस्तान् स्वेदैश्च परिष्कृतान् ॥ २९ ॥

शोधयेत् शोधनैः काले यथासन्नं यथाबलम् ।

तांस्तथाविधान् दोषान् पाचनैर्ज्वराद्यध्यायोक्तैः । दीपनैरिति पाचनानां स्नेहानां च विशेषणं मध्यदीपवत् । अग्निदीप्तिकृद्भिः पाचनैः स्नेहैश्च परिष्कृतान् कृतसंस्कारान् यथासन्नं यथाबलं च कृत्वा यथोक्ते काले शोधनैर्द्रव्यैः शोधयेत् । यथासन्नमिति । यस्य दोषस्याऽसन्नो यो मार्गस्तेनैव तं निर्हरेत् । यथाबलमिति । यस्य यावद्बलमातुरस्योत्तमं मध्यममधमं वा तज्ज्ञात्वा मृदुना मध्येन तीक्ष्णेन वा शोधनेन शोधयेदित्यर्थः ।

कस्य को मार्ग आसन्न इत्याह—

हन्त्याशु युक्तं वक्त्रेण द्रव्यमामाशयान्मलान् ॥ ३० ॥

घ्राणेन चोर्ध्वजन्तूथान् पक्वाधानाद् गुदेन च ।

द्रव्यं वक्त्रेण युक्तं पीतमामाशयादाशु मलान् हन्ति । घ्राणेन तु पीतमूर्ध्वजन्तूथान्मलानाशु हन्ति । गुदेन युक्तं पक्वाधानात् पक्वाशयादाशु मलान् हन्ति ।

इदानीं यादृशा आमा न धार्यास्तादृशान् दर्शयति—

उत्क्रिष्टानध ऊर्ध्वं वा न चामान्वहतः स्वयम् ॥ ३१ ॥

धारयेदौषधैर्दोषान् विधृतास्ते हि रोगदाः ।

अध ऊर्ध्वं वोत्क्रिष्टानामान् स्वयं वहतो यन्नं विनैव प्रवृत्तानौषधैः स्तम्भनैर्न धारयेत् । कुत इत्याह । हि यस्मात्ते दोषा विधृता रोगदा ज्वरादिकारिणः ।

तेषु तु यत्कार्यं तदाह—

प्रवृत्तान् प्रागतो दोषानुपेक्षेत हिताशिनः ॥ ३२ ॥



विबद्धान् पाचनैस्तैस्तैः पाचयेन्निर्हरेत् वा ।

अतोऽस्माद्धेतोः प्रवृत्तान् प्राक् प्रारम्भकाले दोषान् हितभोजिन उपेक्षेत सङ्ग्रहणेन न धारयेत् । विबद्धानिषिद्धप्रवृत्तांस्तैस्तैर्यथेक्षैः पाचनैः पाचयेत् पाकं नयेन्निर्हरेद्वा ।

अथ कः शोधनकाल इत्याह—

श्रावणे कार्तिके चैत्रे मासि साधारणे क्रमात् ॥ ३३ ॥

ग्रीष्मवर्षाहिमचितान् वाय्वादीनांश्च निर्हरेत् ।

क्रमाद्यथाक्रमं ग्रीष्मचितं वायुं श्रावणे निर्हरेत् । वर्षाचितं पित्तं शरदि निर्हरेत् । हेमन्तशिशिरचितं कफं वसन्ते निर्हरेत् । एते हि साधारणाः कालाः । अत एतेषु शोधनं युक्तम् ।

ननु ग्रीष्मादिष्वेव कस्माद्वातादयो न शोध्यन्त इत्याह—

अत्युष्णवर्षशीता हि ग्रीष्मवर्षाहिमागमाः ॥ ३४ ॥

सन्धौ साधारणे तेषां दुष्टान् दोषान् विशोधयेत् ।

यतो ग्रीष्मादयोऽत्युष्णादियुक्तास्तेषामत्युष्णवर्षशीतानां ग्रीष्मवर्षाहिमागमानां साधारणे सन्धौ शीतोष्णवर्षसमभावे काले दोषान् वातादीन्दुष्टान्विकृतान्विशोधयेद्विनिर्हरेत् । सन्धौ हि साम्यमतः शोधनं प्रति न ते कालाः । तथा हि ग्रीष्मे तावदादानग्लानं खरतररविकिरणतप्तं पिपासाक्लमाद्याकुलमतिप्रविलीनदोषमतिशिथिलं शरीरं भवति । औषधं पुनरतिखरदिवाकरकरनिर्भरतापादुष्णतीक्ष्णतां यातमतियोगाय सम्पद्यते । प्रावृषि घनघनौघसंघट्टसादिते सर्वतो जगत्यवसन्नोऽग्निर्भवति । अदानदुर्बलं च शरीरं भवति । औषधयश्च जलदजलप्लावितमूला अल्पवीर्याः सम्पद्यते । भूबाष्पसंयोगाच्चौषधीनां विदग्धत्वम् । अतो मध्यतां गता अयोगायैव । शीतकाले चाऽतिशीतोपहतत्वाच्छरीरमतिवातविष्टब्धमतिक्लिग्धगुरुदोषं भवति । शीतोपहतत्वाच्चोष्णस्वभावमप्यौषधं संशोधनायोपयुक्तं मन्दवीर्यतां प्राप्तमयोगायैव कल्पते । तस्माद्युक्तमुक्तमत्युष्णवर्षशीतत्वाद्ग्रीष्मादिषु स्वस्थस्य शोधनमयुक्तम् ।

नन्वातुरस्य संशोधनसाध्यस्याऽयमेव संशोधनकालो नेत्याह—

स्वस्थवृत्तमभिप्रेत्य व्याधौ व्याधिवशेन तु ॥ ३५ ॥

स्वस्थावस्थामधिकृत्याऽयं संशोधनकाल उक्तः । व्याधौ चात्ययिके व्याध्यनुरोधेन शोधनकालः ।

यदि हेमन्तादावतिशीतोष्णादौ काले व्याधिः संशोधनसाध्यः सम्भवेत्तदा कथं संशोधनं कार्यमित्याह—

कृत्वा शीतोष्णवृष्टीनां प्रतीकारं यथायथम् ।

प्रयोजयेत्क्रियां प्राप्तां क्रियाकालं न हापयेत् ॥ ३६ ॥

शीतोष्णवृष्टीनां प्रतीकारं कृत्रिमऋतुगुणं यथायथमुत्पाद्य संशोधनादिलक्षणं

क्रियां प्रयोजयेत् । कृत्रिमगुणोपधानं च यथा—हेमन्ते गर्भगृहादि । ग्रीष्मे धारा-
गृहादीनि । क्रियाकालं न हापयेन्नातिक्रामयेदात्ययिकस्य व्याधेः प्राणहारित्वात् ।

सम्प्रत्यौषधकालान् दर्शयन्नाह—

युज्यादनन्नमन्नादौ मध्येऽन्ते कवलान्तरे ।

ग्रासे ग्रासे मुहुः सान्नं सामुद्रं निशि चौषधम् ॥ ३७ ॥

दर्शते औषधस्य कालाः । अन्नमौषधं तदुच्यते यदुपयुज्य तस्मिन्परिणते
भुज्जीत । अन्नादौ तदुच्यते यदुपयुज्य समनन्तरमाहारोपयोगो विधीयते । मध्य
इति । अन्नस्याहारस्य मध्ये यदौषधं भुज्यते । अन्तेऽवसाने । कवलान्तर
इति । कवलयोर्ग्रासयोरन्तरे मध्ये न तु ग्रासमिश्रितं कृत्वेत्यर्थः । ग्रासे ग्रास इति ।
यद्वा ससम्पृक्तं भुज्यते । मुहुरिति । पुनः पुनर्भुक्तेऽभुक्ते वा यदौषधं भुज्यते । सा-
न्नमिति । सहाऽन्नेनाऽऽहारेण यदौषधं भुज्यते । सामुद्रं तद्गण्यते यदाहारस्य प्राक्
पश्चाच्च प्रयुज्यते । तेन हि समुद्रपुटयुगलोपमेनौषधद्वयेनाहारो मध्ये क्रियते । समु-
द्रः सम्पुटकः । निशि यच्छयनवेलायां भुज्यते ।

अधुना विषयविभागेन यस्मिन् व्याधौ यदुपयुज्यते तद्दर्शयति—

कफोद्रेके गदेऽनन्नं बलिनो रोगरोगिणोः ।

अन्नादौ विगुणेऽपाने समाने मध्य इष्यते ॥ ३८ ॥

व्यानेऽन्ते प्रातराशस्य सायमाशस्य तूत्तरे ।

ग्रासग्रासान्तयोः प्राणे प्रदुष्टे मातरिश्वनि ॥ ३९ ॥

मुहुर्मुहुर्विषच्छर्दिहिध्मात्तदश्वासकासिषु ।

योज्यं सभोज्यं भैषज्यं भोज्यैश्चित्रैररोचके ॥ ४० ॥

कफोद्रेके रोगे निरन्नमौषधं योज्यम् । कयोरित्याह । बलिनोरित्यादि । बल-
वति रोगे तत्केवलमन्नादिरहितमौषधम् । तद्वयनन्नमतिवीर्यं भवति । बलवांश्च
यदि रोगी तदोपयुज्जीत नतु दुर्बले । दुर्बलस्य त्वन्नसहितं न ग्लानिकरं भवति ।
अन्नादाविति । अपानाख्ये वायौ विगुणे कुपिते सत्यौषधं भुक्त्वा समनन्तरेमवा-
हार इष्यत इत्यर्थः । समाने वायौ विगुणे मध्ये भक्तस्यौषधमिष्यते । व्यानाख्ये
विगुणे प्रातराशस्य पूर्वाह्णभुक्तस्यान्तेऽवसाने भेषजमिष्यते । सायमित्यादि । उत्तरे
व्यानापेक्षयोदानाख्ये मरुति विगुणे सायमाशस्याऽपराह्णभुक्तस्य त्वन्ते भेषजमि-
ष्यते । प्राणाख्ये मातरिश्वनि वाते प्रदुष्टे विकृते ग्रासग्रासान्तयोर्भेषजमिष्यते ।
ग्रासश्च ग्रासान्तश्च तयोस्तेन ग्राससम्पृक्तमौषधं ग्रासयोर्मध्ये भेषजमित्यवतिष्ठते ।
मुहुर्मुहुर्भुक्ते यदभुक्ते वा भेषजं तत्तु विषादिषु योज्यम् । अरोचकेऽरुचौ सह भो-
ज्यैर्भेषज्यं योज्यम् । कीदृशैर्भोज्यैश्चित्रैरनेकविधैः ।

कम्पाऽऽक्षेपकहिध्मासु सामुद्रं लघुभोजिनाम् ।

सामुद्रं नाम यदादावन्ते चाऽहारस्य भुज्यते तत्कम्पादिषु प्रशस्यत इति वक्ष्य-

माणेन सम्बन्धः । केषाम् ? लघ्वन्नाशिनाम् ।

ऊर्ध्वजत्रुविकारेषु स्वप्रकाले प्रशस्यते ॥ ४१ ॥

ऊर्ध्वजत्रुविकारेषु शयनवेलायामौषधं प्रशस्यत इति ।

इति श्रामृगाङ्कदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टाङ्गहृदयटीकायां सर्वाङ्गसुन्द-
राख्यायां दोषोपक्रमणीयानाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः ।

दोषोपक्रमणीयादनन्तरं द्विविधोपक्रमणीयारम्भेऽयं सम्बन्धः । पूर्वं सामा-
न्येनोपक्रमो दोषोपक्रमणीयेऽभिहितः । अत्र तूपक्रम्यस्य विशेषेणोपक्रमविशेष
उच्यत इत्याह—

अथाऽतो द्विविधोपक्रमणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।

द्विविधं द्विप्रकारं च तदुपक्रमणं च द्विविधोपक्रमणं तस्मै हितो द्विविधोपक्रम-
णीयः । शेषं पूर्ववत् ।

उपक्रमश्च समासतो द्विविधः । तन्त्रान्तरपठितानां चतुर्णामुपक्रमाणां त्रैवा-
न्तरभावात् । अतएव सहेतुकमुपदिशन्नाह—

उपक्रम्यस्य हि द्वित्वाद् द्विधैवोपक्रमो मतः ।

हि यस्मादुपक्रम्यस्य चिकित्सस्य द्वित्वाद्देतोरुपक्रमो द्विधैव मत इष्टः । एव-
शब्दोऽवधारणे परमतं क्षिपति ।

कथं द्विधेत्याह—

एकः सन्तर्पणस्तत्र द्वितीयश्चाऽपतर्पणः ॥ १ ॥

बृंहणो लङ्घनश्चेति तत्पर्यायाबुदाहृतौ ।

बृंहणं यद्बृहत्त्वाय लङ्घनं लाघवाय यत् ॥ २ ॥

देहस्य,

तत्र तयोर्द्वयोरुपक्रमयोरेकः सन्तर्पणरूप उपक्रमो द्वितीयश्चाऽपतर्पणरूप उप-
क्रमः । बृंहणं लङ्घनं च तयोः सन्तर्पणाऽपतर्पणयोः पर्यायाबुदाहृतौ । देहस्य बृंहणं
तदुच्यते यद्देहस्य बृहत्त्वाय भवति । लङ्घनं तदुच्यते यद्देहस्य लाघवाय लाघवो-
त्पादनाय भवति ।

भवतः प्रायो भौमापमितरच्च ते ।

सन्तर्पणाऽपतर्पणे भौमापमितरच्च भवतः । भूमेरिदं भौमम् । अपामिदमा-
पम् । भौमयुक्तमपं सन्तर्पणम् । इतरङ्गौमापादन्यदभिवाय्वाकाशात्मकमपतर्पणम् ।
प्रायोप्रहणात्किञ्चिद्भौममप्यपतर्पणम् । यथा यवमसूरमकुष्ठतरङ्गुलीयादि । तथा-
ऽभिपवनोत्कटस्याऽपि शुश्रूषीपिप्लव्यादेर्वृष्यत्वेन सन्तर्पणकार्यदर्शनाच्च ।

अधुना स्नेहनादेश्वतुर्विधस्यापक्रमस्य सन्तर्पणाऽपतर्पणयोरेवान्तर्भावं दर्शयन्नाह—

स्नेहनं रूक्षणं कर्म स्वेदनं स्तम्भनं च यत् ॥ ३ ॥

भूतानां तदपि द्वैध्याद् द्वितयं नाऽतिवर्तते ।

स्नेहनादि यच्चतुर्विधं कर्म तदपि द्वितयं सन्तर्पणाऽपतर्पणरूपं नातिवर्तते नाऽतिक्रामति । कुतो हेतोरित्याह । भूतानां सन्तर्पणाऽपतर्पणरूपाद् द्वैध्याद् द्विप्रकारकत्वात् ।

इदानीं प्रत्येकं तयोर्भेदानाह—

शोधनं शमनं चेति द्विधा तत्राऽपि लङ्घनम् ॥ ४ ॥

तत्र च तयोः सन्तर्पणाऽपतर्पणयोर्वृंहणलङ्घनाऽपरपर्याययोर्मध्याखललङ्घनमपतर्पणं तद् द्विधा । कथमित्याह । शोधनं शमनं चेति । इति हेत्वर्थः । यतः शोधनं शमनं च ततो द्विधेत्यर्थः ।

इदानीं शोधनस्य लक्षणं प्रभेदं चाऽधिकृत्याह—

यदीरयेद्बहिर्दोषान्पञ्चधा शोधनं च तत् ।

यदौषधं दोषान् वातादीनन्तः स्थितान् बहिरीरयेत् क्षिपेत्तच्छोधनम् । तच्च पञ्चधा पञ्चविधम् ।

तदेव पञ्चविधत्वमाह—

निरूहो वमनं कायशिरोरेकोऽस्त्रविस्फुतिः ॥ ५ ॥

निरूहो बस्तिस्तथा वमनं तथा कायविरेकः शिरोविरेकश्च तथाऽस्त्रविस्फुती रक्तस्रावश्चेति पञ्चधा शोधनम् । सर्वशरीरस्य शिरःप्रभृतेरधो मलनिर्हरणं यत्स कायविरेकशब्देनोच्यते । यत्तु केवलं शिरःसंज्ञकस्य शरीरावयवस्य ग्रारेणोर्ध्वमलनिर्हरणं स शिरोविरेकः ।

सम्प्रति शमनाख्यस्य लक्षणं प्रभेदं चाधिकृत्याह—

न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि ।

समीकरोति विषमान् शमनं तच्च सप्तधा ॥ ६ ॥

पाचनं दीपनं लुत्तृङ्गव्यायामाऽऽतपमारुताः ।

यदौषधं दोषान् वातादीन् शोधयति नान्तःस्थितान्बहिर्निष्कासयति तथा समान् स्वप्रमाणस्थान्नोदीरयति नोत्क्रेशयति विषमांश्च स्वप्रमाणाद्धीनाधिकभावस्थितान् समीकरोति स्वप्रमाणस्थान् विदधाति तच्छमनमुच्यते । तच्च सप्तधा सप्तप्रकारं पाचनादिभेदेन । पाचयतीति पाचनम् । पचतोऽग्नेः पक्तुं शक्तिमधिकां यदुत्पादयति तद् द्रव्यं क्रिया वा पाचनमुच्यते । यथा लङ्घनं किराततिक्कार्थं मुस्तादि वा । दीपनं यथा घृतादि । तन्त्रान्तरे च दीपनपाचनयोर्लक्षणमुक्तम् । चारपाणिनाऽप्युक्तम् । “पाचनं पाचयेद्दोषान् सामान् शमनमेव तु । दीपनं ह्यग्नि-

कृच्चामं कदाचित्पाचयेन्न वा । यथा—“यदग्निं कृत्पेचन्नामं दीपनं तद्यथा घृतम् । पाचनं तद्विपर्यस्तं यथा वक्ष्यामि लक्षणमिति” । क्षुत्तृदशब्दाभ्यां क्षुत्तृष्णानिग्रहा-
विह गृहीतौ ।

पाचनादीनां दोषशमनत्वमुक्तं तच्च वाते वातपित्ते च न सम्भवतीत्याह—

बृंहणं शमनं त्वेव वायोः पित्तानिलस्य च ॥ ७ ॥

तुशब्दो विशेषे । विशेषस्तु लङ्घनापेक्षया । शोधनं शमनं चेति द्विधा लङ्घन-
मुक्तम् । बृंहणमपि शोधनं भवति दुग्धादिद्रव्यं शोधनस्वभावद्रव्यत्वात् । तेन
तथाविधेन द्रव्येण केवलस्य वातस्य पित्तयुक्तस्य वा कोप आशङ्क्यते । यथा
लङ्घनशोधनद्रव्येण हरीतक्यदिना ततो बृंहणस्य विशेषणार्थस्तुशब्दः कृतः ।
बृंहणं यतः शोधनं मरुतः केवलस्य पित्तसहितस्य वा शमनं नतु लङ्घनशोधन-
वत्कोपनम् । एवकारोऽवधारणार्थः । बृंहणं यच्च शोधनरूपं शोधनं वातस्य पित्त-
युक्तस्य वा शमनमेव न कोपनं जातुचिदित्यर्थः । लङ्घनं तूभयरूपमपि वातस्य
वातपित्तयोर्वा कोपनमेव ।

इदानीं ये बृंह्यास्तानाह—

बृंहयेद्याधिभैषज्यमद्यस्त्रीशोककर्शितान् ।

भाराध्वोरःक्षतक्षीणरूक्षदुर्बलवातलान् ॥ ८ ॥

गर्भिणीसूतिकाबालवृद्धान् ग्रीष्मेऽपरानपि ।

कर्शितशब्दस्य व्याध्यादिभिः प्रत्येकं सम्बन्धः । व्याधिकर्शितान् बृंहयेदेवं
शेषेष्वपि योज्यम् । भारादिभिः क्षीणस्य प्रत्येकं सम्बन्धः । भारक्षीणान् बृंह-
येत् । एवं शेषेषु । रूक्षादीन् बृंहयेत् । ग्रीष्मेऽपरानप्यन्याननुक्तानपि बृंहयेत् ।
इत्थं च ग्रीष्मेऽपि सर्वानपि बृंहयेदिति विशेषेण तु व्याधिकर्शितादीन् ।

कैर्बृंहयेदित्याह—

मांसक्षीरसितासर्पिर्मधुरस्निग्धवस्तिभिः ॥ ९ ॥

स्वप्नशय्यासुखाऽभ्यङ्गस्नाननिवृत्तिहर्षणैः ।

मांसादिभिर्बृंहयेत् । मधुरस्निग्धैर्बस्तिभिर्न तु रूक्षतीक्ष्णैस्तेषामपतर्पणस्वभाव-
त्वात् । स्वप्नो निद्रा । शय्यासुखं खट्वाजनितं शर्म । निवृत्तिश्चित्तस्याऽनाकुलत्वम् ।

मेहाऽऽमदोषोऽतिस्निग्धज्वरोरुस्तम्भकुण्ठिनः ॥ १० ॥

विसर्पविद्राधिस्रीहाशिरःकराटाऽक्षिरोगिणः ।

स्थूलाश्च लङ्घ्येन्नित्यं शिशिरे त्वपरानपि ॥ ११ ॥

मेहादीनामिनिर्मत्वर्थः । मेहिप्रभृतीनि लङ्घयेत् । शिशिरे पुनरन्यानप्य-
परानपीति व्याधितानां ग्रहणम् । स्वस्थानां तु शिशिरे हेमन्तविधिविशेषेणोक्त
एव । शिशिरशब्दः शीतमात्रोपलक्षणार्थः । तेन हेमन्तेऽपि लङ्घयेदित्यर्थ
उपलभ्यते ।



पूर्वमुक्तं लङ्घनं द्विधा । शोधनं शमनं चेति । तत्र शोधनविषयं निरूपयन्नाह—

तत्र संशोधनैः स्थौल्यबलपित्तकफाऽधिकान् ।

आमदोषज्वरच्छुर्दिरतीसारहृदामयैः ॥ १२ ॥

विवन्धगौरवोद्गारहृल्लासादिभिरातुरान् ।

मध्यस्थौल्यादिकान् प्रायः पूर्वं पाचनदीपनैः ॥ १३ ॥

एभिरेवाऽऽमयैरार्तान् हीनस्थौल्यबलादिकान् ।

क्षुत्तृष्णानिग्रहैर्दोषैस्त्वार्तान्मध्यबलैर्दृढान् ॥ १४ ॥

समीरणाऽऽतपाऽऽयासैः किमुताऽल्पबलैर्नरान् ।

लङ्घयेदिति वर्तते । तत्र तेषु लङ्घनीयेषु मध्ये संशोधनारूपैर्लङ्घनैः स्थौल्याद्य-
धिकान् तथाऽऽमदोषादिभिरार्तान् लङ्घयेत् । तथा मध्यस्थौल्यबलपित्तकफानेभि-
रेवाऽऽमदोषज्वरादिभिर्गदैरातुरान् प्रायः पूर्वं पाचनदीपनैर्लङ्घनभेदैर्लङ्घयेत् । प्रायो-
ग्रहणं देशकालाद्यपेक्षया नियमस्याऽसर्वविषयत्वज्ञापनार्थम् । हीनस्थौल्यबलादि-
कांस्तु सतः क्षुत्तृष्णानिग्रहैर्बुभुक्षापिपासावेगविधारणारूपैर्लङ्घनविशेषैर्लङ्घयेत् ।
दोषैर्वार्तपित्तकफैर्मध्यबलैरार्तान् तथा दृढान् शक्तान् समीरणादिभिर्लङ्घयेत् ।
आयासो व्यायामः । किमुत किम्पुनरल्पबलैर्दोषैरार्तान् समीरणादिभिर्लङ्घयेत् ।
सुतरां तु हीनबलैरार्तान् समीरणादिभिरेव लङ्घयेदित्यर्थः ।

न बृंहयेत्लङ्घनीयान्,

लङ्घनीयान् लङ्घनार्हान् मेहामदोषादीन् बृंहयेत् ।

तर्हि बृंह्यस्य वातलादेर्यदा ज्वरादिव्याधिर्लङ्घनसाध्यो जायते तदा किं लङ्घनं
कार्यमुत बृंहणमित्यत्र संशय इत्याह—

बृह्यांस्तु मृदु लङ्घयेत् ॥ १५ ॥

युक्त्या वा देशकालादिवलतस्तानुपाचरेत् ।

ये पुनर्बृह्यास्तान् लङ्घनसाध्यामयार्तान् मृदु कृत्वा लङ्घयेत् । मृदुना लङ्घन-
प्रकारेणाऽपतर्पयेदित्यर्थः । युक्त्या वा प्रयोगेण सन्तर्पणाऽपतर्पणव्यामिश्रलक्ष-
णेन देशकालादीनां बलतोऽनुसेधेन तानुपाचरेदुपक्रमेत् । नैव लङ्घयेदित्यर्थः ।
आदिग्रहणेन सत्वसात्म्यादिग्रहणम् ।

बृंहितलङ्घितयोः किं लक्षणमित्याह—

बृंहिते स्याद्वलं पुष्टिस्तत्साध्यामयसंज्ञयः ॥ १६ ॥

बृंहिते सति बलं पुष्टिश्च स्यात् । तथा बृंहणसाध्या य आमयास्तेषां संज्ञयो
विनाशो भवेत् ।

सम्प्रति लङ्घितलक्षणमाह—

विमलेन्द्रियता सर्गो मलानां लाघवं रुचिः ।

क्षुत्तृद्सहोदयः शुद्धहृदयोद्गारकण्ठता ॥ १७ ॥



व्याधिमादवमुत्साहस्तन्द्रानाशश्च लङ्घिते ।

विमलेन्द्रियतादिस्तन्द्रानाशश्चेत्यन्तो ग्रन्थो लङ्घितलक्षणम् । विमलेन्द्रियता करणपाटवम् । लुत्तृषोः सहैककालमुदयः । शुद्धहृदयेति । हृदयं चोद्गारश्च कण्ठश्च हृदयोद्गारकण्ठं शुद्धं च तद्भृदयोद्गारकण्ठं च तस्य भावः शुद्धहृदयोद्गारकण्ठता । विमलेन्द्रियतादीनां पदानामकृतसमासानामेव समस्तानां निर्देशो दोषदेशाद्यनु-रोधेनैकस्य द्वयोस्त्रिचतुराणां बहुतराणां सर्वेषां च लङ्घितलक्षणत्वद्योतनार्थः । अन्यथा सर्वेषां लक्षणानामुत्पत्तौ लङ्घितलक्षणत्वं भवेन्न त्वेकस्य द्वयोर्बहूनां चोत्पत्तौ लङ्घितलक्षणत्वं स्यात् । मुनिरप्यनेनैव हेतुनाऽसमासेनैव लक्षणं व्यधत् । तथा—“वातमूत्रपुरीषाणां विसर्गे गात्रलाघवे । हृदयोद्गारकण्ठस्य शुद्धौ तन्द्राक्लमे गते । खेदे जाते रुचौ चैव लुत्पिपासा सहोदये । कृतं लङ्घनमादेशयं निर्व्यथे चान्त-रात्मनीति” ।

अनपेक्षितमात्रादिसेविते कुरुतस्तु ते ॥ १८ ॥

अतिस्थौल्याऽतिकाश्यादीन् वक्ष्यते ते च सौषधाः ।

ते बृंहणलङ्घने अनपेक्षितमात्रादिसेविते अतिस्थौल्याऽतिकाश्यादीन् कुरुतः । अनपेक्षिताश्च ते मात्रादयश्चाऽनपेक्षितमात्रादयस्तैः सेविते । मात्राद्यनपेक्षया कृते इत्यर्थः । ते चाऽतिस्थौल्याऽतिकाश्यादयः सौषधाः समेषजा वक्ष्यन्ते पुरस्ताद्भ-गिष्यन्ते ।

अथातिबृंहिलङ्घितयोः किं लक्षणमित्याह—

रूपं तैरेष च ज्ञेयमतिबृंहितलङ्घिते ॥ १९ ॥

अतिबृंहितश्चातिलङ्घितश्चेत्येकवद्भावः । अतिबृंहितेऽतिलङ्घिते च तैरेवाऽति-स्थौल्यादिभिस्तथाऽतिकाश्यादिभिश्च रूपं बृंहणलङ्घनाऽतियोगलक्षणं वेद्यम् । चशब्दः समुच्चये ।

तानेवाऽतिस्थौल्यादीनाह—

अतिस्थौल्यापचीमेहज्वरोदरभगन्दरान् ।

काससंन्यासकृच्छ्रामकुष्ठादीनतिदारुणान् ॥ २० ॥

अतिस्थौल्यादीनतिबृंहितं कर्तुं कुरुते, इत्यनुपात्तेनाऽपि प्रकृतत्वादत्र कर्तृपदेन क्रियापदेन च सम्बन्धः कार्यः । अत एव तदपेक्षयाऽतिस्थौल्यादीनां द्वितीया । अथवा योग्यतयैवाऽनुपात्तेनाऽपि क्रियादीनां सम्बन्धो भवत्येव । सुकविलक्षणस्यैवं स्थितत्वात् । तथा च भगवतो व्यासस्य—“यश्च निम्बं परशुना यश्चैनं मधुसर्पिषा । यश्चैनं गन्धमाल्येन सर्वस्य कटुरेव सः” । अत्र हि च्छेदसेकालङ्कारक्रिया अपेक्ष्य निम्बादीनां द्वितीयाऽर्थसम्बन्धश्च ।

अथैषां स्थौल्यादीनामुपक्रममाह—

तत्र मेदोऽनिलश्लेष्मनाशनं सर्वमिष्यते ।



तेष्वतिस्थौल्यादिषु मेदोऽनिलच्छेदनाशनं सर्वमन्नपानौषधमिष्यते ।
किं तदिति ब्रूते—

कुलत्थजूर्णश्यामाकयवमुद्रमधूदकम् ॥ २१ ॥

मस्तुदण्डाहतारिष्टचिन्ताशोधनजागरम् ।

मधुना त्रिफलां लिह्याद् गुडूचीमभयां घनम् ॥ २२ ॥

रसाञ्जनस्य महतः पञ्चमूलस्य गुग्गुलोः ।

शिलाजतुप्रयोगश्च साग्निमन्थरसो हितः ॥ २३ ॥

विडङ्गं नागरं क्षारः काललोहरजो मधु ।

यवामलकचूर्णं च योगोऽतिस्थौल्यदोषजित् ॥ २४ ॥

कुलत्थादिकं स्थूलायेष्यते । जूर्णस्तृणधान्यविशेषो दक्षिणापथे जोन्धलकं इति प्रसिद्धः । दण्डाहतं मथितम् । त्रिफलादीनामन्यतमं मधुना लिह्यात् । तथा रसाञ्जनादेश्च प्रयोगोऽग्निमन्थरससहितो हितोऽतिस्थूलायेति प्रकृतेन योज्यम् । विडङ्गादियोगः सर्वसमभागोऽतिस्थौल्यदोषजित् ।

व्योषकट्वीवराशिग्रुविडङ्गाऽतिविषास्थिराः ।

हिङ्गुसौवर्चलाजाजीयवानीधान्यचित्रकाः ॥ २५ ॥

निशे बृहत्या हपुषा पाठा मूलं केम्बुकात् ।

एषां चूर्णं मधु घृतं तैलं च सदृशांशकम् ॥ २६ ॥

सक्तुभिः षोडशगुणैर्युक्तं पीतं निहन्ति तत् ।

अतिस्थौल्यादिकान् सर्वान् रोगानन्यांश्च तद्विधान् ॥ २७ ॥

हृद्रोगकामलाश्वित्रश्वासकासगलग्रहान् ।

बुद्धिमेधास्मृतिकरं सन्नस्याग्रेष्व दीपनम् ॥ २८ ॥

व्योषादीनि द्रव्याणि चतुर्विंशतिः परस्परसमभागानीत्येको भागः । तत्समो मधुनो द्वितीयो भागो घृतस्य तृतीयस्तैलस्य चतुर्थः । एषां सर्वेषां मिश्रीभूतानां षोडशगुणा यवसक्तवः । तदेतत्पीतमतिस्थौल्यादिकान् पूर्वोक्तान् सर्वान् रोगान्निहन्ति । अन्यांश्च तथाविधान् रोगान् बृंहणोत्थानित्यर्थः । तथा हृद्रोगादीन् निहन्ति । तथा बुद्ध्यादिकरम् । सन्नस्य मन्दस्याग्नेर्दीपनं च ।

साम्प्रतमतिलङ्घनोत्थान् रोगान् सौषधादीनाह ।

अतिकाश्यं भ्रमः कासतृष्णाधिक्यमरोचकः ।

क्षेहाऽग्निनिद्रादृक्श्रोत्रशुक्रौजःक्षुत्स्वरक्षयः ॥ २९ ॥

बस्तिहृन्मूर्धजङ्घोरुत्रिकपार्श्वरुजा ज्वरः ।

प्रलापोऽधोनिलोग्लानिशङ्कर्दिः पर्वास्थिभेदनम् ॥ ३० ॥

विरमूत्रादिग्रहाद्याश्च जायन्तेऽतिविलङ्घनात् ।

अतिकाश्यादयोऽतिविलङ्घनाज्जायन्ते । क्षेहादीनां क्षयशब्देन समासः ।

बस्त्यादीनां च रुजाशब्देन ।- मूत्रादिप्रहाद्याश्वेत्याद्यशब्देन नानाविधानां वातरो-
गाणां ग्रहणम् ।

यद्यपि कार्श्याख्योऽयं महान्दोषस्तथापि स्थौल्यमपेक्ष्य वर एवेति प्रतिपादयन्नाह-

कार्श्यमेव वरं स्थौल्यात्,

अत्र चातिकार्ष्यमेव वरमतिस्थौल्यादिति वेद्यम् । न कार्श्यमात्रं स्थौल्य-
मात्रं वा । यस्मादतिस्थूलातिकृशावेव लङ्घनबृंहणाभ्यामुपक्रम्यावत्र विवक्षितौ
न स्थूलकृशौ सामान्येन ।

कार्श्यमेव स्थौल्याद्वरं कुत इत्याह-

नहि स्थूलस्य भेषजम् ॥ ३१ ॥

बृंहणं लङ्घनं नालमतिभेदोऽग्निवातजित् ।

यस्मात् स्थूलस्य भेषजं बृंहणं नालं न समर्थं न च लङ्घनं समर्थम् । यस्मा-
त्स्थूलस्य भेषजमतिभेदोऽग्निवातजित् । यन्मेदः क्षीणं भवति तदग्निनाशकृद्वात-
हृच्च न । स्थूलस्य हि बृंहणेन भेदोऽतितरामुपचीयते लङ्घनेन मेदःक्षपणं भवति
किन्त्वग्निपवनानुपचीयेते । तस्माद्बृंहणं मांसक्षीरादि यच्च लङ्घनं कोद्रवश्या-
माकादि तत्पूर्वस्माद्धेतोः स्थूलस्य न भेषजम् ।

मधुरस्निग्धसौहित्यैर्यत्सौख्येन विनश्यति ॥ ३२ ॥

कशिमा स्थविमाऽत्यन्तविपरीतनिषेवणैः ।

यतो यस्मात्कशिमा मधुरस्निग्धतृप्तिभिः सौख्येनानायासेन नश्यति शाम्यति
तस्मात्कार्श्यं स्थौल्याद्वरम् । यतश्च स्थविमा स्थूलत्वमत्यन्तविपरीतनिषेवणैः
शाम्यति । अत्यन्तविपरीतानां निषेवणान्यत्यन्तविपरीतनिषेवणानि तैस्तिक्कटु-
कषायप्रायैरन्नपानौषधसेवनैः शाम्यतीत्यर्थः । स्थूलकृशयोश्च यदि बृंहणसाध्यस्तु-
ल्यो व्याधिः स्यात्ततः स्थूलस्योपक्रमविरोधात्तथा सुखेन न शाम्यति । यथा कृश-
स्य लङ्घनसाध्यो विसूचिकादिर्यदि चैतयोः स्यात् सोऽपि कृशस्य सुखेनोपशाम्यति ।
स्थूलस्य विरुद्धोपक्रमत्वादु सुखेन शाम्यति । तथा ह्यत्र प्रधानोपक्रमः स्वेदः स च
तावन्न घटते । न स्वेदयेदतिस्थूलमिति निषेधात् । अथैनं लङ्घयति तदा । “क्षौतःसु
भेदोरुद्धेषु वायुः कोष्ठे विशेषतः । चरन् प्रज्वलयत्यग्निं क्षुत्तृषी स्तस्ततोऽधिकम् ।
स्थूलं कोटरवद्वृद्धौ दहतोऽग्न्यनिलौ च तौ” । इत्यादिना यावद्वातसंखेन वन-
वह्निना वनस्येवाऽस्य महती व्यापदुत्पद्यते । अथ बृंहणोपक्रमः क्रियते तदाऽऽम-
दोषो वर्धेत । कृशस्य त्वविरुद्धोपक्रमत्वाद्विसूचिकादिः सुखेनोपक्रम्यस्तस्मात्कार्श्य-
मेव स्थौल्याद्वरम् । कशिमेति कृशशब्दात्पृथ्वादिपाठादिमनिच् । रञ्जतो हलादे-
रिति रेफादेशः । स्थविमेति दृढादेराकृतिगणत्वादिमनिजिति केचित् । तस्मिन् च सर्वा
स्थूलदूरेति यणादिपरस्य लोपः । ऋकारस्य च गुणः ।

अथ कृशो कादृशं भेषजमित्याह—

योजयेद्बृंहणं तत्र सर्वं पानान्नभेषजम् ॥ ३३ ॥

तत्र कृशो बृंहणं सर्वं पानाद्यौषधं योज्यम्—

अचिन्तया हर्षणेन ध्रुवं सन्तर्पणेन च ।

स्वप्नप्रसङ्गाच्च कृशो वराह इव पुष्यति ॥ ३४ ॥

अचिन्तया चेतसः शोककार्याद्यनाकुलत्वेन तथा हर्षणेन चित्तस्य तुष्ट्या तथा सन्तर्पणेनाऽऽहारविशेषादिना बृंहणेन तथा स्वप्नप्रसङ्गादतिनिद्रासेवनेन कृशः पुष्यति सर्वोपचितधातुः सम्पद्यते । क इव ? वराहः शूकरो यथा । अन्येभ्यश्च पुष्टि-हेतुभ्यः कृशविषये स्वप्न एव प्रधान इति च दर्शयितुं वराहो दृष्टान्तत्वेनोपन्यस्तो ग्रन्थकृता । तथाहि—‘ वराहस्य स्वप्नमन्तरेण न कश्चित्तथाविधोऽभ्यवहारादिरूप-लभ्यते । यथाऽसौ पुष्टोऽतिभेदरो दृश्यते ’ । अतिस्थूलाऽतिकृशयोश्च मुनिना लक्षणमभ्यधायि—“ भेदोमांसातिवृद्धत्वाच्चलस्फिगुदरस्तनः । अयथोपचयोत्साहो नरोऽतिस्थूल उच्यते ” । तथा—“ शुष्कस्फिगुदरप्रीवो धमनीजालसन्ततः । त्वगस्थिशेषोऽतिकृशः स्थूलपर्वा नरो मत ” इति ।

नहि मांससमं किञ्चिदन्यदेहबृहत्त्वकृत् ।

मांसादमांसं मांसेन सम्भृतत्वाद्विशेषतः ॥ ३५ ॥

मांसेन सममपरं देहबृहत्त्वकरं न च विद्यते । सर्वबृंहणत्वकरेभ्यो मांसमति-बृंहणमित्यर्थः । विशेषेण मांसादमांसं देहस्य बृंहणत्वकृत् । कुत इत्याह—मांसेन सम्भृतत्वात् पुष्टत्वात् ।

एवं विस्तरेण स्थूलकृशयोरुपक्रममुक्त्वा समासेनाह—

गुरु चाऽतर्पणं स्थूले विपरीतं हितं कृशे ।

यद्गुरु तथाऽतर्पणं तत्समासेन स्थूलाय हितं माद्विकशालूकादि । एतद्वि-रौक्ष्यान्मेदः क्षपयति । गौरवाच्च शीघ्रं जरां न गच्छति । यदतो विपरीतं लघु सन्तर्पणं च तदतिकृशाय हितं शालिषष्टिकैरेयमांसलावकपिञ्जलाविकम् । अति-कृशस्य ह्यग्निरपि कृशो भवति । तस्माद्यदि तस्य गुर्वन्नपानौषधमुपयुज्यते ततोऽ-ग्निसादोऽस्य जायते । अथाऽस्य लघु अपतर्पणमुपयुज्यते तद्भूयः कार्यमेवाऽस्या-पद्यते । तस्माल्लघु सन्तर्पणं च यत्तत्कृशाय हितम् । गुरु चेत्यत्र चशब्दाल्लघु च यदपतर्पणं श्यामाककोरदूषादिकं तथाऽन्यदपि यन्न गुरु न च लघु भेदोन्नं जागर-व्यवायव्यायामचिन्तादिकं तच्च स्थूले हितं गमयति ।

यवगोधूममुभयोस्तद्योग्याऽऽहितकल्पनम् ॥ ३६ ॥

उभयोः स्थूलकृशयोर्यवगोधूमं हितम् । किम्भूतं यवगोधूममित्याह—तद्योग्ये-त्यादि । तयोः स्थूलकृशयोर्योग्या उचिताऽऽहिता कृता कल्पना संयोगसंस्कारादिनो-

पयोग उपायो वा यस्मिन् यवे गोधूमे च । तदेवं यवाः स्थूले हिताः, गोधूमाः कृशे, इत्यर्थः । 'हितयोगे चतुर्थी वक्तव्येत्यस्य प्रायिकत्वात् स्थूले हितमित्यत्र न चतुर्थी' । अन्येऽपि ह्येवं प्रयोगा दृश्यन्ते । यथा रुद्रटस्य—“सामा जाधीमतां हितमिति” । तथाऽस्यैव—‘विलेपी ग्राहिणी हृद्या तृष्णाग्नी दीपनी हिता । व्रणा-
ऽक्षिरोगसंशुद्धदुर्बलन्नेहपायिनामिति’ ।

ननु चाऽतीसारज्वरगुल्मादीनामनेकरूपत्वादनन्ता एवोपक्रमाः प्राप्तास्तत्कथ-
मुपक्रम्यस्य हि द्वित्वाद् द्विविधोपक्रमो मत इत्याह—

दोषगत्याऽतिरिच्यन्ते ग्राहिभेद्यादिभेदतः ।

उपक्रमा न ते द्वित्वाद्भिन्ना अपि गदा इव ॥ ३७ ॥

दोषाणां पृथग्रपाणां संसर्गसन्निपाततरतमभेदेनाऽऽनन्त्यं यातानां या गति-
स्तथा तेषामेव स्थानवृद्धिच्यलक्षणा या गतिस्तिर्यगूर्ध्वाधोलक्षणा या गतिस्तथा
शाखाकोष्ठास्थिसन्धिलक्षणा च या गतिस्तथाऽतिरिच्यन्ते बहवो भवन्त्युपक्रमाः ।
कथमित्याह—ग्राहिभेद्यादिभेदतः । ग्राही च भेदी च ग्राहिभेदिनौ तावादी येषां
रोगानुरोधाच्चानाविधानामुपक्रमाणां ते ग्राहिभेद्यादयस्तेषां भेदो विशेषो ग्राहिभेद्या-
दिभेदस्तस्मात् । यद्यप्यतिरिच्यन्तेऽनन्ताः सम्पद्यन्ते तथाऽपि द्वित्वात्सन्तर्पणाऽप-
तर्पणरूपाश्च तेऽतिरिच्यन्ते । सन्तर्पणरूपत्वमपतर्पणरूपत्वं वा वर्जयित्वा न तेषा-
मुपक्रमाणां रूपान्तरं सम्भवतीत्यर्थः । कथमिव नाऽतिरिच्यन्त इत्याह—भिन्ना
अपि गदा इव । यथा वातादिदोषवशाच्चानाविधा अपि ज्वरादयो बृंहणलङ्घन-
साध्यत्वं सामत्वं निरामत्वं वा नातिवर्तन्ते तथोपक्रमा अपीति ।

इति श्रीमृगाङ्कदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टाङ्गहृदयटीकायां सर्वाङ्ग-
सुन्दराख्यायां द्विविधोपक्रमणीयो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

पंचदशोऽध्यायः ।

द्विविधोपक्रमणीयाध्यायादनन्तरं शोधनादिगणसङ्ग्रहाध्यायारम्भः । यतो
दोषोपक्रमणीये द्विविधोपक्रमणीये च नानाविधा उपक्रमा अभिहितास्ते च मदन-
मधुकादिभेषजाश्रया अतस्तानि शोधनान्युपयोगीनि सर्वोपक्रमाधिकारीणि सज्जि-
घृत्तुरध्यायमिममारेभे ।

अथाऽतः शोधनादिगणसङ्ग्रहमध्यायं व्याख्यास्यामः ।

शोधनं शोधनरूपो द्रव्यगण आदिर्येषां त एवम् । आदिशब्देन वातहरादि-
गणपरिग्रहः । तेषां सङ्ग्रहो यस्मिन्नध्याये स शोधनादिगणसङ्ग्रहस्तं शोधनादि-

मौ० टि०—१. चरकस्तु षड्विधानुपक्रमोनाह । यथा—‘लङ्घनं बृंहणं काले
रूक्षणं नेहनं तथा । खेदनं स्तम्भनं चैव जानीते यः स वै भिषक्’ । (च०सू०२२अ०)

गणसङ्ग्रहसंज्ञमध्यायं व्याख्यास्यामः । गणः समूहः । विज्ञिप्तानां पदार्थाना-
मेकत्र राशीकरणं सङ्ग्रहः । तत्र शोधनगणस्य सर्वदोषविजयत्वेन प्राधान्यात्पूर्व-
मुपन्यासः ।

शोधनं च चतुर्विधम् । वमनविरेचनास्थापनशिरोविरेचनद्रव्यभेदेन । तत्रापि
वमनस्यौषधगणं तावत्पूर्वं वक्ति-

मदनमधुकलम्बानिम्बबिम्बीविशाला

त्रपुसकुटजमूर्वादिवदालीकृमिघ्नम् ।

विदुलदहनचित्राः कोशवत्यौ करञ्जः

कणलवणवचैलासर्षपाश्छर्दनानि ॥ १ ॥

मदनं रावः । मधुकं मधुयष्टिका । लम्बा तुम्बी दीर्घतिक्ताऽलाबुसंज्ञा ।
निम्बः पिचुमन्दः । बिम्बी गोहृला ओष्ठोपमफलसंज्ञा । विशाला इन्द्रवारुणी ।
त्रपुसं तिक्तत्रपु संवेद्यम् । तस्य वमने योग्यत्वात् । कुटजं वत्सकम् । मूर्वा पी-
लुवर्णा । देवदाली घरङ्गरा । कृमिघ्नं विडङ्गम् । विदुलो जलवेतसः । दहन-
श्चित्रकः । चित्रा मूषिकपर्णा । कोशवत्यौ घण्टालिकैका धामार्गवो, द्वितीया
राजकोशातकी । करञ्जो नक्तमालम् । कणः पिप्पली । लवणं सैन्धवम् । वचा
गोलोमी । एला त्रुटिः । सर्षपो रक्षोघ्नः । एतानि मदनादीनि छर्दनानि छर्दि-
कृन्ति छर्दिकराणि । अत्र मदनविशालात्रपुसकुटजविडङ्गैलासर्षपाणां फलानि
वमनकृन्ति । मधुकविदुलचित्रकदन्तीवचानां तु मूलानि । रोध्रसुवर्णक्षीरीक-
म्पिल्लानां त्वचो रेचनाः । शेषाणां फलपत्रपुष्पाणीति । “वसुमुनिविरतिश्चेन्मा-
लिनी नौ मयौ यः” ।

निकुम्भकुम्भत्रिफलागवाक्षीस्तुक्शङ्खिनीनीलिनितिल्वकानि ।

शम्याककम्पिल्लकहेमदुग्धा दुग्धं च मूत्रं च विरेचनानि ॥ २ ॥

निकुम्भो दन्ती । कुम्भस्त्रिवृत् । त्रिफला वरा । गवाक्षी विशाला द्विती-
येन्द्रवारुणी । तुग्गुडा । शङ्खिनी यवतिक्ता । नीलिनी नीलपुष्पा भारवाही-
संज्ञा । तिल्वको रोध्रः । शम्याकः कर्णिकारः । कम्पिल्लको रज्जनकः । हेम-
दुग्धा कनकक्षीरी । दुग्धं क्षीरम् । मूत्रं प्रसिद्धम् । निकुम्भादीन्येतानि विरे-
चनानि । उपजातिर्वृत्तम् ।

मदनकुटजकुष्ठदेवदालीमधुकवचादशमूलदारुरास्त्राः ।

यवमिसिक्तवेधनं कुलत्थो मधु लवणं त्रिवृता निरुहणानि ॥ ३ ॥

मदनं मदनफलम् । कुटजं वत्सत्वक् । कुष्ठं गदनाम् । दारु देवदारु । रास्त्रा
युक्तरसा । मिसिः शतपुष्पा । कृतवेधनं धामार्गवः । निरुहणानि निरुहणसाध-
नानि । “भवति जगति नौ ततः परौ यौ नजसहितैर्जरगैश्च पुष्पिताग्रा” ।

वेल्लाऽपामार्गव्योषदावीं सुराला बीजं शैरीषं बाहर्तं शैग्रवं च ।

सारो माधूकः सैन्धवं तार्क्ष्यशैलं त्रुट्यौ पृथ्वीका शोधयन्त्युत्तमाङ्गम् ॥ ३॥

वेङ्गो विडङ्गः । अपामार्गः प्रत्यक्पुष्पी । व्योषं त्रिकटुकम् । दावीं पीतद्रुः । सुराला श्रेष्ठसर्जरसः । शिरीषबीजं शैरीषम् । बृहत्या बीजं बार्हतम् । शिग्रोबीजं शैग्रवम् । सारो माधूको मधुपुष्पसारः । सैन्धवं सिन्धून्धम् । तार्क्ष्यशैलं शुष्कर-
साञ्जनम् । त्रुट्यौ सूक्ष्मैला स्थूलैला च । पृथ्वीका हिङ्गुपत्री । एतान्युत्तमाङ्गं
शोधयन्ति । मूर्धविरेचनानीत्यर्थः । “ मौ यौ पञ्चाश्वैध्वदेवीति नाम्ना ” ।

भद्रदारु नतं कुष्ठं दशमूलं बलाद्वयम् ।

वायुं वीरतरादिश्च विदार्यादिश्च नाशयेत् ॥ ५ ॥

भद्रदारु द्रुकिलिमम् । नतं तगरम् । कुष्ठं गदः । दशमूलं द्विपञ्चमूलम् । बला-
द्वयं बलाऽतिबला च । एतानि भद्रदार्वादीनि तथा वक्ष्यमाणो वीरतरादिर्विदार्या-
दिश्च गणो वायुं नाशयति ।

दूर्वाऽनन्ता निम्बवासाऽऽत्मगुप्ता गुन्द्राऽभीरुः शीतपाकी प्रियङ्गुः ।

न्यग्रोधादिः पद्मकादिः स्थिरे द्वे पद्मं वन्यं सारिवादिश्च पित्तम् ॥ ६ ॥

दूर्वा शाद्वलम् । अनन्ता यवासः । निम्बः प्रसिद्धः । वासा आटरूषकः ।
आत्मगुप्ता कपिकच्छुः । गुन्द्रा पदएरकः । अभीरुः शतावरी । शीतपाकी शिख-
रिडका काकणन्तिकाभेदः । प्रियङ्गुः श्यामा । एष दूर्वादिगणस्तथा वक्ष्यमाणो
न्यग्रोधादिस्तथा पद्मकादिर्गणस्तथा शालिपर्णापृश्निपर्यौ । तथा पद्मं जलजं, वन्यं
कुटन्नटं, सारिवादिश्च गणः । एतं पित्तं नाशयन्ति । ‘ मत्तौ तो गौ चेच्छालिनी
वेदलोकैः ’ ।

आरग्वधादिरर्कादिर्मुष्ककाद्योऽसनादिकः ।

सुरसादिः समुस्तादिर्वत्सकादिर्वलासजित् ॥ ७ ॥

आरग्वधाद्यादयो गणाः सप्तैते बलासं श्लेष्माणं जयन्ति ।

जीवन्ती काकोल्यौ मेदे द्वे मुद्गमाषपर्यौ च ।

ऋषभकजीवकमधुकं चेति गणो जीवनीयाख्यः ॥ ८ ॥

जीवन्त्यादिर्गणो जीवनीयसंज्ञः । उदाहरणमात्रं चेदम् । धूमिता स्वादुशीत-
स्निग्धादीन् जीवन्त्यादिषु साधारणगुणानालोच्य क्षीरेक्षुद्राक्षाऽक्षोडविदार्यादिषु
तद्गुणेषु जीवनीयादित्वमवधारयितुं युक्तमिति । जीवन्ती जीववर्धना । काकोल्यौ
द्वे एका काकोली कवडीसंज्ञा । अन्या क्षीरकाकोली पयस्विनीसंज्ञा । द्वे मेदे एका
मेदा मणिच्छिद्रसंज्ञा । अन्या महामेदा वृक्षसहासंज्ञा । मुद्गपर्यादीनां प्रागुक्तानि
नामानि । “ द्व्यन्तान्तरादिगुरुभिः सोदधिलैः सप्तभिर्गणैर्गुरुणा । आर्याधे नाऽत्रा-
युजि जः षष्ठोऽयं नलघुकौ वा ” ।

विदारिपञ्चाङ्गुलवृश्चिकाली वृश्चीवदेवाह्वयशूर्पपर्यः ।



कण्डूकरी जीवनह्रस्वसंज्ञे द्वे पञ्चके गोपसुता त्रिपादी ॥ ६ ॥

विदार्यादिरयं हृद्यो बृंहणो वातपित्तहा ।

शोषगुल्माऽङ्गमदोर्ध्वश्वासकासहरो गणः ॥ १० ॥

विदारी वृष्यकन्दा । पञ्चाङ्गुल एरण्डः । वृश्चिकाल्युष्ट्रधूमको मेषशृङ्गी । वृश्चीवः क्षुद्रवर्षाभूः । देवाह्वयः सुरदारुः । देवाद्वयेति पाठे एका सहदेवा द्वितीया विश्वदेवा चेति देवाद्वयम् । शूर्पपर्णी मुद्रपर्णी तथा माषपर्णी च । कण्डूकरी कपिकच्छूः । जीवनेत्यादि । “अभीरुवीराजीवन्तीजीवकर्षभकैः स्मृतम् । जीवनाख्यमिति” जीवनसंज्ञं पञ्चमूलम् । बृहती कण्टकारिका शालिपर्णी पृश्निपर्णी गोक्षुरकमिति ह्रस्वसंज्ञं पञ्चमूलम् । गोपसुता सारिवा । त्रिपादी हंसपादी कीटमारिकाख्या । ‘उपजातिवृत्तम्’ । एष विदार्यादिगणो बृंहणो वातपित्तघ्नः शोषादिहरश्च ।

सारिवोशीरकाश्मर्यमधूकशिशिरयम् ।

यष्टी परूषकं हन्ति दाहपित्ताऽस्त्रतृड्ज्वरान् ॥ ११ ॥

सारिवोष्णवल्ली । उशीरं वीरतरुः । काश्मर्यः सर्वतोभद्रा । मधूको गुड-पुष्पकः । शिशिरद्वयमेकं सितं चन्दनं मलयजसंज्ञमन्यद्रक्तचन्दनसंज्ञम् । यष्टी क्लीतकसंज्ञा । परूषकं मृदुफलम् । सारिवादिरयं दाहादीन् हन्ति ।

पद्मकपुराड्भौ वृद्धितुगर्द्धयः शृङ्गयमृता दश जीवनसंज्ञाः ।

स्तन्यकरा घ्नन्तीरणपित्तं प्रीणनजीवनबृंहणवृष्याः ॥ १२ ॥

पद्मकं हेमपद्मम् । पुराड्भौ प्रपौराडरीकम् । वृद्धिः श्रावणी । तुगा तुगाक्षोरी । शृङ्गिर्महाश्रावणी । शृङ्गी कुलीरशृङ्गी । अमृता क्षिन्नरुहा । दश जीवनसंज्ञा जीवन्त्यादिगणोक्ताः । एते पद्मकादयः स्तन्यहेतवः । तथा वातपित्तं घ्नन्ति । तथा प्रीणनादियुक्ताः । “अष्टाभ्यौ भाद्रौ योज्यावुपचित्रा ।”

परूषकं वरा द्राक्षा कट्फलं कतकात्फलम् ।

राजाहं दाडिमं शाकं तृणमूत्रामयवातजित् ॥ १३ ॥

परूषको मृदुफलो बन्धनच्छदः । वरा श्रेष्ठा । द्राक्षा मधुफला । कट्फलं रोहिणी सोमवल्लः । कतकफलं वारिप्रसादनम् । राजाहं कर्णिकारम् । दाडिमं शुकेष्टम् । शाकं खरच्छदं वृक्षविशेषः । परूषकादिरेष तृडामयादिजित् ।

अञ्जनं फलिनी मांसी पद्मोत्पलरसाञ्जनम् ।

सैलामधुकरनागाहं विषान्तर्दाहपित्तनुत् ॥ १४ ॥

अञ्जनं द्विधा । एकं स्रोतोञ्जनं यामुनसंज्ञमपरं सौवीराञ्जनं नेत्रभूषणाख्यम् । फलिनी प्रियङ्गुः । मांसी कृष्णजटा । पद्मं पुष्करम् । उत्पलं शशिप्रियम् । रसाञ्जनं तार्क्ष्यशैलम् । एला बहुला प्रसिद्धा । मधुकं मधुयष्टी । नागाहं नागकेसरम् । एषोऽञ्जनादिर्विषादिजित् ।

पटोलकटुरोहिणी चन्दनं मधुस्रवगुडचिपाठान्वितम् ।

निहन्ति कफपित्तकुष्ठज्वरान् विषं वमिमरोचकं कामलाम् । १५
पटोलं पारङ्गुफलम् । कटुरोहिणी कटुकी । चन्दनं गन्धसारम् । मधुस्रवा
मरुद्दी सुरङ्गी । गुडूची छिन्नरुहा । पाठाऽम्बष्टा । एतैर्द्रव्यैर्युक्तमेतत् । पटोलादिकं
कफादीन् हन्ति । “ मात्रासमकं नवमोलगन्तम् । ”

गुडूचीपद्मकारिष्ठधानका रक्तचन्दनम् ।

पित्तश्लेष्मज्वरच्छर्दिदाहवृष्णाघ्नमग्निकृत् ॥ १६ ॥

गुडूची छिन्नोद्भवा । पद्मको मरुद्भवः । अरिष्ठो निम्बः । धानका धान्याकम् ।
रक्तचन्दनं रक्तकाष्ठम् । एष गुडूच्यादिः पितादीन् हन्ति ।

आरग्वधेन्द्रयवपाटलिकाकतिक्ला निम्बाऽमृतामधुरसान्ध्रवृक्षपाठाः ।
भूनिम्बसैर्यकपटोलकरञ्जयुग्मं सप्तच्छदाग्निसुषवीफलबाणघोरटाः ॥

आरग्वधादिर्जयति च्छर्दिकुष्ठविषज्वरान् ।

कफं कण्डूं प्रमेहं च दुष्टव्रणविशोधनः ॥ १८ ॥

आरग्वधः शम्याकः । इन्द्रयवाः कलिङ्गकाः । पाटलिर्वसन्तदूती । कातिक्ला
शाङ्गैश्च । निम्बः पारिभद्रकः । अमृता गुडूची । मधुरसा मूर्वा । स्रववृक्षो विकङ्कतः
कण्टकीवृक्षः कण्टकारिकेति प्रसिद्धः । पाठाऽम्बष्टा । भूनिम्बः कैरातः । सैर्यकः
सहचरः । पटोलं कर्कशच्छदम् । करञ्जयुग्ममेकः पूतिककरञ्जश्चिरबिल्वाख्योऽपरो
नक्तमालाख्यः । सप्तच्छदोऽयुग्मच्छदः । अग्निश्चित्रकः । सुषवी कारवी पानीयवल्ली
अजशृङ्गी । फलं मदनफलम् । बाणः सहचरः । घोरटा पूगविशेषः । अयमार-
ग्वधादिश्छर्द्यादीन्निहन्ति । ‘वसन्ततिलका वृत्तम्’ ।

असनतिनिशभूर्जश्वेतवाहप्रकीर्याः

खदिरकदरभण्डीशिशपामेषशृङ्गयः ।

त्रिहिमतलपलाशा जोङ्गकः शाकशालौ

क्रमुकधवकुलिङ्गच्छागकर्णाश्वकर्णाः ॥ १९ ॥

असनादिर्विजयते श्वित्रकुष्ठकफकिर्मिन् ।

पारङ्गुरोगं प्रमेहं च भेदोदोषनिवर्हणः ॥ २० ॥

असनः पीतशालाख्यः । तिनिशः स्यन्दनसंज्ञः । भूर्जो बहुप्रुटाख्यः । श्वेत-
वाहोऽर्जुनः । प्रकीर्यः पूतिकरञ्जः । खदिरो गायत्री । कदरः खदिराकृतिः श्वेतसारः ।
भण्डी शिरीषः । शिशपा मण्डलपत्रिका । मेषशृङ्गयजशृङ्गी । त्रिहिमं चन्दन-
त्रयं मलयजरक्तचन्दनदारुहरिद्राभेदेन । तलस्तालः । पलाशः किंशुकः । जोङ्ग-
कोऽगुरुसंज्ञः । शाकं वरदारु । शालो रसनिर्यासाख्यः । क्रमुकं पूगम् । धवः
शकटाख्यः । कलिङ्गं शकयवाः । छागकर्णो बस्तकर्णः । अश्वकर्णः कुशिकः ।
‘मालिनी वृत्तम्’ । अयमसनादिः श्वित्रादीन् विजयते शमयति । ‘विजयत इति
‘विपराभ्यां जेरित्यात्मनेपदम्’ । तथा भेदोदोषं निवर्हति परापकरोति ।

वरणसैर्यकयुग्मशतावरी दहनमोरटबिल्वविषाणिकाः ।

द्विवृहतीद्विकरञ्जजयाद्वयं बहलपल्लवदर्भरुजाकराः ॥ २१ ॥

वरणादिः कफं मेदो मन्दाग्नित्वं नियच्छति ।

अधोवातं शिरःशूलं गुल्मं चान्तःसविद्रधिम् ॥ २२ ॥

वरणो रुमालः । सैर्यकयुग्मं सहचरद्वयमेको रक्तपुष्पः कुरबकाख्योऽन्यः पीत-
पुष्पः कुरण्टकाख्यः । शतावरी वरी । दहनो वह्निः । मोरटो मूर्वा । बिल्वः
पूतिवातः । विषाणिकाऽजशृङ्गी । द्विवृहल्यौ कण्टकारिकामोटिकाऽख्ये । करञ्ज-
युग्मं प्रागुक्तम् । तर्कारी हरीतकी चेति जयाद्वयम् । बहलपल्लवः शोभाञ्जनः ।
दर्भाः कुशाः । रुजाकरो हितालुः । “द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ” । वरणादिरयं
कफादीन् हन्ति ।

ऊषकस्तुत्थकं हिङ्गु कासीसद्वयसैन्धवम् ।

सशिलाजतु कृच्छ्राश्मगुल्ममेदःकफापहम् ॥ २३ ॥

ऊषको वृष्यकः कल्लर इति प्रसिद्धः । तुत्थकं कार्पूरं किटिहापरसंज्ञम् । हिङ्गु
रामठम् । कासीसद्वयमेकं पांशुधातुसंज्ञमपरं पुष्पकासीसाख्यम् । सैन्धवं माणि-
मन्थम् । शिलाजतु शिलाजम् । ऊषकादिरयं मूत्रकृच्छ्रादीन्पहन्ति ।

वेल्लन्तरारणिकवूकवृषाऽश्मभेदगोकण्टकेत्कटसहाचरबाणकाशाः ।

वृक्षादनीनलकुशद्वयगुण्टगुन्द्रा भल्लूकमोरटकुरण्टकरम्भपार्थाः ॥ २४ ॥

वर्गो वीरतराद्योऽयं हन्ति वातकृतान् गदान् ।

अश्मरीशर्करामूत्रकृच्छ्राऽघातरुजाहरः ॥ २५ ॥

वेल्लन्तरो वीरतर उशीराख्यः । अरणिकोऽग्निमन्थः । वूक ईश्वरमल्लिका ।
वृष आटरूषकः । अश्मभेदः पाषाणभेदः । गोकण्टको गोज्जरकः । इत्कटा सूक्ष्म-
पत्रिका दीर्घलोहितयष्टिका काष्ठविशेषः । सहाचरः सहचरः । बाणो नीलपुष्प-
सैर्यकः । काशः श्वेतचामरकः । वृक्षादनी कामवृक्षकः । नलो मृन्युपुष्पाख्यः ।
कुशद्वयं स्थूलसूक्ष्मभेदेन दर्भद्वयम् । गुण्टो वृन्ततृणम् । कुन्द्रगुण्टकापरसंज्ञः । गुन्द्रा
पदण्डकः । भल्लूकः श्योनाकः । मोरटः क्षीरमोरटः । कुरण्टः सितिवारकः । करम्भ
उत्तमारणि । पार्था सुवर्चला । ‘वसन्ततिलका वृत्तम्’ । एष वीरतरादिर्वर्गो गणो वात-
जान् रोगान् हन्ति तथाऽश्मर्यादिहरः ।

रोध्रशावरकरोध्रपलाशा जिङ्गिणीसरलकदफल्युक्ताः ।

कुत्सिताम्बकदलीगतशोकाः सैलवालुपरिपेलवमोचाः ॥ २६ ॥

एष रोध्राधिको नाम मेदःकफहरो गणः ।

योनिदोषहरः स्तम्भी वर्यो विषविनाशनः ॥ २७ ॥

रोध्रस्तिल्बकः । शावरकरोध्रोऽन्निभेषजापरसंज्ञः । पलाशः शठी । जिङ्गिणी
जिङ्गिणी कृष्णशाल्मली । सरलं देवदारु । कदफलं कुमुदारोहिणी । युक्ता रक्षा

गिरिकर्णिकेत्यन्ये । कुरिसताम्बः कदम्बः । कदली रम्भा । गतशोकोऽशोकः । एल-
वालु ऐलेयम् । परिपेलवं कुटन्नटं गोपालदमनकारुयम् । मोचा शल्लकी । 'स्वागता
वृत्तम्' । अयं रोध्रादिको गणो भेदः कफापहो योनिदोषघ्नश्च । तथा स्तम्भी
दोषाणां शकृदादेश्च । तथा वर्णाय हितो विषघ्नश्च ।

अर्काऽलर्का नागदन्ती विशल्या भार्गी रास्ना वृश्चिकाली प्रकीर्या ।

प्रत्यक्पुष्पी पीततैलोदकीर्या श्वेतायुग्मं तापसानां च वृक्षः ॥ २८ ॥

अयमर्कादिको वर्गः कफभेदोविषापहः ।

कृष्णकुष्ठप्रशमनो विशेषाद् व्रणशोधनः ॥ २९ ॥

अर्कः सदापुष्पीः । अलर्को मन्दारकारुयः श्वेतकुसुमः । नागदन्ती पर्व-
पुष्पिका । विशल्या लाङ्गली । भार्गी फज्जी । रास्ना रस्या । वृश्चिकाल्युष्ट्रधूमकः ।
प्रकीर्या करञ्जकः । प्रत्यक्पुष्पी अपामार्गः । पीततैला काकादनी । उदकीर्या कर-
ञ्जकः । श्वेतायुग्ममेका किण्विहंसज्ञाऽन्या महाश्वेता पालिन्दीसंज्ञा । तापसानां
वृक्ष इङ्गुदी । 'शालिनी वृत्तम्' । एषोऽर्कादिवर्गः । कफादिघ्नोऽतिशयेन व्रणशोधनः ।

सुरसयुगफणिज्जं कालमाला विडङ्गं

खरबुसवृषकर्णिकटफलं कासमर्दः ।

क्षवकसरसिभार्गी कामुका काकमाची

कुलहलविषमुष्टी भूस्तृणो भूतकेशी ॥ ३० ॥

सुरसादिगणः श्लेष्मभेदः कृमिनिषूदनः ।

प्रतिश्यायाऽरुचिश्वासकासघ्नो व्रणशोधनः ॥ ३१ ॥

सुरसयुगं तुलसीद्वयं गौरकृष्णभेदेन । फणिज्जो मरीचकः । कालमाला कृष्णार्जकः
कुबेरकभेदः । विडङ्गं वेल्लम् । खरबुसो मरुबकः । वृषकर्णी मूषिकपर्णी । कट्-
फलं सोमवल्कम् । कासमर्दः कासघ्नः । क्षवकः क्षुब्धिबोधनः । सरसी तुम्बर-
पत्रिका । भार्गी अङ्गारवल्ली । कामुका रक्तमञ्जरी । अतिमुक्तक इत्यन्ये । काक-
माची गुडफला । कुलहलो भूकदम्बकोऽलम्बुषाइत्ययः । विषमुष्टिः कुचिला । महा-
निम्बक इत्येके । भूस्तृणं गुह्यबीजमतिच्छत्राख्यम् । भूतकेशी मांसीपुत्रचारा ।
'मालिनी वृत्तम्' । सुरसादिरयं गणः श्लेष्मादिघ्नः प्रतिश्यायादिहरो व्रणशुद्धि-
कृत् ।

मुष्ककस्तुग्वराद्वीपिपलाशधवशिशपाः ।

गुल्ममेहाश्मरीपाण्डुभेदोऽर्शः कफशुक्रजित् ॥ ३२ ॥

मुष्कको मोक्षकः । स्तुग् गुडा उपकारण्डः । वरादीनां प्रोक्तानि नामानि ।
मुष्कादिरेष गुल्मादिजित् ।

वत्सकमूर्वाभार्गी कटुका मरिचं घुणप्रिया च गरडीरम् ।

एला पाठाऽजाजी कट्वङ्गफलाऽजमोदसिद्धार्थवचाः ॥ ३३ ॥



जीरकहिङ्गुविडङ्गं पशुगन्धा पञ्चकोलकं हन्ति ।

चलकफमेदःपीनसगुल्मज्वरशूलदुर्नासः ॥ ३४ ॥

वत्सको वनतिक्तकः । मूर्वा मधुरसा । मरिचमूषणम् । घृणप्रियाऽतिविषा । गण्डीरं स्नुही । एला बेला । पाठा प्राचीना । आजाजी जीरकः । कट्वङ्गफल-
मरलुकफलम् । केचित्तु कट्वङ्गं दुग्दुकं फलं राठमित्याहुः । अजमोदो दीप्यकः ।
सिद्धार्थो गौरसर्षपः । वचादीनामुक्तानि नामानि । पशुगन्धाऽजगन्धा मकरन्तराख्या ।
पञ्चकोलकं प्रागुक्तम् । वत्सकादयश्चलादीन् घ्नन्ति । ‘आर्या’ । “गुर्वन्ताष्टपदनन-
भागार्यापूर्वसदृशकलद्वितया । आर्यैरार्यागीतिगीता सङ्गीतगीतविधौ” ।

वचाजलददेवाहनागराऽतिविषाऽभयाः ।

हरिद्राऽययष्ट्याह्वकलशीकुटजोद्भवाः ॥ ३५ ॥

वचाहरिद्रादिगणावामातीसारनाशनौ ।

मेदःकफाढ्यपवनस्तन्यदोषनिबर्हणौ ॥ ३६ ॥

वचा गोलोमी । जलदोऽम्बुधरः । देवाह्वं किलिमम् । नागरं विश्वम् ।
अतिविषा भङ्गुरः । अभया हरीतकी । हरिद्राद्वयं पिण्डा एका पञ्चपञ्चा दर्वी-
संज्ञान्या । यष्ट्याह्वं क्लीतिका । कलशी पृश्निपर्णी । कुटजोद्भवा इन्द्रयवाः । एतौ
वचादिहरिद्रादिगणावामातीसारघ्नौ मेदःकफादिहरौ च ।

प्रियङ्गुपुष्पाञ्जनयुग्मपद्मापद्माद्रजोयौवनवल्लयनन्ता ।

मानद्रुमो मोचरसः समङ्गा पुन्नागशीतं मदनीयहेतुः ॥ ३७ ॥

अम्बष्ठा मधुकं नमस्करी नन्दीवृक्षपलाशकच्छुराः ।

रोध्रं धातकिलिवपेशिके कट्वङ्गः कमलोद्भवं रजः ॥ ३८ ॥

गणौ प्रियङ्ग्वम्बष्ठादी पक्वातीसारनाशनौ ।

सन्धानीयौ हितौ पित्ते व्रणानामपि रोपणौ ॥ ३९ ॥

प्रियङ्गुः श्यामा । पुष्पाञ्जनं रीतिपुष्पम् । युग्मेत्यत्राऽनुवृत्तिकृतेन सम्बन्धना-
ऽञ्जनमिति सम्बध्यते । तेनाऽञ्जनयुग्मं स्रोतोञ्जनमेकमन्यस्तौवीरमित्यर्थोऽवतिष्ठते
पद्मा पद्मचारिणी । पद्मात् कमलाद्रजः केसरम् । यौवनवल्लौ मञ्जिष्ठा । अनन्ता
यवासकः । मानद्रुमः शाल्मली । मोचरसः शाल्मलीनिर्यासः । समङ्गा नमस्करी
रक्तमूलारुपा । पुन्नागस्तुङ्गो रक्तकेसराख्यः । शीतं चन्दनम् । मदनीयहेतुर्धातुकी ।
‘उपजातिवृत्तम्’ । अम्बष्ठा मथूरशिखाख्या । मधुकं मधुयष्टिका । नमस्करी
समङ्गा । नन्दीवृक्षः प्रोही । पलाशः प्रसिद्धः । कच्छुरा फणिहारी धन्वयवास-
काख्यः । बिल्वपेशिका बिल्वमञ्जा । कट्वङ्गः स्योनाकः । कमलोद्भवं रजः पद्म-
रेणुः । एतौ प्रियङ्ग्वम्बष्ठादिगणौ पक्वातीसारनाशनौ सन्धानीयौ हितौ पित्ते, व्रण-
रोपणौ च । “अष्टाभ्योऽथो गुरावुपचित्रा ।”

मुस्तावचाऽग्निं द्विनिशाद्वितिक्षाभस्मातपाठात्रिफलाविषाख्याः ।

कुष्ठं त्रुटी हैमवती च योनिस्तन्यामयघ्ना मलपाचनाश्च ॥ ४० ॥

मुस्ता गात्रेयी । तिक्ताद्वयमेका कटुकाऽन्या काकतिक्ता । विषाख्या शुक्ल-
कन्दा । हैमवती श्वेतवचा । एते योन्यामयघ्नाः स्तन्यामयघ्ना मलपाचनारच ।
'तौ जगौ गुरुश्चेद्भवतीन्द्रवज्रा ।'

न्यग्रोधपिप्पलसदाफलरोधयुग्मं

जम्बूद्वयाऽर्जुनकपीतनसोमवल्काः ।

सत्ताऽम्रवञ्जुलपियालपलाशनन्दी-

कोलीकदम्बविरलामधुकं मधूकम् ॥ ४१ ॥

न्यग्रोधादिर्गणो व्रणयः सङ्ग्राही भग्नसाधनः ।

मेदःपित्तास्रतृड्दाहयोनिरोगनिर्बह्णः ॥ ४२ ॥

न्यग्रोधो वटवृक्षः । पिप्पलोऽश्वत्थः । सदाफल उदुम्बरः । जम्बूद्वयमेका
राजजम्बूवृहत्फलाऽन्या ह्रस्वफला काकजम्बूः । अर्जुनः पार्थः । कपीतनः कपि-
चूडो वानीराख्यः । सोमवल्कः सितसारः खदिरः । प्लक्षः शृङ्गीप्लक्षकाख्यः ।
आम्रश्चूतः । वञ्जुलो वेतसः । पियालो द्राक्षारसप्रियः खरस्कन्धाख्यः । नन्दी
जयवृक्षः । कोली बदरी । विरला तिन्दुकी । मधुकं यष्टिः । मधूकं मधूकपुष्पम् ।
न्यग्रोधादिरयं सङ्ग्रहणादियुक्तः । 'वसन्ततिलकम्' ।

एलायुग्मतुरुष्ककुष्ठफलिनीमांसीजलध्यामकं

स्पृक्काचौरकचोचपत्रतगरस्थौण्यजातीरसाः ।

शुक्निर्व्याघ्रनखोऽमराह्वमगुरुः श्रीवासकं कुङ्कुमं

चण्डागुग्गुलुदेवधूपखपुराः पुन्नागनागाह्वयम् ॥ ४३ ॥

एलादिको वातकफौ विषं च विनियच्छति ।

वर्णप्रसादनः कण्डूपिटिकाकोठनाशनः ॥ ४४ ॥

एलायुग्मं सूक्ष्मैला स्थूलैला च । तुरुष्कः कृत्रिमो निर्यासविशेषः । कुष्ठं
गदः । फलिनी गन्धप्रियङ्गुः । मांसी नलदम् । जलं हीवेरं । ध्यामकं दव-
दग्धकम् । स्पृक्का देवी । चौरको ग्रन्थिपर्णा । चोचं त्वक् । पत्रं गन्धपत्रम् ।
तगरं चक्रम् । स्थौण्यं तैलपीतकम् । जातीरसो बोलः । शुक्निर्नखः । व्याघ्रनखः
समुद्रजः । अमराहं देवदारु । अगुरुः प्रसिद्धः । श्रीवासश्चण्डा श्रीवेष्टकाख्यः ।
कुङ्कुमं वाह्लीकम् । चण्डा कोपना । गुग्गुलुः पुरः । देवधूपः सर्जरसः । खपुरः
कुन्दुरुकः । पुन्नागो रक्तकेसरः । नागाह्वयं नागकेसरम् । एलादिरयं वातादीन्
हन्ति । तथा वर्णप्रसन्नत्वकृत्, कण्डूवादिहृत्च । " मसौजसौतौ गुरुकं च सूर्य-
तुरगैः शार्दूलविक्रीडितम् । "

श्यामा दन्ती द्रवन्ती क्रमुककुटरणी शङ्खिनी चर्मसाह्वा

स्वर्णक्षीरी गवाक्षी शिखरिरजनकच्छिन्नरोहाकरजाः ।



वस्तान्त्री व्याधिघातो बहलबहुरसस्तीक्ष्णवृक्षात् फलानि
श्यामाद्यो हन्ति गुल्मं विषमरुचिकफौ हृद्रुजं मूत्रकृच्छ्रम् ॥ ४५ ॥

श्यामा मालविका त्रिवृद् मसूरविदलाख्या । दन्ती मुकूलकश्चित्राख्यः । द्व-
न्ती उन्दुरकर्णिका । कमुकः पट्टिकारोधः । कुटरणी शुक्ला त्रिवृत् । शंखिनी
यवतिक्ता । चर्मसाह्या सातला । ब्राह्मीत्यन्ये । स्वर्णक्षीरी पीतधत्तूरः । गवाक्षी
गवादनी स्थाणुकर्णसिंहा । इन्द्रवारुणीत्यन्ये । शिखरी अपामार्गः । रजनकः
कम्पिल्लकः । छिन्नरोहाऽमृतवल्ली । करञ्जः कैडर्यः । वस्तान्त्री वृषगन्धा । व्याधि-
घातः कृतमालः । बहलबहुरस इक्षुः । तीक्ष्णवृक्षात् पीलोः फलानि । श्यामादि-
रूपे गुल्मादीन् हन्ति—“भ्रौ भ्रौ याश्च त्रयः स्युः स्वरमुनितुरगैः स्रग्धरा स्याद्विरामैः” ।

त्रयस्त्रिंशदिति प्रोक्ता वर्गास्तेषु त्वलाभतः ।

युञ्ज्यात्तद्विधमन्यच्च द्रव्यं जह्यादयौगिकम् ॥ ४६ ॥

इति प्रकारे । त्रयस्त्रिंशदिति वर्गाः कथिताः । अत्र सङ्ख्योपादानमेषां प्राधा-
न्यख्यापनार्थम् । अन्येऽप्येवं प्रकाराः सन्ति, एते तु प्रधाना इत्यर्थः । सुखग्रहणार्थं
वा सङ्ख्यावचनं कृतम् । एतेषु त्रयस्त्रिंशत्सु वर्गेष्वलाभतोऽलाभे सति तद्विधं रस-
वीर्यपाकैस्तुल्यं द्रव्यमन्यदनुक्तमपि युञ्ज्यात् । नचैतावदत्र विधेयमित्याह ।
जह्यादयौगिकम् । न केवलमेषु वर्गेषु तद्द्रव्यालाभे यथालाभमन्यत्तद्विधं द्रव्यं
तच्च त्यजेत् । दोषरोगातुराद्यपेक्षया पुरुषस्यास्मिन् काले वयसि वा यो गणः समस्त-
त्साध्यामयशमनाय (अनागतरोगं) च वारयितुं युक्तः । एकस्य द्रव्यस्याऽलाभे द्वयोर्बहूनां
वा तत्प्रकारमेकमपरं द्रव्यं द्वे वा बहूनि वा द्रव्याणि संयोज्य प्रयोज्यः । एवं न
समस्तद्रव्यापेक्षया कार्येति । यथा च सुश्रुतः—“ समीक्ष्य दोषभेदांश्च गणान्
भिन्नान् प्रयोजयेत् । पृथङ्मिश्रान् समस्तांश्च गणान् वा व्यस्तसंहतानिति ।”
“ त्रयस्त्रिंशदिति त्रेख्यश्चेति त्रयसादेशः । यौगिकमिति योगाय प्रभवतीत्यर्थे
योगाद्यच्चेति ठञ् ।”

एते वर्गा दोषदूष्याद्यपेक्ष्य कल्ककाथस्नेहलेहादियुक्ताः ।

पाने नस्येऽन्वासनेऽन्तर्बहिर्वा लेपाभ्यङ्गैर्घ्नन्ति रोगान् सुकृच्छ्रान्

एते पूर्वोक्ता वर्गा दोषदूष्यवयोबलादीनपेक्ष्य कल्कादियुक्ताः सुकृच्छ्रान् रोग ना-
मयान् घ्नन्ति । ‘ युक्ता इत्यत्राऽन्तर्भावितरथार्थो युजिः ’ । ततः कल्कादिषु वैधेन
योजिता इत्यर्थोऽवतिष्ठते । आदिशब्देन फाण्टशीतकषायादिपरिग्रहः । कथमेते
घ्नन्तीति प्रकारं युक्त्याऽऽह । पाने इत्यादि । पानाद्युपयोगे सति । लेपाभ्यङ्गैरिति
बहुवचनेन लेपाभ्यङ्गस्नानादिभिधेति योज्यम् । ‘ मालिनी वृत्तम् ’ ।

इति श्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टाङ्गहृदयटीकायां सर्वाङ्गसुन्दराख्यायां पञ्च-
दशोऽध्यायः ॥ १५ ॥



षोडशोऽध्यायः ।

शोधनीदिगुणसङ्ग्रहाऽध्यायादनन्तरं स्नेहाध्यायारम्भः । यतः शोधनं स्नेह-
स्वेदावन्तरेण न सम्भवति । वक्ष्यति हि 'स्नेहस्वेदावनभ्यस्येत्यादि' । तस्मात्स्नेह-
स्वेदाध्याययोरारम्भो युक्त इत्याह-

अथाऽतः स्नेहविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ।

स्नेहस्य सर्पिरादेर्विधिः स्नेहविधिस्तं व्याख्यास्यामः । शेषं पूर्ववद्योज्यम् ।

गुरुशीतसरस्निग्धमन्दसूक्ष्ममृदुद्रवम् ।

औषधं स्नेहनं प्रायो विपरीतं विरुद्धणम् ॥ १ ॥

गुर्वादिगुणयुक्तं यद्द्रव्यं तत् स्नेहनं भवति । विपरीतमतो यल्लघूष्णस्थिर-
रुक्षतीक्ष्णस्थूलकठिनसान्द्रगुणोपेतं तद्विरुद्धणम् । प्रायोऽग्रहणं विरुद्धणे स्नेहने
च योज्यम् । तथा च लघ्वपि सार्षपं तैलं छागं च दुग्धं तथा विष्किरप्रतुदमृगाख्यं
वर्गत्रयं स्नेहनं भवति । तथोष्णमपि मत्स्यमहिषमांसं स्नेहनं भवति । एवं रुक्ष-
णोऽपि वेद्यम् । तथा च यवो गुरुशीतसरादिगुणयुक्तोऽपि विरुद्धणस्तथा राजमाषोऽपि
स्नेहने प्रकृतेऽपि विरुद्धणोपन्यासोऽन्द्रयव्यतिरेकेण सुतरां स्नेहस्य तारतम्यप्रति-
पादनार्थः ।

सर्पिर्मज्जा वसा तैलं स्नेहेषु प्रवरं मतम् ।

तत्राऽपि चोत्तमं सर्पिः संस्कारस्याऽनुवर्तनात् ॥ २ ॥

स्नेहेषु क्षीरानूपाऽमिषादिषु मध्ये सर्पिरादयश्चत्वारः स्नेहाः प्रकर्षेण वराः ।
आशु स्वकार्यकरणात् । तत्रापि च तेष्वपि चतुर्षु मध्ये सर्पिरुत्तमं संस्कारस्याऽनु-
वर्तनात् । ननु यदि संस्कारमनुरुध्यते सर्पिस्तदानीं मरिचचित्रकादिद्रव्यादिभिः
संस्कृतस्य घृतस्य शैत्यादिगुणविपर्यासः प्राप्तः ? न चेदं दृष्टम्, यदस्य शैत्यादयो
गुणा विनश्यन्त्यौष्णवादयश्चोत्पद्यन्ते इति । अत्रोच्यते । अनुशब्दोऽत्र सहार्थः ।
अनेकार्थत्वान्निपातानाम् । तेनायमर्थः । सर्पिषो गुणाः संस्कारगुणैः सह वर्तन्ते
ननु तैलादीनाम् । तैलावसामज्जानो हि संस्कारवशात् स्वगुणांस्त्यजन्ति । अत्र
चोदाहरणं चन्दनाद्यं तैलम् । अतो द्रव्यगुणान्तरैरनभिभूतगुणत्वात्सर्पिष इतरेषां
तैलादीनां द्रव्यैरभिभूतगुणत्वादुत्तमत्वम् । अत एव च वातपित्तज्वरादिषु विकारेषु
घृतसाध्येषु भेषजं तैलं नेष्टमनिष्टसम्पादनात् । तैलसाध्येषु तु विकारेषु तदुप-
शान्त्यर्थं तथाविधद्रव्यसंस्कृतं घृतमपीष्टम् । तद्धि न तथाऽनिष्टहेतुः । तस्मात्सर्व-
स्नेहेभ्यः सर्पिरेवोत्तमम् । संस्कारस्याऽनुवर्तनादिति न्यायाद् न्याय्यमेव । माधुर्या-
दिहेतोश्च ।

पित्तघ्नास्ते यथापूर्वमितरघ्ना यथोत्तरम् ।

यो यः पूर्वो यथापूर्वं यो य उत्तरो यथोत्तरमिति "यथासादृश्य इत्यव्ययी-

भावः” । उत्तरमपेक्ष्य पूर्वः पूर्वं चापेक्ष्योत्तरः । तेन चतुर्णां ज्ञेहानां यथाविहितानां सर्पिरादीनां त्रय एव ज्ञेहा वसामज्जसर्पिःसंज्ञका यथापूर्वत्वेन सम्बध्यन्ते नतु तैलाख्यः ज्ञेहस्तस्य पूर्वत्वाभावात् । न ह्यन्योऽस्मात्कश्चिदुत्तरोऽस्ति यदपेक्ष्यैष पूर्वत्वमात्मन आसादयेत्तस्मान्नास्ति पूर्वत्वसम्बन्धस्तैलस्य । तथा चतुर्णां ज्ञेहानां त्रय एव ज्ञेहा मज्जावसातैलाख्या यथोत्तरत्वेनाऽभिसम्बध्यन्ते न सर्पिःसंज्ञकः ज्ञेह उत्तरत्वाभावात् । न ह्यन्यः कश्चिदस्य पूर्वो विद्यते यदपेक्ष्यैवोत्तरत्वमात्मन आसादयतीत्युक्तम् । तदेवं यथापूर्वं पित्तघ्नत्वं वसामज्जसर्पिषां सामान्येनोक्तम् । विशेषेण च वसा पित्तघ्नी मज्जा पित्तघ्नतरः सर्पिः पित्तघ्नतममित्यर्थः । इतरघ्ना इति । इतरौ वातकफौ पित्तापेक्षया तौ घ्नन्ति पराकुर्वन्तीतीतरघ्नाः । यथोत्तरं त्रयः ज्ञेहा मज्जवसातैलाख्या वातश्लेष्मघ्नाः । तेन मज्जा वातश्लेष्मघ्नो वसा वातश्लेष्मघ्नतरा तैलं वातश्लेष्मघ्नतममिति प्रकृतम् । अन्ये त्वेवं व्याचक्षते । श्लेष्मणि ज्ञेहनिषेधादितरघ्ना इति सामान्योक्तावपि वातघ्ना इति गम्यते । अथवा द्रव्यान्तरसंस्कृतसर्पिराद्यपेक्षया कफस्याऽपीतरशब्देन ग्रहणमिति ।

घृतात्तैलं गुरु वसा तैलान्मज्जा ततोऽपि च ॥ ३ ॥

घृताद्गुरुणः सकाशात्तैलं गुरु गुरुतरमित्यर्थः । वसा तु तैलाद् गुरुतरा ततोऽप्यतिशयेन मज्जा गुरुतमः ।

इदानीं यमकज्ञेहस्त्रिवृतज्ञेहो महाज्ञेह इति तत्रतत्रोच्यते न च ते ज्ञायन्त इत्याह—

द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिस्तैर्यमकस्त्रिवृतो महान् ।

द्वाभ्यां ज्ञेहाभ्यां यमको नात्रा ज्ञेहः । यथा सर्पिर्वसाभ्यां, सर्पिस्तैलाभ्यां, सर्पिर्मज्जाभ्यामित्यादि । एवं त्रिभिः ज्ञेहैस्त्रिवृतश्चतुर्भिर्महाज्ञेह उच्यते इति शेषः ।

सम्प्रति ज्ञेहान्निरूपयति—

स्वेद्यसंशोध्यमद्यस्त्रीसक्तव्यायामासक्त्वचिन्तकाः ॥ ४ ॥

वृद्धबालाऽबलकृशा रूक्षाः क्षीणासूरेतसः ।

वातार्तस्यन्दतिमिरदारुणप्रतिबोधिनः ॥ ५ ॥

ज्ञेह्याः,

स्वेद्यादयः ज्ञेह्याः ज्ञेहार्हाः । न ह्यज्ञेहितः स्वेद्य इत्यर्थः । एवं योऽपि शोध्यः सोऽपि पूर्व ज्ञेह्यः । स्वेदार्हाः स्वेद्याः । ‘अर्हार्थे कृत्यप्रत्ययोऽत्र एयः’ । एवं संशोध्याः शोधनार्हाः । मद्यासक्तस्त्रीसक्तव्यायामासक्ताश्च तथा येऽपि चिन्तकास्तथा वृद्धा बाला अबला अल्पबला इत्यर्थः । तथा कृशा रूक्षाः क्षीणरुधिराः क्षीणशुक्राश्च । वातार्ता वातपीडिताः । आर्तशब्दः स्यन्दादिषु प्रत्येकस्मिन् योज्यः । स्यन्दोऽभिष्यन्दस्तिमिरोऽक्षिरोगः । दारुणप्रतिबोधिनः कुच्छ्रोन्मीलिन इत्यर्थः । एते ज्ञेह्याः स्नेहार्हाः ।

न त्वतिमन्दाऽग्नितीक्ष्णाग्निस्थूलदुर्बलाः ।

ऊरुस्तम्भाऽतिसाराऽऽमगलरोगगरोदरैः ॥ ६ ॥

मूर्च्छाछर्द्यरुचिश्लेष्मतृष्णामद्यैश्च पीडिताः ।

अपप्रसूता युक्ते च नस्ये बस्तौ विरेचने ॥ ७ ॥

अतिमन्दाग्रयादयो न स्नेह्याः । अतिशब्दो यावद्दुर्बलेषु प्रत्येकं योज्यः । तेना-
ऽतिदुर्बला न स्नेह्या इत्यर्थः । अत एवालपबलाः स्नेह्या न त्वतिदुर्बला इति न
पूर्वापरविरोधः । अतितीक्ष्णाग्नेः स्नेहनादत्यग्निवृद्धिः । अतिस्थूलस्य चाऽग्निमेदसो-
वृद्धिः । अतिदुर्बलस्य च जरणाशक्तेः स्नेहस्य व्यापत् । ऊरुस्तम्भादिभिर्यावन्मद्येन
च पीडिता न स्नेह्याः । अत्र शोधनप्रसङ्गे तु स्नेहनं विना शोधनं न कार्यमिति
यावत् । अपप्रसूता स्तनगर्भा न स्नेह्येति लिङ्गवचनविपरिणामः । प्रयुक्ते च नस्या-
दिकर्मणि सर्व एव न स्नेह्याः ।

साम्प्रतं चतुर्णां स्नेहानां मध्ये यो येभ्यो हितस्तं दर्शयन्नाह—

तत्र धीस्मृतिमेधाऽग्निकांक्षिणां शस्यते घृतम् ।

तत्र तेषु स्नेहेषु मध्ये धीस्मृत्याद्यभिलाषिणां घृतं शस्यते यावदग्निकांक्षि-
णाम् । अन्ये तु मेधादिकांक्षिणामिति पठन्ति । आदिशब्देन स्वरायुर्वर्णादिपरिग्रहः ।

ग्रन्थिनाडीकुमिश्लेष्ममेदोमारुतरोगिषु ॥ ८ ॥

तैलं लाघवदार्व्यार्थिकूरकोष्ठेषु देहिषु ।

तैलं ग्रन्थ्यादिरोगिषु शस्यते । लाघवदार्व्यार्थिषु कूरकोष्ठेषु प्राणिषु च शस्यते ।

वाताऽतपाऽध्वभारस्त्रीव्यायामक्षीणधातुषु ॥ ९ ॥

रूक्षक्लेशक्षमाऽत्यग्निवातावृतपथेषु च ।

शेषौ,

वातादीनां क्षीणधातुना प्रत्येकं सम्बन्धः । वातक्षीणधातुषु एवमातपक्षीण-
धातुष्वित्यादि । शेषौ घृततैलाभ्यामुक्ताभ्यामन्यौ वसामज्जानौ शस्येते । तथा रूक्षेषु
क्लेशसहेषु । अत्यग्निषु बलवदग्निष्विति द्रष्टव्यम् । अन्यथाऽत्यग्निषु स्नेहनिषाधा-
त्पूर्वापरविरोधः स्यात् । अथवा । अत्यग्निष्वपि वसामज्जानावनुजज्ञे अपवाद-
वाक्यत्वादस्येति व्याख्येयम् । वातेनाऽऽवृताः पन्थानश्छिद्राख्या येषां तेषु च
शस्येते शेषौ ।

वसायास्त्वन्यदपि विशेषान्तरमाह—

वसा तु संध्यस्थिमर्मकोष्ठरुजासु च ॥ १० ॥

तथा दग्धाऽऽहतभ्रष्टयोनिकर्णशिरोरुजि ।

तुर्विशेषे । चः समुच्चये । रुजाशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते । सन्धिरुजास्वस्थि-
रुजास्वित्यादिषु । तथा दग्धरुज्याहतरुजि तथा भ्रष्टयोनिरुजीत्येवं सम्बन्धः
कार्यः ।

इदानीं कस्मिन्काले कस्य स्नेहस्योपयोगः शस्तः ? इति दर्शयन्नाह—

तैलं प्रावृषि, वर्षान्ते सर्पिरन्यौ तु माधवे ॥ ११ ॥

तैलं प्रावृषि शस्यत इति सम्बन्धः । एवमुत्तरत्राऽपि योजनीयम् । स्वस्थस्य स्नेहनार्थं सर्वत्रैव स्नेहस्य प्रसङ्गे नियमोऽयं क्रियते । तैलं प्रावृष्येव, वर्षान्त एव सर्पिः, वसामज्जानौ माधव एवेति ।

ननु वर्षासु तैलं, वर्षान्ते सर्पिः, वसामज्जानौ माधवे, इति योऽयं नियमः स किञ्चिदपेक्ष्य वर्तते, आहोस्विदनपेक्ष्येत्यस्मिन् पर्यनुयोग इदमाह—

ऋतौ साधारणे स्नेहः शस्तोऽहि विमले रवौ ।

साधारणे ऋतौ श्रावणादौ संशोधनात् पूर्वं ज्ञेयानार्थं ज्ञेहस्तैलादिकः शस्तः । तथाऽहि वासरे । न निशि । तथा विमले रवौ जलदनीहारादिनाऽनाच्छादिते खरांशौ । स्नेह इति सामान्यशब्दप्रयोगात्सर्वः स्नेहः सर्पिरादिश्वत्सुष्प्रकारो गृह्यते ।

तैलं त्वरायां शीतेऽपि,

त्वरायां सत्यां व्याधिक्रियां प्रति प्राप्ते काले स्नेहयोग्यतायां सत्यां शीते हेमन्तशिशिराख्ये काले तैलं संशोधनात्पूर्वं स्नेहनार्थं शस्तं, नान्यस्नेहः । अपि-शब्दान्न केवलं वर्षास्ववर्षासु च शस्तमित्यर्थः ।

सर्वस्य स्नेहस्याऽह्युपयोगाद्रान्नावप्रयोगः प्राप्त इत्याह—

घर्मेऽपि च घृतं निशि ॥ १२ ॥

निश्येव पित्ते पवने संसर्गे पित्तवत्यपि ।

न केवलं शरदि घृतं प्रयुज्जीत यावद्घर्मेऽपि निश्युपयुज्जीत । नच घर्म एव निश्युपयुज्जीत यावत्पित्ते कुपिते पित्तजे वा विकारे तथा पवने कुपिते तज्जे वा विकारे स्नेहसाध्ये घर्मे घृतं निश्युपयुज्जीत न दिवा न च तैलं वसामज्जानौ वा । तथा पित्तवति पित्ताधिके संसर्गे वातपित्ताख्ये श्लेष्मपित्ताख्ये कुपिते तज्जे वा विकारे स्नेहसाध्ये घर्मे घृतं निश्युपयुज्जीत । पित्ते पवने इत्येतद्विषयविकारोभयोपलक्ष्यार्थं वेद्यम् । ‘पित्तवतीति भूम्नि मनुष्य’ ।

निश्यन्यथा वातकफाद्रोगाः स्युः पित्ततो दिवा ॥ १३ ॥

अन्यथोक्तप्रकारादपरेण प्रकारेण यथा शीतकाले निशि घृतोपयोगाद्वातकफाद्देतो रोगा भवेयुः । तथा दिवा घर्मे काले तैलोपयोगात्पित्ततः पित्ताद्रोगाः स्युः । वसामज्जोस्त्वनिश्चितस्वरूपत्वान्नोष्णकाले नाऽपि शीतकाले त्वरायां सत्यामुपयोगस्तन्त्रकारेण दर्शितः । तथा चोक्तम्—“यथासत्त्वं तु शैत्योष्णे वसामज्जोस्तु निर्दिशेदिति” ।

कथं स्नेह उपयोज्य इत्याह—

युक्त्याऽवचारयेत्स्नेहं भक्ष्याद्यन्नेन वस्तिभिः ।

नस्याभ्यञ्जनगण्डूषमूर्धकर्णाक्षितर्पणैः ॥ १४ ॥



युक्तियोग उपायलक्षणः । युक्त्या मात्राकालक्रियाभूमिदेहदोषस्वभावया स्नेहं सर्पिरादिकमवचारयेदुपयुज्जीत । केन सहेत्याह । भक्ष्याद्यन्नेन आदिशब्देन भोज्य-
लेह्यपेयस्य त्रिविधस्याऽप्यन्नस्य ग्रहणम् । तथा वस्तिभिर्नस्येनाभ्यञ्जनेन गरद्वेषेण
च स्नेहमवचारयेत् । मूर्धादीनां तर्पणशब्देन प्रत्येकं सम्बन्धः । तेन मूर्धतर्पणेन
शिरोवस्त्राख्येन तथा कर्णतर्पणेन कर्णपूरणाख्येन तथाऽक्षितर्पणेन तर्पणपुटपाक-
विध्युक्तेन । भक्ष्यं शशाङ्ककिरणादि तेन भक्ष्येण सह । आदिग्रहणादोदनादयो
मुन्युक्ता गृह्यन्ते । तथा च मुनिः—“ओदनश्च विलेपी च रसो मांसं पयो दधि ।
यवागूः सूपशके च यूषः काम्बलिकः खलः । सक्तवस्तिपिष्टं च मद्यं लाजास्तथैव
च । भक्ष्यमभ्यञ्जनं वस्तिस्तथैवोत्तरवस्तय” इत्यादि । वस्तिभिरिति बहुवचननिर्देशो
वस्तित्रयग्रहणार्थः । तेन निरूढोऽन्वासनं वस्तिरुत्तर इति ।

रसभेदैककत्वाभ्यां चतुःषष्टिर्विचारणाः ।

स्नेहस्याऽन्याभिभूतत्वादल्पत्वाच्च क्रमात्स्मृताः ॥ १५ ॥

रसभेदश्चैककत्वं च ताभ्यां रसभेदैककत्वाभ्यां स्नेहस्याऽवचार्यमाणस्य चतुः-
षष्टिर्विचारणा भवन्ति । रसभेदेनैकैकहीनानित्यादिग्रन्थानिर्दिष्टेन त्रिषष्टिसङ्ख्या-
वच्छिन्नेन सहोपयुक्तस्य स्नेहस्य तथैककत्वेनाऽसहायेन केवलेन स्नेहेन सहाऽस्य
चतुःषष्टिर्विचारणाः स्नेहप्रयोगकल्पना या एता भक्ष्याद्यन्नेन तथा रसभेदेन मूर्ध-
कर्णाक्षितर्पणेन च या एताः क्रमाद्यथाक्रमं निर्दिष्टास्ताः कल्पनाः स्नेहस्याऽन्याभि-
भूतत्वादन्येन भक्ष्याऽदिना बहुना तथा रसभेदेन सहोपयुक्तस्याऽभिभूतत्वात्तथाऽल्प-
त्वादल्पोपयोगित्वान्मूर्धाऽक्षितर्पणादौ पानद्रवप्रभूतस्येवावचारयितुमशक्यत्वाच्च वि-
चारणाः स्मृताः । आयुर्वेदस्य कर्तृभिरिति शेषः ।

यथोक्तहेत्वभावाच्च नाच्छ्रपेयो विचारणा ।

स्नेहस्य विचारणासंज्ञात्वे यथा निर्दिष्टो हेतुस्तस्य यथोक्तस्य हेतोरभावादविद्य-
मानहेतुत्वाद्योऽच्छ्रपेयः स्नेहः केवल एव न सा विचारणा केवलोपयोगित्वाद्वहूप-
योगित्वाच्चेत्यर्थः । नन्विह केवलः स्नेहो न विचारणेति ? उच्यते । प्राक्केवलस्यैव स्नेह-
स्य वस्त्याद्युपयोगो विचारणेत्यभ्यधायि तदेतत्पूर्वापरव्याहतमिव मन्यामहे ।
नैतदस्ति अच्छ्रपेय इत्यस्य ह्ययमर्थः । अच्छ्रः केवलो यः स्नेहः पीयते सा विचा-
रणा न भवति । मूर्धादितर्पणादिना तु केवलस्य स्नेहस्य य उपयोगः सा च
विचारणेति ।

स्नेहस्य कल्पः स श्रेष्ठः स्नेहकर्माशुसाधनात् ॥ १६ ॥

सोऽच्छ्रपेयाख्यः कल्पः प्रयोगः स्नेहस्य श्रेष्ठः प्रशस्यतमः । कुत इत्याह ।
स्नेहकर्माशुसाधनात् स्नेहकर्मणां तर्पणमार्गवादीनां शीघ्रं सम्पादनात् ।

अधुना स्नेहस्य त्रिविधमात्रालक्षणमधिकृत्याह—

द्वाभ्यां चतुर्भिरष्टाभिर्यामैर्जीर्यन्ति याः क्रमात् ।



ह्रस्वमध्योत्तमा मात्रास्तास्ताभ्यश्च हसीयसीम् ॥ १७ ॥

कल्पयेद्दीक्ष्य दोषादीन् प्रागेव तु हसीयसीम् ।

द्वाभ्यां यामाभ्यां या स्नेहस्य मात्रा प्रयुक्ता जाठरानलवशाज्जरां याति सा तस्य ह्रस्वा मात्रा । चतुर्भिर्याभैर्या जीर्यति सा तस्य मध्यमा मात्रा । अष्टभिर्याभैर्या जीर्यति सौत्तमा मात्रा । क्रमाद्यथाक्रमं ता ह्रस्वमध्यमोत्तमा मात्रास्ताभ्यश्च तिसृभ्यो मात्राभ्यो हसीयसीमतिशयेन ह्रस्वां कल्पयेत् । वैद्य इति शेषः । ह्रस्वमध्योत्तमा इति निर्देशे ' ङ्यापोरित्यादिना ह्रस्वः ' । ह्रस्वा मात्रा यामद्वय-जरणलक्षणं ततोऽप्यर्वाकालेन या जरां याति सा हसीयसीति । दोषादीन् दोष-भेषजदेशकालबलशरीराऽऽहारसत्वमात्म्यप्रकृतीर्वीक्ष्याऽकलय्य प्राक् पूर्वमेवाऽऽ-ज्ञातकोष्ठे पुरुष उत्तममात्राविषये हसीयसीं कल्पयेत् । ततो ह्रस्वामनन्तरं मध्यमा-मनन्तरमुत्तमाम् । एवं मध्यममात्राविषये हसीयसीं ह्रस्वमात्राविषयेऽपि हसीयसीं प्राक्कल्पयेत् । अतिप्रत्यवायभयात् । एवकारोऽवधारणे । तुशब्दो यथोत्तरमिति क्रमनिर्देशार्थः । सङ्ग्रहेऽयुक्तम्—“ अज्ञातकोष्ठे हि बहुः कुर्याज्जीवितसंशयमिति ” इयं ह्रस्वेयं ह्रस्वा ' इयमनयोरतिशयेन ह्रस्वा हसीयसीतीयसुन् स्थूलदूरत्यादिना लोपः ' । अन्यैस्तु पलद्वयपलचतुष्टयपलषट्कसङ्ख्यावच्छिन्ना मात्रा उक्ताः । न चैतद्युज्यते । यतो जाठरानलशक्तिमनपेक्ष्य स्नेहमात्रा प्रयुज्यमानाऽनर्थायैव । अतो-ऽस्माभिः पलद्वयादिसङ्ख्याऽवच्छिन्ना नोक्ता । मुनेरपि नैतन्मतम् । तदग्रन्थो हि—“ अहोरात्रमहः कृत्स्नमर्धाहं च प्रतीक्ष्यते । प्रधाना मध्यमा ह्रस्वा स्नेहमात्रा जरां प्रतीति ” ।

अधुना शोधनशमनबृंहणभेदात् त्रिविधस्य स्नेहस्य कालमात्रालक्षणमधिकृत्याह—

ह्यस्तने जीर्ण एवात्र स्नेहोऽच्छुः शुद्धये बहुः ॥ १८ ॥

ह्यस्तनेऽत्र आहारे जीर्ण एव जीर्णमात्र एव न त्वन्नाऽभिन्नाषे सति शुद्धये शोधनार्थं बहुरुत्तमया मात्रया स्नेहोऽच्छुः केवलः पेयत्वेन शस्यते । सञ्जातबुभुक्षेण तु पीतो जाठरानलस्य दीप्तत्वाच्छो-धनकार्यमकुर्वाणस्तद्योग्यतां चाऽनुत्पादयन्नाश्वेव जरामुपैति । वमनमपि बुभुक्षितस्य न सम्पद्यते कफाऽपचितेः पूर्वोक्तादेतोः । तस्मा-द्युक्तमुक्तं 'ह्यस्तने जीर्ण एवात्र' इति ।

शमनः क्षुद्रतोऽनन्नो मध्यमात्रश्च शस्यते ।

शमनो यो रोगस्य शमनायोपयुज्यते स्नेहः स क्षुद्रतो जातबुभुक्षस्य शस्यते जातायां बुभुक्षायां न जीर्णमात्र एवात्र शोधन इव शमनः स्नेहो यत्र तत्रस्थं दोषं कुपितं सर्वशरीरव्यापित्वात् शमयति । यदि पुनर्जीर्णमात्र एवात्र स्नेहोऽयमबुभु-क्षितस्यैवोपयुज्यते तदानीं स्रोतसां कफाद्युपलेपानिवर्तनात्तत्सम्पृक्तोऽसौ स्नेहो न सर्वं शरीरं व्याप्नुते, अव्याप्नुवंश्च न दोषं शमयेत् । तस्मात्क्षुद्रत एवायं शस्यते । स च मध्यममात्रयाऽनन्नः केवल एव भक्ष्यादिविचारणारहितः । अच्छु एव पेय

इत्यर्थः । अत्र चोत्तमया मात्रया स्नेहपानदिनानन्तरं पथ्यं कार्यम् । पुनः स्नेह-
प्रयोगः पुनरन्यस्मिन्नहनि पथ्यं कार्यम् । मध्यममात्रया स्नेहपाने तु लघुभोजिनो
न याममात्रेऽन्नाकांक्षा भवति । तदाच स्नेहोपयोगे रात्र्यारम्भे रात्रि-
यामार्धे गते वा रसकौदनप्रायं भोजनं भोज्यं मात्रयैव । ग्रन्थकारो हि शमने स्व-
ल्पभोजनमेवाऽनुजज्ञे । वक्ष्यति हि—“ उपचारस्तु शमने कार्यः स्नेहे विरिक्तव-
दिति ” । सुश्रुते चोक्तम्—“ परिषिच्योऽद्विरुष्णाभिर्जोर्णस्नेहं ततः परम् ।
यवागूं पाययेदुष्णामक्लिन्नमल्पतरुडुलाम् । पेयो यूषो रसो वा स्यादकृतः सौरभा-
युतः । कृतो वाऽप्यल्पसर्पिष्को विलेपी वा विधीयत ” इति ।

बृंहणो रसमद्याद्यैः सभक्तोऽल्पः,

बृंहणः स्नेहो रसमद्याद्यैः सह शस्यते । “रस इत्यविशेषोक्तौ ज्ञेयो मांसभवो
रस” इति तन्त्रान्तरोक्त्या रसशब्देन मांसरसोऽत्र बोद्धव्यः । आद्यशब्देन क्षीरखण्डा-
देर्द्रवरूपस्य ग्रहणम् । तथा सह भक्तेनौदनेनाऽसौ वर्तत इति सभक्तः शस्यते । एष
च स्नेहो हसीयसीतोऽपि मात्रातोऽल्पः ।

हितः स च ॥ १६ ॥

बालवृद्धपिपासार्तस्नेहद्विगमद्यशीलिषु ।

स्त्रीस्नेहनित्यमन्दाग्निमुखितक्लेशभीरुषु ॥ २० ॥

मृदुकोष्ठाऽल्पदोषेषु काले चोष्णे कृशेषु च ।

स च स्नेहो बालादिषु हितः । बालादीनामितरेतरद्वन्द्वः । पिपासार्तास्तृट्-
पीडिताः । स्नेहद्विषो ये स्वभावेनैव स्नेहं द्विषन्ति । स्त्रीस्नेहयोर्नित्यशब्देन सम्ब-
न्धः । स्त्रीनित्येषु स्नेहनित्येषु चेत्यर्थः । काले चोष्णे ग्रीष्मादौ कृशेषु नरेषु च हितः ।

स चोपयुक्तः किं करोतीत्याह—

प्राज्ञाध्योत्तरभक्तोऽसावधोमध्योर्ध्वदेहजान् ॥ २१ ॥

व्याधीन् जयेद्वलं कुर्यादङ्गानां च यथाक्रमम् ।

प्राक् च मध्ये चोत्तरं च तत् प्राज्ञाध्योत्तरं भक्तं यस्मिन्स्नेहे स प्राज्ञाध्योत्तर-
भक्तः । तेनाऽयमर्थः । भक्तस्याऽदावुपयुक्तोऽसौ स्नेहोऽधोदेहजान् व्याधीन् जयेत् ।
मध्य उपयुक्तो मध्यदेहजान् भक्तस्योपर्युपयुक्त ऊर्ध्वदेहजानिति यथाक्रमम् । तथाऽ-
ङ्गानां शरीरावयवानामधोमध्योर्ध्वसंज्ञकानां बलं कुर्यात् । इदं चोक्तम्—“मारुतेऽ-
भ्यधिके सर्पिः सदा सलवणं हितम् । केवलं चाधिके पित्ते कफे सन्न्यूषणं तथेति” ।

वार्युष्णमच्छेऽनुपिबेत् स्नेहे तत्सुखपक्त्तये ।

आस्योपलेपशुद्धयै च तौवरारुष्करे न तु ।

जीर्णाऽजीर्णविशङ्कायां पुनरुष्णोदकं पिबेत् ॥ २३ ॥

तेनोद्गारविशुद्धिः स्यात्ततश्च लघुता रुचिः ।

अच्छे पेये स्नेह उत्तममध्यमह्रस्वमात्रोपयोजितेऽनु पश्चादुष्णं वारि पिबेत् ।

किमर्थम् ? तत्सुखपक्त्तये तस्य स्नेहस्य सुखपक्त्तिः सुखेन पाकस्तदर्थम् । तथाऽऽस्यो-
पलेपशुद्ध्यै स्नेहलिप्तस्य सुखस्य शुद्धिनिमित्तम् । तुवरतैले भस्मातकतैले वाऽच्छे-
पेयेऽप्युष्णोदकं न पिबेत् । तयोरत्युष्णवीर्यत्वादिति भावः । 'तुवरस्याऽयं विकारः
स्नेहस्तौवरस्तस्य विकार इत्यण्' । एवमारुष्करे च । चिरपीते च स्नेहे जीर्णाऽजीर्णा
प्रति संशये सति भूयोऽप्युष्णं जलं पिबेत् । अनुपानापेक्षं पुनर्ग्रहणं न वीप्सार्थम् ।
तेनोष्णोदकपानेनोद्धारस्य विशुद्धिर्भवेत् । ततश्च जीर्णाऽजीर्णाशङ्कातोऽधिकमङ्गला-
घवं रुचिश्च स्नेहस्य पातुः स्यात् । सङ्ग्रहेऽप्यन्यदप्युक्तम् । यथा—“ततो गुरु-
प्रावरणो निवाते शयने स्थितः । जरणान्तं प्रतीक्षेत तृध्यन्नुष्णाऽल्पवारिपः ।
शिरोरुग्ग्रमनिष्ठीवमूर्च्छादाहाऽरुचिक्रमैः । जानीयाद्भेषजं जीर्यज्जीर्णं तच्छ्रान्ति-
लाघवात् । अनुलोमानिलस्वास्थ्यक्षुतृष्णोद्धारशुद्धिभिरिति” ।

भोज्योऽन्नं मात्रया पास्यन् श्वः पिबन् पीतवानपि ॥

द्रवोष्णमनभिष्यन्दि नाऽतिस्निग्धमसङ्करम् ।

उष्णोदकोपचारी स्याद् ब्रह्मचारी क्षपाशयः ॥ २५ ॥

न वेगरोधी व्यायामक्रोधशोकहिमातपान् ।

प्रवातयानयानाध्वभाष्याभ्यासनसंस्थितीः ॥ २६ ॥

नीचात्युच्चोपधानाहःस्वप्नधूमरजांसि च ।

यान्याहानि पिबेत्तानि तावन्त्यन्यान्यपि त्यजेत् ॥ २७ ॥

सर्वकर्मस्वयं प्रायो व्याधिक्षीणेषु च क्रमः ।

भोज्यो भोजयितव्यो नरः । किं तत् ? अन्नम् । कीदृशम् ? द्रवोष्णम् । अत्र
चोभयथा समासः । द्रवेण मुद्रयूषादिना सहोष्णमन्नं द्रवोष्णम् । तथा केवलं द्रवं च
तदुष्णं च द्रवोष्णं पेयादिकं केवलमेवेति । तथाऽनभिष्यन्दि न कफकृत् । तथा
नाऽति स्निग्धमर्थादीषत्स्निग्धम् । तथाऽसङ्करमसङ्कीर्णमपथ्येनामिश्रितमित्यर्थः ।
कः पुरुषः किं कुर्वन्कीदृशमन्नं मात्रया भोजयितव्य इत्याह । श्वः स्नेहं पास्य-
न्पातुमिच्छन् । तथा तस्मिन्नेव दिने स्नेहं पिबन् । तथा पीतवानपि यः
स्नेहम् । अपिःसमुच्चये । ननु 'मात्राशी सर्वकालं स्यादिति' प्रागुक्तमेव तत्किमिह
पुनर्मात्राग्रहणेन ? ब्रमः । मात्राशब्दस्तत्र प्रमाणार्थः, इह स्वल्पार्थः । तेनायमर्थः—
यावदन्नमस्य सम्यग्यथाकालं परिणमति तावतोप्यन्नादनेन स्वल्पं भोज्यमिति ।
तथाऽसौ स्नेहस्य पाता उष्णोदकोपचारी स्यात् । उष्णोदकमुपचरितुं सेवितुं शील-
मस्य स एवम् । तथा ब्रह्मचारी ललनासङ्गरहितः । 'क्षपाशय इत्यधिकरणे शेते-
रित्यच्' । क्षपाशय इत्यनेन दिवास्वप्नस्य रात्रिजागरस्य च निषेधः । स्नेहं पिबति
यावन्त्यहानि तावन्त्यन्यान्यपि स्नेहपानरहितानि व्यायामार्दांस्यजेत् । सर्वकर्मसु वमन-
विरेचनादिष्वयमुष्णोदकोपचारीत्यादिक्रमो विधिरित्यर्थः । व्याधिक्षीणेषु च
प्रायोऽयमेवविधिः । अत्राऽप्यतीसारादिष्वहःस्वप्नादीनामनुज्ञानात्प्रायोग्रहणम् ।

उपचारस्तु शमने कार्यः स्नेहे विरिक्तवत् ॥ २८ ॥

तुर्व्यतिरेके । शमने स्नेहे तूपयुक्ते, उपचारो भोजनादिविधिविरिक्तवत्कार्यः ।
यथा विरिक्ते पेयादिकः क्रमस्तथाऽस्मिन्नपीत्यर्थः ।

त्र्यहमच्छं मृदौ कोष्ठे कूरे सप्तदिनं पिबेत् ।

सम्यक्स्निग्धोऽथवा यावदतः सात्मी भवेत्परम् ॥ २९ ॥

मृदौ कोष्ठे सति पुरुषस्त्रिदिनमच्छं स्नेहं पिबेत् । कूरकोष्ठे सप्ताहम् । मध्य-
कोष्ठस्तु षड्रात्रम् । मध्यकोष्ठस्त्वत एव लक्षणोदधिगम्यते । मृदुकोष्ठे च स्नेहो
दोषः सङ्ग्रहे कथितः । यथा—“ चत्वार्यहानि पञ्च वा स्नेहं पिबेदिति ।” यदि
च त्र्यहंण सम्यक्स्निग्धलक्षणं न स्यात्तत्तश्चतुष्पञ्चरात्रमपि स्नेहं पिबेत् । मध्य-
कोष्ठस्तु षड्रात्रं पिबेदित्याह—‘सम्यक्स्निग्धोऽथवा यावदित्यादि’ । अथवा नैष
नियमः सम्यक्स्निग्धलक्षणोत्पत्तिरेव नियमोऽतः सप्ताहादप्यूर्ध्वमच्छस्नेहः पेयो
यावत्स्निग्धलक्षणं स्यात् । अतः परं स्नेहः सात्मी भवेत् । सात्मीभूते च स्नेहे
यो दोषः स सङ्ग्रहे कथितः । यथा—“ सात्मीभूतो हि कुरुते न मलानामुदीर-
रणम् । अतियोगेन वा व्याधीन् यथाऽम्भो ह्यतियोजनादिति ” । यदि तु सप्ता-
हेनाऽपि स्नेहलक्षणं नोत्पद्यते तदा दिनमेकं विश्रमय्य पुनः स्नेहो योज्य इति सद्ब्रूयाः ।

वातानुलोम्यं दीप्तोऽग्निर्वर्चः स्निग्धमसंहतम् ।

स्नेहोद्वेगः क्लमः सम्यक् स्निग्धे, रूक्षे विपर्ययः ॥ ३० ॥

अतिस्निग्धे तु पाण्डुत्वं घ्राणवक्त्रगुदसूवाः ।

सम्यक्स्निग्धे पुरुषे तु वातानुलोम्यादि क्लमान्तं लक्षणं भवति । वर्चः
शकृत् स्निग्धं तथाऽसंहतं शिथिलम् । रूक्षेऽस्निग्धे विपर्ययो वैपरीत्यम् ।
अतिस्निग्धे तु स्नेहस्याऽतियोजनात्पुनः पाण्डुत्वादयो भवन्ति । स्रवशब्दस्य
घ्राणादिभिः प्रत्येकं सम्बन्धः ।

अमात्रयाऽहितो काले मिथ्याहारविहारतः ॥ ३१ ॥

स्नेहः करोति शोफार्शस्तन्द्रास्तम्भविसंज्ञताः ।

कण्डूकुष्ठज्वरोत्क्लेशशूलाऽऽनाहभ्रमादिकान् ॥ ३२ ॥

अमात्रः पीतः स्नेहः सर्पिरादिः शोफादीन् करोति । आदिशब्देन तु बल-
क्षयजाड्यवाग्ग्रहादयः सङ्ग्रहोक्ता गृह्यन्ते । अहितो यो यस्य प्रतिषिद्धः स्नेहः ।
तथाऽकाले ग्रीष्मादौ पूर्वं प्रतिषिद्धे । तथा मिथ्याऽऽहारतो द्वोष्णमित्यादिवि-
पर्ययेण । तथा मिथ्याविहारत उष्णोदकोपचारी स्यादित्यादिविपर्ययेण ।

लुप्तृष्णोल्लेखनस्वेदरूक्षपानान्नभेषजम् ।

तक्रारिष्टं खलोद्दालयवश्यामाककोद्रवाः ॥ ३३ ॥

पिप्पलीत्रिफलाक्षौद्रपथ्यागोमूत्रगुग्गुलु ।



यथास्वं प्रतिरोगं च स्नेहव्यापदि साधनम् ॥ ३४ ॥

स्नेहव्यापदि स्नेहविधिविभ्रंशे सति क्षुत्तृष्णादि साधनं चिकित्सा । क्षुत्तृष्णा-
निग्रहौ क्षुत्तृष्णाशब्देनाऽत्रोक्तौ । उल्लेखनं वमनम् । रूक्षशब्दस्य पानादिभिन्नि-
भिर्योगः । तकाणि चारित्र्येष्टेयं समासः । खलो व्यञ्जनविशेषः प्रागुक्तः । उद्दालः
शालिविशेषः । यथास्वं दोषानुगुण्येन प्रतिरोगं यद्यस्मिन् रोगे स्वे स्वेऽध्याय उक्तं
तदपि साधनम् ।

स्नेहव्यापत्साधनस्य विरूक्षणस्वभावत्वात्प्रसङ्गेन विरूक्षणस्य सम्यक्कृताऽति-
कृतलक्षणमाह—

विरूक्षणे लङ्घनवत्कृताऽतिकृतलक्षणम् ।

विरूक्षणे सम्यगुत्पन्ने तथाऽत्यर्थोत्पन्ने च लङ्घनवत् कृतातिकृतलक्षणं श्रेष्ठम् ।
कृतं चाऽतिकृतं च कृतातिकृतं तयोर्लक्षणं कृततिकृतलक्षणम् । कृतशब्देन सम्य-
क्कृतमुच्यते । विरूक्षणाऽतियोगलक्षणं तु स्नेहाऽतियोगलक्षणेनैवोक्तम् । तत्र सम्य-
क्कृतस्य लङ्घनस्य यल्लक्षणं विमलेन्द्रियतादि तदेव विरूक्षणे कृते लक्षणं बोध्यम् ।
तथाऽतिकृते विरूक्षणेऽतिलङ्घितस्य लक्षणं कार्यादिकं वेद्यम् ।

स्निग्धद्रवोष्णधन्वोत्थरसभुक् स्वेदमाचरेत् ॥ ३५ ॥

स्निग्धरूयहं स्थितः कुर्याद्विरिकं वमनं पुनः ।

एकाहं दिनमन्यच्च कफमुत्क्लेश्य तत्करैः ॥ ३६ ॥

स्निग्धश्चाऽसौ द्रवोष्णधन्वोत्थरसश्च तं भुङ्क्ते यः स स्निग्धद्रवोष्णधन्वोत्थ-
रसभुक् धन्वोत्थरसो जाङ्गलदेशमांससमुद्भूतो रसः । मांसरसस्य स्वभावत एव
स्निग्धद्रवत्वात्स्निग्धद्रवग्रहणमधिकयोगायेति वेद्यम् । उष्णमुभयथा वीर्यतोऽग्नि-
संयोगाच्च । एवम्भूतः पुरुषः पूर्वं स्निग्धोऽनन्तरं स्निग्धद्रवोष्णधन्वोत्थरसभुक्
स्वेदमाचरन् दिनत्रयं स्थितः सन् विरिकं कुर्यात् । वमनं पुनरिति—यदा तु स्नेहा-
दनन्तरं वमनमेवोपयुङ्क्ते तदैकाहमनेनैव प्रकारेण स्निग्धद्रवोष्णधन्वोत्थरसभुक्
स्वेदमाचरन् स्थितोऽन्यच्च दिनं द्वितीयमहः कफमुत्क्लेश्य स्थानात्प्रच्याव्याऽवस्थितो
वमनं कुर्यात् । केनोत्क्लेश्य तत्करैः कफकरणहेतुभिर्माषक्षीरमत्स्यगुडादिभिः
'तत्करैरित्यादि कृचो हेत्वादिना हेतौ टः' ।

मांसला मेदुरा भूरिश्लेष्माणो विषमाग्नयः ।

स्नेहोचिताश्च ये स्नेह्यास्तान् पूर्वं रूक्षयेत्ततः ॥ ३७ ॥

संस्नेह्य शोधयेदेवं स्नेहव्यापन्न जायते ।

मांसलत्वादियुक्ताः पुरुषा ये शोध्यत्वेन स्नेहयितुमभीष्टास्तान् पूर्वं प्रथमं रूक्ष-
येत् । ततो रूक्षयित्वाऽनन्तरं संस्नेह्य शोधयेत् । किमेवं स्यादित्याह । एवं स्नेह-
व्यापन्न जायते । मांसला उपचितमांसाः । मेदुरा मेदस्विनः ।

अलं मलानीरयितुं स्नेहश्चासात्म्यतां गतः ॥ ३८ ॥

न केवलं स्नेहव्यापदेवं न स्यात् । यावत् स्नेहोऽसात्म्यतां गतः सन् मलान्

वातादीन् पुरीषादींश्चेरयितुं प्रेरयितुमलं पर्याप्तः ।

बालवृद्धादिषु स्नेहपरिहाराऽसहिष्णुषु ।

योगानिमाननुद्वेगान् सद्यःस्नेहान् प्रयोजयेत् ॥ ३६ ॥

बालादिषु तथा यः स्नेहविषयः परिहारः शीतोदकादिस्तदसहिष्णुष्वक्षमेषु
सद्यःस्नेहाख्याननुद्वेगाननुद्वेजकानेतान् योगान् प्रयोजयेत् ।

कास्तानित्याह—

प्राज्यमांसरसास्तेषु पेया वा स्नेहभर्जिता ।

तिलचूर्णश्च सस्नेहफाणितः कृशरा तथा ॥ ४० ॥

क्षीरपेया घृताढ्योष्णा दध्नी वा सगुडः सरः ।

पेया च पञ्चप्रसृता स्नेहैस्तण्डुलपञ्चमैः ॥ ४१ ॥

सप्तैस्नेहनाः सद्यःस्नेहाश्च लवणोल्वणाः ।

तेषु बालादिषु प्राज्यमांसरसाः प्रभूतमांसानामेव रसास्तथा स्नेहभर्जिता पेया
तथा तिलचूर्णः पललाख्यः स स्नेहफाणितः सर्पिरादिना युक्तः क्षुद्रगुडेन च युक्त-
स्तथा क्षैरेयी वा पेया सर्पिभृत्युष्णा च दधिसरो वा सगुडः । पेया च पञ्चप्रसृ-
ता । “ द्वे पले प्रसृतं विदुः ” । पञ्च प्रसृतानि यस्यां सा पञ्चप्रसृता । केषां पञ्च प्रसृ-
तानीति ? युक्त्याह । स्नेहैस्तण्डुलपञ्चमैरिति । सर्पिस्तैलं वसा मज्जेति चतुर्णां
स्नेहानां चत्वारि प्रसृतानि तण्डुलाश्च प्रसृतमित्यर्थः । एते सप्त पूर्वोक्ताः सद्यः
शीघ्रं स्नेहना निष्परिहाराश्च । न केवलमेत एव स्नेहना इत्याह । स्नेहाश्च लव-
णोल्वणाः सर्पिरादयो लवणाढ्याश्च सद्यः स्नेहनाः ।

कस्मादित्याह—

तदध्यभिष्यन्दरूक्षं च सूक्ष्ममुष्णं व्यवायि च ॥ ४२ ॥

यस्माल्लवणमभिष्यन्दि स्रोतसां स्रावकम्, अरूक्षत्वादिगुणयुक्तं, सूक्ष्मं सूक्ष्मस्रोतो-
गामि, व्यवायि देहमखिलं व्याप्य पाकाय कल्पते ।

गुडानूपाऽऽमिषक्षीरतिलमाषसुरादधि ।

कुष्ठशोफप्रमेहेषु स्नेहार्थं न प्रकल्पयेत् ॥ ४३ ॥

कुष्ठादिषु स्नेहयोग्यत्वे सति गुडादि स्नेहार्थं न प्रकल्पयेन्न योजयेत् ।

तर्हि ते कथं स्नेह्या इत्याह—

त्रिफलापिप्पलीपथ्यागुग्गुल्वादिविपाचितान् ।

स्नेहान् यथास्वमेतेषां योजयेदविकारिणः ॥ ४४ ॥

एतेषां कुष्ठादीनां यथास्वमध्यायेषु पथ्यत्वेनाऽभिहितैस्त्रिफलादिभिः पाचितान्
साधितानविकारिणः स्नेहान् योजयेत् । कुष्ठादीनां सम्बन्धी यो विकारस्तद्वताम् ।
तेन कुष्ठिनां शोफिनां मेहिनामित्यर्थोऽवतिष्ठते ।

क्षीणानां त्वामयैरग्निदेहसन्धुत्तणक्षमान् ॥ ४५ ॥



आमयैर्व्याधिभिः क्षीणानां पुंसामग्निदेहसन्धुक्षणाक्षमान् ज्ञेहान् योजयेत् ।
अग्निश्च देहश्चाग्निदेहौ । सन्धुक्षणाश्च क्षमाश्च सन्धुक्षणाक्षमास्तान् । यथासङ्-
ख्येनाऽत्र सम्बन्धः । अग्नेः सन्धुक्षणास्तद्दीपकाः देहस्य क्षमाः पुष्ट्यावहाः । अत्र
चाऽयं भावः—किल व्याधिभिः क्षीणानां वहिरपि क्षीणो भवति । अतस्तेषां
न केवलं ये पुष्ट्यावहाः, कुतः ? ते वह्निमान्यमावहन्ति । अथवा वह्निसन्धुक्षणा न
पुष्ट्यावहाः ज्ञेहा उपयोक्तुं युक्ताः । किं तर्ह्यभयकारिण एव योक्तुं युक्ता इति ।

दीप्तान्तराग्निः परिशुद्धकोष्ठः प्रत्यग्रधातुर्वलवर्णयुक्तः ।

हृद्वेन्द्रियो मन्दजरः शतायुः स्नेहोपसेवी पुरुषः प्रदिष्टः ॥४६॥

यः पुमानार्भक्षयेन ज्ञेहमुपसेवते स दीप्तान्तराऽग्नित्वादिगुणयुक्तो भवतीति
प्रदिष्टः । सदैवैरिति शेषः । ‘उपजातिवृत्तम्’ ।

इति श्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टाङ्गहृदयटीकायां सर्वाङ्गसुन्दराख्यायां षोड-
शोऽध्यायः ॥ १६ ॥

सप्तदशोऽध्यायः ।

शोधनप्रसङ्गेन ज्ञेहोपयोगः क्षिप्ते च देहे दोषाणां मार्दवीकरणाय स्वेदस्य
प्रसङ्गोऽतस्तत्परिज्ञानार्थोऽयमध्याय आरभ्यते ।

अथाऽतः स्वेदविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ।

अथाऽत इति । स्वेदनं स्वेदस्तस्य विधिर्विधानं व्याख्यास्यामः । शेषं पूर्ववत् ।

स्वेदस्य चातुर्विध्यमाह—

स्वेदस्तापोपनाहोष्मद्रवभेदाच्चतुर्विधः ।

स्वेदश्चतुर्विधस्तापादिभेदात् ।

तत्र तापादीनेव लक्षयितुमाचष्टे—

तापोऽग्नितप्तवसनफालहस्ततलादिभिः ॥ १ ॥

तापः स्वेदोऽग्नितप्तेन वसनेन तथा फालेनाऽयोमयेनाऽग्निना तप्तेन तथा हस्त-
तलेनाऽपि । आदिग्रहणाद्धारुवालुकाघटिकाकांस्यपात्रादयो गृह्यन्ते ।

उपनाहो वचाकिएवशताह्लादेवदारुभिः ।

धान्यैः समस्तैर्गन्धैश्च रासनैरण्डजटामिषैः ॥ २ ॥

उद्रिक्कलवरुणैः स्नेहचुक्रतक्रपयःप्लुतैः ।

केवले पंवेने श्लेष्मसंसृष्टे सुरसादिभिः ॥ ३ ॥

पित्तेन पद्मकाद्यैस्तु सालवणाख्यैः पुनःपुनः ।

किं एवं सुराप्रकृतिः । धान्यैरिति सामान्याक्तावपि तिलाऽतसीभाषादीनि योग्य-
त्वाद्यान्युष्णवीर्याणि स्निग्धानि वा तानि प्रायेण प्रयोज्यानीति । समस्तग्रहणं
गन्धैरेव युज्यते । अत एव सङ्ग्रहेऽवदत्—“ सर्वगन्धानीति ” ।

गन्धैर्गन्धद्रव्यैः कुष्ठागुरुतगरसुरसादिभिस्तथा रास्नादिभिः । किम्भूतैः ? पूर्वोक्तैः, उद्रिक्तलवणैर्लवणाद्यैः । तथा स्नेहश्च चुक्रं च तक्रं च पयश्च तैः प्लुतैरालो-
डितैः । चुक्रमंश्लम् । तक्रस्य चुक्रत्वादेव ग्रहणे सिद्धे तक्रग्रहणमतिशयाय ।
अतिशयेन साल्वणाख्ये स्वेदे तक्रं प्रयोज्यमिति । केवले पवने वचादिभिरुपनाहः स्वेदः
कार्यः । श्लेष्मसंसृष्टे पवने सुरसादिभिः सुरसयुगादिना गणेनापितेन संसृष्टे पवने पद्मकाद्यैः
पद्मकपुण्ड्रेत्यादिभिः । पित्तेन संसृष्टे पवन इत्यत्र किञ्चिदेव पित्तेन संसृष्टे पवने पद्मकादि-
भिरुपनाहः कार्य इत्यादि योज्यं, नाऽधिकेन पित्तेन युक्ते पवने, नाऽपि तुल्येन पित्तेन युक्ते
पवन इति । एवं ह्युक्तम् — “ ग्रैष्मः प्रायो मरुत्पित्ते विधिः कार्य ” इति । ग्रैष्मश्च
विधिः प्रायेण सर्वः शीतस्तत्र स्वेदो दूरोत्सारित एव । तस्मात् किञ्चित्पित्तेन
संसृष्टे पवने पद्मकाद्यैरुपनाहः कार्य इति वेद्यम् । एते च त्रय उपनाहाः केवले वायौ
तथा कफयुक्ते पित्तयुक्ते च क्रमेण योज्याः । एते च साल्वणाभिधानाः स्वेदा
इत्याह । साल्वणाख्यैरिति । पुनः पुनरिति । असकृत्तैः स्वेदयोजना कार्येत्यर्थः ।
निरपायो हि यथाऽयं साल्वणाऽपरसंज्ञ उपनाहाख्यः स्वेदो न तथाऽपरे स्वेदा
इति । उपनह्यते बध्यते चर्मपट्टादिनेत्यन्वर्थं नामाऽस्योपनाह इति । साल्वण
इत्यस्य च तन्त्रान्तरे प्रसिद्धं नाम । तथा च धन्वन्तरिः — “ काकोल्यादिः स
वातघ्नः सर्वांश्लद्रव्यसंयुतः । सानूपोदकमांसस्तु सर्वस्नेहसमन्वितः । सुखोष्णः
स्पष्टलवणः साल्वणः परिकीर्तित ” इति । उद्रिक्तलवणैः स्नेहचुक्रतक्रपयःप्लुतैरिति
त्रिष्वपि स्वेदेषु योज्यम् ।

बन्धात्मकश्चाऽयं स्वेद इति बन्धात्मकस्वेदोपायभूतांश्चर्मपट्टादीनाह ।

स्निग्धोष्णवीर्यैर्मृदुभिश्चर्मपट्टैरपूतिभिः ॥ ४ ॥

अलाभे वातजित्पत्रकौशेयाऽऽविकशाटकैः ।

रात्रौ बद्धं दिवा मुञ्चेन्मुञ्चेद्रात्रौ दिवाकृतम् ॥ ५ ॥

चर्मपट्टैर्बद्धमुपनद्धमङ्गं रात्रौ दिवा मुञ्चेत् । किम्भूतैः ? स्निग्धोष्णवीर्यैस्तथाऽ-
पूतिभिरदुर्गन्धैः । सुपरिकर्षितत्वात् । अलाभे चर्मपट्टादीनामभावे वातजित्पत्रैरे-
रण्डजादिभिस्तथा कौशेयादिभिः । कौशेयं राङ्गवादिबन्धविशेषः । आविकं कम्ब-
लम् । तैर्बद्धं रात्रौ दिवा मुञ्चेत् । दिवा बद्धं रात्रौ मुञ्चेद्रात्रौ मोक्तव्यम् ।

ऊष्मा तूत्कारिकालोष्ट्रकपालोपलपांसुभिः ।

पत्रभङ्गेन धान्येन करीषसिकतातुपैः ॥ ६ ॥

अनेकोपायसन्तप्तैः प्रयोज्यो देशकालतः ।

ऊष्मोष्णबाष्पः । ऊष्माख्यः स्वेद उत्कारिकादिभिः प्रयोज्यः । तत्र यवमा-
षैरण्डबीजातसीकुसुम्भबीजादिभिः पिष्टस्विनैर्लपसिकाकृतिर्यः स्वेदनोपायः सा
उत्कारिका । लोष्टं मृत्पिण्डः । कपालं कर्परम् । उपलः पाषाणः । पांसुर्धूलिः ।
तथा पत्रभङ्गेन च्छदसमूहेन । तथा धान्येन । करीषो गवादिशकृच्चूर्णम् । सिकता

वालुका । तुषो धान्यत्वक् । एतैरुत्कारिकादिभिस्तुषान्तैः स्वेदो विधातव्यः । किम्भूतैः ? अनेके च त उपायास्तैः सन्तप्तोष्णीकृता य उत्कारिकादयस्तैरनेकोपाय-सन्तप्तैः । कथं प्रयोज्य इत्याह । देशकालतः । ल्यब्लोपे पञ्चमी चेयम् । तेन देशकालावपेक्ष्य । उपलक्षणं चेदम् । तेन दोषदूष्यादीनपेक्ष्य स्वेदोऽयं प्रयोज्यः । लेष्टकपालपाषाणानमिवर्णान्सन्दंशेन गृहीत्वा स्वेद्यदोषाद्यपेक्षयाऽम्भस्यम्ले धान्या-म्ले शुक्तादौ वा निमज्जयेत् । तदुद्भूतबाष्पैः स्वेदः शयनस्थस्य कार्यः । अथवा गवादिशकृता पिरण्डीकृतेनोष्णेन स्वेदः स च पिरण्डस्वेदसंज्ञः । अथवैरण्डादिद्रव्य-युक्तानि यवादीनि धान्यानि साम्लकादीनि गृहीत्वा पिहितमुखायां मूषायां सम्य-गुपस्वेद्य निवर्ते गृहे शयनस्थे किलिञ्जे प्रस्तीर्याऽविककौशेयवातहरपत्रान्यतमोत्तर-प्रच्छदे रौरवाजिनप्रावारादिष्ववच्छिन्नं स्वेदयेत् । अथवा पूर्ववत्स्वेद्यद्रव्याणि कुम्भ्यामुत्त्ववाथ्य तन्निकटोपविष्टो घनवस्त्रप्रावृत ऊष्माणं गृह्णीयात् । एष संस्तर-स्वेदः । एवमनेकोपायसन्तप्तत्वं दोषदूष्याद्यपेक्षया निरूप्य स्वेदो योज्यः ।

अथ द्रवस्वेदमाह—

शिग्रवीरणकैरण्डकारञ्जसुरसार्जकात् ॥ ७ ॥

शिरीषवासावंशार्कमालतीदीर्घवृन्ततः ।

पत्रभङ्गैर्वचाद्यैश्च मांसैश्चाऽनूपवारिजैः ॥ ८ ॥

दशमूलेन च पृथक् सहितैर्वा यथामलम् ।

स्नेहवद्भिः सुराशुक्लवारिचीरादिसाधितैः ॥ ९ ॥

कुम्भीर्गलन्तीर्गर्गीर्वा पूरयित्वा रुजार्दितम् ।

वाससाऽऽच्छादितं गात्रं स्निग्धं सिञ्चेद्यथासुखम् ॥ १० ॥

शिग्रवादिजैः पत्रसमूहैस्तथा वचाद्यैर्वचादिगणोक्तैस्तथा मांसैरनूपजैर्जलजैश्च दशमूलेन च पृथग्व्यस्तैर्द्वित्रादिभिः सहितैः समस्तैर्वा यथामलं स्नेहवद्भिर्दोषहर-घृताद्यन्यतमस्नेहयुक्तैर्यथादोषं सुराशुक्लवारिचीरादिसाधितैः कुम्भीः स्थालीः पूर-यित्वा तथा गलन्तीर्गर्गीश्च वंशादिमयीर्नाडीर्वा पूरयित्वा रुजार्दितं पीडार्तं गात्र-मङ्गं वाससाच्छादितं तथा स्निग्धं सद्यथासुखं सुखस्पर्शं कदाचिदत्युष्णं कदाचिदी-षदुष्णं दोषपीडावशात् सिञ्चेदिति ।

परिषेकस्वेदमाख्ययाऽवगाहस्वेदं द्रवभेदमाह—

तैरेव वा द्रवैः पूर्णं कुरण्डं सर्वाङ्गगेऽनिले ।

अवगाह्याऽऽतुरस्तिष्ठेदर्शःकृच्छ्रादिरुतु च ॥ ११ ॥

तैरेव पूर्वोक्तैः स्वेदद्रवैः पूर्णं कुरण्डं भृशमवगाह्य प्रविश्याऽतुरो रोगी तिष्ठेत् । कीदृशे दोषे इत्याह । सर्वाङ्गगेऽनिले सर्वशरीरव्यापिनि वायौ तथाऽर्शःप्रभृतिरोग-कष्टपीडासु । आदिग्रहणेन हस्तपादपीडासु वा । कुरण्डग्रहणमुपलक्ष्यार्थम् । तेन कूपकुटीस्वेदौ च वेद्यौ । सङ्ग्रह उक्तम्—‘शयनस्याऽधोविस्ताराद्विगुणखाते

कूपे वातहरदाहकरीषाद्यन्यतरपूर्णदग्धे विगतधूमे स्वास्तीर्णशयनस्थं स्वेदयेदिति कूप-
स्वेदः । कुटीं नाऽत्युच्चविस्तारां वृत्तामच्छिद्रामुपनाहद्रव्यकल्कघनप्रदिग्धकुड्यां
सर्वतो विधूमप्रदीप्तखदिराङ्गारपूर्णहसन्तिकासमूहपरिवृतां विधाय तन्मध्यस्थित-
शय्यास्थं स्वेदयेदिति कुटीस्वेदः । पद्मोत्पलादिभिः सक्तुपिरब्ध्वा वाऽऽच्छाद्य
चक्षुषी । “शीतैर्मुक्तावलीपद्ममुकुलोत्पलभाजनैः । मुहुः करैश्च सजलैः स्विद्यतो
हृदयं स्पृशेदिति” ।

निवातेऽन्तर्बहिःस्निग्धो जीर्णान्नः स्वेदमाचरेत् ।

अपगतवाते देशे स्वेदमाचरेत् । किम्भूतः ? अन्तः स्नेहपानेन बहिश्चाऽभ्य-
ङ्गादिना स्निग्धः । तथा जीर्णान्नश्च येन ह्यस्तनमन्नं जीर्णम् । आमार्जीर्णाद्याक्रा-
न्तं नरं वर्जयित्वा तेन स्वेदाहेण नरेण स्वेद आचरणीयः । आमार्जीर्णाद्याक्रा-
न्तेन तु पुरुषेणाऽजीर्णेऽन्ने च नैव स्वेद आचरणीयः ।

कीदृशं स्वेदमाचरेदित्याह—

व्याधिव्याधितदेशर्तुवशान्मध्यवराऽवरम् ॥ १२ ॥

व्याध्यपेक्षया व्याधितापेक्षया देशापेक्षया ऋत्वपेक्षया धात्वपेक्षया च यथा-
विध एव मध्यममुत्कृष्टं हीनं वा स्वेदमाचरेत् ।

कफार्तो रूक्षं रूक्षो रूक्षस्निग्धं कफानिले ।

कफार्तः कफप्रस्तो रूक्षः सन्नन्तर्बहिरस्निग्धो रूक्षं न च स्निग्धं स्वेदमाच-
रेत् । अथ श्लेष्मवाते रूक्षस्निग्धं केनचिदङ्गेन रूक्षं केनचिदङ्गेन स्निग्धमेवंविधं
स्वेदमाचरेत् ।

आमाशयगते वायौ कफे पक्काशयाश्रिते ॥ १३ ॥

रूक्षपूर्वं तथा स्नेहपूर्वं स्थानानुरोधतः ।

आमाशयगते वात आदौ रूक्षः स्वेदः कार्यः पश्चात्स्निग्धः । तथा पक्काशय-
गते कफ आदौ स्निग्धः स्वेदः पश्चाद्रूक्ष इत्यर्थः । कुत एवं नियम इत्याह । स्था-
नानुरोधतः स्थानवशात् । वायुर्यत आमाशय आगन्तुः स्थानं च तत् श्लेष्मणस्त-
द्वशात्तत्राऽदौ रूक्ष एव स्वेदो योज्यः पश्चात् स्निग्ध इति । कफश्च पक्काशय आ-
गन्तुः । स्थानं च तद्वायोरतः पूर्वं स्निग्धः स्वेदः पश्चाद्रूक्ष इति पूर्वोक्त एव न्या-
यो न्याय्यः । तथा चोक्तम्—‘तत्राऽन्यस्थानसंस्थेषु तदीयामिति । तथा आग-
न्तुं शमयेद्दोषं स्थानिनं प्रतिकृत्य वेति’ तस्मात्पूर्वं रूक्षेण स्थानिनं प्रतिकृत्य पश्चा-
दागन्तुकस्य वायोः शमनं स्निग्धस्वेदाख्यं प्रयोज्यमिति । ननु वायोरामाशये
कोपोऽनुपपन्नः । यतो मरुल्लघ्वादिगुणयुक्तः । आमाशयस्तु गुरुमृदुत्वादिगुणयुक्तः ।
अतः शम एवोपपन्न इति चेत् । एतच्चाऽयुक्तम् । बलिनो ह्यन्याश्रयस्थस्याऽपि कोपो
युक्तः । मार्गरोधाच्च वायोरामाशयेऽपि प्रकोपः सम्भवतीति । तथाच वक्ष्यति—
‘प्रायोनिलो रुद्धगतिः कुप्यत्यामाशये गत’ इति । तथा चोक्तम्—“ते कालादिबलं

लब्ध्वा कुप्यन्त्याश्रयेष्वपीति” ।

अल्पं वञ्चणयोः स्वल्पं दृढमुष्कहृदये न वा ॥ १४ ॥

वञ्चणयोरल्पमेवेति योज्यम् । दृशोर्मुष्कयोर्हृदि चाऽत्यल्पम् । न वेति—
अथवा दृगादिषु स्वेदं नाचरेदेव ।

शीतशूलक्षये स्विन्नो जातेऽङ्गानां च मार्दवे ।

स्याच्छनैर्मृदितः स्नातस्ततः स्नेहविधिं भजेत् ॥ १५ ॥

शीतशूलयोः क्षये सञ्जाते सत्यङ्गानां पाणिपादादीनां च मृदुत्वे जाते स्विन्नो
नरः स्यात् । स च स्विन्नः शनैर्मृदितो मन्दमर्दिताङ्गः स्नात उष्णोदकेनाऽनन्तरं
स्नेहोक्तविधिमुष्णोदकोपचारी स्यादित्यादिकं भजेदिति ।

स्वेदस्य सम्यग्लक्षणमुक्त्वाऽतियोगलक्षणमाह—

पित्ताऽसूकोपतृणमूर्छास्वराङ्गसदनभ्रमाः ।

सन्धिपीडाज्वरश्याघरक्कमण्डलदर्शनम् ॥ १६ ॥

स्वेदाऽतियोगाच्छर्दिश्च तत्र स्तम्भनमौषधम् ।

विषक्षाराऽग्न्यतीसारच्छर्दिमोहातुरेषु च ॥ १७ ॥

स्वेदस्याऽतियोगाद्रक्तपित्तकोपादयो भवन्ति छर्दिश्च । मूर्छा मोहः । स्वराङ्गयोः
सदनेन सम्बन्धः । भ्रमोऽज्ञानम् । श्यावानि च रक्तानि च श्यावरक्तानि ।
तत्र तेषु स्तम्भनमौषधं कार्यम् । तथा विषाद्यातुरेष्वपि स्तम्भनमौषधं न्याय-
मित्यर्थः ।

स्वेदनं गुरु तीक्ष्णोष्णं प्रायः स्तम्भनमन्यथा ।

गुरु यद्द्रव्यं तीक्ष्णमुष्णं च तद्बाहुल्येन स्वेदनं भवति । प्रायोग्रहणाद् भय-
शोकादिकमगुर्वपि गृह्यते । अन्यथाऽतो वैपरित्येन स्तम्भनं भवति ।

द्रवस्थिरसरस्निग्धरूक्षसूक्ष्मं च भेषजम् ॥ १८ ॥

स्वेदनं स्तम्भनं श्लक्ष्णं रूक्षसूक्ष्मसरद्रवम् ।

द्रवादिगुणयुक्तं यत्तद् द्रव्यं स्वेदनं भवति । तथा श्लक्ष्णादियुक्तं तत् स्तम्भनं
भवति ।

अधुना रसतः स्तम्भनं निर्दिशन्नाह—

प्रायस्तिक्तं कषायं च मधुरं च समासतः ॥ १९ ॥

प्रायः समासतः संच्लेपेण तिक्तं कषायं च मधुरं च स्तम्भनं भवति ।

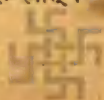
स्तम्भितस्य लक्षणमाह—

स्तम्भितः स्याद्बले लब्धे यथोक्ताऽऽमयसंक्षयात् ।

बले लब्धे जाते सति यथोक्तानां रोगाणां च संक्षयात्स्तम्भितो नरः स्यात् ।

अतिस्तम्भितं लक्षयति—

स्तम्भत्वक्क्ष्मायुसङ्कोचकम्पदृष्टाग्ननुग्रहैः ॥ २० ॥



पादोष्ठत्वक्कैः श्यावैरतिस्तम्भितमादिशेत् ।

त्वक् च ज्ञायुश्च तयोः सङ्कोचः । हृदयादीनां ग्रहेण सम्बन्धः । ततः स्तम्भादीनां द्वन्द्वः । स्तम्भादिभिस्तथा श्यावैः पादादिभिरतिस्तम्भितं कथयेत् ।

न स्वेदयेदतिस्थूलरूक्षदुर्बलमूर्छितान् ॥ २१ ॥

स्तम्भनीयत्ततर्क्षणाक्षाममद्यविकारिणः ।

तिमिरोदरवीसर्पकुष्ठशोषाढ्यरोगिणः ॥ २२ ॥

पीतदुग्धदधिस्नेहमधून् कृतविरेचनान् ।

भ्रष्टदग्धगुदग्लानिक्रोधशोकभयान्वितान् ॥ २३ ॥

क्षुत्तृष्णाकामलापाण्डुमेहिनः पित्तपीडितान् ।

गर्भिणीं पुष्पितां सूतां, मृदु चाऽत्ययिके गदे ॥ २४ ॥

अतिस्थूलादीन् स्वेदयेत् । अतिस्थूलस्य स्वेदेन मेदोविलयनादत्यन्तं शरीर-
क्षोभः स्यात् । रूक्षादीनां च कार्श्यमिति । आढ्यरोगो वातरक्तम् । भ्रष्टदग्धगुदो-
ऽतीसारक्षाराम्रयादिभिः । ग्लान्यादीनामन्वितेन सम्बन्धः । क्षुदादीनां मेहान्तानां
द्वन्द्वः । क्षुद्रतः स्वेदादत्यन्तं देहग्लानिः । कामलापाण्डुमतोः स्वेदेन पित्तवृद्ध्या
रोगवृद्धिः । पित्तप्रधानस्य स्वेदाद्रोगवृद्धिः । गर्भिण्या स्वेदेन गर्भव्यापत् । पुष्पि-
ताया रक्तातिप्रवृत्तिः । सूतायाः कार्श्यम् । मृदु चेति—यदैषामतिस्थूलादीनामा-
त्यन्तिको व्याधिर्विसूचिकादिः स्यात्तदैते मृदु स्वेदयितव्याः ।

श्वासकासप्रतिश्यायहिध्माध्मानविवन्धिषु ।

स्वरभेदाऽनिलव्याधिश्लेष्माऽऽमस्तम्भगौरवे ॥ २५ ॥

अङ्गमर्दकटीपार्श्वपृष्ठकुक्षिहनुग्रहे ।

महत्त्वे मुष्कयोः खल्यामायामे वातकण्ठके ॥ २६ ॥

मूत्रकृच्छ्रावुदग्रन्थिशुक्राघाताढ्यमारुते ।

स्वेदं यथायथं कुर्यात्तदौषधविभागतः ॥ २७ ॥

श्वासादिमत्सु यथास्वं स्वेदं कुर्यात् । क्वचित्पापं क्वचिदुपनाहं क्वचिदूष्माणं
क्वचिद् द्रवमिति । कथम् ? तेष्वौषधानि तदौषधानि तेषां विभागो यथास्वमुपयो-
गस्तेन तदौषधविभागेन स्वेदं कुर्यात् । खल्ली तीव्ररुजान्वितेति वातव्याधौ वक्ष्यते ।
आयामवातकण्ठकौ च । आढ्यमारुत ऊरुस्तम्भः ।

स्वेदो हितस्त्वनाग्नेयो वाते भेदःकफावृते ।

भेदःकफाभ्यां पवन आवृते सत्यनाग्नेयः स्वेदो हितः ।

कोऽसावनाग्नेय इत्याह—

निवातं गृहमायासो गुरुप्रावरणं भयम् ॥ २८ ॥

उपनाहाऽऽहवक्रोधभूरिपानं क्षुधातपः ।

३२



निवातगृहादयोऽनाग्नेयाः स्वेदाः । आयासो व्यायामः । गुरुप्रावरणं रक्तकादि । भयं खड्गहस्तराजपुरुषदशनादिना । उपनाहोऽप्यनाग्नेयः स्वेदः । उपनाहस्य द्वैविध्यात् । तत्रापनाहो वचाकिण्वेत्यादिराग्नेयः । तत्र तापोऽमितसवसनेत्यनुवृत्तेः । अनाग्नेयस्तु त्रिगन्धोष्णवीर्यैर्मृदुभिश्चर्मपटैरित्यादिकः । आहवः समरः । भूरिपानं बहुमथपानम् ।

ऋहक्लिन्नाः कोष्ठगा धातुगा वा स्रोतोलीना ये च शाखाऽस्थिसंस्थाः । दोषाः स्वेदैस्ते द्रवीकृत्य कोष्ठं नीताः सम्यक् शुद्धिभिर्निर्हिंयन्ते २ ॥
ते दोषाः सम्यक् सुष्ठु शुद्धिर्भिवमनविरेचनलक्षणभिर्निर्हिंयन्ते निष्कास्यन्ते । के दोषा इत्याह । ऋहक्लिन्ना ये तथा कोष्ठगा धातुस्थाश्च स्रोतोलीनास्तथा शाखास्वस्थिषु च स्थिताः । किम्भूताः ? स्वेदैर्द्रवीकृत्य कोष्ठं नीता उदरं प्रापिता इति । इति श्रीमृगाङ्कदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टाङ्गहृदयटीकायां सर्वाङ्गसुन्दराख्यायां सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः ।

शुद्धिभिर्निर्हिंयन्त इत्युक्तं, कास्ताः शुद्ध्य इति शुद्ध्यर्थं वमनविरेचनाधिकारः ।

अथाऽतो वमनविरेचनविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ।

अथाऽत इत्यादि । वमनं च विरेचनं च तयोर्विधिः । शेषं पूर्ववत् ।

तत्र वमनविधिमाह—

कफे विदध्याद्वमनं संयोगे वा कफोत्पत्ते ।

तद्वद्विरेचनं पित्ते,

श्लेष्मणि वमनं कुर्यात् । अत्र पूर्वं वमनकथनं, 'विरेच्यते मन्दकफस्तु सम्यग्' इति प्रतिपादनार्थम् । संयोगे च कफाधिके वमनं कुर्यात् । पित्ते विरेचनं तद्वत् । यथा कफे कफाऽधिके वा संयोगे च वमनं, तथैव पित्ते पित्ताधिके वा संयोगे विरेचनं कुर्यादिति तद्वच्छब्दस्यार्थः ।

विशेषेण तु वामयेत् ॥ १ ॥

नवज्वरातिसाराधःपित्तासृग्राजयक्ष्मिणः ।

कुष्ठमेहाऽपचीग्रन्थिश्चीपदोन्मादकासिनः ॥ २ ॥

श्वासहृत्तासवीसर्पस्तन्यदोषोर्ध्वरोगिणः ।

विशेषेण पुनर्नवज्वराऽतिसारादीनूर्ध्वरोगपर्यन्तान्वामयेत् ।

अवम्या गर्भिणी रूक्षः क्षुधितो नित्यदुःखितः ॥ ३ ॥

बालवृद्धकृशस्थूलहृद्रोगिक्ततदुर्वलाः ।

प्रसक्तवमथुप्लीहतिमिरकिमिकोष्ठिनः ॥ ४ ॥

ऊर्ध्वप्रवृत्तवाय्वस्त्रदत्तवस्तिहतस्वराः ।



मूत्राघात्युदरी गुल्मी दुर्वमोऽत्यग्निरर्शसः ॥ ५ ॥

उदावर्तभ्रमाऽष्टीलापार्श्वरुग्वातरोगिणः ।

गर्भिरयादयो वातरोगान्ता अवम्याः । अर्शांसि विद्यन्ते यस्य सोऽर्शसः ।
'अर्शआदिभ्यश्चेत्यच्' । तत्र गर्भिरया वमनाद्र्भव्यापद गर्भभ्रंशश्च । क्षुधितस्य च
वायुना क्षपितशरीरत्वाद्वलक्षयः स्यात् । बालादीनामौषधबलाक्षमत्वाद्वलोपरोधः
स्यात् । हृद्रोगादीनां हृदयोपरोधः । प्रसक्तच्छर्दनानामुशनो वायुक्षत्विष्य प्राणानपि
हिंस्यात् । एवमन्यत्राऽपि रोगोद्गमश्चिन्त्यः ।

किं सर्वदैव गर्भिरयादयोऽवम्या उत कस्याश्चिदवस्थायां वम्या इति ? आह—

ऋते विषगराऽजीर्णविरुद्धाऽभ्यवहारतः ॥ ६ ॥

विषाद्यभ्यवहारमन्तरेण । विषाद्यभ्यवहारे तु वम्या एवैते ।

प्रसक्तवमथोः पूर्वं प्रायेणामज्वरोऽपि च ।

धूमान्तैः कर्मभिर्वर्ज्याः सर्वैरेव त्वजीर्णिनः ॥ ७ ॥

प्रसक्तवमथोः पूर्वस्थिता एकादशातुरा दुर्बलान्तास्तथाऽऽमज्वरिणश्च ते सर्वे
धूमान्तैः कर्मभिर्वर्ज्या न केवलं वमनेनैव । धूमग्रहणं गण्डूषादिकर्मणोऽपि परि-
हारार्थम् । प्रायोग्रहणमष्टमासाया गर्भिरया निरुद्धा न वर्ज्या इति सूचनार्थं तथा
सद्योभुक्तस्य ज्वरितस्य सतो वमतानुज्ञानार्थम् । तु पुनरजीर्णिनः पुरुषा वमनादि-
भिर्गण्डूषादिभिश्च वर्ज्याः । सद्योऽजीर्णिनां हि वमनमनुज्ञातमेव ।

विरेकसाध्या गुल्माशोविस्फोटव्यङ्गकामलाः ।

जीर्णज्वरोदरगरच्छर्दिंस्त्रीहहलीमकाः ॥ ८ ॥

विद्रधिस्तिमिरं काचः स्यन्दः पक्काशयव्यथा ।

योनिशुक्राशया रोगाः कोष्ठगाः कृमयो व्रणाः ॥ ९ ॥

वाताक्षमूर्ध्वगं रक्तं मूत्राघातः शकृद्ग्रहः ।

वम्याश्च कुष्ठमेहाद्याः,

विरेकेण साध्या उपक्रम्या गुल्मादयः शकृद्ग्रहपर्यन्ताः । पक्काशये व्यथा
पक्काशयव्यथा । वम्याश्चेति चः समुच्चये । ये च कुष्ठाद्या ऊर्ध्वरोगपर्यन्ता वम-
नार्हा उक्तास्ते च विरेच्याः ।

न तु रेच्यो नवज्वरी ॥ १० ॥

अल्पाऽग्न्यधोगपित्तास्रक्षतपाचवतिसारिणः ।

सशल्यास्थापितक्रूरकोष्ठाऽतिस्निग्धशोषिणः ॥ ११ ॥

न तु रेच्य इति तुरवधारणे । नवज्वरी नैव रेच्यः । तस्य हि विरेचनमप-
कान् दोषान् निर्हरद्वातकोपायैव स्यात् । यक्ष्मादीनां त्ववस्थावशान्मृदुविरेच्यत्वम-
नुज्ञातमेव तथाऽपि चाऽध्मानगुरुताशूलस्तैमित्यकारिणीत्यादिनाऽतीसारस्याऽपि
मृदुविरेचनमनुज्ञातं नैवं नवज्वरस्य स्वल्पविरेच्यत्वं कदाऽपि । अल्पाऽग्न्यादयः

शोष्यन्ता न विरेच्याः । तत्राऽल्पाग्निरबलत्वाद्भेषजवेगं न सहते । अधोगिरक्कपित्ता-
ऽतिसारिणावतिप्रवृत्त्या हन्यात् । क्षतपायोः प्राणोपहारकारिणी रुक् स्यात् । स-
शल्यस्य क्षते वायुराश्रितो जीवितं हन्यात् । आस्थापितस्य भेषजवेगात्सहनाद्बलो-
परोधः स्यात् । क्रूरकोष्ठस्यापिधादेतोर्दोषा ह्यप्रवर्तमाना हृदयशूलपर्वभेदाऽऽनाह-
च्छर्दिमूर्च्छाक्लमान् जनयित्वा प्राणान् हन्युः । अतिस्निग्धस्याऽतियोगाय स्यात् ।
शोषिणः क्षीणधातुतया मलबलत्वं तदभावाद्देहविनाशनं स्यादिति ।

अथ साधारणे काले स्निग्धस्विन्नं यथाविधि ।

श्वोवम्यमुत्क्लिष्टकफं मत्स्यमाषतिलादिभिः ॥ १२ ॥

निशां सुप्तं सुजीर्णान्नं पूर्वाह्ने कृतमङ्गलम् ।

निरञ्जमीषत्स्निग्धं वा पेयया पीतसर्पिषम् ॥ १३ ॥

वृद्धबालाबलक्लीबभीरून् रोगानुरोधतः ।

आकण्ठं पायितान्मद्यं क्षीरमिन्नुरसं रसम् ॥ १४ ॥

यथाविकारविहितां मधुसैन्धवसंयुताम् ।

कोष्ठं विभज्य भैषज्यमात्रां मन्त्राभेमन्त्रिताम् ॥ १५ ॥

ब्रह्मदत्ताश्विरुद्रेन्द्रभूचन्द्रार्काऽनिलाऽनलाः ।

ऋषयः सौषधिग्रामा भूतसङ्गाश्च पान्तु वः ॥ १६ ॥

रसायनमिवर्षीणाममराणामिवाऽमृतम् ।

सुधेवोत्तमनागानां भैषज्यमिदमस्तु ते ॥ १७ ॥

ॐ नमो भगवते भैषज्यगुरवे वैदूर्यप्रभराजाय

तथागतायाऽर्हते सम्यक्सम्बुद्धाय । तद्यथा-

ॐ भैषज्ये भैषज्ये महाभैषज्ये समुद्रते स्वाहा ।

प्राङ्मुखं पाययेत्,

एतत् पूर्वोक्तं वम्यावम्यत्वमवगम्याऽनन्तरं साधारणे श्रावणादौ काले यथा-
विधि स्नेहस्वेदाध्यायोदितेन क्रमेण स्निग्धस्विन्नमातुरं भैषज्यमात्रां प्राङ्मुखं पाय-
येदिति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः । श्वोवम्यं प्रातर्वमनार्हम् । 'वम्यमित्यर्हेकृत्यतृचश्चेत्य-
। । र्थे पोरदुपधादिति यत्' । उत्क्लिष्टः स्थानाच्चालितः कफो यस्य तमुत्क्लिष्टकफम् ।
कैः ? मत्स्यादिभिः । अन्तर्भावितरण्यर्थोऽत्र । उत्क्लेशितकफमित्यर्थः । तथा
रात्रिं सुप्तम् । 'कालाध्वनोरिति द्वितीया' । अत एव सकलनिशास्वापोऽत्र लक्ष्यते ।
सुष्ठु जीर्णमजमाहारो यस्य तम् । कदा पाययेत् ? प्रातःकाले । किम्भूतम् ?
कृतं मङ्गलं स्वस्त्ययनादि यस्य तम् । कृतमङ्गलमित्युपलक्षणार्थम् । कृतदेवद्विजा-
ग्निगुरुवृद्धार्चनमपीति द्रष्टव्यम् । तथा निरञ्जमकृताहारमातुरवशात् किञ्चित्स्निग्धम् ।
कथमित्याह । पेयया पीतसर्पिषम् । वृद्धेत्यादि । अथ असौ वृद्धो वा बालो वा
दुर्बलो वा क्लीबः खेदासहिष्णुर्वा भवति भीरुर्वा कातरो भवति तदा रोगानुरोधादा-

कण्ठमतिमात्रं मद्यक्षीरादिकं पाययेत्तदनन्तरं भैषज्यमात्रां पाययेत् । सङ्ग्रहेऽप्यु-
क्तम्—“भीरुकृशबालसुकुमारत्वाद्दोषानुरोधेनाऽऽकण्ठं पीतयूषेक्षुरसक्षीरमांसरस-
मद्यतुषोदकग्रवागूमण्डान्यतममिति” । किम्भूतां मात्राम् ? यथाविकारविहितां
रोगानुसारेण साधितां तथा मधुसैन्धवाभ्यां युताम् । किं कृत्वा ? कोष्ठं मृदुमध्य-
करलक्षणं विभज्य विचार्य । श्लेष्माधिक्येन मृदुत्वं श्लेष्ममध्यत्वेन मध्यत्वं श्लेष्म-
हीनत्वेन करत्वमिति मानं कोष्ठस्य बोध्यम् । तथा चोक्तम्—“श्लेष्मोत्तरं हृदयेते
ह्यदुःखमिति” । भैषज्यमात्रां किम्भूताम् ? मन्त्राभिमन्त्रिताम् । तानेव मन्त्रा-
नाह । ब्रह्मेत्यादिग्रन्थेन ।

पीतं मुहूर्तमनुपालयेत् ।

तन्मनाः

भैषज्यमात्रां पीतं सन्तमातुरं मुहूर्तं तन्मना वमिगतचित्तोऽनुपालयेत्प्रतीक्षेत ।

जातहृत्तासप्रसेकश्छर्दयेत्ततः ॥ १८ ॥

अङ्गुलिभ्यामनायस्तो नालेन मृदुनाऽथवा ।

गलताल्वरुजन्वेगानप्रवृत्तान् प्रवर्तयन् ॥ १९ ॥

प्रवर्तयन् प्रवृत्तांश्च जानुतुल्यासेन स्थितः ।

ततोऽनन्तरं सञ्जातहृत्तासप्रसेकः सन् छर्दयेत् । हृत्तासो हृदुपरोधः । प्रसेको
निष्ठीवनम् । कथं वमेत् ? अङ्गुलिभ्यां द्वाभ्याम् । यद्वा कोमलेन सुवर्चलैरण्डा-
दिजेन नालेन मृदुना वमेत् । कीदृशः ? अनायस्तोऽनायासेनेत्यर्थः । अपरं गलता-
ल्वपीडयन् तथाऽप्रवृत्तान् वेगान् प्रेरयन् प्रवृत्तांश्च प्रवर्तयन् । जानुप्रमाणे पीठे स्थितः ।

उभे पार्श्वे ललाटं च वमतश्चाऽस्य धारयेत् ॥ २० ॥

प्रपीडयेत्तथा नाभिं पृष्ठं च प्रतिलोमतः ।

अपरमस्य नरस्य वमनं कुर्वतो द्वे पार्श्वे ललाटं च धारयेत् । परिचारक इति
शेषः । प्रतिलोमतो सन्मार्गेण ।

कफे तीक्ष्णोष्णकटुकैः पित्ते स्वादुहिमैरिति ॥ २१ ॥

वमेत् स्निग्धाम्ललवणैः संसृष्टे मरुता कफे ।

पित्तस्य दर्शनं यावच्छेदो वा श्लेष्मणो भवेत् ॥ २२ ॥

कफे तीक्ष्णोष्णकटुकैर्द्रव्यैर्वमेत् । पित्ते स्वादुशीतैर्द्रव्यैर्वमेत् । स्निग्धाम्ललवणै-
र्वायुयुक्ते कफे वमेत् । कियन्तं कालं वमेदित्याह । यावत् पित्तस्य दर्शनं कफान्तो
वा तावद्वमेत् ।

हीनवेगः कणाधात्रीसिद्धार्थलवणोदकैः ।

वमेत्पुनः पुनः,

हीनवेगो नरः कणाधात्रीसिद्धार्थलवणोदकैरसकृद्वमेत् ।

तत्र वेगानामप्रवर्तनम् ॥ २३ ॥



प्रवृत्तिः सविबन्धा वा केवलस्यौषधस्य वा ।

अयोगस्तेन निष्ठीवकण्डूकोठज्वरादयः ॥ २४ ॥

तत्र तेषु सम्यग्योगाऽतियोगाऽयोगेषु मध्योद्देगानामप्रवर्तनमसावयोगः । संवि-
बन्धा च या प्रवृत्तिः सोऽप्ययोगः केवलस्य दोषादिरहितस्यौषधस्य या प्रवृत्तिः
सोऽप्ययोगः । तेनाऽयोगेन निष्ठीवनादयः स्युः ।

निर्विबन्धं प्रवर्तन्ते कफपित्ताऽनिलाः क्रमात् ।

सम्यग्योगे,

सम्यग्योगे कफपित्ताऽनिलाः क्रमेण निर्विबन्धं निःसङ्गं प्रवर्तन्ते ।

अतियोगे तु फेनचन्द्रकरक्त्वत् ॥ २५ ॥

वमितं क्षामता दाहः कण्ठशोषस्तमो भ्रमः ।

घोरा वाय्वामया मृत्युर्जीवशोणितनिर्गमात् ॥ २६ ॥

अतियोगे पुनः फेनचन्द्रकरक्त्वद्वमितं भवति । फेनश्च चन्द्रकश्च रक्तं च
तानि विद्यन्ते यस्य वमितस्य तदेवम् । तथा क्षामतादयो भवन्ति । तमस्तिमिर-
दर्शनं दाहणश्च वातारोगास्तथा मृत्युर्भवति । जीवाख्यस्य शोणितस्य निर्गम-
जिष्कासात् ।

सम्यग्योगेन वमितं क्षणमाश्वस्य पाययेत् ।

धूमत्रयस्यान्यतमं स्नेहाचारमथाऽऽदिशेत् ॥ २७ ॥

सम्यग्योगेन वमिते सति मुहूर्तमाश्वस्य शीतवातादिना धूमत्रयस्य क्षिग्ध-
मध्यतीक्ष्णख्यस्याऽन्यतममेकं पाययेद्वैद्यः । अथाऽनन्तरं स्नेहाचारमुष्णोदकोपचारी
स्यादित्यादिकमादिशेत् ।

ततः सायं प्रभाते वा क्षुद्धान् स्नातः सुखाम्बुना ।

भुञ्जानो रक्तशाल्यन्नं भजेत्पेयादिकं क्रमम् ॥ २८ ॥

तदूर्ध्वं सायमपराह्णे, प्रभाते पूर्वाह्णे वा, बुभुक्षित उष्णोदकेन स्नातो रक्त-
शाल्यन्नं भुञ्जानः, पेयादिकं क्रमं भजेत् ।

तमेव पेयादिकं क्रममाह—

पेयां विलेपीमकृतं कृतं च यूषं रसं त्रीनुभयं तथैकम् ।

क्रमेण सेवेत नरोऽन्नकालान् प्रधानमध्याऽवरशुद्धिशुद्धः ॥ २९ ॥

प्रधाना च मध्या चाऽवरा च प्रधानमध्याऽवराः । प्रधानमध्याऽवराश्च ताः शुद्ध-
यश्च ताभिः शुद्धो नरः क्रमेण यथासङ्ख्यं पेयां त्रीनन्नकालान् द्वावन्नकालावेक-
मन्नकालं भजेदिति । विलेप्यादिष्वप्येवं योज्यम् । एतदेव स्पष्टीकृत्योच्यते । यथा—
प्रधानशुद्धया शुद्धो नरो द्वावन्नकालावेकस्मिन् दिने द्वितीयेऽह्न्येककालं च पेयां
भजेदिति द्वितीयेऽह्न्येकमन्नकालं विलेपीं तृतीये वासरे द्वावन्नकालौ विलेपी-
मेव । चतुर्थे दिवसे अकृतं शुण्ठीलवणाद्यसंस्कृतमन्नं कृतं शुण्ठीलवणादिसंस्कृतं

यूषं च द्वावन्नकालौ भजेत् । एवं पञ्चमेऽहिं प्रथमेऽन्नकाले च । चः समुच्चये । ततः विभज्य तावद्भज्यते । एवं कालत्रयं कृतं रसं विभज्य भोजयेत् । सप्तमे दिने प्रकृति-भोजनं क्रमेण सेवेत । एवं यथास्वं मध्यशुद्धिशुद्धस्याऽवरशुद्धिशुद्धस्य च योजना कार्या । मुनिस्त्वाह—“ अथैनं सायाह्नेऽपरे वाऽहिं सुखोदकपरिषिक्तं पुराणानां लोहितशालितण्डुलानां स्ववह्निनां मण्डपूत्रां सुखोष्णां यवागूं पाययेदग्निबलमभिसमीक्ष्य । एवं द्वितीये तृतीये वाऽन्नकाले । चतुर्थे तु तथाविधानामेव शालितण्डुलानां सुस्विन्नां विलेपीमुष्णोदकद्वितीयामन्त्रहलवणामल्पमेहलवणां वा भोजयेत् । एवं पञ्चमे षष्ठे चाऽन्नकाले । सप्तमे त्वन्नकाले तथाविधानामेव शालीनां द्विःप्रसृतं सुस्विन्नमोदनमुष्णोदकानुपानं तनुना तनुमेहलवणोपपन्नेन मुद्रयूषेण भोजयेत् । एवमष्टमे नवमे चाऽन्नकाले । दशमे त्वन्नकाले लावकपिञ्जलादीनामन्यतमस्य मांसस्य रसेनौदकलावणिकेनाऽपि सारवता भोजयेदुष्णोदकानुपानम् । एवमेकादशे द्वादशे चाऽन्नकाले । अत ऊर्ध्वमन्नगुणान् क्रमेणोपयुजानः सप्ताहात्प्रभृति भोजनमांगच्छेदिति’ । त्रीनिति ‘ कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे द्वितीया ।’

अधुना पेयादिक्रमस्य फलं वक्ति—

यथा ऽग्नुरग्निस्तृणगोमयाद्यैः सन्धुक्ष्यमाणो भवति क्रमेण ।

महान् स्थिरः सर्वपचस्तथैव शुद्धस्य पेयादिभिरन्तराग्निः ॥ ३० ॥

यथा बाह्योऽग्निरग्नुरल्पस्तृणगोमयकाष्ठदलादिभिः सन्धुक्ष्यमाण उद्दीप्यमानो महान् स्थिरः सर्वपचो भवति । ‘सर्वपच इति पचेरजन्तस्य सर्वशब्देन सह षष्ठी-समासः’ । तेनैव प्रकारेण पेयादिभिः शुद्धस्योदर्योऽग्निर्महान् स्थिरः सर्वपचश्च भवति । खरनादेऽप्युक्तम्—‘विरेके वमने श्रेष्ठे पेयादीनां त्रिकक्रमः । त्रिशो द्विशो मध्यमे स्यादेकशस्तु कनीयसीति’ ।

जघन्यमध्यप्रवरे तु वेगाश्चत्वार इष्टा वमने षडष्टौ ।

दशैव ते द्वित्रिगुणा विरेके प्रस्थस्तथा स्याद्विचतुर्गुणश्च ॥ ३१ ॥

जघन्यं च मध्यं च प्रवरं च तस्मिन्वमने क्रमेण वेगाश्चत्वारः षडष्टैस्तन्त्रकृतामिति शेषः । ते वेगा दशैव द्वित्रिगुणा जघन्यमध्यप्रवरे विरेके क्रमेण भवन्ति । तथेति समुच्चये । न केवलं वेगानां मानं, प्रस्थश्च द्विचतुर्गुणो मानं स्यादिति तथा-शब्दस्याऽर्थः । ‘त्रीत्येतान्युपजातिवृत्तानि’ ।

पित्तावसानं वमनं विरेकादर्धं कफान्तं च विरेकमाहुः ।

पित्तान्तं वमनं वदन्ति । विरेकादर्धं वमनं कथयन्ति विरेचनं कफान्तमाहुः ।

द्वित्रान् सविट्कानपनीय वेगान् मेयं विरेके वमने तु पीतम् ३२॥

द्वे वा त्रयो वा द्वित्राः । ‘सङ्ख्ययाऽव्ययेति बहुव्रीहिः । बहुव्रीहौ सङ्ख्ये-ये ङजिति वा समासान्तः’ । सह विशा पुरीषेण वर्तत इति सविट्को विट्वान् वेगान् सविट्कानपनीय गणनयाऽनया रुद्धविरेके मेयं मातव्यम् । वमने पुनः पीतं

बदौषधं तदपनीय मेयम् । 'इन्द्रवज्रा वृत्तम्' ।

अथैनं वामितं भूयः स्नेहस्वेदोपपादितम् ।

श्लेष्मकाले गते ज्ञात्वा कोष्ठं सम्यग्विरेचयेत् ॥ ३३ ॥

एनं नरं वामितं भूयः पुनरपि स्नेहस्वेदाभ्यामुपपादितमनन्तरं सम्यग्विरेचयेत् ।
कदा ? श्लेष्मणः कालः संविभागपहरस्तस्मिन् गते सति । किं कृत्वा ? कोष्ठं मृदु-
मध्यकरलक्षणं ज्ञात्वाऽवगम्य ।

बहुपित्तो मृदुः कोष्ठः क्षीरेणाऽपि विरेच्यते ।

यो बहुपित्तः कोष्ठः स मृदुर्भवति । स च क्षीरेणाऽपि विरेच्यते । अपि-
शब्दादारग्वधादिभिरपि ।

प्रभूतमारुतः क्रूरः कृच्छ्राच्छ्रयामादिकैरपि ॥ ३४ ॥

प्रभूतमारुतः क्रूरः कोष्ठो भवति । स कृच्छ्रेण कथञ्चिदपि श्यामदिकैर्विरे-
च्यते । आदिशब्देन द्रवन्तीसुधादीनां ग्रहणम् । अपिशब्दादारग्वधादिना विरेच्यते ।

कषायमधुरैः पित्ते विरेकः, कटुकैः कफे ।

स्निग्धोष्णलघुर्वायौ,

कषायमधुरैरारग्वधादिभिः पित्ते विरेकः । कटुकैः कफे विरेकः । स्निग्धाम्ल-
लघुर्वायोरैरण्डतैलादिभिर्वायौ विरेकः कार्यः ।

अप्रवृत्तौ तु पाययेत् ॥ ३५ ॥

उष्णाम्बु, स्वेदयेदस्य पाणितापेन चोदरम् ।

विरेकाऽप्रवृत्तावुष्णाम्बु पाययेद्वैद्यः । अस्य चाऽऽतुरस्य पाणितापेन
चठरं स्वेदयेत् ।

उत्थानेऽल्पे दिने तस्मिन्भुक्त्वाऽन्येद्युः पुनःपिबेत् ।

तस्मिन् विरेकस्य दिनेऽल्प उत्थाने स्तोकायां प्रवृत्तौ सत्यां भुक्त्वाऽन्नमन्येद्यु-
रन्यस्मिन् दिने पुनर्विरेचनौषधं पिबेदातुरः ।

अदृढस्नेहकोष्ठस्तु पिबेदूर्ध्वं दशाहतः ।

भूयोऽप्युपस्कृततनुः स्नेहस्वेदैर्विरेचनम् ॥ ३७ ॥

यौगिकं सम्यगालोच्य स्मरन्पूर्वमनुक्रमम् ।

दृढस्नेहः कोष्ठो यस्य स दृढस्नेहकोष्ठः । न दृढस्नेहकोष्ठोऽदृढस्नेहकोष्ठः स भूयो-
ऽपि स्नेहस्वेदैः संस्कृतशरीरो दशाहादूर्ध्वं यौगिकं विरेचनं पिबेत् । यथावन्निरूप्य
पूर्वमनुक्रमं भैषज्यमात्रां मन्त्राभिमन्त्रितामित्यादिकं, तथाऽप्रवृत्तौ तु पाययेद्
उष्णाम्बु, स्वेदयेदस्य पाणितापेनेत्यादिकं च पूर्वमनुक्रमं स्मरन् पिबेदिति ।

हृत्कुक्ष्यशुद्धिरुचिरुत्क्लेशः श्लेष्मपित्तयोः ॥ ३८ ॥

कण्डूर्विदाहः पिटिका पीनसो वातविद्ग्रहः ।

अयोगलक्षणम्,



अयोगलक्षणं हृत्कुक्ष्यशुद्धिरित्यादिकम् ।

योगो वैपरीत्यं यथोदितात् ॥ ३६ ॥

यथोक्ताद्वैपरीत्ये हृत्कुक्षिशुद्धिरित्यादिको योगो योगलक्षणम् ।

विदपित्तकफवातेषु निःसृतेषु क्रमात्स्त्रवेत् ।

निःश्लेष्मपित्तमुदकं श्वेतं कृष्णं सलोहितम् ॥ ४० ॥

मांसधावनतुल्यं वा मेदःखण्डाभमेव वा ।

गुदनिःसरणं तृष्णा भ्रमो नेत्रप्रवेशनम् ॥ ४१ ॥

भवन्त्यतिविरिक्तस्य तथाऽतिवमनामयाः ।

अतिविरिक्तस्य विदपित्तकफवातेषु क्रमान्निःसृतेषु जलं स्त्रवेत् । किम्भूतम् ? निःश्लेष्मपित्तं तथा श्वेतं कृष्णं सलोहितं पीतरक्तमथवा मांसधावनसदृशमथवा मेदःशकलाभं स्त्रवेत् । तथा गुदनिःसरणादयोऽतिवमनाऽऽमयाश्च क्षामतादयो भवन्ति ।

सम्यग्विरिक्तेन च वमनोक्तेन योजयेत् ॥ ४२ ॥

धूमवज्ज्येन विधिना,

एनं च नरं सम्यग्विरिक्तं वमनविहितेन विधिना विधुमनोपपादयेत् ।

ततो वमितवानिव ।

क्रमेणाऽन्नानि भुञ्जानो भजेत्प्रकृतिभोजनम् ॥ ४३ ॥

ततोऽनन्तरं क्रमेण पूर्वोक्तेन रक्तशाल्यन्नसहितपेयादीन्यन्नान्यश्नन् प्रकृतिभोजनं भजेत् ।

मन्दवह्निमसंशुद्धमक्षामं दोषदुर्बलम् ।

अदृष्टजीर्णलिङ्गं च लङ्घयेत्पीतभेषजम् ॥ ४४ ॥

पीतभेषजं मन्दवह्न्यादीन् पञ्च लङ्घयेत् । अदृष्टं जीर्णलिङ्गं पीतभेषजस्य यस्येति योज्यम् ।

एवं लङ्घिते यो गुणो भवति तमाह —

क्षेदस्वेदौषधोत्क्लेशसङ्गैरिति न बाध्यते ।

उत्क्लेशश्च सङ्गाश्चोत्क्लेशसङ्गाः । क्षेदश्च स्वेदश्चौषधं च तानि तेषामुत्क्लेशसङ्गाः क्षेदस्वेदौषधोत्क्लेशसङ्गास्तैः, इत्येवं लङ्घिते सति मन्दाग्न्यादिर्न बाध्यते ।

संशोधनाऽन्नविस्रावक्षेदहयोजनलङ्घनैः ॥ ४५ ॥

यात्यग्निर्मन्दतां तस्मात्क्रमं पेयादिमाचरेत् ।

संशोधनादिभिर्मन्दतां तस्मात्क्रमं पेयादिं क्रममाचरेत् । संशोधनं सम्यक्शुद्धिः । अन्नविस्रावो रक्तस्रुतिः । क्षेदहयोजनं क्षेदयोगः । ननु शुद्ध्याग्निमान्द्यमिहोच्यते ? वक्ष्यति च—“ बुद्धिप्रसादमित्यादिना ज्वलनस्य दीप्तिं संशोधनं

करोतीति ” । तदिमे वचसी परस्परं व्याहृतः । अत्रोच्यते—कालभेदाद् दोष-
संशोधने क्रियमाणोऽग्निमान्द्यं भवति । कृते च संशोधने पेयादिक्रममासेवमानस्या-
ग्निदीप्तिरिति न कश्चिदत्र व्याघातः ।

सुताल्पपित्तश्लेष्माणं मद्यपं वातपैत्तिकम् ॥ ४६ ॥

पेयां न पाययेत्तेषां तर्पणादिक्रमो हितः ।

सुताल्पपित्तश्लेष्माणमिति । सुतौ पतितावल्पो पित्तश्लेष्माणौ यस्य तं तथा
मद्यपो यो नरस्तं मद्यपं तथा वातपैत्तिकमेतांस्त्रीन् पेयां न पाययेत् । तर्पणं किं
कार्यमिति ? आह—‘प्रथमेऽन्नकाले लाजसक्तवो द्वितीयेऽन्नकाले जीर्णशाल्योदनं
तृतीये मांसरसौदनमित्येष तर्पणादिक्रमस्तेषां हितः ।

ननु विरेचनस्येव वमनस्य कस्मात्पाको न प्रतीक्ष्यत इत्याह—

अपक्वं वमनं दोषान् पच्यमानं विरेचनम् ॥ ४७ ॥

निर्हरेद्वमनस्याऽतः पाकं न प्रतिपालयेत् ।

वमनमपक्वं सद्, दोषान्निर्हरेत् । विरेचनं तु पच्यमानं दोषान्निर्हरेत् । अतो
वमनस्य पाको न प्रतिपाल्यते ।

दुर्बलो बहुदोषश्च दोषपाकेन यः स्वयम् ॥ ४८ ॥

विरिच्यते भेदनीयैर्भोज्यैस्तमुपपादयेत् ।

दुर्बलो बहुदोषश्च दोषपाकेन हेतुना स्वयमौषधमन्तरेण यो विरिच्यते भिद्यते
तं नरं भेदनीयैर्भोज्यैर्भक्ष्यैर्योजयेत् ।

दुर्बलः शोधितः पूर्वमल्पदोषः कृशो नरः ॥ ४९ ॥

अपरिज्ञातकोष्ठश्च पिबेन्मृद्वल्पमौषधम् ।

वरं तदसकृत्पीतमन्यथा संशयावहम् ॥ ५० ॥

हरेद्बहुंश्चलान्दोषानल्पानल्पान् पुनः पुनः ।

दुर्बलादयः पिबेयुः । किमिति ? आह—मृद्वल्पमिति । यस्माद्विरेचनौषधं पुनः
पुनः पीतं वरम् । अन्यथा बहु तीक्ष्णं चौषधं पीतं संशयावहं प्राणसन्देहकारि ।
तथा पुनः पुनः प्रयुक्तमौषधं बहुंश्चलान् दोषानल्पानल्पान् हरेत् । एवं बलहानि
विना दोषनिर्हारः कृतः स्यात् ।

दुर्बलस्य मृदुद्रव्यैरल्पान् संशमयेत्तु तान् ॥ ५१ ॥

क्लेशयन्ति चिरं ते हि हन्युर्वैनमनिर्हृताः ।

तुरवधारणे । दुर्बलस्य नरस्य मृदुद्रव्यैर्निर्हरेदल्पानेव तान् दोषान् सम्प्र-
शमयेत् । ते तु दोषा अनिर्हृताश्चिरमेतमातुरं क्लेशयन्ति, हन्युर्वा मारयेयुः ।

मन्दाग्निं क्रूरकोष्ठं च सत्त्वारलवणैर्घृतैः ॥ ५२ ॥

सन्धुक्षिताग्निं विजितकफवातं च शोधयेत् ।



मन्दाग्निं करकोष्ठं च नरं, सह चारलवणाभ्यां वर्तन्ते यानि घृतानि तैर्यथा-
सङ्ख्यमुर्दीपिताऽनलं विजितकफवातं च शोधयेत् ।

रूक्षबह्वनिलकरकोष्ठव्यायामशीलिनाम् ॥ ५३ ॥

दीप्ताग्नीनां च भैषज्यमविरेच्यैव जीर्यति ।

तेभ्यो बस्ति पुरा दद्यात्ततः स्निग्धं विरेचनम् ॥ ५४ ॥

शकृन्निर्हृत्य वा किञ्चिच्चीक्षणाभिः फलवर्तिभिः ।

रूक्षादीनां भैषज्यमविरेच्यैव विरेचनमकृत्वैव परिणतिमेति । तेभ्यो रूक्षा-
दिभ्यः पूर्वं बस्ति दद्यादनन्तरमेरण्डतैलबिन्दुघृतादिकं विरेचनं योजयेत् । अथवा
फलवर्तिभिस्तीक्ष्णाभिः पुरीषं किञ्चिदल्पं निर्हृत्य निःसार्य स्निग्धं विरेचनं दद्यात् ।

किमिति बस्तिनाऽथवा तीक्ष्णाभिः फलवर्तिभिश्च किञ्चिच्छकृन्निर्हारः क्रियत
इति ? आह—

प्रवृत्तं हि मलं स्निग्धं विरेको निर्हरेत्सुखम् ॥ ५५ ॥

यस्मान्मलं प्रवृत्तं सन्तं किञ्चित्पतितं, स्निग्धो विरेकः, सुखं मलप्रेरणेन निर्हरेत् ।

विषाभिघातापिटिकाकुष्ठशोकविसर्पिणः ।

कामलापाण्डुमेहार्तान्नातिस्निग्धान् विरेचयेत् ॥ ५६ ॥

नातिशब्दोऽप्रेषदर्थे । नातिशीतगुप्तमित्यत्र यथा । विषाद्यार्तानीषत्स्निग्धान्
विरेचयेत् ।

सर्षान् स्नेहविरेकैश्च रूक्षैस्तु स्नेहभावितान् ।

सर्वानीषत्स्निग्धान् विषाद्यार्तादीन् स्नेहविरेकैः शोधयेत् । स्नेहभावितांश्च
पुरुषान् रूक्षैर्विरेकैः शोधयेत् ।

कर्मणां वमनादीनां पुनरप्यन्तरेऽन्तरे ॥ ५७ ॥

स्नेहस्वेदौ युप्रज्जीत स्नेहमन्ते बलाय च ।

वमनादीनां कर्मणामन्तरेऽन्तरे मध्ये मध्ये पुनरपि भूयः स्नेहस्वेदौ प्रयुज्जीत ।
अन्ते च कर्मणां बलाय शरीरस्य बलाधानार्थं स्नेहं प्रयुज्जीत । तदेषोऽर्थो बोद्धव्यः ।
आदौ स्नेहस्वेदौ, ततो वमनं, पुनः स्नेहस्वेदौ, ततो विरेचनं, पुनः स्नेहस्वेदौ,
ततोऽनुवासनं, पुनः स्नेहस्वेदौ, ततो निरूहबस्तिरिति ।

किमित्येवं विधीयत इति ? आह—

मलो हि देहादुत्क्लेश्य ह्रियते वाससो यथा ॥ ५८ ॥

स्नेहस्वेदैस्तथोत्क्लेश्य ह्रियते शोधनैर्मलः ।

मलो हि देहादुत्क्लेश्य पतनोन्मुखीकृत्य शोधनैर्विरेचनादिभिर्ह्रियते । कथ-
मिव ? वाससो वस्त्रायथा स्नेहस्वेदैः ।

स्नेहस्वेदाऽनभ्यासे दोषमाह—

स्नेहस्वेदावनभ्यस्य कुर्यात्संशोधनं तु यः ॥ ५९ ॥



दारु शुष्कमिवाऽऽनामे शरीरं तस्य दीर्यते ।

यो नरः स्नेहस्वेदावनभ्यस्याऽशीलयित्वा शोधनं कुर्यात्तस्य शरीरं दीर्यते ।
कथमिव ? आनामे=आनमने काष्ठं शुष्कं यथा दीर्यते ।

साम्प्रतं संशुद्धः फलमाह—

बुद्धिप्रसादं बलमिन्द्रियाणां धातुस्थिरत्वं ज्वलनस्य दीप्तिम् ।

चिराच्च पाकं वयसः करोति संशोधनं सम्यगुपास्यमानम् ॥६०॥

यौवनोदः पाकः परिणाम इति । ‘उपजातिवृत्तम्’ ।

इति श्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टाङ्गहृदयटीकायां सर्वाङ्गसुन्दराख्यायामष्टा-
दशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः ।

मलहरणार्थं पूर्वाध्याय उक्तः । बस्तिनाऽपि मला निर्द्ध्यन्त इति वमनविरे-
चनविधेरनन्तरं बस्तिविधेरुपदेशो युक्त इत्याह—

अथाऽतो बस्तिविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ।

अथाऽत इति । बस्तिना दीयत इति बस्तिस्तस्य विधिः । शेषं पूर्ववद्व्याख्येयम् ।

वातोल्बणेषु दोषेषु, वाते वा बस्तिरिध्यते ।

उपक्रमाणां सर्वेषां सोऽग्रणीः,

वात उल्बणोऽधिको येषां दोषाणां तेषु बस्तिरिध्यते । आचार्यैरिति शेषः ।
तत्र वातपित्ते वातश्लेष्मण्यथवा केवले वायौ बस्तिरिध्यते । उपक्रमाणां चिकित्सानां
सर्वेषां स बस्तिरग्रणीः प्रधानतमः ।

त्रिविधश्च सः ॥ १ ॥

निरुद्धोऽन्वासनो बस्तिरुत्तरः,

स च त्रिप्रकारः । तदेव त्रैविध्यमाह—निरुद्धोऽन्वासनो बस्तिरुत्तर इति यदा
तूत्तरेण मार्गेण भेदादिना दीयत इत्युत्तरबस्तिः ।

तेन साधयेत् ।

गुल्माऽऽनाहखुडसीहशुद्धातीसारशूलिनः ॥ २ ॥

जीर्णज्वरप्रतिश्यायशुक्राऽनिलमलग्रहान् ।

वध्माऽश्मरीरजोनाशान् दारुणांश्चाऽनिलामयान् ॥ ३ ॥

तेनेत्यनेन निरुद्धः परामृश्यते । कथमिति चेद् ? ब्रूमः । अनास्थाप्याश्चेत्य-
धीयते । तत्र के निरुद्धा इत्यपि । ते सन्त्यत्राऽनिरुद्धाः पुनरिमे प्रतिवक्तुं युज्य-
न्ते । अपि च । ‘आस्थाप्या एव चान्वास्या’ इति पठति, के आस्थाप्या इति न
गम्येत यदीह निरुद्धो न परामृश्येत । तस्मात्तेनेत्यनेन निरुद्धस्य ग्रहणां न्याय्यम् ।
तेन निरुद्धेण गुल्मादींस्तथा जीर्णज्वरादीन् कृच्छ्रान् वातरोगांश्चोपक्रमेत् ‘गुल्मा-



दीनां शूलान्तानां द्वन्द्वे-इनिः कार्यः । शुक्रादीनां ग्रहेण सम्बन्धः । शुक्रग्रहो
रेतोविबन्धः । अनिलग्रहो वायोरसञ्चारः । रजोनाशः स्त्रियाः पुष्पनाशः ।

अनास्थाप्यास्त्वतिस्निग्धः क्षतोरस्को भृशं कृशः ।

आमातिसारी वमिमान् संशुद्धो दत्तनावनः ॥ ४ ॥

कासश्वासप्रमेहार्शोहिध्माऽऽध्मानाल्पवर्चसः ।

शूनपायुः कृताहारो बद्धच्छिद्रो दकोदरी ॥ ५ ॥

कुष्ठी च मधुमेही च मासान् सप्त च गर्भिणी ।

अतिस्रिग्धादयः सप्तममासगर्भिण्यन्ता अनास्थाप्या अनिरुद्धाः । वमिमान्
प्रसक्तच्छर्दिः । बद्धोदेरुदरेण सम्बन्धः । 'तत इनिर्मत्वर्थीयः' । यद्वाऽतिसारिणा
आस्थाप्या इत्यनेनाऽऽमातिसारिणोऽनास्थाप्यत्वे लब्धे पुनर्वचनमतिप्रमाथित्वेना-
मातिसारिणः कथञ्चिदप्यनास्थाप्या इति । तत्राऽतिस्निग्धस्य दोषानुत्प्लेश्य
निरुहः श्वयथुमुदरं च जनयेत् । क्षतोरस्कृशयोः क्षौभव्यापन्नं शरीरमाशु पीड-
येत् । आमातिसारिणो दोषस्य सम्यगनिर्बहणाद्देहस्य क्षामत्वादतिपीडां कुर्यात् ।
प्रसक्तच्छर्दिषो दोषोत्क्रेशो निरुहमूर्ध्वं नयेत् । कृतवमनविरेकयोः सुरिक्तं देहं क्षतं
क्षार इव देहेत् । कृतनस्यस्य विवृतोर्ध्वस्रोतस्तथा विभ्रंशं कुर्यात् । कासश्वासादीना-
मुत्किष्ठदोषत्वाच्चिरुह ऊर्ध्वं व्रजेत् । अर्शःप्रभृतीनां भृशतरमाध्मानान्मृत्युर्वा स्यात् ।
अल्पवर्चस्कादीनां स्तम्भजाड्यादीनावहेत् । गर्भिण्याः पूर्वोक्ता एव दोषाः ।

आस्थाप्या एव चान्वास्या विशेषादतिवह्नयः ॥ ६ ॥

रूक्षाः केवलवातार्ताः,

य एवाऽऽस्थाप्यास्त एवाऽनुवास्याः । 'आङ्पूर्वातिष्ठतेर्णिजन्तादनुपूर्वाच्च वसते-
रर्हार्थे' एत्यत् । विशेषेणाऽतिवह्न्यादयोऽनुवास्याः ।

नाऽनुवास्यास्त एव च ।

येऽनास्थाप्यास्तथा पाण्डुकामलामेहपीनसाः ॥ ७ ॥

निरन्नप्लीहविड्भेदिगुरुकोष्ठकफोदराः ।

अभिष्यन्दिकृशस्थूलकृमिकोष्ठाढ्यमारुताः ॥ ८ ॥

पीते विषे गरेऽपच्यां श्लीपदी गलगण्डवान् ।

त एवेति । य एवाऽनास्थाप्या अनिरुद्धास्ते चाऽपि नानुवास्याः । तथा
पाण्ड्वादयो नानुवासनार्हाः । एतेषां हि दोषानुत्क्रेश्य स्नेहवस्तिरुदरं जनयेत् ।
निरन्नस्याऽनुवासनात् स्नेहविपत्तिः । तथा चोक्तं खरनादेन—“अभुक्तदत्तश्च तथा
क्नेहवस्तिर्विपद्यत” इति । प्लीहादीनां स्तम्भजाड्यादीनावहेत् । कृमिकोष्ठस्याऽनुवा-
सनात्पूर्वमनिर्हृतैः कृमिभिरतिबहुत्वादशेषनिःसर्णेन हृदयमतिकर्षद्भिन्नश्चर्दयेषु ।
आढ्यमारुतस्य सम्यग्दोषानिर्हरणादामृच्छिः । पीते विषे गरे च नाऽनुवास्या इति
योज्यम् । अपच्यां च क्रमेण । 'श्लीपदीतीनिर्गलगण्डवानिति मतुप्' । अपच्या-



दयो नाऽनुवास्या इति । सङ्ग्रहे चोक्तम्—“अभुक्ते रिक्तकोष्ठस्य प्रयुक्तमनुवासनम् । सरदूरगसूक्ष्मत्वैः क्षिप्रमूर्ध्वं प्रपद्यते । तेन वायोर्जयो न स्याद्वातधाम्न्यतिष्ठता । कायामेराशु नाशश्च विशेषादनिवर्तिना । ज्ञेहः सद्योऽशिताहाररुद्धे त्वामः शयेऽनिलम् । पक्कस्थं हन्ति पक्कस्थश्च्यवते चान्नपाकतः । निरूहश्च समीरश्च तीक्ष्णवेगाबुभावपि । तावन्नमूर्च्छितौ तीक्ष्णावधोऽजेन सहागतौ । ऊर्ध्वं वा शकृता सार्धं संस्थितौ कौष्ठ एव वा । समलाहाराविष्टब्धौ हरेतामाशु जीवितम् । भुक्त एवाऽनुवास्योऽस्माच्च निरूह्योऽत्र भुक्तवानिति” ।

निरूहान्वासनयोर्यन्त्रस्य लक्षणमाह—

तयोस्तु नेत्रं हेमादिधातुदार्ढ्यस्थिवेणुजम् ॥ ९ ॥

गोपुच्छाकारमच्छिद्रं श्लक्ष्णं गुलिकामुखम् ।

तयोर्निरूहान्वासनयोर्नेत्रं भवति । नीयते प्राप्यते ज्ञेहकल्काद्यपानमिति नेत्रम् ‘नेत्रेति नेः घृन्प्रत्ययः’ । किम्भूतम् नेत्रम् ? हेमादिति । आदिशब्दः प्रकारे । तेन रूप्यरीतिकायस्कांस्यत्रपुसीसादयो गृह्यन्ते । दारु शिंशपादिकं षट् । अस्थि गजादेः । वेणुर्वंशः । एतेषां द्वन्द्वः । एभ्यो जातं तयोर्निरूहान्वासनयोर्नेत्रं भवति । किम्भूतम् ? गोपुच्छाकारम् । गोपुच्छ इवाऽकरो यस्य तत् । तथाऽच्छिद्रं निर्बिविम् । तथा श्लक्ष्णं कोमलं तथाऽप्यृज्वक्त्रम् । गुलिकासदृशमतीक्ष्णं मुखं यस्य तदेवम् ।

अथाऽस्य प्रमाणमाह—

ऊनेऽब्दे पञ्च पूर्णेऽसिन्नासप्तभ्योऽङ्गुलानि षट् ॥ १० ॥

सप्तमे सप्त तान्यष्टौ द्वादशे षोडशे नव ।

द्वादशैव परं विंशत्,

अपूर्णे वर्षे नेत्रस्य पञ्चाङ्गुलानि । आतुराङ्गुलप्रमाणमिति गम्यते । दैर्घ्येण चेत्येतदप्यनुक्तं गम्यते । वक्ष्यति हि—‘स्वाङ्गुष्ठेन समं मूले स्थौल्येनेति’ । आसप्तभ्यः सप्तवर्षाणि मर्यादीकृत्य षडङ्गुलानि प्रमाणम् । ‘अत्र मर्यादायां नाभिविधौ’ । तेन षड्वर्षे वात्रे षडङ्गुलानि नेत्रम् । अन्यथा सप्तवर्षस्याऽपि षडेवेति प्राप्नोति । वक्ष्यति तु—‘सप्तमे सप्तेति’ । एवं च पूर्वापरं व्याहृतं स्यात् । ‘तस्मान्मर्यादायामाब्धित्यवेहि’ । सप्तमे वर्षे सप्ताङ्गुलानि द्वादशे वत्सरे तान्यङ्गुलान्यष्टौ नेत्रम् । ‘द्वादशानां पूरण इति तस्य पूरणे ङिति ङट्’ । एवं षोडश इत्यत्र । षोडशसंवत्सरे नवाङ्गुलानि नेत्रम् । विंशाद्वत्सरात् तस्मादूर्ध्वमेकविंशप्रभृतिवर्षेषु द्वादशाङ्गुलानि नेत्रम् । नातोऽप्यधिकानीत्येवशब्दार्थः । ‘विंशतिशब्दात्पूरणे ङिति ति विंशतोर्ङितीति तिलोपाद्विंशशब्दः’ ।

• वीक्ष्य वर्षान्तरेषु च ॥ ११ ॥

वयोबलशरीराणि प्रमाणमभिवर्धयेत् ।



वर्षान्तरेष्वन्तरालावच्छिन्नेषु वर्षेषु नवमदशमादिषु वीक्ष्य पर्यालोच्य नेत्रस्य प्रमाणमभिवर्धयेत् । चशब्दो भिन्नक्रमः । न केवलं वर्षान्तरेषु प्रमाणमभिवर्धयेत् । यावद्वयोबलादीनि निरूप्य प्रमाणं चाऽभिवर्धयेत् ।

स्वाङ्गुष्ठेन समं मूले स्थौल्येनाऽग्रे कनिष्ठया ॥ २ ॥

स्थौल्येन परिणाहेन स्वाङ्गुष्ठेन तुल्यं मूले नेत्रं तथाऽग्रं प्रान्तस्तास्मिन् कनिष्ठयाऽङ्गुल्या समं नेत्रं स्यात् । खरनादेऽप्युक्तम् । “ बस्तिनेत्रमृजु श्लक्ष्णं सद्वृत्तं गुलिकामुखम् । भवेद्गोपुच्छसंस्थानं सुप्रवाहं त्रिकर्णिकम् । या त्रिभागप्रणयने मर्यादा कर्णिका भवेत् । द्वे कर्णिके चोपरिष्ठाद्वस्त्याधारेऽथवान्तरे । स्वाङ्गुष्ठक-परीणाहं मूलं नेत्रस्य शस्यते । मध्यं त्वनामिकातुल्यमग्रं तुल्यकनिष्ठिकम् । स्वेनाङ्गुलिप्रमाणेन दैर्घ्यं स्याद् द्वादशाङ्गुलम् । कर्कन्धुप्रवहच्छिद्रं श्रेष्ठमन्यद्यथावयः । विंशद्वादशषड्वर्षे द्वादशाष्टषडङ्गुलम् । कर्कन्धुकसतीनाप्रमुखं छिद्रवहमित्यादि । ” मुनिरप्यवाचत्—“ षड्द्वादशाष्टाङ्गुलसम्मितानि षड्विंशतिद्वादशवर्षजानाम् । स्युर्महत्कर्कन्धुसतीनवाहिच्छिद्राण्यपिहितानि चैव । यथावयोऽङ्गुष्ठकनिष्ठिकाभ्यां मूलाग्रयोः स्यात् परिणाह इति । ”

अधुना विन्दुद्वारेण नेत्रस्थौल्यप्रमाणमधिकं दर्शयन्नाह—

पूर्णोऽब्देऽङ्गुलमादाय तदर्धाऽर्धप्रवर्धितम् ।

त्र्यङ्गुलं परमं छिद्रं मूलेऽग्रे वहते तु यत् ॥ १३ ॥

मुद्रं माषं कलायं च क्लिन्नं कर्कन्धुकं क्रमात् ।

वर्षे पूरणे सत्यङ्गुलमादाय स्वाङ्गुलात्प्रभृति क्रमेण त्र्यङ्गुलं छिद्रं मूले नेत्रस्य भवति । किम्भूतं छिद्रम् ? अर्धस्याऽर्धमर्धार्धम् । तस्याऽङ्गुलस्यार्धार्धं तेन प्रवर्धितम् । तत्र प्रथमे वर्षेऽङ्गुलमात्रं छिद्रं यावद्वर्षाणि षट् । सप्तमे वर्षे सपादमङ्गुलं यावेदका-दश वर्षाणि । द्वादशे वर्षे सार्धमङ्गुलं यावत्षोडशवर्षाणि । षोडशे वर्षे पादोनमङ्गुल-द्वयम् । सप्तदशे वर्षेऽङ्गुलद्वयम्, अष्टादशे वर्षे सपादमङ्गुलद्वयम् । एकोनविंशतिवर्षे सार्धमङ्गुलद्वयम् । विंशतिवर्षस्य पादोनमङ्गुलित्रयम् । एकविंशतिवर्षस्य त्र्यङ्गुलं छिद्रमिति क्रमो वेद्यः । परममित्येनैतद्रमयति । परम-मुत्कर्षमाश्रित्येदं मूलच्छिद्रम् । मध्यमं तु यत्तच्छिद्रं स्वाङ्गुष्ठेनेत्येनोक्तम् । ऊन-वर्षस्य त्वर्धाङ्गुलं छिद्रमेतदपेक्षया कल्प्यम् । अग्रे तु छिद्रं तद्वद्भवति यन्मुद्रादि वहति । तत्र वार्षिकस्य मुद्रवाहि यावत्षड्वर्षम् । सप्तवर्षस्य माषवाहि यावेदका-दशोऽब्दः । द्वादशवर्षस्य कलायवाहि, षोडशवर्षस्य क्लिन्नकलायवाहि, एकविंशति-वर्षस्य कर्कन्धुवाहीति क्रमाद्वयः प्रमाणम् । ऊनवर्षस्य च न मुद्रादिवाहि कल्प्यम् । अग्रच्छिद्रप्रमाणं चैतदग्रे कनिष्ठयेत्यत्राऽपि सङ्गच्छत एव । दैर्घ्यप्रमाणं चाऽत्र पक्षे पूर्वमेव योज्यम् । स्वाङ्गुष्ठेन समं मूले स्थौल्येनेत्यनेन छिद्रप्रमाणं स्वमत्या

भिषजा प्रकल्प्यम् । तथा त्र्यङ्गुलं परमं छिद्रमित्यत्र स्थौल्यप्रमाणं स्वधियैव निरूप्यम् । तन्त्रकृता तु ग्रन्थगौरवभयादुक्तप्रायत्वाच्चेह नोक्तम् ।

मूलच्छिद्रप्रमाणेन प्रान्ते घटितकर्णिकम् ॥ १४ ॥

वर्त्याऽग्रे पिहितं मूले यथास्वं द्वाङ्गुलान्तरम् ।

कर्णिकाद्वितयं नेत्रे कुर्यात् ,

मूले यच्छिद्रमुक्तं तत्प्रमाणेन प्रान्ते घटिता सम्पादिता कर्णिका छत्राकारा गुदाधिकान्तःप्रवेशरोधिनी यस्मिन्स्तदेवम् । तथा वर्त्या दशादिकृतया प्रान्ते पिहितं स्थगितम् । मूले यथास्वमूनवर्षादिकस्य तदङ्गुलप्रमाणेन द्व्यङ्गुलान्तरं कर्णिकायुगलं मूलप्रदेशे नेत्रे विदधीत बस्तिपुटयोजनार्थम् ।

अथ एवाह—

तत्र च योजयेत् ॥ १५ ॥

अजाऽऽविमहिषादीनां बस्तिं सुमृदितं दृढम् ।

कषायरक्तं निश्छिद्रग्रन्थिगन्धसिरं तनुम् ॥ १६ ॥

ग्रन्थितं साधु सूत्रेण सुखसंस्थाप्यभेषजम् ।

तत्रेत्यादि । तस्मिन्श्च कर्णिकाद्वितयेऽजादीनां बस्तिं योजयेत् । आदिशब्देन गोहरिणवराहमहिषाणां ग्रहणम् । अजादीनामित्येवं निर्देशेऽप्याविमहिषग्रहणे लब्धे साक्षादेतयोर्ग्रहणमन्यजभ्यो बस्तिभ्य एतद्वस्तेर्योग्यतरत्वप्रतिपादनार्थम् । किम्भूतं बस्तिम् ? सुमृदितं सन्नेहं मुहुः सुष्ठु मर्दितं तथा दृढं तथा कषायेण हरीतक्यादिना रक्तं तथा छिद्रं च ग्रन्थिश्च गन्धश्च सिराश्च ता निर्गता न सन्ति यस्य तन्निश्छिद्रग्रन्थिगन्धसिरम् । तथा तनुं न स्थूलं तथा साधु सम्यक् सूत्रेण ग्रन्थितं बद्धं तथा सुखेनाऽकृच्छ्रेण संस्थापनीयमौषधं यत्र तदेवम् ।

बस्त्यभावेऽङ्गुपादं वा न्यसेद्वासोऽथवा घनम् ॥ १७ ॥

बस्तेरभावे सत्यङ्गुपादं छागैणाद्यवयवविशेषं वा न्यसेन्नेत्रे योजयेत् । अथवा वस्त्रं घनं न्यसेत् ।

निरूहमात्रा प्रथमे प्रकुञ्चो वत्सरात्परम् ।

प्रकुञ्चवृद्धिः प्रत्यब्दं यावत्षट्प्रसृतास्ततः ॥ १८ ॥

प्रसृतं वर्धयेदूर्ध्वं द्वादशाऽष्टादशस्य च ।

आसप्ततेरिदं मानं दशैव प्रसृताः परम् ॥ १९ ॥

निरूहस्य मात्रा प्रथमे वर्षे कषायस्नेहसहितस्य प्रकुञ्चः पलप्रमाणम् । षण्मासादौ त्वेततदनुसारेणार्धपलादि कल्प्यम् । वर्षात्परं प्रकुञ्चवृद्धिः प्रति-संवत्सरं कार्या, यावत्षट् प्रसृता द्वादश पलानि । तत ऊर्ध्वं प्रसृतं वर्धयेत् । प्रत्यब्दमित्यनुवर्तते । ततो द्वादशवर्षस्यैव द्वादश पलानि । अनन्तरं त्रयोदश-

वर्षादिषु प्रतिवर्षं पलद्वयं निरूहमात्रायां वर्धयितव्यं क्रमेणैव यावत्सप्तदश-
वर्षाणि । अष्टादशवर्षस्य तु द्वादश प्रसृताश्चतुर्विंशतिपलानि । इदं मानं प्रमाणं
सप्ततिवर्षाणि यावत् । परं सप्ततेरूर्ध्वं दशैव प्रसृता मानं नाऽधिकम् ।

एवं सांवत्सरिकादारभ्य यावद्वर्षशतिकस्तावन्निरूहमात्रामभिधायाऽनुवासनमात्रा-
मधिकृत्याह—

यथायथं निरूहस्य पादो मात्राऽनुवासने ।

यथायथं यथास्वं वार्षिकस्यैकविंशतिवत्सरादेर्वा निरूहस्य पादश्चतुर्भागो मात्रा-
ऽनुवासनेऽनुवासनविषये मात्रा यस्य पलं निरूहस्तस्य कर्षप्रमाणमनुवासनमित्यर्थः ।
एवं सर्वत्र कल्प्यम् ।

• आस्थाप्यं स्नेहितं स्विन्नं शुद्धं लब्धबलं पुनः ॥ २० ॥

अनुवासनार्हं विज्ञाय पूर्वमेवाऽनुवासयेत् ।

शीते वसन्ते च दिवा रात्रौ केचित्ततोऽन्यदा ॥ २१ ॥

अभ्यङ्गस्नानमुचितात्पादहीनं हितं लघु ।

अस्निग्धरूक्षमशितं सानुपानं द्रवादि च ॥ २२ ॥

कृतचङ्क्रमणं मुक्ताविरमूत्रं शयने सुखे ।

नात्युच्छ्रिते न चोच्छीर्षे संविष्टं वामपार्श्वतः ॥ २३ ॥

सङ्कोच्य दक्षिणं सक्थि प्रसार्य च ततोऽपरम् ।

आस्थाप्यं निरूहणार्थं स्निग्धं तथा स्विन्नं तथा शुद्धमूर्ध्वाधस्तथा भूयोऽपि
लब्धबलं तथाऽनुवासनयोग्यं विदित्वा पूर्वमेव निरूहादनुवासयेत् । शीते हेमन्त-
शिशिरयोर्ऋत्वोस्तथा वसन्ते दिवाऽनुवासयेत् । केचिदाचार्या अन्यदा शीताद्व-
सन्ताच्चाऽन्यस्मिन् ग्रीष्मप्रावृट्शरदाख्ये ऋतौ रात्रावनुवासयेत् । केचिदिति भिन्न-
क्रमस्ततोऽन्यदेत्यतोऽनन्तरं द्रष्टव्यः । इति केचिदाहुरिति वाक्यशेषः । धान्वन्तरास्तु
सर्वथैव रात्रावनुवासनं नेच्छन्ति । धन्वन्तरिमतमधिकृत्य सङ्ग्रहेऽधिजगे—“न
रात्रौ प्रणयेद्वस्ति दोषोत्केशो हि रात्रिजः । ज्ञेहो वीर्ययुतः कुर्यादाध्मानं गौरवं
ज्वरमिति” । तदेवं तद्देशान्तरादिवशात् प्रमाणयितव्यम् । किम्भूतं नरम् ?
अभ्यङ्गस्नानं पूर्वमभ्यङ्गः पश्चात्स्नानतः । ‘पूर्वकालेति समासः’ । उचिताद्यद्वेनेन
भोजनमभ्यस्तं तस्माच्चतुर्थभागहीनमशितं तथा हितं लघुगुणकं तथा किञ्चिद-
स्निग्धरूक्षं तथा सानुपानं द्रवादि च । आदिशब्देन द्रवोष्णमनभिध्यन्दीत्यादि
विशिष्टं भुक्त्वन्तमिति गमयति । उक्तं च सङ्ग्रहे—“अतिस्निग्धाशिनो ह्यभ्य-
मार्गात् ज्ञेहो मदमूर्च्छाऽग्निसादहृल्लासादीन् जनयति । रूक्षाशिनो विष्टम्भं बलव-
र्णहानि च । अल्पमात्रद्रवाशिनोऽविसृष्टविरमूत्रस्य चाच्चावृतेन तदावरणाद्यापद-
मिति” । किम्भूतम् ? कृतचङ्क्रमणं तथा त्यक्तमूत्रपुरीषं तथा शयने सुखावहे सं-



विष्टं स्थितम् । किम्भूते ? नात्युच्छ्रिते नाऽत्युन्नते न चोच्छ्रीर्षे त्यक्तोच्छ्रीर्षे ।
कथं सविष्टम् ? वामपार्श्वतो वामपार्श्वेन । सङ्कोच्य दक्षिणं सक्थि वामसक्थन
उपरीति वृद्धवैद्याः । ततो दक्षिणसक्थनोऽपरं वामं सक्थि प्रसार्य । सङ्ग्रहे चो-
क्तम्—“शयने नात्युच्छ्रिते स्वास्तृत ईषदुन्नतपाददेशे वामपार्श्वेन प्राक्शिरसं संवे-
शयेदिति” ।

अथाऽस्य नेत्रं प्रणयेत्स्निग्धं स्निग्धमुखं गुदे ॥ २४ ॥

उच्छ्वासास्य बस्तेर्वदने बद्धे हस्तमकम्पयन् ।

पृष्ठवंशं प्रति ततो नाऽतिद्रुतविलम्बितम् ॥ २५ ॥

नाऽतिवेगं न वा मन्दं सकृदेव प्रपीडयेत् ।

अस्यैवंभूतावस्थस्यातुरस्य गुदे स्निग्धे कृते बस्तेर्वदन उच्छ्वासात् नित्यं
बद्धे सति नाऽतिरीघ्रं नाऽतिविलम्बितं नाऽतिवेगं न वा मन्दं तथा पृष्ठवंशामिमुख-
मेकवारमेव नेत्रं स्निग्धप्रान्तं प्रपीडयेत् । कथं प्रपीडयेत् ? हस्तमकम्पयन् । अति-
द्रुतादिपीडनदोषा बस्तिव्यापदि वक्ष्यमाणाः ।

सावशेषं च कुर्वीत वायुः शेषे हि तिष्ठति ॥

सावशेषं च स्नेहं कुर्वीत । कुतो हेतुरित्याह । यस्मात् शेषे स्नेहे वायुस्तिष्ठति ।

दत्ते तूत्तानदेहस्य पाणिना ताडयेत्स्फिजौ ।

तत्पार्ष्णिभ्यां तथा शय्यां पादतश्च त्रिरुत्क्षिपेत् ॥ २७ ॥

दत्ते च स्नेहे सत्युत्तानगात्रस्य तु तस्य स्फिजौ हस्तेनाऽऽह्वयेत् । तथा तेनैव
प्रकारेण तत्पार्ष्णिभ्यां स्फिजौ ताडयेत् । शय्यां खट्वां पादतश्चरणदेशान्नीन्वा-
राभ्युत्क्षिपेत् तु मूर्धतः ।

ततः प्रसारिताङ्गस्य सोपंधानस्य पार्ष्णिके ।

आह्वान्यामुष्टिनाङ्गं च स्नेहेनाभ्यज्य मर्दयेत् ॥ २८ ॥

वेदनार्तमिति स्नेहो नहि शीघ्रं निवर्तते ।

योज्यः शीघ्रं निवृत्तेऽन्यः स्नेहोऽतिष्ठन्नकार्यकृत् ॥ २९ ॥

ततः शय्योत्क्षेपादनन्तरं प्रसारितशरीरस्य दत्तगेन्दुकस्य पार्ष्णिके पाष्ण्यां
मुष्ट्या ह्वयेत् । अङ्गं शरीरं च स्नेहेन तैलादिनाभ्यज्य मर्दयेत् । किमेवं क्रियत
इत्याह । अङ्गं वेदनार्तं पीडातुरमिति हेतोर्यश्मादाशु स्नेहो न निवर्तते । शीघ्र-
मपयाते च स्नेहे सत्यपरः स्नेहो देयः । कस्मादेवं विधीयत इत्याह । स्नेहश्च शरीरा-
भ्यन्तरेऽतिष्ठन्नैव कार्यकृत् स्नेहेन समर्थ इत्यर्थः ।

दीप्ताग्निं त्वागतस्नेहं सायाह्ने भोजयेत्क्षु ।

दीप्ताग्निं तु पुरुषं निवृत्तस्नेहं सन्तं लघु मात्रया स्वभावतश्चाशयेत् ।

निवृत्तिकालः परमस्त्रयो यामास्ततः परम् ॥ ३० ॥

अहोरात्रमुपेक्षत परतः फलवर्तिभिः ।



तीक्ष्णैर्वा बस्तिभिः कुर्याद्यत्नं स्नेहनिवृत्तये ॥ ३१ ॥

स्नेहस्य त्रयः प्रहराः परो निवृत्तिकालः । ततः प्रहरत्रयात् परतो रात्रिन्दिव-
मुपेक्षेत । न तदाकृष्यै यत्नं कुर्यात् । परतोऽहोरात्रात्फलवर्तिभिरर्शश्चिकित्सितोक्ता-
भिरथवा तीक्ष्णैर्बस्तिकल्पोक्तेर्बस्तिभिः स्नेहाऽऽगमनार्थं यतेत ।

अतिरौक्ष्यादनागच्छन्न चेज्जाड्यादिदोषकृत् ।

उपेक्षेतैव हि ततोऽध्युषितश्च निशां पिबेत् ॥ ३२ ॥

प्रातर्नागरधान्याम्भः कोष्णं केवलमेव वा ।

अतिरौक्ष्यादनागच्छन्न स्नेहो यदि जाड्यामिसादादिदोषान्न विधत्ते तदोपेक्षेतैव
न निष्कासने यतेतेत्यर्थः । ततो निशां रात्रिमध्युषितः पुमान् प्रातः प्रभाते शुण्ठी-
धान्याम्बु कदुष्णं पिबेत् । केवलमेव वा नागरधान्याकरहितं कोष्णं जलं पिबेत् ।

अन्वासेयत्तृतीयेऽह्नि पञ्चमे वा पुनश्च तम् ॥ ३३ ॥

यथा वा स्नेहपक्तिः स्यादतोऽत्युल्बणमारुतान् ।

व्यायामनित्यान् दीप्ताग्नीन् रूक्षांश्च प्रतिवासरम् ॥ ३४ ॥

तमातुरं भूयस्तृतीये दिवसे पञ्चमे वाऽनुवासयेत् । अथवा यथा स्नेहपाको
भवेदित्यग्न्यपेक्षया सप्तरात्रेऽधिके न्यूने वा त्रिरात्रे वा यथायोग्यमनुवासयेत् ।
अतोऽस्मादेव हेतोरधिकपवनान्व्यायामशीलानत्यग्निदीप्तान् रूक्षांश्च पुरुषान् प्रत्यह-
मनुवासयेत् ।

इति स्नेहैस्त्रिचतुरैः स्निग्धे स्रोतोविशुद्धये ।

निरूढं शोधनं युञ्ज्यादस्निग्धे स्नेहने तनोः ॥ ३५ ॥

इति पूर्वोक्तेन प्रकारेण स्नेहैस्त्रिचतुरैर्वा स्निग्धे सति, स्रोतोविशोधनार्थं निरूढं
शोधनं प्रयोजयेत् । अस्निग्धे सति, तनोः शरीरस्य स्नेहनं प्रयोजयेत् । त्रयो वा
चत्वारो वा त्रिचतुराः । 'सङ्ख्ययाव्ययेति समासः । चतुरोऽच्प्रकरणे व्युपाभ्या-
मुपसङ्ख्यानमित्यच् समासान्तः' ।

पञ्चमेऽथ तृतीये वा दिवसे साधके शुभे ।

मध्याह्ने किञ्चिदावृत्ते प्रयुक्ते बलिमङ्गले ॥ ३६ ॥

अभ्यक्तस्वेदितोत्सृष्टमलं नाऽतिबुभुक्षितम् ।

अवेक्ष्य पुरुषं दोषभेषजादीनि चादरात् ॥ ३७ ॥

वस्ति प्रकल्पयेद्वैद्यस्तद्विद्यैर्बहुभिः सह ।

अथाऽनुवासनादनन्तरं तृतीये पञ्चमे वा वासरे, मध्याह्ने किञ्चिदावृत्तेऽतिक्रान्ते
तथा बलिमङ्गले विहिते सति, पुरुषं कृताभ्यक्तस्वेदितं त्यक्तमलं किञ्चिद्वुभुक्षितं
तथा प्रकृत्यादिभिर्ज्ञात्वा दोषादीन् विदित्वा । आदिशब्देन सात्त्विकबलादिपरिग्रहः ।
इत्येवं सर्वमधिगत्य वैद्यो वस्तिं प्रकल्पयेत् । ननु दूष्यं देशमित्यादिना सर्वमुक्त-
मेवैतत्सत्किमनेनेति ? ब्रूमः । निरूढमपि सापायं पश्यताचार्यैरेतदुक्तम् । दूष्य-

देशादि महता यत्नेनाऽलोचनीयमिति प्रतिपादनार्थं निरूहमात्रा प्रथममित्यादि सर्वमालोच्यम् । कथं प्रकल्पयेदित्याह । तद्विधैर्वैद्यकशास्त्रैर्बहुभिः सह सार्धम् ।

अथ निरूहकल्पनानाह—

काथयेद्विंशतिपलं द्रव्यस्याऽष्टौ फलानि च ॥ ३८ ॥

द्रव्यस्य बस्तिकल्पोक्तस्य निरूहकल्पनार्थं विंशतिपलानि तथाऽष्टौ फलानि मदनफलानि सामान्यपरिभाषया षोडशगुडं जलं दत्वा काथयेत् । चतुर्भागाव-
शेषश्च प्राण्यः ।

ततः काथाच्चतुर्थांशं स्नेहं वाते प्रकल्पयेत् ।

पित्ते स्वस्थे च षष्ठांशमष्टमांशं कफाधिके ॥ ३९ ॥

तस्मादेवंकृतात् काथाच्चतुर्थांशं स्नेहं वाते प्रकल्पयेत् । ‘ द्वादशप्रसृतो हि निरूहः ’ । तत्र स्नेहं षट्पलिकं कल्पयेदित्यर्थः । पित्तेऽधिके स्वस्थे च पुरुषे षष्ठांशं स्नेहं चतुष्पलिकं प्रकल्पयेदिति प्रकृतम् । कफेऽधिके स्नेहमष्टमांशं त्रिपलिकं प्रकल्पयेत् । सर्वत्र च वातपित्तकफेष्वधिकेषु स्वस्थवृत्तेश्चाष्टमं भागं त्रीणि पलानि कल्कस्य प्रयोजयेदिति प्रकृतम् । ननु स्वस्थस्य दोषचालनं प्रतिषिद्धं तन्त्रान्तरीयैः । तद् ग्रन्थो हि—“ यो हि सञ्चालयेत्सुप्तं वने सिंहं करादिभिः । स दोषाञ्चालयेत् स्वस्थान् प्रच्छर्दनविरेचनैरिति ” । तस्मात् स्वस्थे निरूहस्य कल्पना न युक्तेति । तदेतदसत् । यस्मात् प्रागभिहितम्—“ शीतोद्भवं दोषचयं वसन्ते विशोधयन् ग्रीष्मजमभ्रकाले । घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक् प्राप्नोति रोगान्तनुजान्न जात्विति ” । तस्मादाचार्यवचनाज्ज्ञायते स्वस्थवृत्तेरपि शुद्धिविधानं सम्मतमिति तन्त्रकृतस्तन्त्रान्तरीयं मतं त्वसदेव शिष्टव्यवहारविरुद्धत्वात् ।

सर्वत्र चाऽष्टमं भागं कल्कान्द्रवति वा यथा ।

नाऽत्यच्छसान्द्रता बस्तेः,

सर्वत्र वाते पित्ते कफे च कल्कात् पेष्यद्रव्यादष्टमं भागं त्रीणि पलानि कल्पयेत् । भवति वेत्यादि । यथा नाऽत्यच्छसान्द्रता बस्तेः । यथा वा बस्तिरत्यच्छो-
ऽतिसान्द्रो वा घनो न भवति तथा कल्कः कल्कयितव्यः ।

पलमात्रं गुडस्य च ॥ ४० ॥

मधुपदवादिशेषं च युक्त्या,

‘ पलमात्रं गुडस्य चेति ’ पित्ते तदधिकं नेति ज्ञापनार्थं मात्रग्रहणम् । मधु-
पदवादिशेषं च युक्त्या प्रकल्पयेत् । तत्रैवं युक्तिः—माक्षिकस्य पलचतुष्टयं सैन्ध-
वस्य च कर्षः । तथा कचिद्यवच्चारस्य कर्षः । आदिग्रहणान्मांसरससुरासवमूत्रक्षीर-
काञ्जिकानां ग्रहणम् ।

सर्वं तदेकतः ।

उष्णाम्बुकुम्भीवाष्पेण तप्तं खजसमाहृतम् ॥ ४१ ॥



प्रक्षिप्य बस्तौ प्रणयेत्पायौ नान्युष्णशीतलम् ।

नाऽतिस्निग्धं न वा रूक्षं नाऽतितीक्ष्णं न वा मृदु ॥ ४२ ॥

नात्यच्छसान्द्रं नोनाऽतिमात्रं नाऽपटु नाऽति च ।

लवणं तद्वदम्लं च,

तदेतत्सर्वमौषधमेकत एकस्मिन् कृत्वा भेषजपाकातिक्रान्तिपरिहारार्थमुष्णाम्बु कुम्भीबाष्पेण तप्तं खजेन दर्व्या हननकाष्ठेन समाहृतमालोडितं तथा 'ब्रह्मदक्षे-
त्यादिना' चाऽभिमन्त्रितं बस्तौ प्रक्षिप्य, पायौ गुदे, प्रणयेत् । नाऽत्युष्णं नाऽति-
शीतलं, नाऽतिस्निग्धं, न वा रूक्षं, नाऽतितीक्ष्णं, न वा मृदु, नाऽत्यच्छं, नाति-
सान्द्रं, नाऽतिघनं, नोनमात्रं (न-ऊनमात्रं), न चाऽतिमात्रं, नाऽपटुं, नाऽतिलवणं
'तद्वदम्लं चेत्यादिना' नाऽत्यम्लम् । अतिशब्दप्रयोगादत्र मध्यमावस्थानुगमः ।

साम्प्रतमन्यमतमभिधत्ते--

पठन्त्यन्ये तु तद्विदः ॥ ४३ ॥

मात्रां त्रिपलिकां कुर्यात्स्नेहमाक्षिकयोः पृथक् ।

कर्षार्धं माणिमन्थस्य स्वस्थे कल्कपलद्वयम् ॥ ४४ ॥

सर्वद्रवाणां शेषाणां पलानि दश कल्पयेत् ।

माक्षिकं लवणं स्नेहं कल्कं काथमिति क्रमात् ॥ ४५ ॥

आवपेत निरूहाणामेष संयोजने विधिः ।

पठन्तीत्यादि । तद्विदो बस्तिविद एवं पठन्ति । यथा--' मात्रां त्रिपलिकां
कुर्यादित्यादि ' । सम्प्रति निरूहावयवानां माक्षिकादीनां संयोजनविधिमाह ।
माक्षिकमित्यादि । माक्षिकादि क्रमादावपेत् कुरण्डके माक्षिकं प्रथमं प्रक्षिप्य मर्द-
येत् । ततस्तत्रैव लवणं क्षिप्वा मेलयेत् । ततो लवणं मर्दयित्वा मिश्रयेत् । एवं
स्नेहं ततोऽनु कल्कं ततः क्वाथमित्यनेन क्रमेण मिश्रयेदित्यर्थः । एवं योजितानि
द्रव्याणि समरसतां यान्ति । समरसभावेन निरूहस्य सम्यग्योगो भवति । निरू-
हाणां संयोजने मिश्रणे, एष विधिरेतद्विधानम् ।

उत्तानो दत्तमात्रे तु निरूहे तन्मना भवेत् ॥ ४६ ॥

कृतोपधानः सञ्जातवेगश्चात्कटकः सृजेत् ।

निरूहे दत्तमात्रे तूतानः सन्, तन्मना निरूहवेगे दत्तावधानस्तथा कृतोपधानः
सन्, तिष्ठेत् । समुद्रतवेगश्चात्कटकः सन्, त्यजद्वेगमिति शेषः ।

आगतौ परमः कालो मुहूर्तो मृत्यवेऽपरः ॥ ४७ ॥

तत्राऽऽनुलोमिकं स्नेहक्षारमूत्राऽम्लकलिपतम् ।

मौ० टि०-१ आगतौ=दत्तनिरूहप्रतिनिवर्तने, मुहूर्तः कालः=घटिकाद्वयात्मकः
समयः, परमः=पर्याप्त इत्यर्थः । अपरः=मुहूर्तादग्रे प्रवर्तमानः कालः, प्रतीक्षितः
सन्, मृत्यवे स्यादितिभावः ।



त्वरितं स्निग्धतीक्ष्णोष्णं बस्तिमन्यं प्रपीडयेत् ॥ ४८ ॥
विदध्यात्फलवर्तिं वा स्वेदनोत्त्रासनादि च ।

आगतौ प्रत्यागमने कालः परमो मुहूर्तः । अपरस्तस्मान्मुहूर्तादन्यौ विदध्ना-
गमनकालौ (?) मृत्यवे मरणाय । तत्र तस्मान्मुहूर्तात्परमनागतनिरुहस्य त्वरितमपरं
बस्तिं निरुहं प्रपीडयेदिति सम्बन्धः । किम्भूतं निरुहम् ? आनुलोमिकमनुलोम-
करम् । ब्रह्मस्तथा क्षारो यवक्षारादिस्तथा मूत्रं गोमूत्रमम्लं तक्रकाजिकादि तैः
कल्पितं निरुहितम् । तथा स्निग्धं च तीक्ष्णमुष्णं च ब्रह्मयोगादेव स्निग्धत्वे सिद्धे
स्निग्धग्रहणं निरुहाणामस्निग्धतरत्वप्रतिपादनार्थम् । 'आनुलोमिकमित्यध्यात्मा-
दित्वाठ्ठम्' । अथवा फलवर्तिं विदध्यात् । फलेन मदनफलेन युक्ता वर्तिः सा चार्श-
श्चिकित्सिते वक्ष्यमाणा । स्वेदनोत्त्रासनादि च । स्वेदनं स्वेदः । उत्त्रासनं खड्ग-
हस्तयोधदर्शनादिना । कुपितनृपखड्गव्यग्रे प्रबाहुदर्शनादिनाऽऽकुलं कुर्यात् ।

स्वयमेव निवृत्ते तु द्वितीयो बस्तिरिष्यते ॥ ४९ ॥

तृतीयोऽपि चतुर्थोऽपि यावद्वा सुनिरुद्धता ।

फलवर्त्याद्यायासं विनाऽपि निवृत्ते निरुहे सति द्वितीयो निरुह इष्यते । यत्न-
विशेषेण तु निरुहे निवृत्ते सति नाऽन्यं बस्तिं प्रपीडयेदित्युक्तं भवति । तृतीयोऽपी-
त्यपिः समुच्ये । एवं चतुर्थोऽपीति । यावद्वेति । पञ्चमादयोऽपि बस्तयो देया
यावत्सम्यङ्निरुद्धत्वं स्यात् ।

कानि पुनः सम्यङ्निरुद्धलिङ्गानीत्याह—

विरिक्तवच्च योगादीन्विद्यात्,

निरुहे विरिक्त इव योगादीन् विद्यात् । तत्र चोक्तम्—'हृत्कुक्षिशुद्धिरित्या-
रभ्य यावद्भवन्त्यतिविरिक्तस्य तथाऽतिवमनामया इति' ।

योगे तु भोजयेत् ॥ ५० ॥

कोष्णेन वारिणा स्नातं तनु धन्वरसौदनम् ।

योगे तु निरुहस्य सम्यग्योगे सति सुखोष्णजलस्नातं सन्तं भोजयेत् । किम् ?
धन्वरसो जाङ्गलरसश्चौदनश्च तद्धन्वरसौदनम् । किम्भूतं धन्वरसौदनम् ? तनु अ-
धनम् । ननु यूषक्षाररसैः क्रमादिति वक्ष्यति तत्कथमिहैदमभ्युपपद्यते ? ब्रूमः ।
वातविकारशमनार्थो हि निरुहः प्रायेणेष्यते । तस्मिन् रसकौदनमेव पथ्यं श्रेयः ।
अग्रे च दोषाऽपेक्षया पथ्यं विशेषणैवोपदेक्ष्यतेऽतो नाऽत्र किञ्चिदनुपपन्नम् । ननु
दोषनिर्हरणं वमनविरेकाभ्यां द्रवादेव क्रियते । तत्र पेयादिक्रमो युक्तस्तथेहाऽपि
युक्तः स्यात् ? नैवम् । विरेकवमनाभ्यां हि बद्धिस्थानमाच्छाद्यते तेनाऽग्निमान्द्यं
भवति । निरुहस्तु नाभेरूर्ध्वमगच्छन्नेव दोषनिर्हरणं करोति । तेन नाऽत्राग्निमा-
न्यापत्तिः । तस्मान्नाऽत्र पेयादिक्रमः । अपि च वातविकारविषयत्वाच्च रसौदन-
प्रायमेव पथ्यं युक्तम् ।



विकारा ये निरूहस्य भवन्ति प्रचलैर्मलैः ॥ ५१ ॥

ते सुखोष्णाम्बुसिक्तस्य यान्ति भुक्त्वतः शमम् ।

प्रकर्षेण चलैर्दोषैर्ये विकारा भवन्ति ते कोष्णसलिलस्नातस्य कृतभोजनस्य सतः शमं गच्छन्ति । अत एव तत्कार्यमिति भावः ।

अथ वातार्दितं भूयः सद्य एवाऽनुवासयेत् ॥ ५२ ॥

अथ निरूहादनन्तरं वातपीडितं पुरुषं सद्य एव तस्मिन्नेव दिनेऽनुवासयेत् ।

सम्यग्धीनाऽतियोगाश्च तस्य स्युः स्नेहपीतवत् ।

तस्याऽनुवासनस्य स्नेहपानस्येव सम्यग्योगादयः स्युः । स्नेहपीतस्येव स्नेहपीतवत् । 'षष्ठ्यन्ताद्वितिः' ।

तत्रे वातानुलोम्यमित्यादि घ्राणवक्त्रगुदस्रवा इत्युक्तं स्नेहपानसम्यग्योगाति-योगलक्षणम् । अन्यदनुवासनस्य सम्यग्योगलक्षणमाह—

किञ्चित्कालं स्थितो यश्च सपुरीषो निवर्तते ॥ ५३ ॥

साऽनुलोमाऽनिलः स्नेहस्तत्सिद्धमनुवासनम् ।

चशब्दः पूर्वोक्तं सम्यग्योगलक्षणं समुच्चिनोति । किञ्चिदल्पमात्रं कालं कोष्ठाभ्यन्तरे स्थितः सन् सविद्वक्ः साऽनुगुणपवनो निवर्तते निःसरति यः स एवम्भूतः स्नेहस्तत्सिद्धमभिमतकार्यनुवासनम् । उक्तं च व्यस्तं समस्तं चेदं सिद्धानुवासनलक्षणम् ।

एकं त्रीन् वा बलासे तु स्नेहबस्तीन् प्रकल्पयेत् ॥ ५४ ॥

पञ्च वा सप्त वा पित्ते नवैकादश वाऽनिले ।

पुनस्ततोऽप्ययुग्मांस्तु पुनरास्थापनं ततः ॥ ५५ ॥

स्नेहबस्तीननुवासनानि एकं त्रीन्वा श्लेष्मविकारे प्रकल्पयेत् । कार्ये कारणोपचारादेवमुक्तम् । एवमग्रेऽपि चिन्त्यम् । पित्ते पञ्च स्नेहबस्तीनथवा सप्त दद्यात् । नव एकादश वा वायौ दद्यात् । ततः पुनरयुग्मान् स्नेहबस्तीन् दद्यात् । ततः पुनरप्यास्थापनं दद्यात् । अयुग्मवचनं स्नेहबाहुल्येनाऽयं व्यवहारो युक्त इति प्रतिपादयितुम् । वातार्तस्य तु युग्मा अपि देया एव । तथा चाऽमुनैवाऽभ्यधायि—'व्यायाम-नित्यान् दीप्ताग्नीन् रूक्षांश्च प्रतिवासरमिति' ।

कफपित्ताऽनिलेष्वन्नं यूषक्षीररसैः क्रमात् ।

कृतास्थापनस्य च पथ्यं श्लेष्मपित्तपवनेषु यथासङ्ख्यं यूषादिभिः सहाजमुपभोक्तव्यम् ।

वातघ्नौषधानिःकाथस्त्रिवृतासैन्धवैर्युतः ॥ ५६ ॥

बस्तिरेकोऽनिले स्निग्धः स्वाद्वम्लोष्णरसान्वितः ।

बस्तिर्निरूहोऽनिले वातविषये वातघ्नौषधानि दशमूलादीनि, तेषां निःकाथो यवकादिसिद्धः, त्रिवृतासैन्धवैर्युतस्तथा स्निग्धो मधुराम्लोष्णरसयुक्तः पवने हितः ।

न्यग्रोधादिगणकाथौ पत्रकादिसितायुतौ ॥ ५७ ॥

पित्ते स्वादुहिमौ साज्यक्षीरेक्षुरसमाक्षिकौ ।

पित्ते मधुरशिशिरौ सघृतदुग्धेक्षुरसमधू द्वौ बस्ती हितौ ।

आरग्वधादिनिःकाथवत्सकादियुतास्त्रयः ॥ ५८ ॥

रूक्षाः सक्षौद्रगोमूत्रास्तीक्ष्णोष्णकटुकाः कफे ।

तथाऽऽरग्वधेन्द्रयवेत्यादिकषायवत्सकमूर्वेत्यादिकषायाभ्यां युक्ता रूक्षा माक्षिकगोमूत्राभ्यां सहितास्तीक्ष्णादिगुणयुक्तास्त्रयो बस्तयः कफे हिताः ।

त्रयश्च सन्निपातेऽपि दोषान्घ्नन्ति यतः क्रमात् ॥ ५९ ॥

सन्निपाते त्रय एव बस्तयो हिताः । यस्मादेते त्रीन् दोषान् क्रमेण पराकुर्वन्ति ।

त्रिभ्यः परं बस्तिमतो नेच्छन्त्यन्ये चिकित्सकाः ।

नहि दोषश्चतुर्थोऽस्ति पुनर्दीयेत यं प्रति ॥ ६० ॥

अत एव हेतोस्त्रिभ्यो बस्तिभ्यः परमपरे भिषजो निरूढं नेच्छन्ति । यतस्त्रयो दोषास्त्रिभिर्बस्तिभिर्निर्वर्तिता इति चतुर्थो दोषो न विद्यते यं लक्ष्मीकृत्य भूयश्चतुर्थः पुटको दीयेत ।

उत्क्लेशनं शुद्धिकरं दोषाणां शमनं क्रमात् ।

त्रिधैवं कल्पयेद्बस्तिमित्यन्येऽपि प्रचक्षते ॥ ६१ ॥

अन्ये वैद्यास्तृतीयो बस्तिर्दोषाणां उत्क्लेशनं शुद्धिकरं शमनं क्रमादित्यनया युक्त्या बस्तित्रयं कल्पयेदिति जगदुः ।

तत्र किं क्रियतामित्याह—

दोषौषधादिवलतः सर्वमेतत्प्रमाणयेत् ।

तदत्र दोषभेषजसात्म्यादिवशात्सर्वमप्येतत्प्रमाणाकार्यम् ।

अथ पूर्वमतानुग्राहि स्वमतमाह—

सम्यङ्निरूढलिङ्गं तु नाऽसम्भाव्य निवर्तयेत् ॥ ६२ ॥

सम्यङ्निरूढलिङ्गं त्वसम्भाव्याऽसम्भावं न निवर्तयेत् । बस्तिदानं कारयेदेवेति ।

इदानीं कर्मकालयोगाख्यान् बस्तिविशेषानाह—

प्राक्स्नेह एकः पञ्चान्ते द्वादशाऽऽस्थापनानि च ।

सान्वासानानि कर्मैवं बस्तयस्त्रिंशदीरिताः ॥ ६३ ॥

प्राक् पूर्वमेकः स्नेहबस्तिः । अन्तेऽवसाने पञ्च स्नेहाः । तथा निरूढा द्वादश सहानुवासनाः । एवं त्रिंशद्वस्तयः कर्माणि गदिताः ।

कालः पञ्चदशैकोऽत्र प्राक् स्नेहोऽन्ते त्रयस्तथा ।

षट् पञ्चबस्त्यन्तरिताः,

पञ्चदश बस्तयः काल उच्यते । कथमुच्यते? एकः पूर्व स्नेहस्तथाऽन्ते त्रयः स्नेहास्तथा षट् स्नेहाः पञ्चभिर्बस्तिभिरन्तरिता इति ।



योगोऽष्टौ वस्तयोऽत्र तु ॥ ६४ ॥

त्रयो निरूढाः स्नेहाश्च स्नेहावाचन्तयोरुभौ ।

योगोऽत्राष्टौ वस्तयः । कथमित्याह । त्रयो निरूढास्त्रोणि चाऽनुवासनानि तथा-
ऽद्यन्तयोर्द्वौ स्नेहवस्ती इति ।

स्नेहवस्ति निरूढं वा नैकमेवाऽतिशीलयेत् ॥ ६५ ॥

उत्क्लेशाग्निवधौ स्नेहान्निरूढान्मरुतो भयम् ।

स्नेहवस्तिमथवा निरूढमेकमव केवलमतिशयेन न शीलयेत् । यतः स्नेहादति-
सेवितादुत्क्लेशाऽग्निमान्ये जायेते । निरूढादतिसेवितात्पवनाद्भयं जायते ।

तस्मान्निरूढः स्नेहः स्यान्निरूढश्चाऽनुवासितः ॥ ६६ ॥

तस्मात्कारणान्निरूढो नरः स्नेहनार्हः स्यात् । अनुवासितश्च पुरुषो निरूढ-
गार्हो भवेत् ।

स्नेहशोधनयुक्त्यैवं वस्तिकर्म त्रिदोषजित् ।

एवं पूर्वोक्त्या स्नेहशोधनयुक्त्या वस्तिकर्म सेवितं त्रीन् दोषान् जयति ।

अधुना मात्रावस्ति लक्षयति—

ह्रस्वया स्नेहपानस्य मात्रया योजितः समः ॥ ६७ ॥

मात्रावस्तिः स्मृतः स्नेहः,

ह्रस्वया यामद्वयजरणलक्षणया स्नेहमात्रया समस्तुल्यो योजितः स्नेहो मात्रा-
वस्तिसंज्ञः स्मृतः सदैवैरिति शेषः । अन्यैश्चाऽन्यथा स्नेहमात्रोक्ता । यथा—“षट्-
पला तु भवेज्ज्येष्ठा त्रिपला मध्यमा भवेत् । कनीयस्यध्यर्धपला त्रिधा मात्रा-
ऽनुवासना” इति ।

शीलनीयः सदा च सः ।

बालवृद्धाध्वभारस्त्रीव्यायामासक्लचिन्तकैः ॥ ६८ ॥

वातभग्नबलाऽल्पाग्निनृपेश्वरसुखात्मभिः ।

दोषघ्नो निष्परीहारो बल्यः सृष्टमलः सुखः ॥ ६९ ॥

स च मात्रावस्तिर्बालादिभिः सततमेव शीलयितव्यः । स च शीलितो
दोषापहस्तथा निष्परीहारोऽनियन्त्रणो बलाय हितो निर्गतपुरीषादिकः सुखकारी स्यात् ।

वस्तौ रोगेषु नारीणां योनिगर्भाशयेषु च ।

द्वित्रास्थापनशुद्धेभ्यो विदध्याद्वस्तिमुत्तरम् ॥ ७० ॥

वस्तिस्थाने रोगेषु नराणामित्यर्थाह्वयते । नारीणां योनिगर्भाशयेषु च द्वाभ्यां
त्रिभिर्वाऽऽस्थापनैः शुद्धेभ्यस्तेभ्यो नरेभ्यः स्त्रीभ्यश्चोत्तरवस्तिं दद्यात् । द्वे वा त्रीणि
वा द्वित्राणि च तान्यास्थापनानि च द्वित्रास्थापनानि तैः शुद्धा द्वित्रास्थापनशुद्धाः ।
‘पुमान्निष्येत्येकशेषः’ । गुदादुत्तरेण मार्गेण दीयत इत्युत्तरवस्तिः ।



अथ नेत्रस्य परिमाणमाह—

आतुराङ्गुलमानेन तन्नेत्रं द्वादशाङ्गुलम् ।

वृत्तं गोपुच्छवन्मूलमध्ययोः कृतकर्णिकम् ॥ ७१ ॥

सिद्धार्थकप्रवेशाग्रं शृङ्गणं हेमादिसम्भवम् ।

कुन्दाश्वमारसुमनःपुष्पवृन्तोपमं दृढम् ॥ ७२ ॥

तन्नेत्रमुत्तरवस्तिनन्त्रकमातुराङ्गुलप्रमाणेन द्वादशाङ्गुलं दैर्घ्येणेत्यर्थादेव प्रतीयते । पुरुषाणामेवैतदिति वेद्यम् । स्त्रीणां हि वक्ष्यति—“ नेत्रं दशाङ्गुलं मुद्रप्रवेशमिति ” । तच्च वृत्तं वर्तुलं गोपुच्छाकृति तथा मूले मध्ये चोत्पादितकर्णिकं तथा सिद्धार्थकः प्रविशत्यस्मिन्निति सिद्धार्थकप्रवेशं तादृशमग्रं प्रान्तो यस्य नेत्रस्य तत् सिद्धार्थकप्रवेशाग्रं तथा श्लक्ष्णमतिकोमलं तथा हेमादिजम् । आदिशब्देन धात्वादयः प्रागुक्ता गृह्यन्ते । कुन्दकरवीरजातीपुष्पवृन्तसदृशं दृढं च । अश्वमारः करवीरः ।

तस्य वस्तिर्मृदुलघुर्मात्रा शुक्तिर्विकल्प्य वा ।

तथा तस्य नेत्रस्य वस्तिर्मृदुलघुर्योज्य इति शेषः । मात्रा शुक्तिः कर्षद्वयम् । शुक्तिः स्नेहस्येति शेषः । विकल्प्य वा बलवयःसत्त्वदेहसात्म्यादि निरूप्य वा मात्रा कार्येत्यर्थः ।

अथ स्नाताशितस्यास्य स्नेहवस्तिविधानतः ॥ ७३ ॥

ऋजोः सुखोपविष्टस्य पीठे जानुसमे मृदौ ।

दृष्टे मेढ्रे स्थिते चर्जौ शनैः स्रोतोविशुद्धये ॥ ७४ ॥

सूक्ष्मां शलाकां प्रणयेत्तथा शुद्धेऽनुसेवनीम् ।

आमेहनान्तं नेत्रं च निष्कम्पं गुदवत्ततः ॥ ७५ ॥

पीडितेऽन्तर्गते स्नेहे स्नेहवस्तिक्रमो हितः ।

अथेति मङ्गले । अस्य रोगिणो निरुहवत्कृतमङ्गलस्य तथा पूर्वं स्नातस्य पश्चादशितस्य । कथमशितस्य ? स्नेहवस्तिविधानतः । ‘तृतीयार्थे तसिः’ । स्नेहवस्तौ यादृश आहारो विहितस्तेन कृतभोजनस्येत्यर्थः । तथर्जोः स्पष्टं स्थितस्य तथा सुखेनाऽसीनस्य । क ? पीठ आसने । किम्भूते ? जानुतुल्ये । तथा मृदावकठिने च । प्रदृष्टे स्तब्धे तथा ऋजौ स्पष्टं कृत्वा स्थिते सति शनैर्न त्वरया सूक्ष्मां शलाकां प्रणयेत् । स्थूलायां तत्र क्षतकरणात् । तथा शलाकया शुद्धे मेढ्रे सत्यनुसेवनीं सेवनीमनुलक्ष्मीकृत्य आमेद्धान्तं नेत्रं प्रणयेत् । षडङ्गुलं प्रायेण प्रवेशयेदित्यर्थः । कथम् ? गुद इव निष्कम्पम् । ततो निष्कम्पं स्थापनादनन्तरं पीडिते पुटेके स्नेहे चाऽन्तःप्रविष्टे सत्यनुवासनक्रमो हितः । पाणिना ताडयेत् स्फिजौ तस्य पार्श्वेभ्यामित्यादिकः ।

वस्तीननेन विधिना दद्यात् त्रींश्चतुरोऽपि वा ॥ ७६ ॥



अनुवासनवच्छेषं सर्वमेवाऽस्य चिन्तयेत् ।

त्रींश्चतुरो वा बस्तीननेन विधानेन दद्यात् । शेषं विधिपरिहारादि सम्यग्दत्त-
व्यापदादिकमस्योत्तरबस्तेरनुवासनस्येव दापयेत् । यदुक्तं खरनादेन—“ यथाशेषं
प्रवेश्याऽथ ज्ञेहस्यार्धपलं नयेत् । प्रत्यागते द्वितीयं वा तृतीयं वा प्रदापयेत् । स
चेदनुवसेत्तत्र स्यात्किंयेयं विशेषतः । पिप्ल्यारग्वधाङ्गारधूमवत्सकसैन्धवैः । मूत्रा-
ऽम्लपिष्टैर्गुलिकाः सर्षपमाषसन्निभाः । छायासु शुष्कास्ताः शिश्रे दद्यात्सर्षप-
सन्निभाः । पूर्वं, माषोपमाः पश्चात्ताभिः ज्ञेहं समानयेत् । ज्ञेहे प्रत्यागते च स्यादा-
नुवासनिको विधिरिति ” ।

एवं पुरुषाणामुत्तरबस्तिविधानमुक्त्वा स्त्रीणां वक्ति—

स्त्रीणामार्तवकाले तु योनिर्गृह्णात्यपावृतेः ॥ ७७ ॥

विदधीत तदा तस्मादनृतावपि चात्यये ।

योनिविभ्रंशशूलेषु योनिव्यापदसृग्दरे ॥ ७८ ॥

ललनानामृतुकाल एवाऽर्तवकालः, ‘ऋतुस्तु द्वादशनिशा’ इत्यादिनोक्तस्तत्र
ऋतौ योनिः कर्ता उत्तरबस्तिस्वभावं स्नेहं गृह्णाति । कुतः ? अपावृतेरपावरणात्
कारणात् । अन्यदा तु संवृतत्वाच्च स्नेहमादत्ते गर्भवत् । तस्माद्धेतोस्तदा ऋतुकाले
विदधीत । प्रकृतत्वादुत्तरबस्तिम् । आत्ययिके व्याधावनृतावपि विदधीत । तमेवा-
त्ययं दर्शयति । योनीत्यादि । योनिविभ्रंश उत्तरे वक्ष्यमाणः । योनिशूलो योनि-
रुजा तेषु, तथा योनिव्यापत्तौ तथाऽसृग्दरे, ‘रक्तपित्तं योनिमुखेनागच्छत् स्त्रीणा-
मसृग्दरमुच्यते’ । एतेषु रोगेषूत्तरबस्तिमात्ययिकत्वादनृतावपि दद्यात् ।

अथाऽत्र नेत्रस्य प्रमाणमाह—

नेत्रं दशाङ्गुलं मुद्रप्रवेशं चतुरङ्गुलम् ।

अपत्यमार्गे योज्यं स्याद् द्यङ्गुलं मूत्रवर्त्मनि ॥ ७९ ॥

मूत्रकृच्छ्रविकारेषु बालानां त्वेकमङ्गुलम् ।

दशाङ्गुलप्रमाणं दैर्घ्येण तत्, तथा मुद्रः प्रविशत्यस्मिन्निति मुद्रप्रवेशं ‘तदिवाग्रं
प्रवेशाप्रमिति वेद्यमन्तलोपाख्यया तन्त्रयुक्त्या’ । वृत्तगोपुच्छाकारादि । शेषं
पूर्वोक्तमत्र वेद्यम् । पुष्पवृन्तोपमत्वं त्वत्र न युज्यते । यतो मूत्रस्रोतःपरिणाहं यत्त-
दिधातव्यं पुरुषे स्त्रियां चैवंप्रकारम् । यदुक्तं मुनिना—“पुष्पनेत्रप्रमाणं तु प्रमदानां
दशाङ्गुलम् । मूत्रस्रोतःपरीणाहमिति” । तत्र चतुरङ्गुलं यावत् प्रवेश्यम् । चतु-
रङ्गुला चोर्ध्वकर्णिका कार्या । अधिकप्रवेशनिवारणार्थं नतु मेहननेत्र इव मध्यम-
कर्णिकेति । अयमर्थोऽत्र साक्षान्नोपात्तो गम्यमानत्वात् । अत एतत्प्रवेशप्रमाण-
माह—‘चतुरङ्गुलमपत्यमार्गे योज्यं स्यादिति’ । अपत्यमार्गे इत्यनेन स्त्री गर्भग्रहण-
प्रसवादिसमर्था सूच्यते । एवंविधायाः स्त्रियाश्चतुरङ्गुलं प्रवेशयितव्यमिति । मूत्र-
वर्त्मनि द्यङ्गुलं योज्यम् । या स्त्री सुरतव्यवहारगर्भग्रहणायोग्या, अथवा बाला,

या अप्रौढा, तस्या योनिर्मूत्रस्यैव केवलं मार्गस्तस्या नेत्रं बद्धुलं प्रवेश्यम् । अत ऊर्ध्वं तु प्रवेशात्तासां मांसक्षतिः स्यात् । केषु रोगेषु ? मूत्रकृच्छ्रविकारेषु । बालानां तु स्त्रीणामेकमङ्गुलं प्रवेश्यम् ।

प्रकुञ्चो मध्यमा मात्रा बालानां शुक्तिरेव तु ॥ ८० ॥

स्त्रीणामुत्तरबस्ती स्नेहस्य प्रकुञ्चो मध्यमा मात्रा नोत्तमा कनिष्ठका वा । बालानां तु शुक्तिरेव मध्यमा मात्रा स्नेहस्य ।

अधुनोत्तरबस्त्ववस्थानं त्रिविधाया अपि स्त्रिया वदति—

उत्तानायाः शयानायाः सम्यक् सङ्कोच्य सक्थिनी ।

ऊर्ध्वजान्वास्त्रिचतुरानहोरात्रेण योजयेत् ॥ ८१ ॥

वस्तीस्त्रिरात्रमेवं च स्नेहमात्रां विवर्धयेत् ।

उत्तानाया न त्ववाङ्मुखायाः पार्श्वस्थिताया वा । शयानाया न त्वासीनाया-
स्तथोर्ध्वजान्वा वस्तीस्त्रिचतुरानहोरात्रेण योजयेत् । किं कृत्वा ? सक्थिनी सङ्कोच्य ।
अनुवासने त्वेक एवाहोरात्रेण योज्य इत्यस्य भेदः । वस्तिदानं कार्यं न त्वत्राऽनु-
वासनवत्पद्मे पद्मे वाऽहनीति । किं कुर्वन् ? स्नेहमात्रां यथास्वमर्धकर्षकर्षादि-
क्रमेण वर्धयेत् ।

त्र्यहमेव च विश्रम्य प्रणिदध्यात् पुनस्त्यहम् ॥ ८२ ॥

त्र्यहमेव च विश्रम्य त्रीणि दिनानि विलम्ब्य च पुनः पूर्वोक्तेनैव प्रकारेण
प्रणिदध्यात् प्रकुर्यात् । एष एव च न्यायो भेदेऽपि योज्यः । तज्जातीयत्वादस्यार्थस्य ।
अत एवान्तेऽयमुपदिष्ट उभयसम्बन्धार्थम् ।

युक्तयोक्तृमेवाऽमुमर्थं संचेषेण सद्ग्राह्य पुनराह—

पक्षाद्विरेको वमिते ततः पक्षाभिरूहणम् ।

सद्यो निरूढश्चाऽन्वास्यः सप्तरात्राद्विरेचितः ॥ ८३ ॥

उत्तमशुद्ध्या शुद्धे वमिते पक्षादनन्तरं विरेकः कार्यः । यस्मात्प्रवरया शुद्ध्या
शुद्धे तु वमिते पेयादिक्रमेण सप्ताहात् प्रकृतिभोजनापत्तिः । सप्ताहेनैकान्तराऽनु-
वासनदानेन स्निग्धस्य विरेक इति पक्षेणैव युज्यते । ततोऽनन्तरं पक्षात्परतो
निरूहो यतः कृतविरेकस्य सप्ताहात् प्रकृतिभोजनापत्तौ स्नेहनार्थमनुवासनेनैकान्त-
रितेन स्निग्धस्य निरूहो युज्यत इति पक्षेणैव युक्तः । निरूहश्च सद्य एवाऽनुवास्यः ।
तथा च प्रागभ्यधाये—“अथ वातादितं भूयः सद्य एवाऽनुवासयेदिति” । विरेचितः
सप्तरात्रादूर्ध्वमनुवास्यो यतः सप्ताहेन प्रकृतिभोजनापत्तिस्ततः स्नेहार्थमनुवासनं
युक्तम् ।

ननु दोषाणां धातूनां च स्नेहस्वेदाभ्यामेकलोलीभावात् कथं वस्तिदोषानेव
निर्हरेत् धातुनित्येतच्चोद्यं दृष्टान्तद्वारेण परिजिहीर्षुरिदमाह—

यथा कुसुम्भादियुतात्तोयाद्रागं हरेत्पटः ।



तथा द्रवीकृताद्देहाद्वास्तिर्निर्हरते मलान् ॥ ८४ ॥

कुसुम्भकुङ्कुमादियुक्ताज्जलाद्यथा पटो वासो रागं हरेद् गृहणीयाञ्च कुसुम्भा-
दिकं, तथैव द्रवांकृतात्कायाद्दोषधातूनामेकलोलीभावेऽपि बस्तिर्दोषाकिर्हरेन्न धातून् ।

अधुना वायोः स्वरूपं प्रथयन् बस्तिं श्लाघयन्नाह—

शाखागताः कोष्ठगताश्च रोगा मर्मोर्ध्वसर्वावयवाङ्गजाश्च ।

ये सन्ति तेषां ननु कश्चिदन्यो वायोः परं जन्मनि हेतुरस्ति ॥ ८५ ॥

सक्थिनी द्वे, द्वौ बाहू इति शाखाः, तासु गतास्तत उत्पन्नाः । एवं कोष्ठो महा-
स्रोतः, तत्र गताः कोष्ठगताः । तथा मर्माणि च ऊर्ध्वं च सर्वे चाऽवयवाश्च मर्मो-
र्ध्वसर्वावयवास्तेषामङ्गं तत्र जाता मर्मोर्ध्वसर्वावयवाङ्गजाः । तत्र मर्माणि मर्म-
विभागे वक्ष्यन्ते । ऊर्ध्वशब्देनोर्ध्वजत्रु गृह्यते । तत्र जाता ऊर्ध्वाङ्गजा मुखरोगा-
दयः । सर्वाङ्गजा ज्वरादयः । अवयवजाः श्वित्रादयश्च ये रोगा विद्यन्ते तेषां जन्म-
न्युत्पत्तौ वायोरपरः कश्चिदपि हेतुर्नास्ति । कथम् ? परमतिशयेन । किञ्चिन्मात्रेणा-
ऽनुबलभावेन पित्तश्लेष्माणवपि हेतू भवत एव । यथा पामादद्रवादीनाम् । अथा-
ऽवयवग्रहणेनैवोर्ध्वग्रहणे लब्धे, ऊर्ध्वग्रहणं प्राधान्यरूपापनार्थम् । यथा—
“ ब्राह्मणा आयाताः, वसिष्ठोऽप्यायात ” इति । तदेवाधिकृत्य वक्ष्यमाणाः पञ्च
विधयः सकलमेवोत्तरे च तन्त्रे प्रधानं तस्मात्प्रधाना ऊर्ध्वाङ्गजाः ।

ननु कुतो हेतोर्मरुत एतेषु कारणत्वमित्याह—

विद्वंशेष्वपि पित्तादिमलाचयानां विच्छेपसंहारकरः स यस्मात् ।

तस्याऽतिवृद्धस्य शमाय नान्यद्वस्तेर्विना भेषजमस्ति किञ्चित् ॥ ८६ ॥

विद्वंश्च श्लेष्मा च पित्तं च विद्वंशेष्वपि पित्तानि तान्यादिर्येषाम् । आदिशब्देन
मूत्रस्वेदादिपरिग्रहः । त एव शरीरमलिनीकरणान्मलास्तेषामाचयाः सञ्चयास्तेषां
स वायुर्यस्माद्विच्छेपसंहारकरः । विच्छेपश्च संहारश्च विच्छेपसंहारौ तौ करोतीति
‘ कृजो हेतुताच्छील्येत्यादिना हेतौ टः ’ । विच्छेपसंहारकरणहेतुरित्यर्थः । तस्य
क्रियावत्वात् । वायुश्च शेषदोषाभ्यां न कदाचिद्विच्छिप्यते संह्रियते वा । तयो-
र्निष्क्रियत्वात् । तस्य च वायोः प्रवृद्धस्य शमनार्थं बस्तिमन्तरेणाऽपरं भेषजं
नास्ति । स्नेहस्वेदादिकं तु विद्यमानमपि न तथा समर्थमित्यगण्यत्वात्तदविद्य-
मानमुच्यते ।

तस्माच्चिकित्सार्थ इति प्रदिष्टः कृत्स्ना चिकित्साऽपि च बस्तिरेकैः ।

तथा निजागन्तुविकारकारि रक्तौषधत्वेन सिराव्यधोऽपि ॥ ८७ ॥

तस्माद्दोषप्रधानस्य पवनस्य शमनार्थात्कारणाद्वास्तिचिकित्सार्थ इति कथितः ।
एकैश्चाऽचार्यैर्निरवशेषाऽपि चिकित्सा बस्तिः प्रदिष्टा । ननु चतुर्णां भिषजादीना-
मित्यादिलक्षणा चिकित्सा तत्कथं तस्या भागकल्पना कर्तुं युज्यते ? नच सर्वा
चिकित्सा बस्तिरिति वक्तुं शक्यते ? शेषचिकित्साशास्त्रविस्तरस्यानर्थक्यप्रसङ्गात् ।

तस्मादितर्युक्तमिवाऽऽभाति । अत्रोच्यते—तथाऽपि वायुविकारा असीतिरुक्ताः । पित्तश्लेष्मविकाराश्च षष्टिरुक्ताः । तत्र वाताविकाराणां प्रधानोपक्रमो बस्तिस्तस्माच्चिकित्सार्थो बस्तिः कार्यद्वारेणोक्तः । अपवा मार्गं पित्तश्लेष्मविद्वसहितं बस्तिः समूहमेवापकर्षतीत्युक्त्वा सर्वा चिकित्सा कार्यद्वारैरुपदिष्टः । अन्यत्राऽपि चैवं प्रायै निदर्शित आचार्यैः । तथाच मुनिः—“यानीह कर्माद्युक्तानि विसर्पविनिवृत्तये । एकलस्तानि सर्वाणि रक्तमोक्षणमेकतः—” इति । चिकित्सार्थमित्ययं तु पाठो न युक्त एव । अर्थशब्दस्य हि समविभाग एव नपुंसकत्वम् । न चाऽत्र समप्रविभागो गम्यते तस्माच्चपुंसकत्वमत्राऽन्याय्यम् । तथेत्यादि । न केवलं बस्तिर्वा-
स्तिराम्यधोऽपि चिकित्सार्थः सर्वा वा चिकित्सेत्युपदिष्टः । कुतः ? निजत्वादिना । निजा वातादिसमुत्था आगन्तव्यो विषयद्वयादिसमुत्थाः । निजाश्वाऽगन्तवश्च ते च ते विकाराश्च निजागन्तुविकारास्तान्कर्तुं शीलमस्य तन्निजागन्तुविकारकारि तत्र तद्वत् च निजागन्तुविकारकारि रक्तं तस्यौषधत्वेन । तत्र विसर्पविद्रधिप्रभृति-
रोगविशेषेषामवरणादिचिकित्सार्थः सिराम्यध उपदिष्टः । तथाऽपरेऽपि ये रोगाः शीतोष्णस्निग्धरूक्षापैरुपक्रमैरनुपशान्तास्तेऽपि सिराम्यधसाध्याः । अत एव सर्वाऽपि चिकित्सा सिराम्यध उक्त इति ।

इति भीमृगाहृदतपुत्रभीमदण्डतत्त्वविरचितायामष्टाङ्गहृदयटीकायां सर्वाङ्गसुन्द-
राख्यायामेकौनविंशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

विंशोऽध्यायः ।

पञ्चकर्मोक्तिप्रसाधे वमनविरेचकान्वासननिरुद्धानुक्त्वा नस्यविधिमाह—

अथाऽतो नस्यविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ।

ऊर्ध्वजत्रुविकारेषु विशेषात्रस्यमिष्यते ।

जत्रु रक्तोऽतयोः सन्निधः । जत्रुण ऊर्ध्वमूर्ध्वजत्रु । ‘मयूरभ्यंसकादित्वात्स-
मायः’ । तत्र विकारा ऊर्ध्वजत्रुविकारास्तेष्वर्ध्वजत्रुविकारेषु शिरोरोगादिषु विषये
वमनसिराम्यधद्वयोऽर्ध्वान्त एव । विशेषेण तु नस्यमिष्यते । ‘नासायां भवं
नस्यम् । ‘तत्र भव इति यत् । नासिकायाः पदं इति नासादेशः’ ।

ननु किमिति नस्यमेतेषु रोगेषु विशेषेणोक्तमित्याह—

नासा हि शिरसो द्वारं तेन तद्व्याप्य हन्ति तान् ॥ १ ॥

यस्माद् प्राणं शिरोद्वारं तेन द्वारेण भोजनद्रादकप्राप्तमूर्ध्वनेत्रकण्ठादिसिरा-
मुक्तानुप्रवेष्टेन तच्छिद्रो व्याप्य तान्विकारान् हन्ति ।

विरेचनं बृंहणं च शमनं च त्रिधाऽपि तत् ।

तत्र नस्यं विरेचनबृंहणशमनादिभेदेन त्रिधा स्यात् ।



तत्र पूर्वं विरेचनाकृत्यस्योपयोगमाह—

विरेचनं शिरःशूलजाड्यस्यन्दगलामये ॥ २ ॥

शोफगण्डकृमिग्रन्थिकुष्ठाऽपस्मारपीनसे ।

शिरःशूलादिषु विरेचनं नस्यमिष्यते । अपस्मारो वयप्यूर्ध्वजनुस्थितो न भवति तथाऽपि विरेचननस्येन शाम्यतीति तदुपादानम् । उपलब्धं चेदम् । कफ-
प्रकोपाऽऽस्यवैरस्यगन्धाज्ञानादिष्वपि विरेचनमेव हितम् ।

बृंहणं वातजे शूले सूर्यावर्ते स्वरक्षये ॥ ३ ॥

नासाऽस्यशोषे वाक्सङ्गे कृच्छ्रबोधेऽवबाहुके ।

वातोद्भवशूलादिषु बृंहणं नस्यं हितम् । सूर्यावर्तः शिरोरोगविशेषः । कृच्छ्र-
बोधः कृच्छ्रेण्मीलनम् । अवबाहुको वातव्याधिविशेषः ।

शमनं नीलिकाव्यङ्गकेशदोषाक्षिराजिषु ॥ ४ ॥

नीलिकादिषु शमनं नस्यं हितम् । नीलिकाव्यङ्गी क्षुद्ररोगेषु वक्ष्यमाणा ।
केशदोषः केशशातः ।

यथास्वं यौगिकैः स्नेहैर्यथास्वं च प्रसाधितैः ।

कल्ककाथादिभिश्चाद्यं मधुपद्वासवैरपि ॥ ५ ॥

ये ये अत्रेहा यथास्वं तैः । किम्भूतैः ? यौगिकैर्बोणाहैः सर्पपतैलादिभिर्न तु
घृतादिभिः । तथा यथास्वं मरीचशुण्ठ्यादिभिः प्रसाधितैः संस्कृतैः । तथा कल्क-
काथस्वरसादिभिश्च यथास्वं कफत्रैगिरिकर्णिकादित्रैराद्यं विरेचनाकृत्यं नस्यं भवति ।
न केवलमेतैर्यावन्मृत्तिकादिभिश्च । पटुः सैन्धवादिः । आसवो मद्यविशेषः ।

बृंहणं धन्वमांसोत्थरसामृक्खपूरैरपि ।

शमनं योजयेत्पूर्वैः क्षीरेण च जलेन च ॥ ६ ॥

बृंहणं नस्यं धन्वोत्थमांसोद्भवरसैः स्यात् । तथाऽसृजा रक्तेन धन्वोत्थेनैव ।
तथा खपूरैर्निर्यासविशेषैः । अपिशब्दादन्यैरपि पूर्वोक्तैः स्नेहैरतीक्ष्णैर्बृंहणं भवति ।
शमनं नस्यं पूर्वोक्तैरतीक्ष्णैः स्नेहैर्घृतादिभिस्तथा मांसरसादिभिर्योजयेत् । तथा क्षी-
रेण जलेन चेति । सुश्रुतस्तु स्पष्टतरमुवाच—“तत्तु नस्यं देवं वाताभिभूतं शिरसि
दन्तकेशश्मश्रुप्रपातदारुणकर्णशूलकर्णक्षेडतिमिरस्वरोपघातनासारोगास्यशोषापवा-
हुकाऽकालजवलीपलितप्रादुर्भावदारुणप्रबोधेषु वातपैतिकेषु चान्येषु मुखरोगेषु वात-
पित्तहरद्रव्यसिद्धेन अहेनेति । शिरोविरेचनं श्लेष्मणाऽभिध्वाततालुकरग्रशिरसा-
सामरोचकशिरोगौरवशूलपीनसाऽर्धावभेदककृमिप्रतिरसायाऽपस्मारगन्धाज्ञानेष्वन्येषु
चोर्ध्वजनुगतेषु कफजेषु विकारेषु शिरोविरेचनद्रव्यैस्तत्सिद्धेन वा अहेनेति । तथा
सम्यग्विशुद्धे शिरसि सर्पिर्नस्यं निषेचयेत् । अवरोडस्तु शिरोविरेचनवदभिष्यन्द-
सर्पदष्टविस्त्रेभ्यो दद्याच्छिरोविरेचनद्रव्याणामन्वतममवपीव्याऽवपिष्य चेतोकिप्र-
कृमिविषाभिपन्नानां चूर्णं प्रथमेत् । शर्करेक्षुरगक्षीरघृतमांसरसानामन्यतमं क्षीणा-

नां शोणितपित्ते च विदध्यात् । कृशदुर्बलभीरूणां सुकुमारस्य योषिताम् । श्रुताः
 ज्ञेहाः शिरःशुद्धयै कल्कस्तंभ्यो यथा हित' इति ।

अधुनाऽन्यानापि नस्यविशेषानाह—

मर्शश्च प्रतिमर्शश्च द्विधा स्नेहोऽत्र मात्रया ।

एषु नस्यभेदेषु मध्ये मर्शाख्यः प्रतिमर्शाख्यश्चेति ज्ञेहो द्विधा भेदद्वयेन भव-
 ति । कथम् ? मात्रया मात्राभेदेन नतु वस्तुभेदेन ।

कल्काद्यैरवपीडस्तु तीक्ष्णैर्मूर्धविरेचनः ॥ ७ ॥

तुरवधारणे भिन्नक्रमः । कल्काद्यैरेवाऽवपीडो न स्नेहेन । स चाऽवपीडस्ती-
 क्ष्णैः शुण्ठ्यादिभिः कल्ककाथरसाद्यैर्न मृदुभिः । मूर्धविरेचनाख्यं नामान्तरमस्य ।
 अतीक्ष्णैस्तु शमनसंज्ञमेव ।

विरेचनस्य प्रकारान्तरमाह—

ध्मानं विरेचनश्चूर्णो,

चूर्णो मरीचादिभिः कृतो विरेचनो बहिर्दोषनिरसनो ध्मानं प्रध्मानाख्यं नस्यं
 स्यात् । कथम् ? नासया प्रणीयमानः ।

कथं पुनरसौ नासायां ध्मापयितव्य इत्याह—

युञ्ज्यात्तं मुखवायुना ।

षडङ्गुलद्विमुखया नाड्या भेषजगर्भया ॥ ८ ॥

स हि भूरितरं दोषं चूर्णत्वादपकर्षति ।

युञ्ज्यात्तं चूर्णं मुखवायुना फूत्काराख्येन प्रवेशयेत् । कथम् ? नाड्या करण-
 भूतया । किम्भूतया ? षडङ्गुलानि यस्याः सा षडङ्गुला । द्वे मुखे यस्याः सा
 द्विमुखा । षडङ्गुला द्विमुखा च षडङ्गुलद्विमुखा तथा । तथा भेषजगर्भया त्रिकट्-
 वादिचूर्णभरितया । स हि चूर्णो भूरितरं बहुतरं दोषं चूर्णत्वादपकर्षति निर्हरति ।
 यथा कल्ककाथादयः । ततस्माद्विरेचनाख्योऽयमित्यर्थः ।

अधुना मर्शस्नेहस्य परिमाणमधिकृत्याह—

प्रदेशिन्यङ्गुलीपर्वद्वयान्मग्नसमुद्धतात् ॥ ९ ॥

यावत्पतत्यसौ विन्दुर्दशाष्टौ षट् क्रमेण ते ।

मर्शस्योत्कृष्टमध्योना मात्रास्ता एव च क्रमात् ॥ १० ॥

विन्दुद्वयोनाः कल्कादेः,

प्रदेशिन्यङ्गुलसमीपजाङ्गुली तस्याः पर्वद्वयं तस्मात् । किम्भूतात् ? पूर्वं मग्नं
 पश्चात्समुद्धृतं तस्मान्मग्नसमुद्धृतात् तर्जनीपर्वद्वयाद्यावत्परिमाणं पतत्यसौ विन्दु-
 रुच्यत इति शेषः । ते विन्दवो यथासङ्ख्यं मर्शस्य दशोत्कृष्टा मात्रा । अष्टौ
 मध्यमा मात्रा । षट् कनिष्ठा मात्रा । ता एव क्रमान्मात्रा विन्दुद्वयेनोना कल्क-
 स्वरसादेः । तेनाऽष्टौ विन्दव उत्तमा मात्रा, षण्मध्यमा, चत्वारः कनिष्ठेत्यवतिष्ठते ।

यावदिति यत्परिमाणमस्येति 'यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप् । आ सर्वनाम्नः—
इत्याकारादेशः' ।

अधुना येषां नस्यमयुक्तं तानाह—

योजयेन्न तु नावनम् ।

तोयमद्यगरस्नेहपीतानां पातुमिच्छताम् ॥ ११ ॥

भुक्तभक्तशिरःस्नातस्नातुकामस्रुतासृजाम् ।

नवपीनसवेगार्तसूतिकाश्वासकासिनाम् ॥ १२ ॥

शुद्धानां दत्तवस्तीनां तथाऽनार्तवदुर्दिने ।

अन्यत्राऽत्ययिकाद्याधेः,

तोयादि पीतं यैस्तेषाम् । 'आहिताग्न्यादित्वात्परनिपातः' । तथा पातुमिच्छतां नावनं नस्यं नैव योजयेत् । तोयादिपीतानां पातुमिच्छतां च प्रयोजितं नस्यं नासा-
स्यदोषदेतिमिरशिरोरोगान् कुर्यात् । भुक्तभक्तस्य च दोषा ऊर्ध्वस्रोतांस्यादृत्य
छर्दिश्वासकासप्रतिश्यायान् जनयेयुः । शिरःस्नातस्य शिरोऽक्षिकर्णशूलकण्ठरोग-
पीनसहनुमन्यास्तम्भार्दितशिरःकम्पान् । स्नातुकामस्य च मूर्ध्नि स्तिमितो दोषो
जाङ्घ्यारुचिपीनसान् । स्रुतस्य च क्षामतामरुचिमग्निसदनं च । नवप्रतिश्यायस्य
स्रोतोरोधाद् दुष्टप्रतिश्यायकृमिकण्डूविचर्चिकारोगान् । मूत्रितोच्चारितादिवेगार्तानां
मृशतरं वेगविधारणजान् विकारान् । सूतिकायाः स्नुतस्य दोषान् । श्वासकासिनो-
र्व्याधिविवृद्धिम् । शुद्धानां कृतवमनविरेचनानां श्वासकासस्वरेन्द्रियहानिशिरोगौरव-
कृमिकण्डूदोषान् । दत्तवस्तीनां विवृतस्रोतस्तयाऽतिव्याप्त्या श्वासकासादीन् । तथा-
ऽनार्तवदुर्दिनेऽपि सहसैव शैत्याच्छिरोरुग्वेपथुस्तैमित्यतालुनेत्रकण्डूपाकमन्यास्त-
म्भकण्ठरोगप्रतिश्यायारुणिकाः । एषु च नस्यदोषेषु जातेषु यथास्वमायतनं दोषो-
द्रेकं चाऽवेक्ष्य स्नेहस्वेदशिरोविरेकवक्त्रलेपसेकतीक्ष्णावपीडधूमगण्डूपादीनि यथास्वं
कुर्यात् । सङ्ग्रहे चोक्तम्—“ गर्भिण्या भक्तद्वेषज्वरमूर्च्छाऽर्धावभेदकाः स्युः ।
अपत्यं च व्यङ्गं विकलेन्द्रियमुन्मादापस्मारयुक्तं वा स्यात् । विशेषेण तु गर्भिणी
रुद्धे नस्यकर्मणि वर्षाभूकाकोलीकपिकच्छुमिः शृतं पयः पिबेत् । बलाविदार्यशुम-
तीमेदाभिर्वैभिरैव च शृतं हविर्वातहरसिद्धश्च स्नेहः शिरोवस्ती कर्णपूरणे च योज्यः ।
सर्वं च बृंहणमन्नपानमिति ” । तोयपीतादिषु सदैव किं न योज्यम् ? इत्याह—
अन्यत्रेत्यादि । आत्ययिके व्याधौ नस्यं योज्यमेव ।

साम्प्रतं यत्र काले यत्र च दोषे नस्यं प्रयोज्यं तद्दर्शनार्थमाह —

अथ नस्यं प्रयोजयेत् ॥ १३ ॥

प्रातः श्लेष्मणि, मध्याह्ने पित्ते, सायंनिशोश्चले ।

श्लेष्मरोगे प्रातर्नस्यं प्रयोजयेत् । पित्तरोगेषु मध्याह्ने । वातेऽपराह्णे रात्रौ च ।

कारणे कार्योपचारात्कफरोगः श्लेष्मशब्देनोक्तः । तेन श्लेष्मरोगादिषु प्रातर्नस्यं योज्यम् । सङ्ग्रहे विशेषः—“लालास्रावसुप्तिप्रलापदन्तकटकटायतनकृच्छ्रोन्मी-
“लनपूतिमुखकर्णनादतृष्णादितशिरोरोगश्वासकासोन्निद्रेषु रात्राविति ।”

स्वस्थवृत्ते तु पूर्वाह्णे शरत्कालवसन्तयोः ॥ १४ ॥

शीते मध्यन्दिने ग्रीष्मे सायं वर्षासु सातपे ।

तुरवधारणे । स्वस्थवृत्ते शरदि वसन्ते च पूर्वाह्ण एव नस्यं योज्यम् । शीते हेमन्तशिशिरलक्षणे मध्याह्णे । ग्रीष्मे सायमपराह्णे सातपे दृश्यमाने रवौ वासरे प्रयोजयेत् ।

अधुना दोषापेक्षया नस्यकालनियममाह—

वाताभिभूते शिरसि हिध्मायामपतानके ॥ १५ ॥

मन्यास्तम्भे स्वरध्रंशे सायंप्रातर्दिनदिने ।

एकाहान्तरमन्यत्र सप्ताहं च तदाचरेत् ॥ १६ ॥

वाताभिभूतमूर्धादिषु स्वरध्रंशान्तेषु सायम्प्रातः पूर्वाह्णाऽपराह्णयोः प्रति-
दिनं च नैकाहान्तरितम् । अन्यत्र वाताभिभूतमूर्धादिभ्योऽन्यस्मिन् रोगे एका-
हान्तरं सप्ताहं च नस्यमाचरेत् । सप्ताहादूर्ध्वं नस्यं न विदध्यादित्यर्थः ।

इदानीं यादृशस्य पुरुषस्य यथास्थितस्य नस्यं देयं तदाह—

स्निग्धस्त्रिन्नोत्तमाङ्गस्य प्राक्कृतावश्यकस्य च ।

निवातशयनस्थस्य जत्रूर्ध्वं स्वेदयेत् पुनः ॥ १७ ॥

पूर्वं स्निग्धं पश्चात्स्निग्धमुत्तमाङ्गं शिरो यस्य तस्य तथा प्राक् पूर्वं कृतमावश्य-
कमवश्यकरणीयमुच्चारमूत्रोत्सर्गदन्तधावनादिकं येन स प्राक्कृतावश्यकस्तस्य तथा
निवातस्थाने शयनं यत्तत्र स्थितस्य सतो भूयो जत्रूर्ध्वं स्वेदयेत् ।

अथोत्तानर्जुदेहस्य पाणिपोदे प्रसारिते ।

किञ्चिदुन्नतपादस्य किञ्चिन्मूर्धनि नामिते ॥ १८ ॥

नासापुटं पिधायैकं पर्यायेण निषेचयेत् ।

उष्णाम्बुतप्तं भैषज्यं प्रनाड्या पिचुनाऽथवा ॥ १९ ॥

अथाऽनन्तरमुत्तानस्पष्टस्थितशरीरस्य सतो हस्तचरणे प्रसारिते तथा किञ्चिदुन्न-
तचरणस्य किञ्चिच्छिरसि नामिते सति नासापुटमेकं पिधाय स्थगयित्वा पर्यायेण,
नतु युगपद्भैषज्यं निषेचयेत् । कीदृशमुष्णाम्बुतप्तमुष्णोदकोष्णीकृतम् । केन परि-
षेचयेत् ? प्रनाड्याऽथवा पिचुना कार्पासादिमयेन ।

दत्ते पादतलस्कन्धहस्तकर्णादि मर्दयेत् ।

दत्ते नस्ये सति पादतलस्कन्धहस्तकर्णादि मर्दयेत् । आदिशब्देन ग्रीवालला-
टादिपरिग्रहः । सुश्रुते चाऽभ्यधायि—“वस्त्रावच्छादितनेत्राय वामहस्तप्रदेशिन्यो-
न्माभितनासिकाप्रायं विशुद्धस्रोतासि दक्षिणहस्तेन स्नेहमुष्णाम्बुतप्तं रजतादिशु-

ह्रीनामन्यतमस्थमनवच्छिन्नधारमासिञ्चेदिति” ।

शनैरुच्छिद्य निष्ठीवेत्पार्श्वयोरुभयोस्ततः ॥ २० ॥

ततो मर्दनान्तरं शनैरुच्छिद्य पार्श्वयोरुभयोर्निष्ठीवेद् अनभ्यवहरन् । कफसहितमभ्यवहतमग्निमवसादयेद्दोषं च संवर्धयेत् । एकपार्श्वनिष्ठीवेन्न सर्वाः सिराभेषजेन सम्यगव्याप्यन्ते ।

आभेषजक्षयादेवं द्विस्त्रिर्वा नस्यमाचरेत् ।

एवमनेन क्रमेणाऽऽभेषजक्षयाद् द्विस्त्रिर्वा नस्यं कुर्यात् । न तु नस्यमात्रा सकृदेव प्रक्षेप्तव्या हीनमात्रं चौषधं न देयम् । तद्धि दोषानुत्केष्यानिर्हरद्वारवाचिकासप्रसेकपीनसच्छर्दिक्कण्ठरोगान् कुर्यात् । अधिकमतियोगाद्दोषान् कुर्यात् । सकृदेव सर्वं दत्तमनुच्छिद्यमानं शिरोरोगप्रतिशयायप्राणक्रेदानुद्ध्वासोपरोधं च कुर्यात् । अत्युष्णं दाहपाकज्वररक्ताङ्गमूर्च्छाश्रमान् । अतिशीतं हीनदोषानेव । अत्युन्नतशिरसोऽसम्यक्प्रतिपद्यमानं तानेव हीनदोषान् । अत्यवनतशिरसो दूरगमनान्मूर्च्छाजाड्यज्वरान् । सङ्कुचितगात्रस्य सम्यग्धमनीरप्राप्नुवद्दोषोत्केषं कुर्यात् ।

यदि च नस्ये दीयमाने भेषजवेगादसात्म्येन सञ्जातमूर्च्छायां प्रतीकारमाह —

मूर्च्छायां शीततोयेन सिञ्चेत्परिहरन् शिरः ॥ २१ ॥

मूर्च्छायां सत्यां शीतजलेन मूर्ध्वर्जं सिञ्चेत् । सङ्ग्रहेऽप्युक्तम्—नच नस्ये निषिच्यमाने कोपहासव्याहारस्यन्दनोच्छिन्दनान्याचरेत् । ‘तथाहि शिरोरुक्प्रतिशयायकासतिमिरखलितपलितव्यङ्गतिलकालकमुखदूषकानां सम्भव इति’ ।

क्षेदं विरेचनस्यान्ते दद्याद्दोषाद्यपेक्षया ।

विरेचनस्यावसाने देशदोषसात्म्याद्यपेक्षया ब्रह्मनुसंन्यसेत् । तत्रान्तरे चोक्तम्—“अथ नस्याहं नरमव्याहतवेगं धौतान्तर्बहिर्मुखमवस्थितशिरसं प्रायोगिकधूमपानविशुद्धलोतसं स्वास्तीर्णनिवातशयनस्थमुत्तानशीर्षमीषदुन्नतपादं प्रसारितचरणं च जत्रूर्ध्वं पाणितापेन पुनः पुनः स्वेदयेदिति ।

नस्यान्ते वाक्शतं तिष्ठेदुत्तानः,

नस्यावसाने वाक्शतं मात्राशतमुत्तानो निद्रामासेवमानस्तिष्ठेत् ।

धारयेत्ततः ॥ २२ ॥

धूमं पीत्वा कवोष्णाम्बुकवलान् कण्ठशुद्धये ।

ततो वाक्शतावस्थानादनन्तरमीषदुष्णजलकवलान् धारयेत् । किमर्थम् ? कंठशुद्धये, उत्क्लिष्टदोषशान्तये । किं कृत्वा ? धूमं विरेचनादन्यतमं यथायोगं पीत्वा ततोऽस्य ब्रह्मोक्तविधिमाचारमादिशेत् ।

सम्यक्स्निग्धं सुखोच्छ्वासस्वप्नबोधाक्षपाटवम् ॥ २३ ॥

सम्यक्स्निग्धे शिरसि सुखोच्छ्वासादयः स्युः । सङ्ग्रहे चोक्तम्—“सम्यक्स्निग्धे मूर्ध्नि विरिक्ते वा सुखोच्छ्वासनिःश्वाससुखसुप्तबोधाक्षिपाटवानि स्युः” ।

रुद्धेऽक्षिस्तब्धता शोषो नासास्ये मूर्धशून्यता ।

रुद्धे तु शिरस्यक्षिस्तब्धता तथा नासायामास्ये च शोषो मूर्धशून्यता च स्यात् ।

स्निग्धेऽतिकण्डूगुरुता प्रसेकारुचिपीनसाः ॥ २४ ॥

अतिस्निग्धे कण्डूवादयः स्युः ।

सुविरिक्तेऽक्षिलघुता स्वरवक्त्रविशुद्धयः ।

सुविरिक्ते सम्यग्विरिक्तेऽक्षिलघुतादयः स्युः ।

दुर्विरिक्ते गदोद्रेकः क्षामताऽतिविरेचिते ॥ २५ ॥

दुर्विरिक्ते गदोद्रेको रोगस्याऽधिक्यमतिविरेचिते क्षामता कृशता स्यात् ।

अधुना प्रतिमर्शस्य विषयं सूचयितुमाह—

प्रतिमर्शः क्षतक्षामबालवृद्ध दुःखात्मसु ।

प्रयोज्योऽकालवर्षेऽपि,

प्रतिमर्शः क्षतादिषु प्रयोज्यः । अकालवर्षेऽपि कार्यः ।

न त्विष्टो दुष्टपीनसे ॥ २६ ॥

मद्यपीतेऽबलश्रोत्रे कृमिदूषितमूर्धनि ।

उत्कृष्टोत्क्रिष्टदोषे च,

दुष्टपीनसे तु न प्रयोज्यः । दुष्टपीनसो नासारोगेषु वक्ष्यमाणः । तथा मद्यपीते तथाऽबलश्रोत्रे रुद्धश्रवणमार्गे तथा कृमिभिर्दूषितो मूर्धा यस्य तस्मिन् कृमिपीडित-
शिरसि तथोत्कृष्टो वृद्धि गतस्तथोत्क्रिष्टः प्रचलो दोषो यस्य तस्मिन् प्रतिमर्शो
न योज्यः ।

केन प्रकारेण न योज्य इत्याह—

हीनमात्रतया हि सः ॥ २७ ॥

हि यस्मात्, हीनमात्रतया हीना मात्रा यस्य स हीनमात्रस्तस्य भावो हीनमात्रता
तया यस्मादसौ प्रयुज्यते । एषां चोदीर्णदोषत्वात् तावता दोषोत्केश एव भवति,
न शमः ।

निशाहर्भुक्त्वान्ताहःस्वप्राध्वश्रमरेतसाम् ।

शिरोभ्यञ्जनगण्डूषप्रस्नवाञ्जनवर्चसाम् ॥ २८ ॥

दन्तकाष्ठस्य हासस्य योज्योऽन्तेऽसौ द्विविन्दुकः ।

असौ प्रतिमर्शो द्विविन्दुको निशादीनां पञ्चदशानां कालानामन्ते प्रयोज्यः ।

पञ्चसु स्रोतसां शुद्धिः क्लमनाशस्त्रिषु क्रमात् ॥ २९ ॥

दृग्बलं पञ्चसु ततो दन्तदार्व्यं मरुच्छ्रमः ।

तत्र निशाहर्भुक्त्वान्ताहःस्वप्राख्येषु पञ्चसु कालेषु प्रतिमर्शे प्रयुक्ते स्रोतसां
शुद्धिर्भवति । क्रमात्क्रमेणैव पठितेष्वध्वश्रममैथुनानां त्रयाणामन्ते प्रतिमर्शे दत्ते
सति श्रमनाशः स्यात् । उपलक्षणं चेदम् । मनःप्रसादशिरोलाघवेऽपि भवतः ।

एवं शिरोभ्यञ्जनादिषु पञ्चस्वन्ते प्रतिमर्शं योजिते सति दृष्टेर्वलं स्यात् । ततोऽनन्तरं दन्तकाष्ठहासयोरन्ते यथासङ्ख्येन द्विजट्टत्वं पवनशमश्च स्यात् ।

अधुनाऽञ्जनस्य धूमादीनां च पुरुषविशेषे नियमं करोति—

न नस्यमूनसप्ताब्दे नाऽतीताऽशीतिवत्सरे ॥ ३० ॥

न चोनाऽष्टादशे धूमः कवलो नोनपञ्चमे ।

न शुद्धिरूनदशमे न चातिक्रान्तसप्ततौ ॥ ३१ ॥

ऊनसप्तवर्षे नस्यं न योज्यम् । तथाऽतिक्रान्ताशीतिवर्षे च नस्यं न प्रयोज्यम् । अपूर्णाऽष्टादशे वर्षे धूमो न प्रयोज्यः । कवलोऽपूर्णपञ्चवत्सरे न प्रयोज्यः । ऊनदशमवर्षे शुद्धिर्वमनःविरेकादिका न प्रयोज्या । तथा अतीतसप्ततिवर्षे शुद्धिर्न योज्या ।

आजन्ममरणं शस्तः प्रतिमर्शस्तु वस्तिवत् ।

मर्शवच्च गुणान् कुर्यात्स हि नित्योपसेवनात् ॥ ३२ ॥

न चाऽत्र यन्त्रणा नाऽपि व्यापद्भ्यो मर्शवद्भ्यम् ।

प्रातर्मर्शः पुनर्वस्तिरिव शतो हितः । कथम् ? आजन्ममरणं जन्ममरणे चावधिं कृत्वा प्रतिमर्शो हित इत्यर्थः । स च प्रतिमर्शो नित्योपसेवनात् सन्ततमभ्यस्यमानो मर्श इव गुणान् सुखोच्छ्वासादीन् कुर्यात् । अत्र च प्रतिमर्शे यन्त्रणोष्णोदकोपचारी स्यादित्यादिका नास्ति । न च व्यापद्भ्योऽक्षित्त्वबधता शोष इत्यादिभ्यो भयं मर्श इव अस्तीति । मर्श इव मर्शवत् । 'सप्तम्यन्तादितिः' ।

तैलमेव च नस्यार्थे नित्याभ्यासेन शस्यते ॥ ३३ ॥

शिरसः श्लेष्मधामत्वात्क्षेहाः स्वस्थस्य नेतरे ।

तैलमेव नित्याभ्यासेन प्रतिमर्शन्यायेन नस्यार्थे श्रेष्ठं भवति । कुतो हेतोर्मूर्ध्नः कफस्थानत्वात् । न चापरे ज्ञेहास्तेषां श्लेष्मलत्वादिति भावः ।

आशुकृच्चिरकारित्वं गुणोत्कर्षापकृष्टता ॥ ३४ ॥

मर्शं च प्रतिमर्शं च विशेषो न भवेद्यदि ।

को मर्शं सपरीहारं सापदं च भजेत्ततः ॥ ३५ ॥

अच्छपानविकाराख्यौ कुटीवाताऽऽतपस्थितौ ।

अन्वासमात्रावस्ती च तद्वदेव च निर्दिशेत् ॥ ३६ ॥

आशुकारी मर्शश्चिरकारी तु प्रतिमर्शः । गुणोत्कर्षत्वयुक्तो मर्शो गुणपकृष्टतान्वितश्च प्रतिमर्श इत्यनयोर्भेदः । यदि च मर्शं प्रतिमर्शं च विशेषो न स्यात्तदा मर्शं सपरीहारं सव्यापदं च को भजेत् ? न कश्चिद्भजेदित्यर्थः । प्रतिमर्शविशेषवदच्छपानविकाराख्यौ ज्ञेहौ शीघ्रकारित्वादिना विशेषेण निर्दिशेत् । तथा कुटीप्रवेशस्थित्या यद्रसायनमुपयुज्यते यच्च वातातपाद्यपरिहारस्थित्या रसायनं क्रियते, ते च द्वे अपि तथैव विशेषेण निर्दिशेत् । तथान्वासनं मात्रावस्तिश्च तावप्येवं चिरकारी-शीघ्रकारित्वादिगुणैर्विनिर्दिशेत् ।



इदानीमणुतैलं निर्दिदिक्षुराह—

जीवन्तीजलदेवदारुजलदत्वक्सेव्यगोपीहिमम्

दार्वात्वङ्माधुकस्रवागुरुवरापुण्ड्राह्विल्वोत्पलम् ।

धावन्यौ सुरभिः स्थिरे कृमिहरे पत्रं त्रुटि रेणुकं

किञ्जल्कं कमलाह्वयं शतगुणे दिव्येऽम्भसि काथयेत् ॥ ३७ ॥

तैलाद्रसं दशगुणं परिशेष्य तेन तैलं पंचच्च सलिलेन दशैव वारान् ।

पाके क्षिपेच्च दशमे सममाजदुग्धं नस्यं महागुणमुशन्त्यणुतैलमेतत् ॥

जीवन्तीत्यादि । जीवन्त्यादीनि द्रव्याणि दिव्ये जले काथयेत् । गोपी सारिवा । प्लवं गोपालदमनारुधम् । पुण्ड्राह्वं पौण्डरीकम् । धावन्यौ कण्टका-
रिकामहोटिकाख्ये । सुरभिः शल्लकी । स्थिरे शालिपर्णीपृश्निपण्यौ । कृमिहरं
विडङ्गम् । अत्र तैलसमानि द्रव्याणि ग्राह्याणीति वैद्यव्यवहारः । आकाशादेः
पटादिभिर्गृहीतं जलं दिव्यमुच्यते । ततैलाच्छतगुणं गृहीत्वा तावत्काथयेद् याव-
द्दशगुणो रसस्तैलात्स्यात् । तेन काथेन च तैलं दशवारान्पचेत् । दशमे च पाके
तैलसममजाक्षीरं क्षिपेत् । ततः पुनः पंचत् । इति तैलं महागुणमणुतैलसञ्ज्ञं
कथयन्ति । अणुषु तैलमणुतैलम् । अणुनीन्द्रियस्रोतांसि प्रविशतीत्यर्थः ।

घनोन्नतप्रसन्नत्वक्स्कन्धग्रीवाऽऽस्यवक्षसः ।

दृढेन्द्रियास्त्वपलिता भवेर्युनस्यशीलिनः ॥ ३८ ॥

नस्यशीलिनो निबिडोच्चतररमणोयत्वगादयः स्युः । त्वक् च स्कन्धश्च ग्रीवा
चाऽऽस्यं च वक्षश्च एतेषां समाहारः त्वक्स्कन्धग्रीवास्यवक्षः । घनोन्नतप्रसन्नं
त्वक्स्कन्धग्रीवास्यवक्षो येषां ते घनोन्नतप्रसन्नत्वक्स्कन्धग्रीवास्यवक्षसः । तथा
पुष्टेन्द्रियाः पलितवर्जिताश्च भवेयुः ।

इति श्रीमृगाङ्कदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टाङ्गहृदयटीकायां सर्वाङ्ग-
सुन्दराख्यायां विशोऽध्यायः ॥ २० ॥

एकविंशतितमोऽध्यायः ।

ऊर्ध्वाङ्गचिकित्साप्रसङ्गाद्धूमपानविधिं जिगदिपुराह—

अथाऽतो धूमपानविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ।

जत्रूर्ध्वं कफवातोत्थविकाराणामजन्मने ।

उच्छेदाय च जातानां पिबेद् धूमं सदाऽऽत्मवान् ॥ १ ॥

आत्मवान् सुमतिर्हिताहारविहारो जत्रुण ऊर्ध्वं श्लेष्मवातोद्भवानां विकाराणां
रोगाणामजन्मनेऽनुत्पत्तयै तथोत्पन्नानामुच्छेदाय विनाशाय सदा धूमं पिबेत् ।

स्निग्धो मध्यः स तीक्ष्णश्च वाते वातकफे कफे ।

योज्यः,

स च धूमः स्निग्धमध्यतीक्ष्णभेदेन त्रिधा । यथाक्रमं वाते स्निग्धो वातकफे मध्यः कफे तीक्ष्णो योज्यः ।

न रक्तपित्तार्तिविरक्तोदरमेहिषु ॥ २ ॥

तिमिरोर्ध्वाऽनिलाऽऽध्मानरोहिणीदत्तवस्तिषु ।

मत्स्यमद्यदधिक्षीरक्षौद्रक्षेहविषाशिषु ॥ ३ ॥

शिरस्यभिहते पाण्डुरोगे जागरिते निशि ।

रक्तपित्तार्त्यादिषु धूमो नावचारणीयः । ननु वाते वातकफे कफे च धूमस्योक्तत्वात्पित्तार्तौ प्राप्तिरेव नास्ति, तर्हि प्रतिषेधेन ? ब्रूमः—वातप्रकृतेर्वातपित्तार्तौ सत्यां कश्चिद्विषक्पाशो भ्रान्त्या प्रकृत्यनुरूपोपक्रमचिकीर्षया धूमं योजयेत्तन्निषेधार्थमिदमुक्तम् । अथवा पित्तार्तप्रकृतेर्वातश्लेष्मव्याध्युत्पत्तौ धूमो न योज्य इति प्रतिपादनार्थमिदं गदितम् । अशिशब्दो मत्स्यादिषु विषान्तेषु प्रत्येकं योज्यः । अत्र च यथासम्भवं पानं मयादेरशनं च मत्स्यादेरशनशब्देनेहोच्यते । चतुर्विधेष्वहारेष्वशनशब्देनास्त्येव व्यवहारः । यथा 'मात्राशी सर्वकालं स्यादिति' । केचिच्च यवागूपायिन्यपि धूमपानं नेच्छन्ति ।

रक्तपित्तान्ध्यबाधिर्यतृणमूर्च्छामदमोहकृत् ॥ ४ ॥

धूमोऽकालेऽतिपीतो वा,

मूर्च्छा संज्ञानाशः । मोहश्चित्तनाशः । 'मुह वैचित्य इति पाठात्' । आन्ध्यबाधिर्यग्रहणमुत्तमाङ्गरोगोपलक्षणार्थम् । तेन सङ्ग्रहोक्तमर्दितमपि गृह्यते । धूमोऽकाले पूर्वोक्ते रक्तपित्तार्त्यादौ पीतो रक्तपित्तादीन् कुर्यात् । अप्रतिसिद्धेऽपि काले क्षुतादावतिशयेन पीतो रक्तादिकृत् ।

तत्र शीतो विधिर्हितः ।

तत्र रक्तपित्ताद्यार्तौ विधिरुपक्रमो यथास्वं सर्पिःपाननस्थालेपपरिषेकादिः शीतो विधिर्हितः ।

इदानीं त्रयाणां धूमानां पृथक्कालं दर्शयन्नाह —

क्षुतजृम्भितविरमूत्रस्त्रीसेवाशस्त्रकर्मणाम् ॥ ५ ॥

हासस्य दन्तकाष्ठस्य धूममन्ते पिबेन्मृदुम् ।

कालेष्वेषु निशाऽहारनावनान्ते च मध्यमम् ॥ ६ ॥

निद्रानस्याञ्जनस्तान्च्छर्दितान्ते विरेचनम् ।

क्षुतादीनामष्टानामन्ते मृदुं ज्ञेहनाख्यं धूमं पिबेत् । एषु क्षुतादिषु कालेषु निशाहारनावनान्तेषु च मध्यमं धूमं पिबेत् । 'मध्यममिति मध्यान्म इति मः' । विरेचनाख्यं धूमं निद्रादीनामन्ते पिबेत् । नावननस्ययोरेकार्थयोरीहोपादानाञ्जस्यक्रमेण धूमं पिबेदिति ग्रन्थकृता प्रतिपादितम् । तेन स्निग्धनस्यान्ते स्निग्धं मृद्वपर-

पर्यायं धूमं पिबेत् । आचार्योपदेशाच्च जुताद्यन्तेषु च क्षिग्धं धूमं पिबेत् । मध्याह्न-
स्यान्ते मध्यमं धूमं पिबेत् । कालेष्विति बहुवचनाच्च जुतादीनामष्टानामन्तादिषु च
मध्यमं धूमं पिबेत् । एवं निद्रानस्यान्ते विरेचनं धूमं पिबेत् । कालेष्विति वचनाक्षि-
शाशब्दोऽत्र विरेचनपर्यायः ।

साम्प्रतमत्र नेत्रस्वरूपमाह—

बस्तिनेत्रसमद्रव्यं त्रिकोशं कारयेदुजु ॥ ७ ॥

मूलाग्रेऽङ्गुष्ठकोलास्थिप्रवेशं धूमनेत्रकम् ।

बस्तौ नेत्रं बस्तिनेत्रं, बस्तिनेत्रेण समं बस्तिनेत्रतुल्यं द्रव्यं धातुदार्ढ्यस्थि-
वेणुजं यस्य धूमनेत्रस्य तद्वस्तिनेत्रसमद्रव्यं धूमनेत्रं शिल्पिना कारयेद्विषक् ।
किम्भूतं नेत्रम् ? त्रयः कोशाः पर्वाणि यस्य तन्त्रिकोशम् । ऋजु न वक्रम् । तथा
मूलं चाऽग्रं च तस्मिन्मध्यासङ्ख्यमङ्गुष्ठवदरास्थिप्रवेशम् । अङ्गुष्ठश्च कोलास्थि चेति
'समाहारद्वन्द्वः' । तत्प्रविशत्यस्मिन्निति 'पदव्यतिशेति घञ्' ।

दैर्घ्येण प्रमाणमिदानीं तीक्ष्णादिकत्रिविधधूमनेत्रस्याऽह—

तीक्ष्णस्नेहनमध्येषु त्रीणि चत्वारि पञ्च च ॥ ८ ॥

अङ्गुलानां क्रमात्पातुः प्रमाणेनाऽष्टकानि तत् ।

यथासङ्ख्यं दैर्घ्येण तीक्ष्णस्य त्रीण्यष्टकानि चतुर्विंशतिरङ्गुलानि स्युः । स्नेहने
च धूमे चत्वार्यष्टकानि द्वात्रिंशदङ्गुलानि स्युः । मध्यमे च धूमे पञ्चाष्टकानि चत्वारिं-
शदङ्गुलानि स्युः । पर्वाण्येकत्वं सूक्ष्मत्वं दैर्घ्यं च नेत्रस्येह कृतम् । एवं हि नयनकर्णा-
दीनां न दाधेधो धूमः स्यात् । तथा च मुनिः—“दूराद्विनिर्गतः पर्वच्छिद्यन्नो नाडी-
तनूकृतः । नेन्द्रियं बाधते धूम इति ” ।

कीदृशः सन् धूमं पिबेदित्याह—

ऋजूपविष्टस्तच्चेता विवृतास्यस्त्रिपर्ययम् ॥ ९ ॥

पिधाय च्छिद्रमेकैकं धूमं नासिकया पिबेत् ।

ऋजु स्पष्टमुपविष्ट आसीनः । तथा तच्चेता धूमपानगतचित्तः । तथा प्रसा-
रितमुखः । तथा नेत्रगतदृष्टिरित्यादि द्रष्टव्यम् । कथं पिबेत् ? त्रिपर्ययमाक्षेप-
विसर्गावपनैस्त्रिपर्ययैः । तथा च्छिद्रमेकैकं पिधाय प्रकृतत्वाज्ञासिकाया एव । तदेवं
विधः सन्नासिकया पिबेत् । 'एकैकमित्येकं बहुव्रीहिवदिति द्वित्वसुब्लोपौ' । तेना-
ऽयमर्थः—एकं नासापुटं पिधायऽपरेण नासापुटेनाऽऽकृष्य धूमं पिबेत् । अपरं
नासापुटं पिधाय तदपरेणाऽऽकृष्य तथैव पिबेदित्यर्थः ।

प्राक् पिबेन्नासयोत्क्लिष्टे दोषे घ्राणशिरोगते ॥ १० ॥

उत्क्लेशनार्थं वक्त्रेण विपरीतं तु करदगे ।

नासागते शिरोगते वा दोष उत्क्लिष्टे स्वस्थानाच्चाक्षिते सति प्राक् पूर्वं
नासया पिबेत् । अनुत्क्लिष्टे दोष उत्क्लेशनार्थं वक्त्रेण प्राक् पिबेत् पश्चाज्जासिकया ।

कण्ठरोधदोषोत्क्लेशनार्थं प्राङ्नासिकया पिबेत् पश्चाद्वक्त्रेणेति विपरीतम् ।

मुखेनैव वमेद्धमं नासया दृग्विघातकृत् ॥ ११ ॥

नासयाऽऽस्येन वा पीतं धूमं वक्त्रेण वोत्सजेत् । ननु घ्राणेनैव कस्मान् मुखेतेत्याह—नासयेत्यादि । घ्राणेनोत्सज्यमानो धूमो दृष्टिविघाततिमिरादीन् करोति । तस्मान्मुखेनैवोत्सजेत् ।

आक्षेपमोक्षैः पातव्यो धूमस्तु त्रिस्त्रिभिस्त्रिभिः ।

अ. क्षेपमोक्षैरादानविसर्गैस्त्रिभिस्त्रिभिस्त्रिन्वारान् धूमः पातव्यः । 'त्रिरिति द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्' ।

अहः पिबेत्सकृत् स्निग्धं द्विर्मध्यं शोधनं परम् ॥ १२ ॥

त्रिश्चतुर्वा,

अहः सकृदेकवारं स्निग्धं धूमं पिबेत् । मध्यमं धूमं द्वौ वारौ पिबेत् । अह इत्यत्राऽप्यनुवर्तते । तीक्ष्णं धूमं त्रीन् वारांश्चतुरो वा दिवसस्य पिबेत् । 'अह इति, कृत्वोऽर्थप्रयोगे कालेऽधिकरण इति षष्ठी' ।

मृदौ तत्र द्रव्याण्यगुरुगुगुलुः ।

मुस्तस्थौलेयशैलेयनलदोशीरवालकम् ॥ १३ ॥

वराङ्गकौन्तीमधुकवित्वमज्जैलवालुकम् ।

श्रीवेष्टकं सर्जरसो ध्यामकं मदनं स्रवम् ॥ १४ ॥

शङ्खकी कुङ्कुमं माषा यवाः कुन्दुरकं तिलाः ।

स्नेहः फलानां साराणां मेदोमज्जावसाघृतम् ॥ १५ ॥

तत्र तेषु त्रिषु धूमेषु मध्यान्मृदौ प्रायोगिकरूपे धूमे द्रव्याण्यगुरुप्रभृतीनि । मृदो गोपालमदनकः । स्नेह इति—फलानामक्षौडनालिकेरादीनां स्नेहः, तथा साराणां खदिरासनादीनां च स्नेहः । मधुकमदनयोरेकयोनित्वादुक्तस्योपयोगो मदनस्याऽत्र विरुद्ध इति केचित् । तच्चाऽयुक्तम् । द्रव्यन्तरत्वान्मदनस्य पिरयाकादि-वतिलादेः । घृतं चाऽत्र गव्यमेव ग्राह्यं मुख्यत्वात् । उक्तं हि—“गव्ये क्षीरघृते श्रेष्ठे इति” ।

शमने शङ्खकी लाक्षा पृथ्वीका कमलोत्पलम् ।

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षरोध्रत्वचः सिता ॥ १६ ॥

यष्टीमधुः सुवर्णत्वक् पद्मकं रक्तयष्टिका ।

गन्धाश्चाऽकुष्ठतगराः,

शमने धूमे शङ्खक्यादीनि गन्धद्रव्याणि कुष्ठतगरवर्ज्यानि ।

तीक्ष्णे ज्योतिष्मती निशा ॥ १७ ॥



दशमूलभेनोद्वाऽऽलं लाक्षाश्वेताफलत्रयम् ।

गन्धद्रव्याणि तीक्ष्णानि, गणो मूर्धविरेचनः ॥ १८ ॥

तीक्ष्णे विरेचनाख्ये धूमे ज्योतिष्मत्यादीनि, गन्धद्रव्याणि च तीक्ष्णानि कुष्ठ-
तगरादीनि, गणश्च शोधनादिगणसङ्ग्रहोक्तो वेल्हापामार्गेल्यादिको मूर्धविरेचनः ।

सम्प्रति धूमवर्तिविधानमाह—

जले स्थितामहोरात्रमिषीकां द्वादशाङ्गुलाम् ।

पिष्टैर्धूमौषधैरेवं पञ्चकृत्वः प्रलेपयेत् ॥ १९ ॥

वर्तिरङ्गुष्ठवत्स्थूला यवमध्या यथा भवेत् ।

झायाशुष्कां विगर्भां तां स्नेहाभ्यक्तां यथायथम् ॥ २० ॥

धूमनेत्रार्पितां पातुमग्निप्लुष्टां प्रयोजयेत् ।

रात्रिन्दिवं सलिले उषितां दैर्घ्येण द्वादशाङ्गुलामिषीकां दर्भमूलतृणं पञ्चकृत्वः
पञ्चवारान् धूमोक्तैरौषधैः पिष्टैः प्रकर्षेण लेपयेत् । यथाऽङ्गुष्ठवत्स्थूला यवमध्या वर्तिः
स्यात् । एतदाकृतिविधानं च त्रिविधेऽपि नेत्रके, वर्तेः सुखप्रवेशार्थम् । तामिषीकां
झायाविशुष्कां विगतगर्भामपनीतेषीकां, तथा क्नेहेन घृतादिना यथास्वमभ्यक्तां, तथा
धूमनेत्रस्य यदङ्गुष्ठप्रमाणं छिद्रं तत्राऽर्पितां, तथाऽग्निप्लुष्टामङ्गारप्रदीप्तां, पातुं
पानार्थं प्रयोजयेत् ।

अधुनाऽपरमपि धूमप्रकारमाह—

शरावसम्पुटच्छिद्रे नाडीं न्यस्य दशाङ्गुलाम् ॥ २१ ॥

अष्टाङ्गुलां वा वक्त्रेण कासवान् धूममापिबेत् ।

शरावयोः संपुटं युग्मं तस्य छिद्रे नाडीं दशाङ्गुलामष्टाङ्गुलप्रमाणां वा निक्षिप्य
कासी धूममापिबेत् । तदयमत्रार्थः—‘अपगतधूमस्तदिरचदरादिदारुस्थिराङ्गार-
प्रखरपूर्णशरावे कासहरचूर्णं सक्नेहं गुलिकां वा न्यस्य मध्यकृतच्छिद्रशरावेण
पिधाय नाडीमष्टाङ्गुलां दशाङ्गुलां वा निवेश्य कासवान् कासी वक्त्रेण मुखेन
धूमं पिबेदिति ।

कासः श्वासः पीनसो विस्वरत्वं पूतिगन्धः पाण्डुता केशदोषः ।

कर्णाऽऽस्याक्षिस्त्रावकण्ड्वर्तिजाड्यं तन्द्रा हिध्मा धूमपं न स्पृशन्ति २२

कासादयो धूमपं न स्पृशन्ति । धूमं पातुरेते न सम्भवन्तीति भावः । तत्र
पूतिगन्ध आस्यनासयोः । पाण्डुता मुखस्य । केशस्य दोषाः सितपिञ्जरत्वादयः ।
कर्णौ चाऽऽस्यं चाऽक्षिणी च कर्णाऽऽस्याक्षि । स्त्रावश्च कण्ड्वश्चाऽर्तिश्च जाड्यं च
स्त्रावकण्ड्वर्तिजाड्यम् । कर्णादिषु प्रत्येकं स्त्रावादिचतुष्टयं योज्यमिति ।
'शालिनो वृत्तम्' ।

मौ० टि०—१ मनोद्वा=मनःशिला । २ आलं=हरितालम् । ३ श्वेता=काष्ठपाटला
पाटलाभेद इत्यर्थः ।



इति श्रीमृगाङ्कदत्तपुत्रश्रीमदहणदत्तविरचितायामष्टाङ्गहृदयटीकायां सर्वाङ्ग-
सुन्दराख्यायामेकविंशतितमोऽध्यायः ॥ २१ ॥

द्वाविंशतितमोऽध्यायः ।

इदानीं द्वाविंशाध्यायारम्भणप्रस्तावो गरुडूषादिविधानप्रदर्शनार्थमित्याह—

अथाऽतो गरुडूषादिविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ।

गरुडूषादयो विधीयन्ते यस्मिन्निति गरुडूषादिविधिः । आदिशब्देन
कवलादिपरिग्रहः ।

चतुष्प्रकारो गरुडूषः स्निग्धः शमनशोधनौ ।

रोपणश्च,

चत्वारः प्रकारा भेदा यस्य स चतुष्प्रकारो गरुडूषः स्निग्धादिभेदेन ।

त्रयस्तत्र त्रिषु योज्याश्चलादिषु ॥ १ ॥

अन्त्यो व्रणघ्नः,

तत्र तेषु गरुडूषेषु मध्यायथासङ्ख्यं पवनपित्तश्लेष्मसु त्रयः स्निग्धादयो
गरुडूषा योज्याः । तत्र वाते स्निग्धो गरुडूषः । पित्ते शमनः । कफे शोधन
इत्यर्थः । अन्त्यो रोपणाख्यो व्रणघ्नो व्रणसाधन उपयुज्यते ।

इदानीमेषां लक्षणं निर्वक्ति—

स्निग्धोऽत्र स्वाद्वम्लपटुसाधितैः ।

स्नेहैः,

अत्रैषु गरुडूषेषु मध्ये स्निग्धो मधुरादिसाधितैः स्नेहैर्भवति ।

संशमनस्तिक्तकषायमधुरौषधैः ॥ २ ॥

शमनस्तिक्तादिभिरौषधैः पटोलाऽरिष्टजम्बास्रमधुककाथशर्करोदकक्षौद्रा-
दिभिः स्यात् ।

शोधनस्तिक्तकट्वम्लपटूष्णैः

शोधनो गरुडूषस्तिक्तकट्वम्लादिभिरौषधैर्भवति ।

रोपणः पुनः ।

कषायतिक्तैः,

रोपणस्तु गरुडूषः कषायतिक्तैः स्यात् ।

ननु द्रव्याणां शुष्कत्वाद्गरुडूषानुपपत्तिरिति चेत्त्राह—

तत्र स्नेहः क्षीरं मधूदकम् ॥ ३ ॥

शुक्लं मद्यं रसो मूत्रं धान्याम्लं च यथायथम् ।

कल्कैर्युक्तं विपक्वं वा यथास्पर्शं प्रयोजयेत् ॥ ४ ॥



तत्र तेषु पूर्वोक्तेषु गरुडेषु मध्ये ज्ञेयादिकं कल्कैर्यथायथं युक्तं विपक्वं वा यथा-
स्पर्शं शीतमुष्णं वा प्रयोजयत् ।

दन्तहर्षे दन्तचाले मुखरोगे च वातिके ।

सुखोष्णमथवा शीतं तिलकल्कोदकं हितम् ॥ ५ ॥

दन्तहर्षादौ कवोष्णमथवा शीतं दोषवशं तिलकल्कोदकं हितम् ।

गरुडेषधारणे नित्यं तैलं मांसरसोऽथवा ।

गरुडेषधारणे नित्यं तैलं मांसरसो वा हितः ।

ऊषादाहान्विते पाके क्षते वाऽऽगन्तुसम्भवे ॥ ६ ॥

विषक्षाराऽग्निदग्धे च सर्पिर्धार्यं पयोऽथवा ।

ऊषादियुक्ते पाके क्षते वाऽऽगन्तुजे तथा विषे क्षाराग्निभ्यां दग्धे च सर्पिर्ग-
रुडेषे हितं क्षीरं वा ।

वैशद्यं जनयत्यास्ये सन्दधाति मुखव्रणान् ॥ ७ ॥

दाहतृष्णाप्रशमनं मधुगरुडेषधारणम् ।

माक्षिकगरुडेषधारणं मुखे वैशद्यं जनयति न पैच्छिल्यम् । मुखव्रणांश्च सन्द-
धाति तथा दाहं तृष्णं च शमयति ।

धान्याम्लमास्यवैरस्यमलदौर्गन्ध्यनाशनम् ॥ ८ ॥

धान्याम्लं गरुडेष उपयुक्तं वदनवैरस्यं तथा मलं दौर्गन्ध्यं चाऽपनयति ।

तदेवाऽलवणं शीतं मुखशोषहरं परम् ।

तदेव काजिकमलवणं शीतं परमतिशयेनाऽऽस्यशोषहरम् ।

आशु क्षाराम्बुगरुडेषो भिनत्ति श्लेष्मणश्चयम् ॥ ९ ॥

क्षारेण सर्जिकादिना युक्तं जलं कफस्य चयमाशु भिनत्ति ।

सुखोष्णोदकगरुडेषैर्जायते वक्त्रलाघवम् ।

कोष्णपानीयगरुडेषैर्वदनलाघवं सम्पद्यते ।

निवाते सातपे स्विन्नमृदितस्कन्धकन्धरः ॥ १० ॥

गरुडेषमपिबन् किञ्चिदुन्नतः स्यो विधारयेत् ।

वातरहिते रव्यालोके स्थाने । स्कन्धौ च कन्धरा च स्कन्धकन्धरम् । पूर्वं
स्विन्नं पश्चान्मृदितं स्कन्धकन्धरं यस्य स एवम् । तथा गरुडेषमपिबन्स्तथा किञ्चि-
दुन्नतं मुखं यस्य स एवंविधः सन् गरुडेषं धारयेत् ।

कियन्तं कालमित्याह—

कफपूर्णास्यता यावत्स्रवद्घ्राणाक्षताऽथवा ।

असञ्चार्यो मुखे पूर्णं गरुडेषः, 'कवलो'ऽन्यथा ॥ ११ ॥

कफेन पूर्णं कफपूर्णमास्यं यस्य स कफपूर्णस्यस्तस्य भावः कफपूर्णस्यता याव-
द्भवेत् । अथवा स्रवद् घ्राणाक्षि यस्य स स्रवद् घ्राणाक्षः । 'बहुव्रीहौ सक्थ्यङ्गो-

रिति षच्' । तस्य भावः स्रवद्विप्राणाक्षता यावत्स्यात्तावद्गण्डूषान् धारयेत् । एवं गण्डूषाः पञ्च सप्त धारयितव्या यावत्स्वास्थ्यं स्यात् । मुखे पूर्णे सति यः सञ्चारयितुमशक्यः स्यात् स गण्डूष उच्यते । अन्यथा च यः सञ्चारयितुं शक्यते मुखेऽपूर्णे स कवल उच्यते ।

मन्याशिरःकर्णमुखाक्षिरोगाः प्रसेककण्ठामयवक्त्रशोषाः ।

हृत्तासतन्द्रारुचिर्पीनसाश्च साध्या विशेषात्कवलप्रहेण ॥ १२ ॥

मन्यादीनां रोगेण सम्बन्धः । ' प्रसेकादीनां द्वन्द्वः ' । आमयशब्दस्य कण्ठेन सम्बन्धो विविधकण्ठरोगसूचनार्थः । मन्यारोगादयो विशेषेण कवल-धारणेन साध्याश्चिकित्स्याः ।

कल्को रसक्रिया चूर्णस्त्रिविधं प्रतिसारणम् ।

कल्कादिभेदेन प्रतिसारणं त्रिधा स्यात् । कल्को जलादिपिष्टः । मान्द्रिकादिना यद् द्रवीक्रियते द्रव्यं सा रसक्रिया । चूर्णं प्रथितमेव ।

युञ्ज्यात्तत् कफरोगेषु गण्डूषविहितौषधैः ॥ १३ ॥

तत्प्रतिसारणं श्लेष्मरोगेषु गण्डूषोक्तैरौषधैर्योज्यम् । सामान्योक्तावपि कफ-रोगविषयत्वात् शोधनगण्डूषोक्तैरिति वेद्यम् ।

मुखालेपस्त्रिधा दोषविषहा वर्णकृच्च सः ।

मुखालेपस्त्रिप्रकारो दोषघ्नो विषघ्नो वर्णकरश्च ।

उष्णो वातकफे शस्तः शेषेष्वत्यर्थशीतलः ॥ १४ ॥

स च मुखालेपो वातश्लेष्मण्युष्णो हितः । शेषेषु पिते वातपिते विषे च शिशिरो हितः । स च त्रिप्रमाणः ।

कथमित्याह—

त्रिप्रमाणश्चतुर्भागत्रिभागार्धाङ्गुलोन्नतिः ।

चतुर्भागत्रिभागार्धाङ्गुलोन्नतिः । उन्नतिरुत्सेधः ।

अशुष्कस्य स्थितिस्तस्य शुष्को दूषयति च्छविम् ॥ १५ ॥

तमार्द्रयित्वाऽपनयेत्तदन्तेऽभ्यङ्गमाचरेत् ।

तस्य मुखालेपस्याऽशुष्कस्य स्थितिः । शुष्कस्तु मुखालेपरद्वयं त्वचं दूषयति । मुखालेपमार्द्रयित्वाऽपसारयेत् । तस्यान्ते तस्मिन्नपनीतेऽभ्यङ्गं कुर्यात् ।

विवर्जयेद्दिवास्वप्नादीन् वर्जयेत् । अहःस्वप्नादिसेवनात् कण्डूत्वकशोफ-

पीनसदृष्ट्युपघातादिभयं स्यात् ।

न योग्यः पीनसेऽजीर्णे दत्तनस्ये हनुग्रहे ।

अरोचके जागरिते,

पीनसादौ मुखालेपो न योज्यः ।



स च हन्ति सुयोजितः ॥ १७ ॥

अकालपलितव्यङ्गवलीतिमिरनीलिकाः ।

स च मुखालेपः सुयोजितो विधिना सेवितोऽकालपलितादीन् पराकरोति ।

कोलमज्जा वृषान्मूलं शाबरं गौरसर्षपः ॥ १८ ॥

सिंहीमूलं तिलाः कृष्णा दार्वात्वङ्निस्तुषा यवाः ।

दर्भमूलाहिमोशीरशिरीषमिशितण्डुलाः ॥ १९ ॥

कुमुदोत्पलकङ्कारदूर्वामधुकचन्दनम् ।

कालीयकतिलोशीरमांसीतगरपद्मकम् ॥ २० ॥

तालीसंगुन्द्रापुण्ड्राह्वयष्टीकाशनतागुरुः ।

इत्यर्धाधोदिता लेपा हेमन्तादिषु षट् स्मृताः ॥ २१ ॥

कोलमज्जादयोऽर्धच्छेकोक्ताः षण्मुखालेपा इत्येवं षट्सु हेमन्तादिषु ऋतुषु स्मृताः । मुनीन्द्रैरिति शेषः । तत्र बदरमज्जादयो हेमन्ते । व्याघ्रयादयः शिशिरे । दर्भमूलादयो वसन्ते । कुमुदादयो ग्रीष्मे । कालीयकादयः प्रावृषि । तालीसादयः शरदि ।

मुखालेपनशीलानां दृढं भवति दर्शनम् ।

वदनं चाऽपरिम्लानं श्लक्ष्णं तामरसोपमम् ॥ २२ ॥

मुखालेपाभ्यासवतां नराणां दर्शनं दृष्टिर्दृढं स्यात् । मुखं च विकसितमिव तथा कोमलं पद्मतुल्यं च जायते ।

अभ्यङ्गसेकपिचवो बस्तिश्चेति चतुर्विधम् ।

मूर्धतैलम्,

अभ्यङ्गादिभेदात् चतुर्धा शिरसि तैलं स्यात् ।

बहुगुणं तद्विद्यादुत्तरोत्तरम् ॥ २३ ॥

तच्चोत्तरोत्तरं बहुगुणं विद्यात् । अभ्यङ्गात् सेको बहुगुणस्ततोऽपि पिचुस्तस्मादपि बस्तिरिति क्रमेण ।

तत्राऽभ्यङ्गः प्रयोक्तव्यो रौच्यकण्डूमलादिषु ।

तत्र तेषु मध्ये रौक्ष्यादिष्वभ्यङ्गः कार्यः ।

अरुणिकाशिरस्तोददाहपाकव्रणेषु तु ॥ २४ ॥

परिषेकः,

अरुणिकादिषु परिषेकः ।

पिचुः केशशातस्फुटनधूपने ।

नेत्रस्तम्भे च,

केशशातादिषु पिचुः प्रयोक्तव्यः ।

बस्तिस्तु प्रसुप्त्यर्दितजागरे ॥ २५ ॥



मासाऽऽस्यशोषे तिमिरे शिरोरोगे च दारुणे ।

वस्तिः पुनः प्रसुप्त्यादौ योज्यः ।

विधिस्तस्य निषण्णस्य पीठे जानुसमे मृदौ ॥ २६ ॥

शुद्धाकृस्विन्नदेहस्य दिनान्ते गव्यमाहिषम् ।

द्वादशाङ्गुलविस्तीर्णं चर्मपट्टं शिरःसमम् ॥ २७ ॥

आकर्णवन्धनस्थाने ललाटे वस्त्रेवेषिते ।

चैलवेणिकया बध्वा माषकल्केन लेपयेत् ॥ २८ ॥

तस्य शिरोवस्त्रेविधानमुच्यते । निषण्णस्योपविष्टस्य नरस्य० क ? पीठे जानुतुल्ये तथा मृदौ न कठिने । किम्भूतस्य ? शुद्धो वमनादिनाऽऽकृस्त्रैलादिना स्विन्नः स्वेदेन देहो यस्य तस्य शुद्धाकृस्विन्नदेहस्य । कदा ? दिनान्तेऽपराहणे विभावयां वा । चर्मपट्टं गव्यं माहिषं वा तथा द्वादशाङ्गुलविस्तीर्णं तथा शिरस्तुल्यं तथाऽऽकर्णं कर्णं यावद्वन्धनस्थानं यस्य तदेवंविधं चर्मपट्टं चैलवेणिकया संयम्य माषकल्केन लेपयेत् । कथं ? ललाटे वस्त्रेवेषिते । सङ्ग्रहे तुक्तम्—“अथ शुद्धतनोः सायं रात्रौ वा निवातस्थस्य स्वभ्यक्तस्विन्नस्य सोपाश्रयासनोपविष्टस्य केशान्ते शृङ्गं त्र्यङ्गुलं माषपिष्टेन सूक्ष्मेण सद्यः सुखाम्बुना मृदितेनोभयतः प्रदिग्धं वस्त्रपट्टं बध्नीयात् । ततस्तस्योपरि सन्धाय वस्तिं वस्तिमूलं च दृढमवलीकं समं चैलवेणिकया बध्वा पुनर्माषपिष्टेनापरिस्त्रावि कृत्वा यथाव्याधिदोषदूष्यहितं सिद्धमन्यतमं स्नेहं सुखोष्णमासेचयेदिति ।

ततो यथाव्याधि शृतं स्नेहं कोष्णं निषेचयेत् ।

ऊर्ध्वं केशभुवो यावद् द्वाङ्गुलम्,

तत एवं कृते सति व्याधिवशेन पक्वं स्नेहं कोष्णमपरिच्छिन्नेरेणाऽवसेचयेत् । केशभूमेरुपरिष्ठाद् द्वाङ्गुलं यावत् ।

स च स्नेहः कियत्कालं धार्य इत्याह—

धारयेच्च तम् ॥ २९ ॥

आवक्त्रनासिकोत्केदात्,

तं च स्नेहं यावद्वक्त्रनासिकास्रुतिः स्यात्तावद्धारयेत् ।

दशाऽष्टौ षट् चलादिषु ।

मात्रासहस्राणि,

चल आदिर्द्वेषां ते चलादयस्तेषु यथासङ्ख्यं दशाष्टौ षट् मात्रासहस्राणि यावत् स्नेहं धारयेत् । वाते दशमात्रासहस्राणि, पित्तेऽष्टौ मात्रासहस्राणि, कफे षण्मात्रासहस्राणीत्यर्थः ।

अरुजे त्वेकम्,

अरुजे तु स्वस्थवृत्ते, एकमात्रासहस्रं धारयेत् ।



स्कन्धादि मर्दयेत् ॥ ३० ॥

मुकुत्तेहस्य,

मुकुत्तेहस्याऽपनीतशिरोवस्तेः स्कन्धशिरोप्रवादि मर्दयेत् । ज्ञेहवस्तिर्हि ज्ञेहशब्देनाऽत्र गृह्यते । तत उष्णोदकापचारी स्यादित्यादिकमाचरेत् । तत्र ह्यवोचत्—‘सर्वकर्मस्वयं प्रायो व्याधिर्ज्ञाणेषु च क्रम इति’ ।

परमं सप्ताहं तस्य सेवनम् ।

तस्य च ज्ञेहवस्तेः परमं सेवनं सप्तदिनानि । तस्मात्त्रिपञ्चसप्त वाऽहानि कार्यः शिरोदस्तिरित्यवतिष्ठते ।

धारयेत्पूरणं कर्णे कणमूलं विमर्दयन् ॥ ३१ ॥

रुजः स्यान्मार्दवं यावन्मात्राशतमवेदने ।

कर्णपूरणं धारयेत् । किं कुर्वन् ? कर्णमूलं विमर्दयन् । कियत्कालं यावत्पीडाया मार्दवं भवेत् । स्वस्थचिते तु मात्राशतं यावद्विभृयात् ।

अथ मात्रायाः किं प्रमाणमित्याह —

यावत्पर्येति हस्ताग्रं दक्षिणं जानुमण्डलम् ॥ ३२ ॥

निमेषोन्मेषकालेन समं मात्रा तु सा स्मृता ।

दक्षिणं हस्ताग्रं कर्तुं जानुमण्डलं दक्षिणं पर्येति परिवर्तते । दक्षिणशब्दोऽत्र ‘काकाक्षिगोलकन्यायेन’ द्वयेनाऽपि युज्यते । कियत्कालेनेत्याह । निमेषोन्मेषकालेन समं, न तु विश्रम्य, सा मात्रा स्मृता मुनिभिरिति शेषः ।

कचसदनसितत्वपिञ्जरत्वं परिफुटनं शिरसः समीररोगान् ।

जयति, जनयतीन्द्रियप्रसादं स्वरहनुमूर्धवलं च मूर्धतैलम् ॥ ३३ ॥

कचानां सदनादिभिः सम्बन्धः । परिफुटनं कचानामेव प्रकृतत्वात् । शिरसो मरुदामयांश्च हन्ति । इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां प्रसादं जनयति । तथा स्वरादिबलं च मूर्धतैलं जनयति ।

इति श्रीमृगाङ्कदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टाङ्गहृदयटीकायां सर्वाङ्गसुन्दराख्यायां द्वाविंशतितमोऽध्यायः ॥ २२ ॥

त्रयोविंशोऽध्यायः ।

त्रयोविंशाध्यायारम्भे जन्तुर्वरोगप्रस्तावालोचने, आश्वातनविधानप्रदर्शनार्थमित्याह—

अथाऽत आश्वातनाञ्जनविधिमध्यायं

व्याख्यास्यामः ।

आश्वातनं चाऽञ्जनं च तयोर्विधिर्यस्मिन्नध्याये स एवम् । शेषं पूर्ववत् ।

सर्वेषामक्षिरोगाणामादावाश्वातनं हितम् ।

रक्तादकण्डूवर्षाश्रुदाहरोगनिवर्हणम् ॥ १ ॥

सकल नासपि नयनाभयानां प्रथममाश्रितं पारिषेको हितम् । यतस्तदाश्वेतन-
मुपयुक्तं रुजादिघ्नं स्यात् । सङ्ग्रहे चोक्तम्—“अव्यक्तेष्वेवंगुणमेव पक्ष्मपरिहारे-
णाऽक्षिकोशालेषनं तच्च बिडालकसंज्ञकमिति”

उष्णं वातं कफं कोष्णं तच्छीतं रक्तपित्तयोः ।

तदाश्वेतनं मरुत्युष्णम् । कफं किञ्चिदुष्णम् । रक्ते पित्ते च शीतं हितम् ।

सम्प्रत्याश्वेतनस्य विधमाह —

निवातस्थस्य वामेन पाणिनोन्मील्य लोचनम् ॥ २ ॥

शुक्त्या प्रलम्बयाऽन्येन पिचुवर्त्या कर्नीनिके ।

दश द्वादश वा विन्दून् द्यङ्गुलादवसेचयेत् ॥ ३ ॥

ततः प्रमृज्य मृदुना चैलेन कफवातयोः ।

अन्येन कोष्णपानीयप्लुतेन स्वेदयेन्मृदु ॥ ४ ॥

निवातस्थानस्थितस्याऽतुरस्य वैद्यो वामेन पाणिनोन्मील्य लोचनमपाङ्गदेशे
भाजनं निधायाऽन्येन दक्षिणकरेण पिचुवर्त्या शुक्त्या प्रलम्बया दश द्वादश वा
विन्दून् द्यङ्गुलाङ्गानि निक्टाङ्गानि द्वाङ्गानि कर्नीनिकेऽवसेचयेत् । तत इति—अनन्तरं
कोमलेन वल्लखण्डेन प्रमृज्य शोधयित्वाऽन्येन शोधनाचैलेन कोष्णजलप्लुतेनाऽक्षि
मृदु स्वेदयेन्नातिशयेन । कयोर्दोषयोः ? वातकफयोः । नतु पित्तरक्तयोरित्यर्थः ।

अत्युष्णतीक्ष्णं रुग्णगदह्नाशयाऽक्षिसेचनम् ।

अतिशीतं तु कुरुते निस्तोदस्तम्भवेदनाः ॥ ५ ॥

कषायवर्त्मतां धर्षे कृच्छ्रादुन्मेषणं बहु ।

विकारवृद्धिमत्यल्पं संरम्भमपरिस्त्रुतम् ॥ ६ ॥

अत्यर्थमुष्णमतितीक्ष्णं चाऽऽश्वेतनं, रुजे रागाय, दृग्बिनाशाय च स्यात् ।
अतिशीतं त्वक्षिसेचनं निस्तोदादीन् विधत्ते । निस्तोदः सूच्येव व्यधः । स्तम्भो-
ऽच्छणः स्तम्भननिव । वेदना शूलम् । कषायवर्त्मत्वं कुरुते । धर्षो वर्त्मनः परस्परं
संश्लेषः । बहुतिमात्रमाश्वेतनं कृच्छ्रेणोन्मेषणं विधत्ते । अत्यल्पमक्षिसेचनं विकार-
वृद्धिं कुरुते । अपरिस्त्रुतमक्षिसेचनं संरम्भं नेत्रक्षोभं विधत्ते ।

कया रीत्या नेत्रे प्रयुक्तमौषधं दोषानपनयतीत्याह—

गत्वा सन्धिशिरोघ्राणमुखस्रोतांसि भेषजम् ।

उर्ध्वगान्नयने न्यस्तमपवर्तयते मलान् ॥ ७ ॥

सन्ध्यादीनां द्वन्द्वः । ‘ततः स्रोतःशब्देन षष्ठीसमासः’ । सन्धिशब्देनेहाक्षि-
कोशसम्बन्धिनः सन्धयो गृह्यन्ते । तेनाक्षिकोशसम्बन्धिस्रोतांसि शिरोघ्राणमुख-
स्रोतांसि गत्वा नयने क्षिप्तमौषधमूर्ध्वगान्मलानपवर्तयते ।



अथाऽञ्जनं शुद्धतनोर्नेत्रमात्राश्रये मले ।

पक्कलिङ्गेऽल्पशोफातिकण्डूपैच्छिद्यलक्षिते ॥ ८ ॥

मन्दघर्षाऽश्रुरागेऽक्षिण प्रयोज्यं घनदूषिके ।

आर्ते पित्तकफासृग्भिर्मारुतेन विशेषतः ॥ ९ ॥

अथाश्रोतनादन्यदञ्जनं प्रयोक्तव्यम् । कीदृशस्याऽऽतुरस्य ? शुद्धा तनुर्यस्य सः, तस्य । मले नेत्रमात्राश्रये, न त्वधिकशरीरव्यापिनि । तथा पक्कलिङ्गे । पक्क-
लिङ्गता कथं वेद्यति ? विशेषणद्वारेणाऽऽह अल्पशोफेनातिकण्डूवा, पैच्छिद्यत्वेन च
लक्षितेऽवगते पक्कलिङ्गे सति । कीदृशऽक्षिण ? मन्दा अल्पा घर्षा अश्रुरागा यस्य
तस्मिन् । तथा घना दूषिका नेत्रमलो यस्मिन्नयने तस्मिन् । एतदपि पक्कलिङ्ग-
मेव । पित्तेन कफेन रक्तेन चाऽऽतुरे । मारुतेन चाऽऽतुरे विशेषेणाञ्जनं
प्रयोज्यम् ।

लेखनं रोपणं दृष्टिप्रसादनमिति त्रिधा ।

अञ्जनम्,

अञ्जनं च लेखनादिभेदेन त्रिभेदम् । लिख्यते शब्देणैव शुक्कामादीति लेखनम् ।
रोप्यते संरोह्यतेऽनेनाऽभिष्यन्दादीति रोपणम् । प्रसाद्यते निर्मलीक्रियतेऽनेनेति
प्रसादनम् । दृष्टेः प्रसादनं दृष्टिप्रसादनम् । सङ्ग्रहोक्तस्य ज्ञेहनस्याञ्जनस्य रोपण-
दृष्टिप्रसादनयोरैवान्तर्भूतत्वात्, तदिह पृथङ्गोक्तम् ।

लेखनं तत्र कषायाम्लपटूषणैः ॥ १० ॥

तत्र तेषु त्रिष्वञ्जनेषु मध्याह्नेखनमञ्जनं कषायादिभिर्द्रव्यैः शुक्कामादिषु प्रयोज्यम् ।

रोपणं तिक्तकैर्द्रव्यैः,

रोपणमञ्जनं तिक्तकैर्द्रव्यैः स्यात् । तिक्तग्रहणमुपलक्षणार्थं सङ्ग्रहोक्तस्य । तेन
कषायद्रव्यैः संज्ञेहै रोपणमञ्जनं वेद्यम् ।

स्वादुशीतैः प्रसादनम् ।

स्वादुशीतैर्द्रव्यैः प्रसादनमेव प्रसादनमञ्जनम् । स्वादुशीतद्रव्यैश्चूर्णं श्लक्ष्णा-
ञ्जनं सन्तप्तं चक्षुषि प्रयुज्यमानं प्रत्यञ्जनसंज्ञां लभते ।

दशाङ्गुला तनुर्मध्ये शलाका मुकुलानना ॥ ११ ॥

प्रशस्ता लेखने ताम्री रोपणे काललोहजा ।

अङ्गुली च सुवर्णोत्था रूप्यजा च प्रसादने ॥ १२ ॥

दशाङ्गुला राजमाषस्थूला शलाका प्रशस्यते । मध्ये तनुस्तथा मुकुलाकारे
आनने मुखे द्वे अपि यस्याः सा मुकुलानना । लेखनेऽञ्जने ताम्री शलाका प्रश-
स्यते । रोपणे काललोहोत्था कृष्णशङ्खोद्भवा । अङ्गुली च हस्तावयवविशेषो
रोपण एव शस्तः । एवं प्रसादनेऽञ्जने सुवर्णोत्था कनकोद्भवा रजतोद्भवा च
शलाका प्रशस्ता ।

अञ्जनकल्पना त्रिप्रकारा स्यात् कथमित्याह —

पिण्डो रसक्रिया चूर्णस्त्रिधैवाऽञ्जनकल्पना ।

गुरौ मध्ये लघौ दोषे ताः क्रमेण प्रयोजयेत् ॥ १३ ॥

पिण्डादिभेदेन त्रिप्रकाराऽञ्जनकल्पना स्यात् । पिण्डादयो बहुदोषादिषु क्रमेण प्रयोज्याः । गुरौ दोषे पिण्डः प्रयोज्यो, मध्ये दोषे रसक्रिया, लघुदोषे चूर्ण इत्यर्थः ।

हरेणुमात्रं पिण्डस्य वेल्लमात्रा रसक्रिया ।

तीक्ष्णस्य द्विगुणं तस्य मृदुनः,

तीक्ष्णद्रव्यकृतस्य पिण्डस्य हरेणुमात्रं प्रमाणं कथयन्ति । मृदुद्रव्यकृतस्य पिण्डस्य तद्द्विगुणं द्विहरेणुमात्रं वदन्ति । रसक्रियाया विडङ्गं प्रमाणमाहुः ।

चूर्णितस्य च ॥ १४ ॥

द्वे शलाके तु तीक्ष्णस्य तिष्ठः स्युरितरस्य च ।

चूर्णे तीक्ष्णे द्विगुणां शलाकां मृदौ त्रिगुणां शलाकामभिदधुः । तन्त्रान्तरे चोक्तम्—“लेखनमञ्जनं ताम्ररजतकांस्याद्यन्यतमेषु धार्यम् । रोपणं सुवर्णवटशङ्खान्यतमेषु । प्रसादनं स्फटिकप्लवचन्दनान्यतमेषु धार्यम् । एवं ह्यञ्जनमव्यापञ्जगुणं भवति । वर्तेर्धर्षणार्थं शिला निम्नमध्याऽनुद्रारिणी पञ्चाङ्गुलायता त्र्यङ्गुलविस्तारेति” ।

निशि स्वप्ने न मध्याह्ने म्लाने नोष्णगभस्तिभिः ॥ १५ ॥

अक्षिरोगाय दोषाः स्युर्वर्धितोत्पीडितद्रुताः ।

प्रातःसायं च तच्छ्रान्त्यै व्यभ्रेऽर्केऽतोऽञ्जयेत्सदा ॥ १६ ॥

निशि रात्रावञ्जनं न प्रयोजनीयम् । तथा स्वप्ने स्वप्रकालेऽञ्जनं न प्रयोज्यम् । तथा मध्यदिनेऽञ्जनं न प्रयोज्यम् । न च म्लाने लोचनेऽञ्जनं प्रयोज्यम् । केन म्लाने ? उष्णाभिर्दोषितिभिः । तस्मादेषु कालेष्वञ्जनेन प्रयुक्तेन दोषा वृद्धिं नीतास्तथाऽन्यस्थानगतत्वादुत्पीडितास्तथा द्रुताः कालस्योष्णत्वाद्विलयं गता अक्षिरोगाय स्युस्तस्मादेषु कालेष्वञ्जनं न प्रयोज्यम् । यतः पूर्वोक्तेषु कालेषु पूर्वोक्ता दोषास्तस्मात्पूर्वाह्णे अपराह्णे च तच्छ्रान्त्यै तस्याक्षिरोगस्योपशमाय गताभे रवौ सदैव नेत्रमञ्जयेत् ।

वदन्त्यन्ये तु न दिवा प्रयोज्यं तीक्ष्णमञ्जनम् ।

विरेकदुर्बलं चक्षुरादित्यं प्राप्य सीदति ॥ १७ ॥

अन्ये त्वाचार्या एवं मन्यन्ते—तीक्ष्णमञ्जनं दिवा न प्रयोज्यम् । कस्मादित्याह । यस्माच्चक्षुरादित्यं प्राप्य सीदति । किम्भूतम् ? विरेकदुर्बलम् । तीक्ष्णाञ्जनेन विरेचितत्वात् । तस्माद्विषे तीक्ष्णमञ्जनं न प्रयोज्यम् ।

अत एवाऽऽह—

स्वप्नेन रात्रौ कालस्य सौम्यत्वेन च तर्पिता ।



शीतसात्म्या दृगाग्नेयी स्थिरतां लभते पुनः ॥ १८ ॥

यस्मात्त्वग्रंन रात्रौ तर्पिता, तथा कालस्य रात्र्यारूपस्य सौम्यत्वेन तर्पिता दृष्टिः पुनः स्थैर्यं प्र प्राप्ति तीक्ष्णाञ्जनचोभिताऽपि । कीदृग्दृष्टिः ? आग्नेयग्न्युत्कटभूत-सम्भवा । तथा शीतसात्म्या । तस्मद्रात्रवञ्जनं प्रयोज्यम् । 'अग्नेयीति सर्वत्राग्नि-कलिभ्यां ढग्बक्लव्य इति ढक्' । शीतं सात्म्यं यस्याः । पैत्तिकज्वरस्येव ।

तदेतदन्यमतमव्यापकमिति दूषयन्नाह—

अत्युद्विक्ते बलासे तु लेखनीयेऽथवा गदे ।

काममह्वयपि नात्युष्णे तीक्ष्णमक्षिणं प्रयोजयेत् ॥ १९ ॥

अत्युद्विक्ते कफेऽथवा लेखनहे शुकार्मादौ रोगे दिनेऽपि नात्युष्णे तीक्ष्णमञ्जनं प्रयोजयेत् । काममनुगतमेतत् । कालस्यात्युष्ण्यादञ्जनस्य तैक्षण्याच्चाऽतियोगेन दृष्ट्युपघातः स्यात् ।

अत एवाह—

अश्वमनो जन्म लोहस्य तत एव च तीक्ष्णता ।

उपघातोऽपि तेनैव तथा नेत्रस्य तेजसः ॥ २० ॥

पाषाणाच्छस्त्रस्योत्पत्तिस्तस्मादेव चाऽश्वमनः श्लक्ष्णतादियोगात्तीक्ष्णता । उप-घातोऽपि कुर्यादुत्पादिकस्तेनैव पाषाणेन न केवलं तैक्ष्ण्यम् । तथा 'तेनैवाश्वमशस्त्र-न्यायेन' नेत्रस्य तेजसोऽश्वरश्मस्थानीयाज्जन्म रविसंज्ञतेजसः सकाशात्तीक्ष्णता दर्शनपटुत्वमत्युष्णेन तु तेन तस्योपघातः । तस्माद्यदन्ये गदन्ति सामान्येनैव दिवाऽ-ञ्जनं न प्रयोज्यमिति तदसदेव ।

न रात्रावपि शीतेऽति नेत्रे तीक्ष्णाञ्जनं हितम् ।

दोषमस्रावयत्स्तम्भकरङ्गजाड्यादिकारि तत् ॥ २१ ॥

अपि च रात्रावपि नेत्रे कफाधिक्येनातिशीते करङ्गैश्चिच्छल्याद्यनुमिते तीक्ष्ण-मञ्जनं न प्रयोज्यम् । यतो निशि तीक्ष्णमञ्जनमुपयुक्तं कालस्य सौम्यत्वाद्दोषस्रवणेऽ-योम्यमस्रावयदञ्जनं करङ्गजाड्यादिकृत् स्यान्न तु शमकरि । तस्माच्छीतसात्म्या दृगाग्नेयी स्थिरतां लभते पुनरित्येतदप्यसत् । तस्मात्पूर्वोक्तमेवाऽनवद्यम् ।

नाज्येद्धीतवमितधिरिक्ताऽशितवेगिते ।

क्रुद्धज्वरिततान्ताक्षिशिरोरुक्शोकजागरे ॥ २२ ॥

अदृष्टेऽर्के शिरःस्नाते पीतयोर्धूममद्ययोः ।

अजीर्णेऽग्न्यर्कसंतप्ते दिवा सुप्तं पिपासिते ॥ २३ ॥

भीतादीनामक्षिणी वैद्यो नाजयेत् । अशितोऽत्र सद्योभुक्तो वेद्यः । सद्योभुक्तस्य नरस्य नयने नाजयेदित्यर्थः । तान्ते सूक्ष्मभासुरादिदर्शनादभिघातत्वाच्च ग्लाने अक्षिणी यस्य स एवं तस्मिन् । अदृष्टेऽर्के जलदच्छन्नत्वात् । तथा शिरःस्नातादिषु ।

साम्प्रतं यादृशमञ्जनं न योज्यं तद्दर्शयति—

अतितीक्ष्णमृदुस्तोकबह्वच्छुधनकर्कशम् ।

अत्यर्थशीतलं तप्तमञ्जनं नावचारेत् ॥ २४ ॥

अतिशब्दस्य तीक्ष्णादिभिर्धनान्तैः सम्बन्धः । अत्यर्थशीतलमित्येव तस्मादत्यर्थ-
शब्दस्तप्तमित्यत्राऽनुवृत्तिवृत्तेन सम्बन्धेन योज्यः । अतितीक्ष्णादिगुणमञ्जनं न
प्रयोजयेत् । तन्त्रान्तरे चाऽञ्जनविधिरुक्तः—“सुखोपविष्टस्याऽऽतुरस्य सूपविष्टो
वैद्यो वामाङ्गुष्ठेनोत्तरं वर्त्मनोऽत्तिष्ठ्य कृष्णभागस्याऽधः कर्नानिकादपाङ्गं यावदञ्जनं
नयेदिति” ।

अथाऽनुन्मीलयन् दृष्टिमन्तः सञ्चारयेच्छूनैः ।

अञ्जिते वर्त्मनी किञ्चिच्चालयेच्चैवमञ्जनम् ॥ २५ ॥

तादृशं व्याप्नोति सहसा न चोन्मेषनिमेषणम् ।

निष्पीडनं च वर्त्मभ्यां क्षालनं वा समाचरेत् ॥ २६ ॥

अक्षैवमञ्जनस्वरूपमवेत्य नेत्रेऽञ्जिते सति दृष्टिगोलकमनुन्मीलयन्मध्ये शनैः-
शनैः सञ्चारयेत् । कथम् ? वर्त्मनी चालयेत् । एवमञ्जनं नेत्रं व्याप्नोत्यनुप्रविशति ।
न च सहसा विधत्ति क्रमेणोन्मेषणं कुर्यात् । च शब्दोऽवधारणे । नैव समाचरे-
दित्यर्थः । वर्त्मभ्यां च निष्पीडनं न समाचरेत् । वाशब्दोऽवधारणे । क्षालनं च
नैव कुर्यात् ।

अपेतौषधसंरम्भं निर्वृतं नयनं यदा ।

व्याधिदोषतुयोग्याभिराद्भिः प्रक्षालयेत्तदा ॥ २७ ॥

अपेतोऽपगत औषधसंरम्भो भेषजक्षोभो यस्मिन्नेत्रात्तदेवमपेतौषधसंरम्भम् ।
अत एव निर्वृतमपेतदुःखानुबन्धं यदा लोचनं स्यात्तदा व्याध्यादियोग्यैर्जलैः प्रक्षा-
लयेत् । तत्र व्याधिरभिध्यन्दादिः । दोषो वातादिः । ऋतुर्वसन्तादिः ।

दक्षिणाङ्गुष्ठकेनाऽक्षि ततो वामं सवाससा ।

ऊर्ध्ववर्त्मनि सङ्गृह्य शोध्यं वामेन चेतरेत् ॥ २८ ॥

ततो नयनप्रक्षालनादनन्तरं दक्षिणाङ्गुष्ठेन सवज्जेण वामं नयनमूर्ध्ववर्त्मनि
सम्यगादाय शोधनीयम् । वामेनाऽङ्गुष्ठेन सवाससेतरद् दक्षिणमूर्ध्ववर्त्मनि सङ्गृह्य
शोध्यम् ।

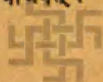
किमिति शोध्यमित्याह—

वर्त्मप्राप्ताञ्जनादोषो रोगान्कुर्यादतोऽन्यथा ।

अतोऽन्यथाऽशोध्यमाने वर्त्मनि प्राप्तं च तदञ्जनं वर्त्मप्राप्ताञ्जनं, तस्मादोषो
रोगान् कुर्यात् । तस्मात्तच्छोध्यं नयनम् ।

करद्वजाब्ध्येऽञ्जनं तीक्ष्णं धूमं वा योजयेत् पुनः ।

‘करद्वश्च जाब्ध्यं चेति समाहारद्वन्द्वः’ । तस्मिन् सति तीक्ष्णमञ्जनं योजयेत् ।



अथवा तीक्ष्णं धूमं योजयेत् ।

तीक्ष्णाञ्जनाऽभितप्ते तु पूर्णं प्रत्यञ्जनं हितम् ॥ २१ ॥

पुनस्तीक्ष्णेनाञ्जनेनाऽभितप्ते लोचने पूर्णं प्रत्यञ्जनं चोक्तं हितमिति ।

इति श्रीमृगाङ्कदत्तपुत्रश्रीमदरुणदत्तविरचितायामष्टाङ्गहृदयटीकायां सर्वाङ्गसुन्द-
राख्यायां त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ।

अस्मादनन्तरं चतुर्विंशाऽध्यायारम्भं आश्चोतनाञ्जनाभ्यां हि नयनस्य प्रायो
दौर्बल्यमतस्तर्पणादेरुपयोगो युक्त इत्याह—

अथाऽतस्तर्पणपुटपाकविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ।

तर्पणं च पुटपाकश्च तर्पणपुटपाकौ, तयोर्विधिस्तम् । शेषं पूर्ववत् ।

नयने ताम्यति स्तब्धे शुष्के रुद्धेऽभिघातेते ।

वातपित्तातुरे जिह्वे शीर्णेपद्माऽऽविलेक्षणे ॥ १ ॥

कृच्छ्रोन्मीलसिराहर्षसिरोत्पाततमोऽर्जुनैः ।

स्यन्दमन्थाऽन्यतोवातवातपर्ययशुक्रकैः ॥ २ ॥

आतुरे शान्तरागाश्रुशूलसंरम्भदूषिके ।

निवाते तर्पणं योज्यं शुद्धयोर्मूर्धकाययोः ॥ ३ ॥

काले साधारणे प्रातः सायं चोत्तानशायिनः ।

चक्षुषि म्लायति सति तथा स्तब्धादिगुणे तर्पणं कार्यम् । तथा शीर्णे
पक्ष्मणी यस्य तदेवम् । आविलमस्पष्टमीक्षणं दर्शनं यस्य तदेवम् । शीर्णेपद्म
च तदाविलेक्षणं च तस्मिन् । तथा कृच्छ्रोन्मीलादयोऽक्षिरोगेषु वक्ष्यन्ते । कृच्छ्रो-
न्मीलश्च सिराहर्षश्च सिरोत्पातश्च तमश्चाऽर्जुनश्च तैरातुरे । तथा स्यन्दश्च मन्थश्चा-
न्यतोवातश्च वातपर्ययश्च शुक्रकं च तैरातुरे । तथा नस्याऽनर्हे । यतो वक्ष्यति—
'तर्पणं पुटपाकं च नस्याऽनर्हे न योजयेत्' । तथा शान्ताः शमं गता रागाश्रुशूल-
संरम्भदूषिका यस्मिन्नयने तस्मिन् । कीदृशि स्थाने ? निवाते विगताऽनिले । उपल-
क्षणं चेदम् । विगतातपरजोधूमादिका इत्यपि द्रष्टव्यम् । कीदृशयोर्मस्तकदेहयोः ।
शुद्धयोर्थायोगं वमनविरेचननस्यैः कृतशुद्ध्योरित्यर्थः । कीदृशे काले ? साधारणे
वसन्तादिके । कदा ? सायं प्रातर्वा दोषदूष्याद्यपेक्षया । कीदृशस्याऽऽतुरस्य ? उत्ता-
नशायिन इति । शयनस्थस्योत्तानस्येत्यर्थः ।

यवमाषमयीं पालीं नेत्रकोशाद्वहिः समाम् ॥ ४ ॥

व्यङ्गुलोच्चां दृढां कृत्वा यथास्वं सिद्धमावपेत् ।

सर्पिर्निमीलिते नेत्रे तप्ताम्बुप्रविलापितम् ॥ ५ ॥

यवैर्मिश्रा माषा यवमाषास्ते प्रकृता यस्यां सा यवमाषमयी, ताम् । तादृशी

